20 योग - उपनिषद् संग्रह

DATE PAGE MONICA

प्रस्तावना:-

भारतीय संस्कृति में वेदों से निर्गत उपनिषदों की संख्या 108 या 200+ बताई जाती है। जिन्हें विभिन्न भागों (शैव उपनिषद्, शाक्त उपनिषद्, वैष्णव उपनिषद्, सन्यास प्रधान उपनिषद् तथा योग उपनिषद्) आदि) में विभाजित किया गया है। योग उपनिषदों की संख्या 20 बतायी जाती है, जिनका सर्वप्रथम प्रकाशन (S) अड्यार पुस्तकालय से A. Mahadeva shastri जी के द्वारा सन् 1920 में किया गया, बाद में चौखम्बा प्रकाशन दिल्ली की ओर से सन् 2015 में स्वामी अनन्त भारती ने भी योग उपनिषद् (H) संग्रह नाम से योग-उपनिषदों का संग्रहण किया। कालान्तर में प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली की ओर से सन् 2018 में सुभाष विद्यालंकार जी ने हिन्दी भाषा में तथा न्यू भारतीय बुक कॉपरेशन की ओर से T. R. श्री निवास अय्यर जी ने संस्कृत टीका के साथ अंग्रेजी भाषानुवाद (2019 ई०) के रूप में प्रकाशित किया।

विषयसूचिका

अद्वयतारकोपनिषत्

अमृतनादोपनिषत्

अमृतबिन्दूपनिषत्

क्षुरिकोपनिषत्

तेजोबिन्दूपनिषत्

प्रथमोऽध्यायः

द्वितीयोऽध्यायः

तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थोऽध्यायः

पञ्चमोऽध्यायः

षष्ठोऽध्यायः

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्

दर्शनोपनिषत्

प्रथमखण्डः

द्वितीयखण्डः

c

तृतीयखण्डः

चतुर्थखण्डः

नवमखण्डः

दशमखण्डः

ध्यानबिन्दूपनिषत्

नादबिन्दूपनिषत्

पाशुपतब्रह्मोपनिषत्

पूर्वकाण्डः

उत्तरकाण्डः

ब्रह्मविद्योपनिषत्

मण्डलब्राह्मणोपनिषत्

द्वितीये ब्राह्मणे पञ्चमः खण्डः

तृतीये ब्राह्मणे प्रथमः खण्डः

तृतीये ब्राह्मणे द्वितीयः खण्डः

चतुर्थं ब्राह्मणम्

पञ्चमं ब्राह्मणम्

महावाक्योपनिषत्

योगकुण्डल्युपनिषत्

प्रथमोऽध्यायः

द्वितीयोऽध्यायः

तृतीयोऽध्यायः

योगचूडामण्युपनिषत्

योगतत्त्वोपनिषत्

योगशिखोपनिषत्

प्रथमोऽध्यायः

द्वितीयोऽध्यायः

तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थोऽध्यायः

पञ्चमोऽध्यायः

षष्ठोऽध्यायः

वराहोपनिषत्

प्रथमाध्यायः

द्वितीयाध्यायः

तृतीयाध्यायः

चतुर्थाध्यायः—१. ब्राह्मणम्

शाण्डिल्योपनिषत्

प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः

प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः

प्रथमाध्याये तृतीयः खण्डः

प्रथमाध्याये चतुर्थः खण्डः

प्रथमाध्याये पञ्चमः खण्डः

प्रथमाध्याये षष्ठः खण्डः

F

तृतीयाध्याये द्वितीयः खण्डः

हंसोपनिषत्

---

(54) अद्वयतारकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् शुक्लयजुर्वेद की परंपरा की है। गर्भ-जन्म-जरा-मरण-संसार के महान् भय से मनुष्यों को तारने वाला ब्रह्म है। इसीलिए वह 'तारक' है। जीव-ईश्वर को मायाकल्पित जानकर, नाम-रूपादि को 'नेति नेति' कहकर, छोड़ते हुए अवशिष्ट रहे हुए अद्वयब्रह्म की प्राप्ति के लिए, आन्तर-बाह्य-मध्य ऐसे तीन लक्ष्यों का अनुसन्धान करके, शरीर में मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक अवस्थित सुषुम्णा नाडी में जो सूक्ष्म और तेजोमय कुण्डलिनी शक्ति है, उसको मन द्वारा देखना चाहिए। इससे मनुष्य मुक्त होता है। और भी भालप्रदेश में तेजोदर्शन, कानों को बन्द करके भीतर के नाद का श्रवण, आँखों के कोनों में स्वर्णिम तेजोदर्शन, नासिका के अग्रभाग में चार-छ-आठ-दस अंगुलों तक प्रकाश को देखने के अभ्यास आदि से योगी अमर बनता है। तीसरा मध्य लक्ष्य ऐसा है जिसमें करोड़ों सूर्यों के प्रकाश जैसे—सूर्याकाश में अथवा परमाकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश आदि पंचविध आकाश में दृष्टि स्थिर करने से अनेकविध सिद्धियाँ मिलती हैं। अन्तर्लक्ष्य और बहिर्लक्ष्य में जब आँख का मिलनोन्मीलन बिल्कुल बन्द हो जाता है, तब शांभवी मुद्रा होती है। गुरूपदेशानुसार इन लक्ष्यों का अनुसन्धान करना चाहिए। क्योंकि गुरु ही परमब्रह्म, परमगति, पराविद्या—सब कुछ है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ...... पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथातोऽद्वयतारकोपनिषदं व्याख्यास्यामो यतये जितेन्द्रियाय शमदमादिषड्गुणपूर्णाय ॥1॥

चित्स्वरूपोऽहमिति सदा भावयन् सम्यङ् निमीलिताक्षः किंचिदुन्मीलिताक्षो वान्तर्दृष्ट्या भ्रूदहरादुपरि सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं परं ब्रह्मावलोकयंस्तद्रूपो भवति ॥2॥

गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात्संतारयति तस्मात्तारकमिति। जीवेश्वरौ मायिकौ विज्ञाय सर्वविशेषं नेति नेतीति विहाय यदवशिष्यते तदद्वयं ब्रह्म ॥3॥

तत्सिद्ध्यै लक्ष्यत्रयानुसन्धानः कर्तव्यः ॥4॥

योगियों, संन्यासियों, जितेन्द्रियों तथा शम-दमादि छः गुणों से युक्त साधकों के लिए हम अब अद्वयतारकोपनिषद् की व्याख्या कर रहे हैं। यह साधक आँखें बन्द या अधखुली रखकर, भौंहों के

ऊपरी भाग में 'मैं चित्स्वरूप हूँ'—इस प्रकार अन्तःदृष्टि से भावचिन्तन करते हुए सच्चिदानन्द के तेज से युक्त कूट – निश्चल ब्रह्म का दर्शन करता हुआ स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है। वह तेजस्वरूप परब्रह्म, गर्भ-जन्म-जरा-मरण-संसार इत्यादि पापों से तारने वाला है। इसीलिए उसे 'तारक' कहा जाता है। जीव और ईश्वर को मायिक जानकर बाकी सब कुछ को 'नेति नेति' अर्थात् यह नहीं, यह नहीं—ऐसा कहकर छोड़ते हुए जो कुछ शेष बचा रहता है, वही 'अद्वयब्रह्म' कहा गया है। उस तेजस्वरूप परब्रह्म की सिद्धि के लिए तीन लक्ष्यों का अनुसन्धान करना आवश्यक है।

> **देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते। सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति। तन्मध्ये तडित्कोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्रवत्ससूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति प्रसिद्धास्ति। तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा मुक्तो भवति। फालोर्ध्वगललाटविशेषमण्डले निरन्तरं तेजस्तारकयोगविस्फुरणेन पश्यति चेत्सिद्धो भवति। तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये तत्र फूत्कारशब्दो जायते। तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यगतनीलज्योतिःस्थलं विलोक्यान्तर्दृष्ट्या निरतिशयसुखं प्राप्नोति। एवं हृदये पश्यति। एवमन्तर्लक्ष्यलक्षणं मुमुक्षुभिरुपास्यम् ॥5॥**

उस साधक के देह के बीच में सुषुम्ना नामक ब्रह्मनाडी सूर्यरूपिणी है, वह पूर्णचन्द्र के तेजवाली है। वह मूलाधार चक्र से ब्रह्मरन्ध तक जाती है। उस नाडी (नलिका) के बीच में करोड़ों विद्युत् की कान्ति के समान तेजवाली और मृणाल के सूत्र जैसे सूक्ष्म आकार वाली कुण्डलिनी नामक एक प्रसिद्ध शक्ति है। उस शक्ति का मन से ही दर्शन मात्र करने से मनुष्य सभी पापों के विनाश से मुक्त हो जाता है। पापमुक्त होकर मोक्षाधिकारी हो जाता है। मस्तिष्क के ऊपर विशेष मण्डल में निरन्तर विद्यमान प्रकाश को जो तारक ब्रह्म के योग से देखता है वह सिद्ध हो जाता है। दोनों तर्जनियों के अग्रभाग से दोनों कर्ण-छिद्रों को बन्द करके जो आवाज सुनाई देती है, वह 'फुत्कार शब्द'—साँप के फुफकार जैसा शब्द—जो है, उसमें मन को केन्द्रित करके आँखों के बीच में अवस्थित नीली ज्योति को आन्तरिक दृष्टि से देखने पर वह अत्यन्त आनन्द प्राप्त करता है। ऐसा ही दर्शन हृदय में भी किया जाता है। ऐसे 'अन्तर्लक्ष्य' के लक्षणों की अर्थात् अन्तःकरण में ही देखे जाने योग्य लक्षणों की मुमुक्षुओं को उपासना करनी चाहिए।

> **अथ बहिर्लक्ष्यलक्षणं नासिकाग्रे चतुर्भिः षड्भिरष्टभिर्दशभिर्द्वादशभिः क्रमादङ्गुलान्ते नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीस्फुरत्पीतशुक्लवर्णद्वयोपेतव्योम यदि पश्यति स तु योगी भवति। चलदृष्ट्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते। तद्दर्शनेन योगी भवति। तप्तकाञ्चनसङ्काशज्योतिर्मयूखा अपाङ्गान्ते भूमौ वा पश्यति तद्दृष्टिः स्थिरा भवति। शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलसमीक्षितुरमृतत्वं भवति। यत्र कुत्र स्थितस्य शिरसि व्योमज्योतिर्दृष्टं चेत्स तु योगी भवति ॥6॥**

अब 'बहिर्लक्ष्य' के लक्षण कहे जा रहे हैं। नासिका के आगे के भाग में चार, छः, आठ, दस या बारह अंगुल की दूरी पर क्रमशः नील और श्याम जैसे रक्तवर्ण की आभावाला आकाश जो कि पीले

श्वेतवर्ण से युक्त है, ऐसे आकाशतत्त्व को जो निरन्तर देखता रहता है, उसी को वास्तव में सच्चा योगी कहा जा सकता है। उस चलित दृष्टि से आकाश को (अवकाश को) देखते रहने पर ज्योति की वे किरणें स्पष्टतया दिखाई देती हैं। उन किरणों को देखने वाला योगी कहलाता है। अथवा जब दोनों आँखों के कोनों पर भूमि पर तपाए हुए स्वर्ण सदृश ज्योति की किरणों के दर्शन होते हैं, तब जाकर उस साधक की दृष्टि एकाग्र होती है। मस्तिष्क के ऊपर के भाग में लगभग बारह अंगुल की दूरी पर ज्योति को देखने वाला योगी अमृतत्व को प्राप्त होता है। यदि कोई भी मनुष्य किसी भी स्थान पर रहकर मस्तक के ऊपर उस आकाशज्योति का दर्शन करता है, तो वही पूर्ण योगी कहा जाता है।

अथ मध्यलक्ष्यलक्षणं प्रातश्चित्रादिवर्णाखण्डसूर्यचक्रवद्वह्निज्वालावली-वत्तद्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति। तदाकाराकारितयावतिष्ठति। तद्भूयो-दर्शनेन गुणरहिताकाशं भवति। विस्फुरत्तारकाकारसन्दीप्यमानागाढ-तमोपमं परमाकाशं भवति। कालानलसमद्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमद्युतिप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाश-वैभवसङ्काशं सूर्याकाशं भवति। एवं बाह्याभ्यन्तरस्थव्योमपञ्चकं तारकलक्ष्यम्। तद्दर्शी विमुक्तफलस्तादृग्व्योमसमानो भवति। तस्मात् तारक एव लक्ष्यममनस्कफलप्रदं भवति ॥7॥

इसके बाद, अब 'मध्यलक्ष्य' का लक्षण कहा जा रहा है। जो साधक प्रातःकाल में भाँति-भाँति के वर्णों से युक्त अखण्ड सूर्य का अग्नि की ज्वालाओं के चक्र की तरह और उससे रहित अन्तरिक्ष के समान देखता है, और उस आकार के समान होकर प्रतिष्ठित रहता है, फिर से उसके दर्शनमात्र से वह गुणविहीन **'आकाश'** की तरह हो जाता है। विस्फुरित (प्रकाशित) ताराओं के समूह से प्रकाशमान और प्रातःकाल के आधे अँधेरे की तरह **'परमाकाश'** होता है। जो **'महाकाश'** होता है, वह कालाग्नि के समान प्रकाश वाला होता है। जो **'तत्त्वाकाश'** है, वह सर्वोत्कृष्ट प्रकाश और प्रखर ज्योति से युक्त होता है। जो **'सूर्याकाश'** है, वह करोड़ों सूर्यों के तेज वाला है। इस तरह बाह्य और अन्तः में प्रतिष्ठित ये 'पाँच आकाश' तारकब्रह्म के ही लक्ष्य हैं। उसका दर्शन करने वाला उसी की तरह समग्र बन्धनों को काटकर मुक्तिलाभ के अधिकार को प्राप्त करता है। तारक का लक्ष्य ही अमनस्कतारूप फल का दाता कहा गया है।

तत्तारकं द्विविधं पूर्वार्धतारकमुत्तरार्धममनस्कं चेति। तदेष श्लोको भवति।

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति ॥8॥

अक्ष्यन्तस्तारयोश्चन्द्रसूर्यप्रतिफलनं भवति। तारकाभ्यां सूर्यचन्द्रमण्डल-दर्शनं ब्रह्माण्डमिव पिण्डाण्डशिरोमध्यस्थाकाशे रवीन्दुमण्डलद्वितय-मस्तीति निश्चित्य तारकाभ्यां तद्दर्शनमात्राण्युभयैक्यदृष्ट्या मनोयुक्तं ध्यायेत्। तद्योगाभावे इन्द्रियप्रवृत्तेरनवकाशात्। तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसन्धेयः ॥9॥

यह तारकयोग दो प्रकार का बतलाया गया है—एक पूर्वार्ध और दूसरा उत्तरार्ध। इस विषय में

यह श्लोक द्रष्टव्य है—'यह तारक योग, पूर्वार्ध और उत्तरार्ध, दो प्रकार का है। पूर्व को 'तारक' और उत्तर को 'अमनस्क' (शून्यमनस्क) कहा जाता है।' हम अपनी आँखों की पुतलियों से सूर्य और चन्द्र का दर्शन करते हैं। हम जिस तरह से आँखों के तारकों से ब्रह्माण्ड के सूर्य और चन्द्र को देखते हैं, ठीक उसी तरह हमें अपने सिररूपी ब्रह्माण्ड के मध्य में अवस्थित सूर्य और चन्द्र का निर्धारण करके उसका सदैव दर्शन करना चाहिए और उन दोनों को एक ही रूप वाला मानकर, उसमें मन को एकाग्र करके उसका चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि यदि मन को उसमें उस भाव से एकाग्र न किया जाय, तो सभी इन्द्रियाँ विषयों की ओर प्रवृत्त होने लगेंगी। इसलिए उस योगी (साधक) को अपने भीतर की (अन्तस् की) दृष्टि से तारक का अनवरत अनुसन्धान करते ही रहना चाहिए।

तत्तारकं द्विविधं मूर्तितारकममूर्तितारकं चेति। यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तिमत्। यद् भ्रूयुगातीतं तदमूर्तिमत्। सर्वत्रान्तःपदार्थविवेचने मनोयुक्ताभ्यास इष्यते तारकाभ्यां सदूर्ध्वस्थ सत्त्वदर्शनान्मनोयुक्तेनान्तरीक्षणेन सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव। तस्माच्छुक्लतेजोमयं ब्रह्मेति सिद्धम्। तद् ब्रह्म मनःसहकारिचक्षुषान्तर्दृष्ट्या वेद्यं भवति। एवममूर्तितारकमपि मनोयुक्तेन चक्षुषैव दहरादिकं वेद्यं भवति रूपग्रहणप्रयोजनस्य मनश्चक्षुरधीनत्वाद्बाह्यवदान्तरेऽप्यात्ममनश्चक्षुःसंयोगेनैव रूपग्रहणकार्योदयात्। तस्मान्मनोयुक्तान्तर्दृष्टिस्तारकप्रकाशा भवति ॥10॥

यह 'तारक' दो प्रकार का है—एक मूर्त (मूर्तिवाला) और दूसरा अमूर्त (मूर्तिरहित)। जो इन्द्रियों के अन्त में अर्थात् मनरूपी चक्षु में है, वह 'मूर्त' है, और जो दोनों भौंहों से बाहर है, वह 'अमूर्त' तारक है। आन्तरिक पदार्थों के विवेचन के लिए सभी जगह मन को एकाग्र करके ही अभ्यास करते रहना चाहिए। सात्त्विक दर्शन से युक्त मन द्वारा अपने अन्तस् (अन्तःकरण) में लगातार निरीक्षण करते रहने से दोनों तारकों को (मूर्त और अमूर्त को) ऊर्ध्वभाग में सच्चिदानन्द रूप परब्रह्म की परमज्योति के दर्शन होते हैं। इससे यह जाना जा सकता है कि ब्रह्म शुभ्र तेजोमय है। ऐसे ब्रह्म को मनसहित नेत्रों की अन्तर्दृष्टि (भीतर की दृष्टि) से देखकर जान लेना चाहिए। इसी प्रकार से अमूर्त तारक को भी मनसहित चक्षुओं के द्वारा अवश्य जाना जा सकता है। रूपदर्शन के सम्बन्ध में मन नेत्रों के आश्रय में रहता है और बाहर की तरह अन्तस् में भी रूपग्रहण का कार्य इन दोनों के द्वारा ही होता है। इसलिए मन के साथ संलग्न हुए नेत्रों के द्वारा ही 'तारक' का प्रकाश होता है।

भ्रूयुगमध्यबिले दृष्टिं तद् द्वारोर्ध्वस्थिततेज आविर्भूतं तारकयोगो भवति। तेन सह मनोयुक्तं तारकं सुसंयोज्य प्रयत्नेन भ्रूयुग्मं सावधानतया किञ्चिदूर्ध्वमुत्क्षेपयेत्। इति पूर्वभागी तारकयोगः। उत्तरं त्वमूर्तिमदमनस्कमित्युच्यते। तालुमूलोर्ध्वभागे महान् ज्योतिर्मयूखो वर्तते। तद्योगिभिर्ध्येयम्। तस्मादणिमादिसिद्धिर्भवति ॥11॥

कोई भी साधक अपनी आन्तरिक दृष्टि के द्वारा, दोनों भौहों से थोड़े से ऊपरी भाग में स्थित तेजोमय प्रकाश को देखता है, वही 'तारकयोगी' होता है (अर्थात् वह दर्शन ही तारकयोग है)। उसके साथ मन लगाकर तारक का अनुसन्धान करते हुए प्रयत्नपूर्वक दोनों भ्रूकुटियों को थोड़ी सी ऊँचाई पर स्थिर करना चाहिए। इसी को 'तारक' का पूर्वार्ध योग कहा जाता है। दूसरे (उत्तरार्ध) भाग को 'अमूर्त'

कहा गया है। तालु-मूल के ऊर्ध्व भाग में ज्योतिकिरणों का एक महामण्डल विद्यमान है। उसी का ध्यान करना योगियों का ध्येय (लक्ष्य) होता है और इसी से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां सत्यां शाम्भवी मुद्रा भवति। तन्मुद्रारूढज्ञानिनिवासाद्भूमिः पवित्रा भवति। तद् दृष्ट्वा सर्वे लोकाः पवित्रा भवन्ति। तादृशपरमयोगिपूजा यस्य लभ्यते सोऽपि मुक्तो भवति ॥12॥

उस योगी (साधक) की दृष्टि जब अन्तर्बाह्य—दोनों लक्ष्यों को देखने का सामर्थ्य प्राप्त करती है और स्थिरता प्राप्त करती है, तब वह स्थिति 'शांभवी मुद्रा' कहलाती है। इस मुद्रा में ओत-प्रोत हुए ज्ञानी का निवासस्थान बड़ा ही पवित्र माना जाता है। ऐसे मुद्रारूप पुरुष की दृष्टि पड़ने मात्र से सभी लोग पवित्र हो जाते हैं। कोई भी मनुष्य यदि ऐसे योगी की पूजा करता है, तो वह उसे पाकर मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

अन्तर्लक्ष्यजलज्योतिःस्वरूपं भवति। परमगुरूपदेशेन सहस्रारे जल-ज्योतिर्वा बुद्धिगुहानिहितज्योतिर्वा षोडशान्तस्थतुरीयचैतन्यं वान्तर्लक्ष्यं भवति। तद्दर्शनं सदाचार्यमूलम् ॥13॥

अन्तर्लक्ष्य का स्वरूप उज्ज्वल ज्योति जैसा हो जाता है। परमसद्‌गुरु का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सहस्रदल कमल में स्थित उज्ज्वल ज्योतिरूप, **अथवा** बुद्धिगुहास्थित ज्योतिरूप, **अथवा** फिर वह सोलह कला के भीतर अवस्थित तुरीय चैतन्य ही अन्तर्लक्ष्य हो जाता है। यही दर्शन सदाचार का मूल है।

आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः ॥14॥
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः।
एवं लक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥15॥
गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥16॥

जो वेदज्ञान से सम्पन्न, श्रेष्ठ आचरणवाला, विष्णु का भक्त, मात्सर्य आदि विकारों से रहित, योग का ज्ञाता, योग में निष्ठावाला, योगात्मा, पवित्रतायुक्त, गुरुभक्त, परमात्मप्राप्ति में विशेष संलग्न रहता हो, ऐसे लक्षण वाला ही गुरु पद से कहा जाता है। 'गुरु' के 'गु' अक्षर का अर्थ 'अन्धकार' और 'रु' अक्षर का अर्थ 'अन्धकार को दूर करने में समर्थ'—ऐसा होता है। अतः अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर देने वाला ही गुरु कहलाने योग्य है।

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम् ॥17॥
गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनम्।
यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद् गुरुतरो गुरुरिति ॥18॥

गुरु ही परब्रह्म परमात्मा है। गुरु ही परम गति है। गुरु ही पराविद्या है और गुरु ही परम आश्रय

है। गुरु ही परा काष्ठा है। गुरु ही परमश्रेष्ठ घन है। जो श्रेष्ठ उपदेश करता है, इसीलिए वह गुरु से भी गुरुतर अर्थात् उत्तम से भी उत्तम गुरु होता है—ऐसा मानना चाहिए।

यः सकृदुच्चारयति तस्य संसारमोचनं भवति। सर्वजन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति। सर्वान्कामानवाप्नोति। सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्भवति। य एवं वेदेत्युपनिषत्॥19॥

इति अद्वयतारकोपनिषत्समाप्ता।

जो मनुष्य एक बार भी गुरु का या इस उपनिषत् का उच्चारण (पाठ) करता है, वह इस संसारसागर से निवृत्त (मुक्त) हो जाता है। उसके जन्म-जन्मान्तर के सभी पाप तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। उसकी सभी इच्छाएँ (आकांक्षाएँ) पूर्ण हो जाती हैं। उसके सकल पुरुषार्थ सफल हो जाते हैं। जो यह जनता है, वही उपनिषत् का सच्चा ज्ञानी है। यही वह उपनिषत् है।

इस प्रकार यह उपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ...... पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति॥

(21) अमृतनादोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद के साथ संलग्न है। इस उपनिषद् में प्रणव की उपासना वर्णित है। और उसके साथ ही योग के छः अंगों का भी विवेचन किया गया है। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन पाँचों के साथ तर्क (समीक्षा) को भी जोड़ा है। इसमें प्राणायाम की विधि, ॐकार की मात्राओं का ध्यान, पाँचों प्राणों का स्थान, तथा रंगों का निर्देश भी किया गया है। योगसाधक को भयक्रोधादि मानसिक विकारों से रहित होकर आहार-विहारादि चेष्टा तथा सोना-जागना आदि क्रियाओं को सन्तुलित बनाए रखने की सीख दी गई है। साधना के फल के रूप में देवसदृश रूप की प्राप्ति से लेकर ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति पर्यन्त का दिशासूचन किया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ……मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥1॥

मेधावी पुरुष को शास्त्र का अध्ययन करके उनका बार-बार परिशीलन करके फलरूप में ब्रह्मतत्त्व को जानकर फिर उन शास्त्रों को मशाल की तरह छोड़ देना चाहिए।

ओंकाररथमारुह्य विष्णु कृत्वाऽथ सारथिम्।
ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः ॥2॥

ओंकाररूपी रथ पर चढ़ कर विष्णु को सारथि बनाकर ब्रह्मलोक के स्थान की खोज करनेवाले मनुष्य को रुद्र भगवान् की आराधना में लग जाना चाहिए।

तावद्रथेन गन्तव्यं यावद्रथपथि स्थितः।
स्थात्वा रथपथिस्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति ॥3॥

उस ओंकाररूपी रथ के द्वारा तब तक चलते रहना चाहिए जब तक कि रथ द्वारा चलने योग्य मार्ग पूर्ण न हो जाये। जब रथपति का वह मार्ग (लक्ष्य) पूरा हो जाता है, तब स्वयं वह रथ को छोड़कर चलने लगता है।

मात्रालिङ्गपदं त्यक्त्वा शब्दव्यञ्जनवर्जितम्।
अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं हि गच्छति ॥4॥

ओंकार की मात्राओं को बताने वाले (लिंगभूत) जो पद हैं, उनको तथा स्थूल शरीरादि पदों को छोड़कर, स्वरविहीन 'म' अर्थात् बिन्दु का ध्यान करके मनुष्य सूक्ष्म ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करता है।

शब्दादिविषयान् पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते ॥5॥

शब्द-स्पर्शादि पाँच विषयों को और छठे अतिचञ्चल मन को आत्मतत्त्व की किरणों के रूप में चिन्तन करना ही 'प्रत्याहार' कहलाता है। (आत्मसत्ता से ही उनकी सत्ता है)।

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥6॥

प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम और धारणा तथा तर्क और समाधि—इन छः को 'योग' कहा गया है। (यहाँ पर पतंजलि के अष्टांग योग के कुछ तत्त्वों को क्रमव्यत्यास ढंग से बताया है। केवल 'तर्क' को अधिक कहा है)।

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मलाः।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणधारणात् ॥7॥

जिस प्रकार पर्वत से निकलती हुई धातुओं की मैल अग्नि में तप्त करने से जल जाती है (धातु विशुद्ध होती है) ठीक उसी प्रकार इन्द्रियों के दोष (मैल) प्राणों की धारणा से अर्थात् प्राणायाम की क्रिया से जल जाते हैं।

प्राणायामैर्देहदोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्।
(प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्।)
किल्बिषं हि क्षयं नीत्वा रुचिरं चैव चिन्तयेत् ॥8॥

प्राणायामों से देह के (इन्द्रियों के भी) दोषों को, तथा धारणा के द्वारा मनोगत पाप (कुसंस्कार) को, एवं प्रत्याहार से विषयों के साथ संसर्गों को और ध्यान से दुर्गुणों को नष्ट करके बाद रमणीय इष्टदेव के रूप का चिन्तन करना चाहिए।

रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा।
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः ॥9॥

रुचिर (कुम्भक), रेचक तथा वायु के आकर्षणरूप पूरक—ये तीन प्रकार के प्राणायाम कहे गए हैं। इनके नाम रेचक, पूरक और कुम्भक हैं।

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥10॥

प्राणशक्ति की वृद्धि करने वाला जो मनुष्य व्याहृतियों (भूः भुवः स्वः) के साथ और प्रणव (ओंकार) के उच्चारण के साथ संपूर्ण गायत्री मंत्र का उसके शीर्ष के साथ तीन बार पढ़ते हुए अपने श्वास का पूरक, कुंभक और रेचन करता है, उस सम्पूर्ण प्रक्रिया को एक 'प्राणायाम' कहा जाता है।

उत्क्षिप्य वायुमाकाशे शून्यं कृत्वा निरात्मकम्।
शून्यभावे नियुञ्जीयाद्रेचकमिति लक्षणम् ॥11॥

घ्राणेन्द्रिय द्वारा वायु को आकाश में निकालकर (फेंककर), हृदय को (मन को) वायु से खाली और विचारशून्य बनाकर शून्यभाव में मन को (हृदय को) जोड़ देना चाहिए। इस प्रक्रिया को रेचक नाम दिया जाता है।

वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।
एवं वायुर्गृहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम् ॥12॥

जिस प्रकार पुरुष अपने मुख में नाली लगाकर धीरे-धीरे मुख में पानी को खींचता है, उसी प्रकार नाक से वायु को भीतर लेने की क्रिया को पूरक कहा जाता है। यह पूरक का लक्षण है।

नोच्छ्वसेन्न च निःश्वसेन्नैव गात्राणि चालयेत्।
एवं भावं नियुञ्जीयात् कुम्भकस्येति लक्षणम् ॥13॥

साँस को भीतर खींचना भी नहीं चाहिए और साँस को बाहर भी नहीं निकालना चाहिए। जब इस प्रकार की स्थिति में मनुष्य अपने को रखता है, तब वह कुंभक है (यह कुंभक का लक्षण है) ऐसा कहा जाता है।

अन्धवत्पश्य रूपाणि शब्दं बधिरवच्छृणु।
काष्ठवत्पश्य वै देहं प्रशान्तस्येति लक्षणम् ॥14॥

सभी रूपों को अन्धे की तरह देखो और सभी शब्दों को बहेरे की भाँति सुनो तथा अपने शरीर को काष्ठ की तरह ही देखो अर्थात् सभी इन्द्रियविषयों की और अपने शरीर की भी उपेक्षा करो। यही प्रशान्तपुरुष का लक्षण है।

मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्।
धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता ॥15॥

बुद्धिमान् मनुष्य मन को संकल्पात्मक मानकर उसको आत्मा में लय कर देता है और उस मन को उसी आत्मा में ही धारण करता है। इसे 'धारणा' कहा जाता है।

आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते।
समं मन्येत यल्लब्ध्वा स समाधिः प्रकीर्तितः ॥16॥

शास्त्रानुसार किए जानेवाले वादविवाद को 'तर्क' कहा जाता है। और जिस अवस्था को प्राप्त करके सर्वत्र समानता का ही अनुभव किया जा सकता है, उस अवस्था को समाधि कहा जाता है।

भूमौ दर्भासने रम्ये सर्वदोषविवर्जिते।
कृत्वा मनोमयीं रक्षां जप्त्वा वै रथमण्डले ॥17॥

सर्व प्रकार के दोषों से रहित भूमि पर, सुन्दर दर्भासिन पर भूतप्रेतादि से मानसिक रक्षा करते हुए रथमण्डल का (प्रणव व्याहृतिसह और अष्टाक्षर गायत्रीमंत्र का) जप करना चाहिए।

पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा।
बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः ॥18॥

पद्मासन अथवा स्वस्तिकासन अथवा भद्रासन नामक योगासन को लगाकर उत्तर की ओर मुँह करके अच्छी तरह बैठना चाहिए।

नासिकापुटमङ्गुल्या पिधायैकेन मारुतम् ।
आकृष्य धारयेदग्निं शब्दमेव विचिन्तयेत् ॥19॥

इसके बाद नासिका के दायें छिद्र को अँगूठे से दबाकर वायु को भीतर खींचकर मूलाधार के त्रिकोणाकार में अग्नि को धारण करते हुए शब्द का (ओंकार का) ही चिन्तन करते रहना चाहिए।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येतन्न रेचयेत् ।
दिव्यमन्त्रेण बहुधा कुर्यादामलमुक्तये ॥20॥

यह प्रणव (ॐ) ही एकाक्षर ब्रह्म है। उस ॐकाररूप एकाक्षर ब्रह्म का भंग (रेचन) नहीं करना चाहिए। उसे सतत जपते रहना चाहिए। उस दिव्य मंत्र के द्वारा सब मलों की मुक्ति के लिए सतत प्रयत्न करते ही रहना चाहिए। (जप का सातत्य रहना चाहिए, उसका रेचन – विच्छेद – नहीं होना चाहिए।)

पश्चाद् ध्यायीत पूर्वोक्तक्रमशो मन्त्रविद् बुधः ।
स्थूलादिस्थूलसूक्ष्मं च नाभेरूर्ध्वमुपक्रमः ॥21॥

इसके बाद मंत्रज्ञ बुद्धिमान मनुष्य को पहले बताए हुए क्रम के अनुसार नाभि के ऊपर के भाग में स्थित स्थूल पदार्थ से लेकर स्थूल से सूक्ष्म तक अर्थात् स्थूल से लेकर क्रमशः (अपेक्षाकृत) स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाते-जाते अन्त में सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्मतत्त्व का ध्यान करना चाहिए।

तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं विहाय च महामतिः ।
स्थिरस्थायी विनिष्कम्पः सदा योगं समभ्यसेत् ॥22॥

उस बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी दृष्टि को तिरछी, ऊँची या नीची न रखकर स्थिर रखे, और स्वयं स्थिर और अचल रहकर करके योग का अभ्यास करे।

तालमात्राविनिष्कम्पो धारणायोजनं तथा ।
द्वादशमात्रो योगस्तु कालतो नियमः स्मृतः ॥23॥

ताल (प्राणवायु का पारम्परिक संगठन प्रकार), मात्रा (कालमाप), विनिष्कम्प (स्थैर्य), धारणा (प्राणवायु का स्थिरीकरण) और योजन (प्राणवायु का अग्नि से संयोग)––इन पाँचों बातों को योगी को समझ लेना चाहिए। यह योग बारह मात्रावाला माना जाता है। इस योग को पूर्ण करने में कालिक नियममर्यादा रखनी चाहिए।

अघोषमव्यञ्जनमस्वरं च अतालुकण्ठोष्ठमनासिकं च यत् ।
अरेफजातमुभयोष्मवर्जितं यदक्षरं न क्षरते कथंचित् ॥24॥

घोषव्यंजनों से रहित, व्यंजनों से भी रहित, स्वरविहीन, कण्ठ-तालु-मूर्धा-दन्त्य-औष्ठ्य व्यंजनों से रहित, नासिक्य व्यंजनविहीन तथा रेफ (र कार) और ऊष्माक्षरों (श, ष, स) से भी रहित (ऐसे जो अक्षर ब्रह्म – प्रणव – ॐकार) है, वह कभी विकार को प्राप्त नहीं होता।

येनासौ गच्छते मार्गं प्राणस्तेनाभिगच्छति ।
अतस्तमभ्यसेन्नित्यं यन्मार्गगमनाय वै ॥25॥

योगी पुरुष जिस मार्ग पर जाता है या जाना चाहता है, उसी मार्ग से प्राण भी योगी की इच्छानुसार जाता है। इसलिए जिस किसी वांछित मार्ग पर जाने के लिए सदैव योग का अभ्यास करना चाहिए।

हृद्द्वारं वायुद्वारं च मूर्धद्वारमथापरम्।
मोक्षद्वारं बिलं चैव सुषिरं मण्डलं विदुः ॥26॥

हृदय का द्वार, वायु का द्वार और मस्तक का द्वार, क्रमशः मोक्षद्वार, बिलद्वार और ब्रह्मरन्ध्र कहा जाता है।

भयं क्रोधमथालस्यमतिस्वप्नातिजागरम्।
अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत् ॥27॥

योगी को सदैव भय, क्रोध, आलस्य, अति सोना, अति जगाना, बहुत खाना, बिल्कुल न खाना—इनको छोड़ देना चाहिए।

अनेन विधिना सम्यङ् नित्यमभ्यस्यते क्रमात्।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिभिर्मासैर्न संशयः ॥28॥

इस प्रकार से अच्छी तरह से क्रमशः यदि नित्य अभ्यास किया जाए, तो तीन महीनों के भीतर ही ऐसे साधक को ज्ञान उत्पन्न हो जायगा, इसमें संशय नहीं।

चतुर्भिः पश्यते देवान् पञ्चभिर्विततः क्रमः।
इच्छयाप्नोति कैवल्यं षष्ठे मासि न संशयः ॥29॥

नित्य-नियमित अभ्यास करनेवाला वह साधक (योगी) चार मास में ही देवों का दर्शन करने लग जाता है। और पाँच महीनों में उसका सामर्थ्य विस्तृत प्रगतिवाला हो जाता है। और छठे महीने में तो अपनी इच्छा के अनुसार उसमें कैवल्यप्राप्ति का सामर्थ्य आ जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

पार्थिवः पञ्चमात्रस्तु चतुर्मात्रस्तु वारुणः।
आग्नेयस्तु त्रिमात्रोऽसौ वायव्यस्तु द्विमात्रकः ॥30॥

पृथ्वी तत्त्व की धारणा करते समय इस ओंकार का उच्चारण पाँच मात्रा तक करना चाहिए, जलतत्त्व की धारणा करते समय चार मात्रा तक उच्चारण करना चाहिए, तेज की धारणा करते समय तीन मात्रा तक का और वायु की धारणा करते समय दो मात्राओं तक का उच्चारण करना चाहिए। (या उन-उन मात्राओं तक ध्यान करना चाहिए)।

एकमात्रस्तथाकाशो ह्यर्धमात्रं तु चिन्तयेत्।
संधिं कृत्वा तु मनसा चिन्तयेदात्मनात्मनि ॥31॥

आकाश की धारणा करते समय एक मात्रा तक तथा स्वयं ओंकार (प्रणव) की धारण करते समय अर्धमात्रा के परिमाण में ध्यान या उच्चारण करना चाहिए। मन से फिर उसे जोड़कर आत्मा के द्वारा अन्तःकरण में ही उसका चिन्तन करना चाहिए।

त्रिंशत्सार्धाङ्गुलः प्राणो यत्र प्राणैः प्रतिष्ठितः।
एष प्राण इति ख्यातो बाह्यप्राणस्य गोचरः ॥32॥

मूलाधार से कण्ठ तक साढे तीस अंगुलि के परिमाण का यह प्राण श्वासों के रूप में जिसमें प्रतिष्ठित हुआ है, वही वास्तविक प्राण है और बाह्य प्राण का वह विषय है।

अशीतिश्च शतं चैव सहस्राणि त्रयोदश।
लक्षश्चैको विनिश्वास अहोरात्रप्रमाणतः ॥33॥

इस बाह्य प्राण में एक लाख तेरह हजार छः सौ अस्सी निःश्वासों (श्वास-प्रश्वासों) का आवागमन एक रात और दिन में होता है।

प्राण आद्यो हृदि स्थाने अपानस्तु पुनर्गुदे।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमाश्रितः ॥34॥

आदि प्राण हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभिदेश में और उदान कण्ठ में रहता है।

व्यानः सर्वेषु चाङ्गेषु व्याप्य तिष्ठति सर्वदा।
अथ वर्णास्तु पञ्चानां प्राणादीनामनुक्रमात् ॥35॥

व्यान सदैव सभी अंगों में व्याप्त होकर रहता है। अब पाँचों प्राणों के वर्ण क्रमशः कहे जाते हैं।

रक्तवर्णो मणिप्रख्यः प्राणवायुः प्रकीर्तितः।
अपानस्तस्य मध्ये तु इन्द्रकोपसमप्रभः ॥36॥

प्राणवायु को लाल मणि के समान लाल वर्ण का कहा गया है और अपानवायु को गुदा के बीचोबीच इन्द्रगोप (बीरबहूटी) नामक गाढे लाल रंग वाले एक बरसाती कीड़े के रंग का माना गया है।

समानस्तु द्वयोर्मध्ये गोक्षीरधवलप्रभः।
अपाण्डुर उदानश्च व्यानो ह्यर्चिसमप्रभः ॥37॥

इन दोनों के बाद समान गाय के दूध जैसा सफेद रंगवाला है और उदान फीके पीले रंग वाला है, तथा व्यान अग्निज्वाला जैसे रंगवाला है।

यस्येदं मण्डलं भित्वा मारुतो याति मूर्धनि।
यत्र कुत्र म्रियेद्वापि न स भूयोऽभिजायते ॥
न स भूयोऽभिजायत इत्युपनिषत् ॥38॥

इत्यमृतनादोपनिषत् समाप्ता।

इस वायुमण्डल को भेदकर जिस साधक (योगी) का प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है, वह जहाँ कहीं पर भी मरे, तो वह फिर से नहीं जन्मता, नहीं जन्मता।

यहाँ अमृतनाद उपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ .... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

अमृतबिन्दूपनिषत्

सह नाववतु—इति शान्तिः

मन एव बन्धमोक्षयोः कारणम्

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥ १ ॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ २ ॥

अमृतबिन्दूपनिषद्वेद्यं यत् [1] परमामृतम् ।
तदेव हि त्रिपाद्रामचन्द्राख्यं नः परा गतिः ॥

अथ खलु कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्तेयं अमृतबिन्दूपनिषत् । तस्या उपोद्घातादिसङ्गतिः कठवल्ल्यादिसमा । इयं आख्यायिकां विना अवान्तररूपेण प्रवृत्ता । अल्पग्रन्थतोऽस्या विवरणमारभ्यते ॥ मन इति ॥ स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यापह्नवसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्राज्ञदृष्टिः यत् स्वातिरिक्तमस्तीति मननं करोति तदेव मनो मायातत्त्वम् । हिशब्देन त्रिगुणात्मकमनसो निष्प्रतियोगिकाभावरूपत्वं द्योत्यते । स्वाज्ञदृष्टिसत्यवद्विकल्पितमनो द्विविधमिति

[1] परमाक्षरं—उ, अ १.

शास्त्रतः प्रोक्तम् । किंरूपेण द्विविधमित्यत्र तत्सत्वांशः शुद्धं च तद्र-जस्तमोंशः अशुद्धमेव च । पदद्वयं श्रुतिरेव व्याकरोति अशुद्धमिति । कामसङ्कल्पविशिष्टं अशुद्धं अविद्यांशत्वात्, कामसामान्यविवर्जितं शुद्धं विद्यांशत्वात् ॥ १ ॥ बन्धमोक्षहेतुः मन एवेत्याह—मन एवेति । सङ्कल्पादिवृत्तिमन्मनो बन्धहेतुः निःसङ्कल्पं मनो मुक्तिहेतुः इत्यर्थः ॥ २ ॥

मनोनिरोधो मोक्षोपायः

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते ।
अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥ ३ ॥
निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि ।
यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ ४ ॥
तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम् ।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायश्च विस्तरः ॥ ५ ॥

यतो निर्विषयमनसो मुक्तिहेतुत्वं अतो मुमुक्षुणा मनो निर्विषयं कार्यमित्याह—यत इति ॥ ३ ॥ अमनीभाव एव मोक्ष इत्याह—निरस्तेति । यस्य मनसो ब्रह्मध्यानतो विषयासङ्गो निरस्तः तत् निरस्तविषयासङ्गं मनो हृदि संनिरुद्धं सत् यदा यस्मिन् काले आत्मनः स्वस्य अभावं अमनीभावं याति तदा तस्मिन् काले यत् सर्वापह्नवसिद्धपदं तत् परमं पदं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रमवशिष्यते ॥ ४ ॥ मनस्तत्कार्यापह्नवसिद्धं ब्रह्मेति यत् तदेव ज्ञानमिति सर्ववेदान्तपरमतात्पर्यमित्याह—तावदिति । यावद्धृदि कामादिवृत्तिमन्मनः क्षयं गतं तावदेव मनो निरोद्धव्यम् । यत् मनस्तत्कार्यापह्नवसिद्धं ब्रह्मस्वमात्रमिति जानाति तत् एतत् निर्विशेष-ज्ञानं ध्यानं च । शब्दद्वयतः निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतया ब्रह्म ज्ञातुं ध्यातुं

शक्यते इति द्योत्यते । स्वातिरेकेण ज्ञातुं ध्यातुं किमन्यदस्ति, ब्रह्ममात्रस्यैव निष्प्रतियोगिकत्वात् । तदतिरेकेण शेषो न्यायश्च विस्तरः वाचारम्भण-मात्रत्वात, "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इति श्रुतेः ॥ ५ ॥

ब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मभावप्राप्तिः

नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यं न चिन्त्यं चिन्त्यमेव च ।
पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म संपद्यते [1]तदा ॥ ६ ॥

ब्रह्मयाथात्म्यविदः तद्भावापत्तिमाह—नैवेति । स्वातिरेकेण एतत् नैव चिन्त्यं स्वमात्रत्वात् । स्वमात्रतया नचाचिन्त्यं, सविशेषतया न चिन्त्यं, स्वयमेवेति चिन्त्यमेव तत् । नैव चिन्त्यमित्यादिपक्षे पततीति पक्षपातं तद्विनिर्मुक्तं ब्रह्म स्वमात्रमिति यदा वेद तदा वेदनसमकालं ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

सविशेषब्रह्मानुसन्धानेन निर्विशेषब्रह्माधिगमः

स्वरेण संधयेद्योगमस्वरं भावयेत्परम् ।
अस्वरेणानुभावेन [2]नाभावो भाव इष्यते ॥ ७ ॥
तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म संपद्यते ध्रुवम् ॥ ८ ॥
निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।
अप्रमेयमनादिं च यत् ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥ ९ ॥

[1] ध्रुवं—क, अ २.   [2] नभावो-क, अ १, अ २.

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न [1]मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता ॥ १० ॥

सविशेषब्रह्मोपासनया निर्विशेषब्रह्माधिगमः स्यादित्याह—**स्वरेणेति** । ओङ्कारस्वरेण आदावपरब्रह्मयोगं सन्धयेत् सविशेषेश्वरोऽस्मीत्यनुसन्धानं कुर्यात् । सविशेषब्रह्मप्रसादात् परं **अस्वरं** निर्विशेषं ब्रह्म **भावयेत्** । **अस्वरेण** निर्विशेषब्रह्मणा **अनुभावेन** अनुभवेन अस्वरं परं ब्रह्मैव भावयेदिति पूर्वेणान्वयः । स्वराभावोऽस्वर इति चेन्न, अस्वरस्य निर्विशेषब्रह्मतया भावरूपत्वात् । न हि भावः कदाऽप्यभाव इष्यते ॥ ७ ॥ यस्मादेवं तस्मात् यदेव अस्वरं तदेव प्राणादिनामान्तषोडशकला-वैलक्षण्येन उपबृंहणात् **निष्कळं ब्रह्म** स्वविकल्पितविकल्पासम्भवात् **निर्विकल्पं** स्वाञ्जनार्हस्वातिरिक्तवैरळ्यात् **निरञ्जनं यत् तत् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा** तज्ज्ञानसमकालं **ध्रुवं** निर्विशेषं **ब्रह्म सम्पद्यते** ॥ ८ ॥ उक्तार्थमेव भंङ्गयन्तरेणाह—**निर्विकल्पमिति** । जाग्रज्जाग्रदाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तचतु-ष्पञ्चदशविकल्पाः यत्र स्वावशेषतया पर्यवस्यन्ति तत् निर्विकल्पम् । निर्वि-कल्पस्य सूक्ष्मत्वेनान्तवत्त्वं स्यादित्यत आह—**अनन्तं चेति** । त्रिविधपरि-च्छेदवैरळ्यात् "देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहितं ब्रह्म" इति श्रुतेः । चशब्दो निष्प्रतियोगिकानन्त्यद्योतकः । उक्तार्थे को हेतुः, दृष्टान्तो वा कः, इत्यत आह—**हेतुदृष्टान्तवर्जितमिति** । स्वसिद्धौ स्वातिरिक्तहेत्वभावात् स्वस्य निष्प्रतियोगिकत्वेन दृष्टान्तासम्भवाच्च । यतः एवं अतः तत् **अप्रमेयं** वेदान्तेतरप्रमाणासहत्वात् । अप्रमेयत्वेऽपि तदादिमत् स्यात् इत्यत आह —**अनादिं चेति** । निष्प्रतियोगिकसन्मात्रस्य उत्पत्त्यादेरसम्भवात् । च-शब्दतः स्वातिरिक्तस्याप्यजत्वं द्योत्यते, "पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्यत्" "ब्रह्ममात्रमसन्नहि" इति श्रुतेः । **यत् एवं ज्ञात्वा बुधो** विद्वान् ज्ञानसमकालं स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रमतो **मुच्यते** तत् स्वमात्रमवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ९ ॥

[1] मुमुक्षान—अ २.

उत्पत्तिप्रलयबन्धमोक्षादिव्यवस्थादर्शनात् कथं स्वमात्रसिद्धिरित्याशङ्क्य अस्याः स्वाविद्याविकल्पितत्वेन कारणतुल्यत्वात् निष्प्रतियोगिकस्वमात्रसिद्धिः निरङ्कुशा इत्याह—न निरोध इति । निरोधः प्रलयः, उत्पत्तिः जातिः, बद्धः संसारी, मोक्षसाधकः प्रमाता, स्वाज्ञानतत्कार्यात् मोक्तुमिच्छुः मुमुक्षुः, संछिन्नसंसृतिपाशो मुक्तः इत्यादिकल्पना यतः स्वातिरिक्तास्तिताप्रभवा अतः स्वातिरिक्तसामान्यस्य शशविषाणवदवस्तुत्वेनाविद्यकत्वात् स्वातिरिक्तोत्पत्तिप्रलयादिः निष्प्रतियोगिकाभावरूपः इत्यत्र मायाविद्याज्ञानविश्वाभावान्तःकरणादयः ब्रह्मातिरिक्तपर्यायाः अत्यन्ताभावरूपिणः इति परमाक्षरोक्तेः निरोधादि न स्वमात्रे अस्ति इत्येषैव परमार्थता । अतो निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रसिद्धिः निरङ्कुशेत्यर्थः ॥ १० ॥

आत्मनः एकत्वम्

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ११ ॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १२ ॥

अवस्थाभेदानुरोधेन तदध्यक्षभेदः स्यादित्यत आह—एक इति । चतुश्चतुर्धाभिन्नजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु विश्वविश्वाद्यनुज्ञैकरसाविकल्पान्तभेदेन यो विभागः सोऽयं आत्मा एक एव इति मन्तव्यः, घटशरावाद्यनुगतव्योमैकत्ववत् जाग्रज्जाग्रदाद्यवस्थानुगतविश्वविश्वादिचित एकत्वात् । एवं चतुश्चतुर्धाभिन्नस्थानत्रयव्यतीतस्य तुर्यावस्थाऽऽरूढस्य विश्वविश्वादिरूपेण पुनर्जन्म न विद्यते तथा जन्महेतुस्वाज्ञानवैरळ्यात् ॥ ११ ॥ कथं पुनरात्मनः एकत्वमित्यत्र सदृष्टान्तमेकत्वमाह—एक इति । पञ्चभूतभौतिकव्यवस्थित आत्मा एक एव हि स्वज्ञादिदृष्ट्यनुरोधेन नभोजलबिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नचन्द्रवत् शिवजीवभेदेन एकधा बहुधेव दृश्यते, वस्तुत आत्मन एकत्वात् ॥ १२ ॥

आत्मनो जन्मनाशराहित्यम्

घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा ।
घटो [1]लीयेत नाकाशः तद्वज्जीवो नभोपमः ॥ १३ ॥

घटवद्विविधाकारं भिद्यमानं पुनः पुनः ।
तद्भेदे च न जानाति स जानाति च नित्यशः ॥ १४ ॥

सर्वोपाध्यवच्छिन्नात्मनः तत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां स्थितिनाशौ स्यातामित्यत आह—घटेति । घटसंवृतं घटावच्छिन्नाकाशं अन्येन घटे नीयमाने यथा घटावच्छिन्नाकाशं नीतमिव भाति न वस्तुतः आकाशस्याचलत्वात्, यदा घटो लीयेत न हि तदवच्छिन्नाकाशो लीनो भवति तथा तद्वत् नभोपमो जीवः स्वोपाधिचलननाशाभ्यां जीवो न चलति न नश्यति चेत्यर्थः "जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते" इति श्रुतेः ॥ १३ ॥ स्वोपाधिसत्त्वासत्त्वाभ्यां आत्मा दृश्यते न दृश्यते इति यो जानाति स एव आत्मयाथात्म्यं जानातीत्याह—घटवदिति । यथा घटादिः विविधाकारः तद्वत् तदवच्छिन्नाकाशमपि पुनः पुनः उद्भूतघटादिरूपं विविधाकारमिव दृश्यते । तद्घटादीनां भेदे ध्वंसे लोकस्तदवच्छिन्नाकाशभेदं यथा न जानाति अखण्डाकाशमेव पश्यति, तद्याथात्म्यज्ञस्तु घटाद्युपाधिसत्त्वासत्त्वाभ्यां नित्यशोऽखण्डाकाशमेव जानाति ॥ १४ ॥

निरुपाधिकात्मदर्शनम्

शब्दमायावृतो नैव [2]तमसा याति पुष्करे ।
भिन्ने तमसि चैकत्व[3]मेक एवानुपश्यति ॥ १५ ॥

[1] नीयेत—अ, अ २. [2] तमसो—क, अ, अ १, अ २. [3] मेकमेवा—क.

तथा स्वाज्ञदृष्टिरुपाध्यनुकारिनानात्मभेदं पश्यति उपाध्यपाये तद्भेदं न पश्यति। परमार्थमतिस्तूपाधिसत्त्वासत्त्वाभ्यां निरुपाधिकमात्मानमेकमेवानुपश्यतीत्याह—शब्देति । शब्दार्थप्रपञ्चहेतुभूता शब्दमाया, यद्वा अर्थशून्यतया शब्दमात्ररूपिणी वाचारम्भणात्मिका अघटितघटनापटीयसी माया, तयाऽऽवृतो जन्तुः तमसा अन्धकारेण आवृतजन्तुवत् पुष्करे परमपावने स्वात्मनि नैव याति । प्रदीपादिना अन्धकारभेदवत् स्वज्ञानेन स्वाज्ञानतमसि भिन्ने, चकारात् तद्वासनायां नष्टायां, प्रत्यक्परचितोः एकत्वं एक एवानुपश्यति। यद्वा—स्वाज्ञस्तु शब्दमायावृतः सन् पुष्करे तमसाऽऽवृतजन्तुवत् सर्वभूतप्रत्यग्ब्रह्मैक्यज्ञानं नैव याति । स्वज्ञस्तु स्वाज्ञानतमसि भिन्ने पुष्करे परमात्मनि सर्वभूतप्रत्यगेकत्वमनुपश्यति । परमार्थदृष्टिस्तु प्रत्यक्परविभागैक्यासहब्रह्मतत्त्वं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति पश्यति ॥ १५ ॥

शब्दब्रह्मध्यानेन परब्रह्माधिगमः

शब्दाक्षरं परं ब्रह्म तस्मिन्क्षीणे यदक्षरम् ।
तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद्यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः ॥ १६ ॥
द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १७ ॥
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ॥ १८ ॥

निर्विशेषब्रह्ममात्रावगत्युपायमाह—शब्देति । निर्विशेषब्रह्मास्त्युपायत्वेन यत् प्रसिद्धं शब्दाक्षरं ओं इत्येतदक्षरं परं ब्रह्मालम्बनं तदर्थज्ञानतः तस्मिन् सावयवे शब्दाक्षरे क्षीणे विलयं प्रपन्ने सति यत् शब्दाक्षरविलयाधिकरणं अक्षरं न क्षरति तदेतत् आधेयाधारात्मकक्षराक्षरगतहेयांशापह्नवसिद्धं परमाक्षरं यदि विद्वानात्मनः स्वातिरिक्तक्षराक्षरप्रपञ्चशान्ति इच्छेत् तदा तदक्षरं

अहमस्मीति ध्यायेत् ॥ १६ ॥ शब्दब्रह्मयाथात्म्यज्ञानतः शब्दप्रपञ्च-निरसनपूर्वकं तदर्थब्रह्माधिगमो भवतीत्याह—द्वे इति । शब्दब्रह्म परब्रह्मेति यत् ब्रह्म द्विविधं तच्छब्दपरब्रह्मगोचरे द्वे विद्ये वेदितव्ये सगुण-निर्गुणब्रह्मयाथात्म्ये ज्ञातव्ये । तु शब्दोऽवधारणार्थः । तयोरुपायोपेयात्मक-त्वात् तत्रोपायभूते शब्दब्रह्मणि सविशेषब्रह्मणि निष्णातो मुनिः—प्रणववाच्यब्रह्मानुसन्धानतः निर्विशेषब्रह्मज्ञानमुदेति—तज्ज्ञानोदयसमकालं स्वातिरिक्तसर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति परं ब्रह्माधिगच्छति तन्मात्रतया विद्वानवशिष्यते इत्यर्थः ॥ १७ ॥ ब्रह्माधिगमेऽपि तद्धेतुग्रन्थाभ्यासः कर्तव्य इत्यत आह—ग्रन्थमिति । साधनचतुष्टयसम्पन्नो विद्वान् यावत् ब्रह्ममात्रज्ञानं नोदेति तावत् तज्ज्ञानविज्ञानतत्परः सन् सर्ववेदान्तग्रन्थजातमभ्यस्य संशयादिपञ्चदोषशान्त्यन्तं गुरुमुखात् श्रवणं कृत्वा अथ मनननिदिध्यासनप्रभवसम्यज्ज्ञानं यदि जायते तदा धान्यार्थी पलालमिव ग्रन्थजातमशेषतः त्यजेत्, प्रयोजनाभावात् । नहि सरित्पारं प्रविष्टस्य नौकापेक्षाऽस्ति, तथेत्यर्थः ॥ १८ ॥

सर्वभूतप्रत्यगात्मनः एकत्वम्

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता ।
क्षीरवत्पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥ १९ ॥
घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।
[1]सततं मनसि मन्थयितव्यं मनोमन्थानभूतेन ॥ २० ॥

नानाऽन्तःकरणावच्छिन्नप्रतीचो नानात्वं स्यादित्यत आह—गवामिति । नानावर्णविशिष्टगोक्षीरं यथा एकरूपं तथा नानालिङ्गाद्यनुगतप्रत्यज्ज्ञानमेकरूपम् ।

[1] अत्र उत्तरार्धं मूलाकरानुसारेण धृतम्. तत्र "मनसि" इत्येतस्य लोपो युज्येत. "मनसा मन्थानभूतेन" इति मु. पाठः

तुशब्दोऽवधारणार्थः ॥ १९ ॥ एवं सर्वभूतप्रतीचः एकत्वं किं न भातीत्यत आह—घृतमिवेति । यथा पयसि निगूढं घृतं मथनादिना आविर्भवति तथा भूते भूते सर्वभूतान्तःकरणे तद्वृत्तिभावाभावप्रकाशकमपि विज्ञानं प्रत्यक्तत्त्वं स्वाज्ञदृष्टिनिगूढतया वसति । चशब्दो निस्संशयार्थः । प्रत्यगभिमुखीभूते मनसि मन्थानभूतेन प्रत्यग्भावमापन्नेन मनसा मन्थयितव्यम् । एवं सन्ततमननात् पराक्सापेक्षप्रत्यक्परविभागैक्यगतहेयांशापह्नवसिद्धं ब्रह्ममात्रं निष्प्रतियोगिकतया आविर्भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

तत्साक्षात्कारसाधनं ध्यानम्

ज्ञाननेत्रं समाधाय चोद्धरेद्वह्निवत् परम् ।
निष्कलं निश्चलं शान्तं तद् ब्रह्माहमिति स्मृतम् ॥ २१ ॥
सर्वभूताधिवासं यद्भूतेषु च वसत्यपि ।
सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः ॥ २२ ॥

तदस्म्यहं वासुदेव इत्युपनिषत् ॥

सर्वभूतनिगूढं ब्रह्म कथं साक्षात्कर्तुं शक्यमित्यत आह—ज्ञानेति । सर्वापह्नवसिद्धब्रह्ममात्रगोचरज्ञानमेव नेत्रं ज्ञाननेत्रमन्तःकरणे समाधाय विन्यस्य —चशब्दात् ज्ञानेतरसाधनासिद्धत्वं द्योत्यते—दार्वोः मथनाविर्भूतवह्निवत् निष्प्रतियोगिकं परं ब्रह्म उद्धरेत् । प्राणादिकलासु सत्सु कथं निष्प्रतियोगिकता इत्यत आह—निष्कळमिति । ब्रह्ममात्रसिद्धेः प्राणादिनामान्तषोडशकलापह्नवपूर्वकत्वात् । पूर्णत्वात् निश्चलं स्वातिरिक्तशान्तं यदवशिष्यते तत् निष्कळमित्यादिपदत्रयविशिष्टं ब्रह्मेति स्मृतं, ब्रह्म स्वमात्रमिति पर्यवसन्नमित्यर्थः ॥ २१ ॥ निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रस्य अर्धमात्राभागत्रयावष्टम्भतः सार्वात्म्यं वस्तुतः स्वमात्रसिद्धिं प्रकटयन् उपसंहरति—सर्वेति । यत् सर्वभूतानामधिवासः स्थानं अधिष्ठानत्वात्, यदन्तर्याम्यात्मनाऽपि भूतेषु च वसति, यत् सर्वानुग्राहकत्वेन

कूटस्थचिन्मात्रतया अवशिष्यते तदस्म्यहं वासुदेवः तत्परवासुदेवाख्यं ब्रह्मास्मि। यः स्वातिरिक्ताधिवसनाद्वासुः सचासौ अधिष्ठेयसापेक्षाधिष्ठानगतहेयांशापह्नव-सिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया दीव्यत इति देवः परमात्मा स्वमात्रमवशिष्यत इति फलितोऽर्थः। आवृत्तिरादरार्था। इत्युपनिषच्छब्दः प्रकृतोपनिषत्स-माप्त्यर्थः॥ २२॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना।
लिखितं स्याद्विवरणं बिन्दूपनिषदः स्फुटम्।
प्रकृतोपनिषद्व्याख्याग्रन्थस्त्रिंशाधिकं शतम्।

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे विंशतिसङ्ख्यापूरकं
अमृतबिन्दूपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

---

(32) क्षुरिकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेदीय इस उपनिषद् में 25 मन्त्र हैं। उपनिषद् का नाम क्षुरिका इसलिए रखा गया है कि जैसे क्षुरिका (छुरी) काटने का काम करती है, वैसे ही यह उपनिषद् बन्धनों को काटने में समर्थ है। योग के आठ अंगों में से छठे अंग धारणा की यहाँ विशेष चर्चा हुई है। पहले इस उपनिषद् में योग के अधिकार के विषय में कहकर बाद में आसन और प्राणायाम के बारे में बताया गया है। फिर प्रत्याहार के विषय का स्पर्श करके जो अन्तरंग साधन ध्यान-धारणा-समाधि हैं, उस पर ज्यादा बल दिया गया है। फिर योग के साधन और योग के अधिकारी के विषय में कहा है और अन्त में समाधि का फल बताया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर आरम्भ में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ क्षुरिकां सम्प्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये।
यां प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तस्य जायते॥1॥

योग की सिद्धि के लिए धारणारूपी क्षुरिका (छुरी) को मैं कहूँगा। इसको प्राप्त करके जो योगयुक्त हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता है।

वेदतत्त्वार्थविहितं यथोक्तं हि स्वयम्भुवा।
निःशब्दं देशमास्थाय तत्रासनमवस्थितः॥2॥
कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य मनो हृदि निरुध्य च।
मात्राद्वादशयोगेन प्रणवेन शनैः शनैः॥3॥
पूरयेत्सर्वमात्मानं सर्वद्वारं निरुध्य च।
उरोमुखकटिग्रीवं किञ्चिद्धृदयमुन्नतम्॥4॥
प्राणान्सन्धारयेत्तस्मिन् नासाभ्यन्तरचारिणः।
भूत्वा तत्र गतप्राणः शनैरथ समुत्सृजेत्॥5॥

स्वयंभू ब्रह्माजी के कथनानुसार और वेद के तत्त्वार्थ में कहे अनुसार किसी नीरव स्थान में आसन लगाकर वहाँ पर बैठना चाहिए। और जैसे कछुआ अपने अंगों को सिकोड़ लेता है, वैसे ही इन्द्रियों को विषयों से समेटकर भीतर खींच लेना चाहिए और मन को हृदय में रोक देना चाहिए। बाद में धीरे-धीरे बारह मात्रा वाले ॐकार से समग्र शरीर को पूरक प्राणायाम से भर देना चाहिए। और छाती, मुँह, कमर, गर्दन तथा हृदय को कुछ उन्नत (उठाए हुए) रखना चाहिए। तदनन्तर नासिका के भीतर प्रविष्ट

प्राणों को (श्वासों को) हृदय में धारण करना चाहिए। इस प्रकार (कुंभक की स्थिति में) रहकर धीरे-धीरे उसे छोड़ देना चाहिए, अर्थात् रेचक करना चाहिए।

स्थिरमात्रादृढं कृत्वा अङ्गुष्ठेन समाहितः।
द्वे गुल्फे तु प्रकुर्वीत जङ्घे चैव त्रयस्त्रयः ॥6॥
द्वे जानुनी तथोरुभ्यां गुदे शिश्ने त्रयस्त्रयः।
वायोरायतनं चात्र नाभिदेशे समाश्रयेत् ॥7॥

जब यह धारणायुक्त प्राणायाम दृढ़ हो जाए, तब पूर्ण सावधान रहते हुए पैर के अँगूठे से लेकर दोनों टखनों में (घूटियों में) दो-दो बार, दोनों पिण्डलियों में तीन-तीन बार, घुटनों और जाँघों में दो-दो बार तथा गुदा तथा जननेन्द्रिय में तीन-तीन बार वायु की धारणा करनी चाहिए और बाद में वायु के स्थान नाभि का आश्रय लेना चाहिए।

तत्र नाडी सुषुम्ना तु नाडीभिर्बहुभिर्वृता।
अणु रक्ताश्च पीताश्च कृष्णास्ताम्रा विलोहिताः ॥8॥

उस स्थान पर इडा, पिंगला आदि बहुत-सी नाडियों से घिरी हुई सुषुम्ना नाम की नाडी है। वहाँ पर बहुत-सी नाडियाँ हैं जो बहुत सूक्ष्म हैं तथा लाल, पीली, काली ताँबे की-सी लाल हैं।

अतिसूक्ष्मां च तन्वीं च शुक्लां नाडीं समाश्रयेत्।
ततः संचारयेत्प्राणानूर्णनाभीव तन्तुना ॥9॥

परन्तु, उनमें से जो नाडी बहुत ही सूक्ष्म और पतली है, उस सफेद नाडी का आश्रय लेना चाहिए। जिस प्रकार मकड़ी अपनी लार के तन्तु से संचरण करती है, ठीक वैसे ही योगी को उस नाड़ी में अपने प्राणों का संचार करना चाहिए।

ततो रक्तोत्पलाभासं हृदयायतनं महत्।
दहरं पुण्डरीकं तद् वेदान्तेषु निगद्यते ॥10॥
तद्भित्त्वा कण्ठमायाति तां नाडीं पूरयन्यतः।
मनसस्तु परं गुह्यं सुतीक्ष्णं बुद्धिनिर्मलम् ॥11॥

इसके बाद, वेदान्तों में जिसे 'दहर पुंडरीक' नाम दिया गया है, पुरुष के—आत्मा के उस हृदयरूपी बड़े निवासस्थान को, जो लालकमल की भाँति प्रकाशित हो रहा है, उसको भेदकर वायु उस नाडी को अपने से भरते हुए कण्ठ में आता है। इसके बाद मनःक्षेत्र और इसके भी परे गुह्य, सुनिर्मल और सुतीक्ष्ण (छुरे जैसा) बुद्धि का स्थान है।

पादस्योपरि यन्मर्म तद्रूपं नाम चिन्तयेत्।
मनोद्वारेण तीक्ष्णेन योगमाश्रित्य नित्यशः ॥12॥
इन्द्रवज्र इति प्रोक्तं मर्मजङ्घानुकृन्तनम्।
तद्ध्यानबलयोगेन धारणाभिर्निकृन्तयेत् ॥13॥
ऊर्वोर्मध्ये तु संस्थाप्य मर्मप्राणविमोचनम्।
चतुरभ्यासयोगेन छिन्देदनभिशङ्कितः ॥14॥

इस प्रकार पैरों के ऊपर जो मर्मस्थान स्थित है, उसके नाम और रूप का चिन्तन करना चाहिए। सदैव योगाभ्यास का अवलम्बन करके, तीक्ष्ण मन के द्वारा जंघाओं में लगे हुए 'इन्द्रव्रज' नाम के क्षेत्र

का छेदन करना चाहिए। बाद में ध्यानयोग के बल से और धारणा से दोनों जंघाओं के बीच के मर्म भागों में स्थित प्राण का विमोचन करना चाहिए। और फिर विमोचन करने वाले उस प्राण को ध्यान, बल और धारणा के योग से स्थापित करके योगाभ्यास द्वारा मन को तीक्ष्ण धारणा से बिना शंका किए मूलाधार से लेकर हृदयपर्यन्त मर्म स्थानों का (चारों मर्मस्थलों का) भेदन करना चाहिए।

ततः कण्ठान्तरे योगी समूहन्नाडिसञ्चयम्।
एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्थिता ॥15॥
सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी।
इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन च ॥16॥

इसके बाद कण्ठस्थ नाडीसमूह में योगी प्राणों को संचरित करे। इस नाडीसमूह में एक सौ एक नाडियाँ हैं। उनके बीच में पराशक्ति रहती है। सुषुम्ना नाडी परमतत्त्व में लीन होती है और विरजा नाडी ब्रह्ममय है। उसके बाएँ भाग में इडा अवस्थित है और दाहिने भाग में पिंगला है।

तयोर्मध्ये वरं स्थानं यस्तं वेद स वेदवित्।
द्वासप्ततिसहस्त्राणि प्रतिनाडीषु तैतिलम् ॥17॥

इन इडा और पिंगला—दोनों नाडियों के बीच में जो उत्तम स्थान है, उसे जो जान लेता है, वह सभी वेदों को जानने में समर्थ हो जाता है। उन सभी सूक्ष्म नाडियों की संख्या बहत्तर हजार कही गई है। उस नाडीसमूह को 'तैतिल' नाम दिया गया है।

छिन्द्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते।
योगनिर्मलधारेण क्षुरेणानलवर्चसा ॥18॥
छिन्देन्नाडीशतं धीरः प्रभवादिह जन्मनि।
जातीपुष्पसमायोगैर्यथा वास्यति तैतिलम् ॥19॥

ध्यानयोग से समस्त नाडीसमूह को काटा जा सकता है, पर एक सुषुम्ना नहीं काटी जा सकती। धीर पुरुष को चाहिए कि वह इसी जन्म में आत्मप्रभाव से आग जैसी तेजस्वी और योगप्रभाव से निर्मल बनी हुई धारणा की तीक्ष्ण छुरी से सभी नाड़ियों का छेदन कर दे। इससे जिस प्रकार चमेली के पुष्प डालने से तिल का तेल सुगन्धित हो जाता है, उसी तरह सभी नाडियाँ सुगन्धित हो उठती हैं।

एवं शुभाशुभैर्भावैः सा नाडी तां विभावयेत्।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते पुनर्जन्मविवर्जिताः ॥20॥

इस प्रकार योगी को शुभ और अशुभ भाववाली सभी नाडियों को समझकर इसमें जो सुषुम्ना नाडी है, उसपर धारणा करनी चाहिए। ऐसी धारणा से जो भावित (युक्त) होते हैं, वे पुनर्जन्म से रहित होकर परमपद को प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् ऐसे लोग शाश्वत ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं।

तपोविजितचित्तस्तु निःशब्दं देशमास्थितः।
निःसंगस्तत्त्वयोगज्ञो निरपेक्षः शनैः शनैः ॥21॥

तपों से चित्त पर विजय प्राप्त करने वाला मनुष्य नीरव एकान्त प्रदेश में रहते हुए निःसंग तत्त्व के योग को जानने वाला होकर धीरे-धीरे निरपेक्ष हो जाता है।

पाशं छित्त्वा यथा हंसो निर्विशंङ्कं खमुत्क्रमेत्।
छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥22॥

जिस प्रकार जाल के बन्धन को काट कर हंस शंकारहित होकर के आकाश में उड़ता है, वैसे ही जीव (योगीपुरुष) बन्धन के कट जाने से सदा के लिए संसार को पार कर जाता है।

यथा निर्वाणकाले तु दीपो दग्ध्वा स्वयं व्रजेत्।
तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत् ॥23॥

जिस तरह बुझने के समय पर दीपक सभी को (तेल, बाती आदि को) जलाकर स्वयं ही समाप्त हो जाता है, वैसे ही योगी भी सभी कर्मों को जलाकर स्वयं ब्रह्मलीन हो जाता है।

प्राणायामसुतीक्ष्णेन मात्राधारेण योगवित्।
वैराग्योपलघृष्टेन छित्त्वा तं तु न बध्यते ॥24॥

वैराग्यरूपी शिला पर प्रणव के साथ प्राणायाम द्वारा घिसकर तीक्ष्ण बनाई गई धारणा रूपी छुरी से संसार के बन्धनों को काटने वाले योगी को बन्धन नहीं बाँध पाते।

अमृतत्वं समाप्नोति यदा कामात्प्रमुच्यते।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तश्छित्त्वा तन्तु न बध्यते ॥
छित्त्वा तन्तुं न बध्यते। इत्युपनिषत् ॥25॥

इति क्षुरिकोपनिषत् समाप्ता।

जब वह योगी पुरुष कामनाओं से मुक्त हो जाता है, तब वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। जब वह सभी एषणाओं से छूट जाता है, तब वह फिर से कभी बन्धनों में जकड़ा नहीं जा सकता। वह पुनः बन्धनों में नहीं फँसता।

यहाँ उपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(38) तेजोबिन्दूपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से है। इस उपनिषद् में छः अध्याय हैं। इसमें कहा गया है कि तेज के बिन्दु का ध्यान उत्कृष्ट ध्यान है। वह अगोचर और हृदयस्थित है। मुनियों और बुद्धिमानों को भी यह ध्यान दुःसाध्य, दुःसेव्य और दुर्दृश्य है। मिताहारी, क्रोधरहित और जितेन्द्रिय, सुखदुःखादि-द्वन्द्वरहित, अहंकार-आशा-तृष्णा-रहित, उत्साही एवं सद्गुरु के अनुग्रह से युक्त ही ऐसा ध्यान करने का अधिकारी है। जनसाधारण के लिए अप्रतीत, निरधिष्ठान, सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म विष्णु का विश्रामस्थल है। वह त्रिलोकजनक, त्रिगुणाश्रय, नीरूप, निश्चल, निर्विकल्प, निरवलम्ब, निरूपाधिक, अवाङ्मनसगोचर, सच्चिदानन्दरूप भाव से ग्राह्य है। वह निरुपाधिक आनन्दरूप है। वह अजन्मा, अविकारी, शाश्वत, अचल, अविनाशी ब्रह्म है, वही आत्मा है। वही ज्ञानियों की परम गति है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, दर्प आदि को तथा शीतोष्णादि, मानापमानादि, भूख-प्यास आदि की असहिष्णुता को तथा कुलाभिमानादि वासनाओं को छोड़कर ही ब्रह्मसाक्षात्कार हो सकता है। [विरजानंद स्वामी द्वारा प्रकाशित इस उपनिषद् के केवल तेरह मन्त्र हैं परन्तु निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित 'अष्टोत्तरशतोपनिषदः' में संगृहीत इस उपनिषत् के छः अध्याय हैं। यहाँ उसी का अनुसरण किया जा रहा है, क्योंकि वह तत्त्वपूर्ण है।]

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

ॐ तेजोबिन्दुः परं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम्।
आणवं शाम्भवं शान्तं स्थूलं सूक्ष्मं परं च यत् ॥1॥

विश्व में और अपने हृदय में अवस्थित तेजोबिन्दु का ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि वही परमात्मा का अणुस्वरूप है, वही शान्त है, स्थूल भी वही, सूक्ष्म भी वही और स्थूल-सूक्ष्म दोनों से परे भी तो वही तत्त्व है।

दुःखाढ्यं च दुराराध्यं दुष्प्रेक्ष्यं मुक्तमव्ययम्।
दुर्लभं तत्स्वयं ध्यानं मुनीनां च मनीषिणाम् ॥2॥

उस मुक्त अविनाशी स्वरूप का दर्शन करना अत्यन्त कठिन है, बड़ा मुश्किल है, कष्टसाध्य है। जनसाधारण के लिए ही नहीं, मुनियों और मनीषियों के लिए भी यह ध्यान प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है।

यताहारो जितक्रोधो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारो निराशीरपरिग्रहः ॥3॥

जो मनुष्य आहार के प्रति संयमित है, जिसने क्रोध को जीता है, जिसने निःसंगता प्राप्त की है, जो सुख-दुःखादि और शीतोष्णादि द्वन्द्वों से परे हो गया हो, जो अहंकाररहित हो, आशातृष्णारहित हो जो अपरिग्रही हो, वही ऐसा ध्यान प्राप्त कर सकता है। (उत्तम अधिकारियों को तो यह ध्यान सिद्ध हो ही जाता है, पर ऊपर के ये साधन मध्यमाधिकारी और मन्दाधिकारी के लिए बताए गए हैं।)

अगम्यागमकर्ता यो गम्याऽगमनमानसः ।
मुखे त्रीणि च विन्दन्ति त्रिधामा हंस उच्यते ॥4॥

जो मनुष्य इन्द्रियों के लिए अयोग्य तत्त्व में गमन (प्रवेश) नहीं करता है, और इन्द्रियगम्य पदार्थों में भी प्रवेश करने की मानसिकता नहीं रखता, और जिसके मुख को ये तीन (ॐकार की मात्राएँ) प्राप्त हो जाती हैं, वह पुरुष त्रिधामा (तीन धामवाला) हंस कहलाता है। (अयोग्य पदार्थों का त्याग, इन्द्रिय-विषयों में अनासक्ति और ॐकार का जाप—ये तीन धाम हैं)।

परं गुह्यतमं विद्धि ह्यस्ततन्द्री निराश्रयः ।
सोमरूपकला सूक्ष्मा विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥5॥

तुम्हें जानना चाहिए कि यह परम गुह्य वस्तु है। उसमें तन्द्रा (आलस्य) अस्त हो चुकी है, अर्थात् है ही नहीं। उसका कोई आधार (अधिष्ठान) नहीं है। सौम्य रूप (सोम जैसी) सूक्ष्म कला है। वह विष्णु का परमपद (स्थान) है।

त्रिवक्त्रं त्रिगुणं स्थानं त्रिधातुं रूपवर्जितम् ।
निश्चलं निर्विकल्पं च निराकारं निराश्रयम् ॥6॥

वह स्थान विश्व-तैजस-प्राज्ञरूप तीन मुखों वाला है, विराट्-सूत्रात्मा-ईश्वर भेद से तीन गुणों वाला है, ओता-अनुज्ञाता-अनुज्ञा भेद से अथवा ब्रह्मा-विष्णु-महेश भेद से तीन धातुओं वाला है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से तो उसका कोई रूप ही नहीं है, वास्तव में तो वह निश्चल, निर्विकल्प और निरधिष्ठान ही है।

उपाधिरहितं स्थानं वाङ्मनोऽतीतगोचरम् ।
स्वभावं भावसंग्राह्यमसंघातं पदाच्युतम् ॥7॥

वह स्थान उपाधिरहित है, वाणी और मन से परे है इसलिए वह उनका विषय नहीं है। वह केवल स्वरूपमात्र ही है, केवल हृदय के भाव से ही वह पकड़ा जा सकता है। वह कुछ तत्त्वों का समूहरूप नहीं है। और अपने स्थान में वह अच्युत ही है।

अनानानन्दनातीतं दुष्प्रेक्ष्यं मुक्तमव्ययम् ।
चिन्त्यमेवं विनिर्मुक्तं शाश्वतं ध्रुवमच्युतम् ॥8॥

तरह-तरह के आनन्दों से वह रहित नहीं है अर्थात् सभी प्रकार के आनंद उसमें हैं। उसे भौतिक नेत्रों से देखना मुश्किल है। वह सर्वदा मुक्त है, अक्षय है, निर्विकार है, शाश्वत है, अविचल है, अच्युत है; इसी तरह उसका चिन्तन-मनन करना चाहिए।

तद्ब्रह्मणस्तदध्यात्मं तद्विष्णोस्तत्परायणम् ।
अचिन्त्यं चिन्मयात्मानं यद्व्योम परमं स्थितम् ॥9॥

वही अध्यात्म है, वही व्यापक ब्रह्मरूप विष्णु का परम स्थान है। वह अचिन्त्य है, वह चैतन्यस्वरूप है और विशाल आकाश के रूप में अवस्थित है।

अशून्यं शून्यभावं तु शून्यातीतं हृदि स्थितम् ।
न ध्यानं च न च ध्याता न ध्येयो ध्येय एव च ॥10॥

वह अशून्य है फिर भी वह शून्यभाव वाला है। और शून्य-अशून्य से परे भी है। वह हृदय में ही अवस्थित है। वह न ध्यानरूप है, न ध्यातारूप है, न ही ध्येयरूप है। फिर भी केवल एक ध्येय तो वही है।

सर्वं च न परं शून्यं न परं नापरात्परम् ।
अचिन्त्यमप्रबुद्धं च न सत्यं न परं विदुः ॥11॥

वह सर्वस्वरूप है। वह सर्व से परे (अलग) नहीं है। वह शून्य नहीं है। वह द्वैतरूप नहीं है। वह अपर (जगत् से परे) नहीं है। ऐसे अचिन्त्य स्थान को आज तक किसी ने नहीं जाना है। इसे किसी ने न तो सत्यरूप से पूरा जाना है या न ही पररूप से पूरा पहचाना है।

मुनीनां सम्प्रयुक्तं च न देवा न परं विदुः ।
लोभं मोहं भयं दर्पं कामं क्रोधं च किल्बिषम् ॥12॥
शीतोष्णे क्षुत्पिपासे च संकल्पकविकल्पकम् ।
न ब्रह्मकुलदर्पं च न मुक्तिग्रन्थिसञ्चयम् ॥13॥
न भयं न सुखं दुःखं तथा मानापमानयोः ।
एतद्भावविनिर्मुक्तं तद्ग्राह्यं ब्रह्म तत्परम् ॥14॥

वह मुनियों के साथ अच्छी तरह से जुड़ा हुआ दिखाई देता है। देव लोग उसे नहीं जानते। और लोग भी उस परमतत्त्व को पहचानते नहीं हैं। लोभ, मोह, भय, गर्व, काम, क्रोध, पाप, शीतता, उष्णता, भूख, प्यास, संकल्प और विकल्प—ये सब उस परमतत्त्व में नहीं हैं। ब्राह्मण कुल का (उच्चकुल का) अभिमान भी वहाँ नहीं है। बन्धन-मुक्ति की ग्रन्थियों का साथ भी उसे नहीं है। मानापमानजन्य सुख-दुःख भी वहाँ नहीं है। वहाँ कोई भय नहीं है। वह उपर्युक्त सभी भावों से रहित है, वही ब्रह्म ग्रहणयोग्य है।

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः ।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ॥15॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात् ॥16॥

योग के ये अंग हैं—यम, नियम, मौन, त्याग, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृष्टि की एकाग्रता, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि—ये योग के क्रमानुसारी अंग कहे गए हैं।

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥17॥

'सब कुछ ब्रह्म ही है'—इस प्रकार के ज्ञान से जो आप-ही-आप इन्द्रियों का संयम हो जाता है, उसे 'यम' कहा जाता है। इसका बार-बार अभ्यास करना चाहिए।

सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः ॥18॥

नियमपूर्वक एक ही प्रकार के विचार करना और अन्य प्रकार के विचारों का तिरस्कार करना ही परम आनंदरूप 'नियम' कहा गया है। ज्ञानियों के द्वारा यह नियम दत्तचित्त होकर किया जाता है।

त्यागः प्रपञ्चरूपस्य सच्चिदात्मावलोकनात्।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षप्रदायकः ॥19॥

सच्चिद्रूप आत्मा के अवलोकन से इस जगत्रूपी प्रपंच को छोड़ना ही त्याग कहलाता है। यह त्याग बड़े लोगों के द्वारा भी आदर से देखा जाता है। क्योंकि वह तुरन्त मोक्ष का प्रदाता है।

यस्माद्वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा जडैः ॥20॥

'जिस परमतत्त्व को बिना प्राप्त किए ही वाणी मन के साथ वापस लौट जाती है'—ऐसे विचार से जो मौन रखा जाता है, वही योगियों के द्वारा सिद्ध करने योग्य है और वह मौन जड इन्द्रियों के द्वारा किया जाता है। (यहाँ चौथे चरण में 'तद् भजेत्सर्वदा बुध:'—ऐसा पाठान्तर है। इस पक्ष में यह अर्थ होगा—'वह मौन ज्ञानी हमेशा के लिए करता रहे')।

वाचो यस्मान्निवर्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जितः ॥21॥
इति वा तद्भवेन्मौनं सर्वं सहजसंज्ञितम्।
गिरां मौनं तु बालानामयुक्तं ब्रह्मवादिनम् ॥22॥

जिसको बिना कहे वाणी भी वापिस लौट जाती है, वह भला फिर किसके द्वारा कहा जा सकता है ? '(अरे !) यदि जगत् (प्रपंच) का वर्णन करना हो, तो भी वह शब्दों से नहीं कहा जा सकता।'—इस विचार से जो मौन रखा जाता है, उसे 'सहज मौन' नाम दिया गया है। बाकी केवल वाणी का मौन तो बच्चों का अर्थात् अज्ञानियों का ही मौन है। वैसा मौन ब्रह्मवादियों के लिए योग्य नहीं है।

आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥23॥

जहाँ आदि में, मध्य में या अन्त में कोई लोग या लोक है ही नहीं और जिस एक ही के द्वारा यह सब कुछ व्याप्त हुआ है, ऐसा देश ही वास्तव में 'विजन देश' कहा गया है।

कल्पना सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः।
कालशब्देन निर्दिष्टं ह्यखण्डानन्दमद्वयम् ॥24॥

जिसके नेत्र के एक निमिषमात्र से ही सभी भूतों की कल्पना (रचना) हो जाती है वही अखण्ड आनन्दरूप अद्वयतत्त्व यहाँ 'काल' शब्द के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशनम् ॥25॥

जहाँ सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्म का चिन्तन किया जा सके उसी को आसन समझना चाहिए। अन्य जो दूसरे आसन हैं, वे तो सुख के विनाशक हैं।

सिद्धये सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमद्वयम्।
यस्मिन्सिद्धिं गताः सिद्धास्तत्सिद्धासनमुच्यते ॥26॥

सभी भूतों के आदि, जगत् का अधिष्ठान और अद्वैत ब्रह्म, ये ही सिद्ध करने के लिए योग्य तत्त्व है। इन्हें सिद्ध करने वाले मनुष्य स्वयं सिद्ध होते हैं और उसी सिद्धि को सिद्धासन नाम दिया जाता है।

यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तबन्धनम्।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ ब्रह्मवादिनाम् ॥27॥

जो सभी लोकों का मूल है, जो चित्त के बन्धन का कारण (मूल) हो सकता है, वही मूलबन्ध ब्रह्मवादियों के लिए सदैव सेवन करने योग्य है। अर्थात् सर्वकारण ब्रह्म ही मूलबन्ध है। शरीर की आकुंचनादि क्रिया वास्तव में मूलबन्ध नहीं है। यह राजयोगियों का सेव्य है।

अङ्गानां समतां विद्यात् समे ब्रह्मणि लीयते।
नो चेन्नैव समानत्यमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ॥28॥

सर्वस्वरूप ब्रह्म में लीनता को ही 'अंगों की समता' कहा जाता है। ऐसा न मानने पर तो सूखे पेड़ की-सी समानता कोई 'समत्व' नहीं है, या वैसी सरलता (वैसा सीधापन) वास्तव में कोई सीधापन नहीं है।

दृष्टिं शास्त्रमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥29॥

शास्त्रपरक दृष्टि करके जगत् को ब्रह्ममय देखना चाहिए। उसे ही 'परमोदार दृष्टि' कहते हैं। केवल नाक के अग्र भाग को देखना ही कोई वास्तविक एकाग्रता (परमोदार दृष्टि) नहीं कही जा सकती।

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत्।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥30॥

जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का अभाव ही हो जाए, उस ब्रह्म में ही दृष्टि को स्थिर करना चाहिए। केवल नाक के अग्र भाग को देखना कोई वास्तविक 'स्थिर दृष्टि' नहीं कही जाती।

चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥31॥

चित्त आदि सभी पदार्थों में ब्रह्मदृष्टि करने से अन्य सभी चित्तवृत्तियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं। इसी को सही प्राणायाम कहा जाता है।

निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरितः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरुच्यते ॥32॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां प्राणपीडनम् ॥33॥

जगत्‌रूप प्रपंच का निषेध ही वास्तविक रूप में रेचक है। और 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसी वृत्ति ही वास्तव में पूरक है। और बाद में उसी वृत्ति की निश्चलता होना ही सही रूप में कुंभक है। यही ज्ञानियों का प्राणायाम है। अज्ञानी लोग ही नाक दबाना आदि को प्राणायाम समझते हैं।

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चित्तरञ्जकम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥34॥

सभी विषयों में आत्मदृष्टि (ब्रह्मदृष्टि) करते हुए मन और चित्त को उसी में लीन करना (और अन्य विषयों से हटा लेना) ही प्रत्याहार है और वह बार-बार अभ्यास करने योग्य है।

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥35॥

जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ मन से ब्रह्म का ही जो दर्शन किया जाता है, वही परम धारणा कही गई है।

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन व्याख्यातः परमानन्ददायकः ॥36॥

'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार की आलम्बनरहित स्थिति सत् वृत्ति के द्वारा हो, वह विख्यात भाव ध्यान शब्द के द्वारा कहा गया है। वह परम आनन्ददायक भाव है।

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिरभिधीयते ॥37॥

और फिर बाद में वही निर्विकार वृत्ति जब ब्रह्माकार हो जाती है और वृत्ति का ही बिल्कुल विस्मरण हो जाता है, तब उस अवस्था को समाधि कहा जाता है।

इमं चाकृत्रिमानन्दं तावत्साधु समभ्यसेत्।
लक्ष्यो यावत्क्षणात्पुंसः प्रत्यक्त्वं सम्भवेत्स्वयम् ॥38॥
ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट्।
तत्स्वं रूपं भवेत्तस्य विषयो मनसो गिराम् ॥39॥

इस अकृत्रिम (स्वाभाविक) आनन्द का मनुष्य को तब तक अच्छी तरह से अभ्यास करना चाहिए जब तक कि मनुष्य का लक्ष्य आप-ही-आप प्रत्यक् स्वरूप स्पष्ट न हो जाए। इसके बाद साधनरहित होकर वह मनुष्य सिद्ध योगीराज बन जाता है। और तब उसके मन और वाणी का विषय अपना ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात्।
अनुसन्धानराहित्यमालस्यं भोगलालसम् ॥40॥
लयस्तमश्च विक्षेपस्तेजः स्वेदश्च शून्यता।
एवं हि विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविशारदैः ॥41॥
भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता।
ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तया पूर्णत्वमभ्यसेत् ॥42॥

समाधि करते समय बलात् अनेकानेक विघ्न आते हैं—अनुसन्धानराहित्य आता है, आलस्य

आता है, भोगलालसा आती है, लय, तमस्, विक्षेप, तेज, पसीना और शून्यता आदि आते हैं। परन्तु, ब्रह्मकुशल लोग उनको हटा सकते हैं। किसी भावात्मक वृत्ति से उस भाव का स्वरूप पाया जा सकता है। शून्य की वृत्ति से शून्यवृत्तिरूप और ब्रह्मवृत्ति से ब्रह्मरूप – पूर्णरूप पाया जा सकता है। इसलिए उसी वृत्ति में रहकर पूर्णता का अनुभव करना चाहिए।

ये हि वृत्तिं विहायैनां ब्रह्माख्यां पावनीं पराम्।
वृथैव ते तु जीवन्ति पशुभिश्च समा नराः ॥43॥

जो लोग इस परमपावन ब्रह्म नाम की वृत्ति को छोड़कर जी रहे हैं, वे तो पशु के समान ही हैं, और वे वृथा ही जी रहे हैं।

ये तु वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वा वै वर्धयन्ति ये।
ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये ॥44॥

जो मनुष्य इस ब्रह्माकारवृत्ति को जानते हैं, और जानकर उसे आगे बढ़ाते हैं अर्थात् परिशीलन करते हैं, वे सत्पुरुष धन्य (कृतार्थ) हैं, और वे तीनों लोकों में वन्दन योग्य हैं।

येषां वृत्तिः समा वृद्धा परिपक्वा च सा पुनः।
ते वै सद् ब्रह्मतां प्राप्ता नेतरे शब्दवादिनः ॥45॥

जिन मनुष्यों की वह ब्रह्मवृत्ति एकसमान रूप से बढ़ती हुई बाद में परिपक्व हो जाती है, वे मनुष्य ही सद्रूप ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, पर अन्य लोग जो केवल ऐसे शब्दमात्र ही बोला करते हैं, वे ब्रह्मत्व को प्राप्त नहीं कर सकते।

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
तेऽप्यज्ञानतया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च ॥46॥

जो लोग ब्रह्म की बातें करने में तो बहुत कुशल होते हैं, पर ब्रह्मवृत्ति से हीन होते हैं और अतिशय आसक्तिवाले होते हैं, वे सचमुच अपने अज्ञान के कारण मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेते हैं और जन्म लेकर फिर मृत्यु को प्राप्त करते हैं।

निमिषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः ॥47॥

वे योगी लोग आधे निमिष तक भी ब्रह्मादि, सनकादि और शुकादि की तरह ब्रह्मवृत्ति के बिना नहीं रह सकते।

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते।
कारणं तत्त्वतो नश्येत् कार्याभावे विचारतः ॥48॥

'कारण ही कार्य है' और 'कार्य ही कारण है'—ऐसी जिसकी वृत्ति होती है, उसके लिए यदि तात्त्विक विचार किया जाए, तो कार्य के अभाव में कारण भी नष्ट हो जाता है।

अथ शुद्धं भवेद्वस्तु यद्वै वाचामगोचरम्।
उदेति शुद्धचित्तानां वृत्तिज्ञानं ततः परम् ॥49॥

फिर तो ऐसे शुद्ध चितवाले मनुष्यों के सामने वाणी से अगोचर शुद्ध ब्रह्मरूप पदार्थ, वृत्ति के ज्ञान में उदित हो जाता है।

भावितं तीव्रवेगेन यद्वस्तु निश्चयात्मकम् ।
दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत् ॥50॥
विद्वान्नित्यं सुखे तिष्ठेद्धिया चिद्रसपूर्णया ॥51॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

सम्यक् ज्ञान से पहले निश्चयात्मक रूप से बड़ी तत्परता से दृश्यभाव के रूप में जिस वस्तु को माना गया हो, उसी का फिर बाद में अदृश्यता में ले जाकर ब्रह्माकार में चिन्तन-मनन करना चाहिए जिससे उसे जानने वाला होकर अर्थात् ज्ञानी बनकर मनुष्य चैतन्यरस से परिपूर्ण हुई बुद्धि के कारण हमेशा सुख को प्राप्त कर सकता है।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

द्वितीयोऽध्यायः

अथ ह कुमारः शिवं पप्रच्छाऽखण्डैकरसचिन्मात्रस्वरूपमनुब्रूहीति । स होवाच परमशिवः—

फिर कार्त्तिकस्वामी ने (कुमार ने) शिव से पूछा—मुझे आप अखण्ड-एकरसमात्र चिन्मात्र का (चैतन्य मात्र का) उपदेश दीजिए। तब परम शिव ने कहा—

अखण्डैकरसं दृश्यमखण्डैकरसं जगत् ।
अखण्डैकरसं भावमखण्डैकरसं स्वयम् ॥1॥
अखण्डैकरसो मन्त्र अखण्डैकरसा क्रिया ।
अखण्डैकरसं ज्ञानमखण्डैकरसं जलम् ॥2॥
अखण्डैकरसा भूमिरखण्डैकरसं वियत् ।
अखण्डैकरसं शास्त्रमखण्डैकरसा त्रयी ॥3॥
अखण्डैकरसं ब्रह्म चाखण्डैकरसं वृतम् ।
अखण्डैकरसो जीव अखण्डैकरसो ह्यजः ॥4॥

दृश्य अखण्ड एकरस है, जगत् अखण्ड एकरस है, भाव अखण्ड एकरस है, स्वयं भी अखण्ड एकरस है। इसी प्रकार मन्त्र, क्रिया, ज्ञान और जल भी अखण्ड एकरस हैं। उसी प्रकार पृथ्वी, आकाश, शास्त्र और तीन वेद भी अखण्ड एकरस हैं। इसी तरह ब्रह्म, वृत्त, जीव और अजन्मा परमात्मा भी अखण्ड एकरस ही है।

अखण्डैकरसो ब्रह्मा अखण्डैकरसो हरिः ।
अखण्डैकरसो रुद्र अखण्डैकरसोऽस्म्यहम् ॥5॥
अखण्डैकरसो ह्यात्मा अखण्डैकरसोऽगुरुः ।
अखण्डैकरसं लक्ष्यमखण्डैकरसं महः ॥6॥
अखण्डैकरसो देह अखण्डैकरसं मनः ।
अखण्डैकरसं चित्तमखण्डैकरसं सुखम् ॥7॥

अखण्डैकरसा विद्या अखण्डैकरसोऽव्ययः ।
अखण्डैकरसं नित्यमखण्डैकरसं परम् ॥8॥

ठीक उसी प्रकार ब्रह्मा, हरि (विष्णु), रुद्र और मैं—ये सब भी अखण्ड एकरस रूप ही हैं। और आत्मा, गुरु, लक्ष्यस्थान और तेज भी अखण्ड एकरस हैं। देह, मन, चित्त और सुख भी अखण्ड एकरस है। उसी तरह विद्या, विकारविहीन आत्मा, नित्यत्व, परमतत्त्व ब्रह्मतत्त्व भी अखण्डैकरस ही हैं।

अखण्डैकरसं किंचिदखण्डैकरसं परम् ।
अखण्डैकरसादन्यन्नास्ति नास्ति षडानन ॥9॥
अखण्डैकरसान्नास्ति अखण्डैकरसान्न हि ।
अखण्डैकरसात्किंचिदखण्डैकरसादहम् ॥10॥

हे षडानन! जो कुछ भी अव्याख्येय है, वह अखण्ड एकरस ही है। वही परम है। अखण्ड एकरस से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। कुछ है ही नहीं, है ही नहीं। अखण्ड एकरस से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है। मैं स्वयं भी अखण्ड एकरस से खाली नहीं हूँ।

अखण्डैकरसं स्थूलं सूक्ष्मं चाखण्डरूपकम् ।
अखण्डैकरसं वेद्यमखण्डैकरसो भवान् ॥11॥
अखण्डैकरसं गुह्यमखण्डैकरसादिकम् ।
अखण्डैकरसो ज्ञाता ह्यखण्डैकरसा स्थितिः ॥12॥
अखण्डैकरसा माता अखण्डैकरसः पिता ।
अखण्डैकरसो भ्राता अखण्डैकरसः पतिः ॥13॥

स्थूल, सूक्ष्म, ज्ञेय पदार्थ और तुम—सभी अखण्ड एकरस हैं। गुह्य वस्तु अखण्ड एकरस है और उसका आदि भी अखण्ड एकरस है। ज्ञाता भी अखण्डैकरस है और स्थिति भी अखण्ड एकरस है। माता, पिता, भाई और स्वामी सभी अखण्ड एकरस हैं।

अखण्डैकरसं सूत्रमखण्डैकरसो विराट् ।
अखण्डैकरसं गात्रमखण्डैकरसं शिरः ॥14॥
अखण्डैकरसं चान्तरखण्डैकरसं बहिः ।
अखण्डैकरसं पूर्णमखण्डैकरसामृतम् ॥15॥
अखण्डैकरसं गोत्रमखण्डैकरसं गृहम् ।
अखण्डैकरसं गोप्यमखण्डैकरसश्शशी ॥16॥
अखण्डैकरसास्तारा अखण्डैकरसो रविः ।
अखण्डैकरसं क्षेत्रमखण्डैकरसा क्षमा ॥17॥

सूत्रात्मा, विराट्, सभी अवयव और मस्तक अखण्ड एकरस हैं। अन्दर का सब अखण्डैकरस है और बाहर का भी सब अखण्डैकरस ही है। पूर्ण वस्तु अखण्डैकरस है और अमृत अखण्डैकरस है। वंशनाम, घर सब अखण्डैकरस हैं, सब गोपनीय और चन्द्र, सूर्य, तारा भी अखण्ड एकरस है। क्षेत्र, क्षमा भी अखण्ड एकरस हैं।

अखण्डैकरसः शान्त अखण्डैकरसोऽगुणः ।
अखण्डैकरसः साक्षी अखण्डैकरसः सुहृत् ॥18॥

अखण्डैकरसो बन्धुरखण्डैकरसः सखा ।
अखण्डैकरसो राजा अखण्डैकरसं पुरम् ॥19॥
अखण्डैकरसं राज्यमखण्डैकरसः प्रजाः ।
अखण्डैकरसं तारमखण्डैकरसो जपः ॥20॥

जो शान्तरस है वह अखण्ड एकरस है, निर्गुण अखण्डैकरस है, साक्षी और मित्र भी अखण्ड एकरस हैं। भाई, सखा, राजा और नगर ये सभी अखण्ड एकरस हैं। राज्य, प्रजा, तारक मन्त्र (ओम्) और जप—सभी अखण्ड एकरस हैं।

अखण्डैकरसं ध्यानमखण्डैकरसं पदम् ।
अखण्डैकरसं ग्राह्यमखण्डैकरसं महत् ॥21॥
अखण्डैकरसं ज्योतिरखण्डैकरसं धनम् ।
अखण्डैकरसं भोज्यमखण्डैकरसं हविः ॥22॥
अखण्डैकरसो होम अखण्डैकरसो जपः ।
अखण्डैकरसं स्वर्गमखण्डैकरसः स्वयम् ॥23॥

ध्यान, परमतत्त्व, ग्राह्य पदार्थ, विशाल वस्तु भी अखण्ड एकरस हैं। ज्योति, धन, खाद्यपदार्थ, होमद्रव्य आदि भी अखण्ड एकरस ही हैं। होमक्रिया, जपक्रिया और स्वयं भी अखण्ड एकरस रूप ही हैं।

अखण्डैकरसं सर्वं चिन्मात्रमिति भावयेत् ।
चिन्मात्रमेव चिन्मात्रमखण्डैकरसं परम् ॥24॥

यह सब मात्र अखण्डैकरस चैतन्य ही है—ऐसा चिन्तन करना चाहिए। सब चैतन्य ही है। और मात्र चैतन्य ही परमतत्त्व है और वही अखण्ड एकरस है।

भववर्जितचिन्मात्रं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
इदं च सर्वं चिन्मात्रमयं चिन्मात्रमेव हि ॥25॥
आत्मभावं च चिन्मात्रमखण्डैकरसं विदुः ।
सर्वलोकं च चिन्मात्रं त्वत्ता मत्ता च चिन्मयम् ॥26॥
आकाशो भूर्जलं वायुरग्निर्ब्रह्मा हरिः शिवः ।
यत्किञ्चिद्यन्न किञ्चिच्च सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥27॥
अखण्डैकरसं सर्वं यद्यच्चिन्मात्रमेव हि ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥28॥

संसार रहित यह सब चिन्मात्र है। यह केवल चैतन्य और मात्र चैतन्य ही है। यह जो आत्मा का भाव (सत्ता) है वह केवल चैतन्य ही है, अखण्ड है, एकरस ही है, ऐसा ज्ञानी लोग मानते हैं। ये सभी लोक चैतन्य हैं, त्वंभाव और अहंभाव भी चैतन्य है। आकाश, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जो कुछ है और जो कुछ नहीं है वह सब चैतन्य ही हैं और जो चिन्मात्र है वह अखण्ड एकरस ही है। भूत, भविष्य और वर्तमान सभी अखण्डैकरस और चैतन्यमय ही हैं।

द्रव्यं कालं च चिन्मात्रं ज्ञानं ज्ञेयं चिदेव हि ।
ज्ञाता चिन्मात्ररूपश्च सर्वं चिन्मयमेव हि ॥29॥

सम्भाषणं च चिन्मात्रं यद्यच्चिन्मात्रमेव हि ।
असच्च सच्च चिन्मात्रमाद्यन्तं चिन्मयं सदा ॥30॥
आदिरन्तश्च चिन्मात्रं गुरुशिष्यादि चिन्मयम् ।
दृग्दृश्यं यदि चिन्मात्रमस्ति चेच्चिन्मयं सदा ॥31॥
सर्वाश्चर्यं हि चिन्मात्रं देहं चिन्मात्रमेव हि ।
लिङ्गं च कारणं चैव चिन्मात्रान्न हि भिद्यते ॥32॥

द्रव्य और काल केवल चैतन्य है, ज्ञान और ज्ञेय केवल चैतन्य है, ज्ञाता भी चिन्मात्र रूप ही है। सब कुछ चिन्मय ही है। संभाषण भी चैतन्यमात्र है, जो भी है वह सब भी चिन्मय है। असत् और सत् भी चैतन्यमात्र है, आदि और अन्त भी चैतन्यमात्र है, गुरु-शिष्य आदि भी चैतन्यमात्र है, और यदि दृक् तथा दृश्य (द्रष्टा और दृश्य) सब चिन्मात्र है, तब तो सब कुछ चिन्मात्र ही है। सभी आश्चर्य, देह, लिंगदेह, इन सबका कारण—ये सभी चिन्मात्र हैं। चिन्मात्र से भिन्न कुछ भी नहीं है।

अहं त्वं चैव चिन्मात्रं मूर्तामूर्तादि चिन्मयम् ।
पुण्यं पापं च चिन्मात्रं जीवश्चिन्मात्रविग्रहः ॥33॥
चिन्मात्रान्नास्ति संकल्पश्चिन्मात्रान्नास्ति वेदनम् ।
चिन्मात्रान्नास्ति मन्त्रादि चिन्मात्रान्नास्ति देवता ॥34॥
चिन्मात्रान्नास्ति दिक्पालाश्चिन्मात्राद्व्यावहारिकम् ।
चिन्मात्रात्परमं ब्रह्म चिन्मात्रान्नास्ति कोऽपि हि ॥35॥
चिन्मात्रान्नास्ति माया च चिन्मात्रान्नास्ति पूजनम् ।
चिन्मात्रान्नास्ति मन्तव्यं चिन्मात्रान्नास्ति सत्यकम् ॥36॥

'मैं' और 'तू' केवल चैतन्य ही हैं। मूर्त-अमूर्त सब केवल चैतन्य है। पुण्य-पाप चिन्मात्र ही है, जीव केवल चिन्मय है। कोई संकल्प चैतन्य से अलग नहीं है, कोई अनुभव, कोई ज्ञान, कोई भी दिक्पाल, कोई भी व्यावहारिक वस्तु चैतन्यमात्र से भिन्न है ही नहीं। परमब्रह्म भी चैतन्य से भिन्न नहीं है। कोई भी पदार्थ चैतन्यमात्र से भिन्न नहीं है। माया भी चिन्मात्र से अलग नहीं है। कोई पूजन भी चिन्मयता से अलग नहीं है। चिन्मात्र से अलग कोई भी पदार्थ मन्तव्य (चिन्तनीय) ही नहीं है। चिन्मात्र से बढ़कर कोई सत्य नहीं है।

चिन्मात्रान्नास्ति कोशादि चिन्मात्रान्नास्ति वै वसु ।
चिन्मात्रान्नास्ति मौनं च चिन्मात्रान्नास्त्यमौनकम् ॥37॥
चिन्मात्रान्नास्ति वैराग्यं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
चिनमात्रान्नास्ति वैराग्यं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
यच्च यावच्च चिन्मात्रं यच्च यावच्च दृश्यते ॥38॥
यच्च यावच्च दूरस्थं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
यच्च यावच्च भूतादि यच्च यावच्च लक्ष्यते ॥39॥
यच्च यावच्च वेदान्ताः सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
चिन्मात्रान्नास्ति गमनं चिन्मात्रान्नास्ति मोक्षकम् ॥40॥

निधि आदि भी चैतन्यमात्र से अलग नहीं हैं। चैतन्य से बढ़कर कोई धन नहीं है। कोई मौन या कोई अमौन भी चैतन्य से अलग नहीं है। वैराग्य भी चैतन्य से भिन्न नहीं क्योंकि सब कुछ चिन्मात्र ही है। जो जितना दिखाई देता है वह केवल चैतन्य ही है और जो नहीं दिखाई देता अर्थात् दूर है,

वह भी चिन्मात्र है। जितने और जिस प्रमाण में ये पंचभूत आदि हैं, वे भी चिन्मात्र हैं। जो कुछ भी और जितने प्रमाण में वेदान्त हैं, सब चिन्मात्र हैं। चिन्मात्र से भिन्न कोई गति नहीं, चिन्मय से बढ़कर कोई मोक्ष ही नहीं है।

चिन्मात्रान्नास्ति लक्ष्यं च सर्वं चिन्मात्रमेव हि।
अखण्डैकरसं ब्रह्म चिन्मात्रान्न हि विद्यते ॥41॥
शास्त्रे मयि त्वयीशे च ह्यखण्डैकरसो भवान्।
इत्येकरूपकतया यो वा जानात्यहं त्विति ॥42॥
सकृज्ज्ञानेन मुक्तिः स्यात्सम्यग्ज्ञाने स्वयं सदा ॥43॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

चैतन्य को छोड़कर कोई लक्ष्य ही नहीं है। सब कुछ केवल चित् ही है। सब कुछ अतएव अखण्ड एकरस ही है, चिन्मात्र से अलग कुछ भी नहीं है। शास्त्र में, मुझमें, तुझमें, और ईश्वर में—सबमें आप ही अखण्ड एकरस रूप से विद्यमान हैं। इस प्रकार एकरूपता से सर्वत्र मैं हूँ, ऐसा जो जानता है अर्थात् ऐसे सम्यग् ज्ञान से उसकी तत्काल सदा के लिए मुक्ति हो जाती है।

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

❋

तृतीयोऽध्यायः

कुमारः पितरमात्मानुभवमनुब्रूहीति पप्रच्छ। स होवाच परः शिवः—
परब्रह्मस्वरूपोऽहं परमानन्दमस्म्यहम्।
केवलं ज्ञानरूपोऽहं केवलं परमोऽस्म्यहम् ॥1॥
केवलं शान्तरूपोऽहं केवलं चिन्मयोऽस्म्यहम्।
केवलं नित्यरूपोऽहं केवलं शाश्वतोऽस्म्यहम् ॥2॥
केवलं सत्त्वरूपोऽहमहं त्यक्त्वाहमस्म्यहम्।
सर्वहीनस्वरूपोऽहं चिदाकाशमयोऽस्म्यहम् ॥3॥
केवलं तुर्यरूपोऽस्मि तुर्यातीतोऽस्मि केवलः।
सदा चैतन्यरूपोऽस्मि चिदानन्दमयोऽस्म्यहम् ॥4॥

कुमार कार्तिकस्वामी ने अपने पिता शंकर से पूछा—'आप आत्मानुभूति की बात कहिए'। तब परम शिव बोले—'मैं परब्रह्मस्वरूप हूँ, मैं परम आनन्दस्वरूप हूँ, मैं केवल ज्ञानरूप हूँ, मैं केवल परमात्मा हूँ। मैं केवल शान्तरूप हूँ, चैतन्यरूप हूँ, केवल नित्यरूप हूँ, मैं शाश्वत-स्थिर-एकरूप हूँ। मैं केवल सत्त्वस्वरूप हूँ, 'मैं' भाव को छोड़कर 'मैं' हूँ, सर्व से हीन स्वरूपवाला हूँ, मैं चिदाकाशमय हूँ, केवल तुर्यरूप हूँ, और तुर्यातीत (तुर्यतुर्य रूप) भी मैं हूँ। सदैव चैतन्यरूप मैं हूँ। मैं चिदानन्दमय हूँ।

केवलाकाररूपोऽस्मि शुद्धरूपोऽस्म्यहं सदा।
केवलं ज्ञानरूपोऽस्मि केवलं प्रियमस्म्यहम् ॥5॥
निर्विकल्पस्वरूपोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरामयः।
सदाऽसङ्गस्वरूपोऽस्मि निर्विकारोऽहमव्ययः ॥6॥

सदैकरसरूपोऽस्मि सदा चिन्मात्रविग्रहः।
अपरिच्छिन्नरूपोऽस्मि ह्यखण्डानन्दरूपवान् ॥7॥
सत्परानन्दरूपोऽस्मि चित्परानन्दमस्म्यहम्।
अन्तरान्तररूपोहमवाङ्मनसगोचरः ॥8॥

मैं केवल आकाररूप हूँ, सदैव शुद्ध रूपवाला हूँ, केवल ज्ञानरूप हूँ, एकमात्र प्रियस्वरूप हूँ, निर्विकल्परूप हूँ, सदा इच्छारहित हूँ, निर्दोष हूँ, सदा असंग स्वरूप हूँ, विकाररहित हूँ, सदैव एकरस हूँ, सदैव चैतन्यमात्र रूप हूँ, असीम स्वरूप वाला हूँ, अखण्ड-आनन्दस्वरूप हूँ, सद्रूप, परानन्दरूप, चिद्रूप, उच्चतम आनन्दरूप, भीतर से भी भीतर के रूपवाला हूँ और वाणी एवं मन का विषय नहीं हूँ।

आत्मानन्दस्वरूपोऽहं सत्यानन्दोऽस्म्यहं सदा।
आत्मारामस्वरूपोऽस्मि ह्ययमात्मा सदाशिवः ॥9॥
आत्मप्रकाशरूपोऽस्मि ह्यात्मज्योती रसोऽस्म्यहम्।
आदिमध्यान्तहीनोऽस्मि ह्याकाशसदृशोऽस्म्यहम् ॥10॥
नित्यशुद्धचिदानन्दसत्तामात्रोऽहमव्ययः।
नित्यबुद्धविशुद्धैकसच्चिदानन्दमस्म्यहम् ॥11॥
नित्यशेषस्वरूपोऽस्मि सर्वातीतोऽस्म्यहं सदा।
रूपातीतस्वरूपोऽस्मि परमाकाशविग्रहः ॥12॥

मैं आत्मानन्दस्वरूप हूँ, सदा सत्य – आनन्द हूँ, आत्मारामस्वरूप हूँ, सदाशिव आत्मा हूँ। मैं आत्मा का प्रकाशरूप हूँ, मैं आत्मज्योतिरूप रसयुक्त हूँ, मैं आदि-मध्य-अन्त हीन हूँ, मैं आकाश जैसा हूँ। मैं नित्य, शुद्ध, चैतन्य, आनन्द और नित्य सत्तामात्र हूँ। मैं निर्विकार, नित्य ज्ञानी, अतिशय शुद्ध और केवल सच्चिदानन्द हूँ। मैं नित्य और 'नेति नेति' करने से शेष रहा हुआ तत्त्व हूँ। मैं सबसे परे, सदा रूपरहित स्वरूपवाला हूँ, मैं परम आकाश जैसे शरीरवाला हूँ।

भूमानन्दस्वरूपोऽस्मि भाषाहीनोऽस्म्यहं सदा।
सर्वाधिष्ठानरूपोऽस्मि सर्वदा चिद्घनोऽस्म्यहम् ॥13॥
देहभावविहीनोऽस्मि चिन्ताहीनोऽस्मि सर्वदा।
चित्तवृत्तिविहीनोऽहं चिदात्मैकरसोऽस्म्यहम् ॥14॥
सर्वदृश्यविहीनोऽहं दृग्रूपोऽस्म्यहमेव हि।
सर्वदा पूर्णरूपोऽस्मि नित्यतृप्तोऽस्म्यहं सदा ॥15॥
अहं ब्रह्मैव सर्वं स्यादहं चैतन्यमेव हि।
अहमेवाहमेवास्मि भूमाकाशस्वरूपवान् ॥16॥

मैं भूमा (विशालतम) आनन्दस्वरूप हूँ। मैं भाषारहित हूँ, सर्वाधिष्ठानस्वरूप हूँ, सर्वदा चिद्घन - सर्वत्र चिद्व्याप्त हूँ, देहभाव से रहित हूँ, सदैव चिन्ता-विचार-हीन हूँ, चित्तवृत्तियों से रहित हूँ, चित्-रूप एकरस वाला हूँ, सभी दृश्यपदार्थों से परे हूँ, केवल द्रष्टा (साक्षी) ही हूँ, सदैव पूर्ण हूँ, सदैव परितुष्ट हूँ, मैं ब्रह्म ही हूँ, यह सर्वचैतन्य मैं ही हूँ, मैं मैं ही हूँ, विशालतम आकाश जैसे व्याप्त शरीरवाला मैं ही हूँ।

अहमेव महानात्मा अहमेव परात्परः।
अहमन्यवदाभामि ह्यहमेव शरीरवत् ॥17॥

अहं शिष्यवदाभामि ह्यहं लोकत्रयाश्रयः ।
अहं कालत्रयातीत अहं वेदैरुपासितः ॥18॥
अहं शास्त्रेण निर्णीत अहं चित्ते व्यवस्थितः ।
मत्त्यक्तं नास्ति किंचिद्वा मत्त्यक्तं पृथिवी च वा ॥19॥
मयातिरिक्तं यद्यद्वा तत्तन्नास्तीति निश्चिनु ।
अहं ब्रह्मास्मि सिद्धोऽस्मि नित्यशुद्धोऽस्म्यहं सदा ॥20॥

मैं ही महान् आत्मा हूँ, मैं परमत्त्व से भी परतत्त्व हूँ। मैं अन्य-सा मात्र दिखाई ही देता हूँ, मैं ही शरीर जैसा लग रहा हूँ, मैं शिष्य जैसा लग रहा हूँ, मैं तीनों लोकों का आश्रय हूँ, मैं भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालों से परे हूँ, मैं ही वेदों के द्वारा उपासित हूँ। मैं ही शास्त्रों के द्वारा निर्णीत किया गया हूँ, मैं चित्त में रहा हूँ, मुझसे कोई भी त्यागा नहीं गया है, अव्यक्त, पृथ्वी सबमें मैं व्याप्त हूँ। मुझसे रिक्त जो है वह है ही नहीं, ऐसा निश्चय जान लो। मैं ही ब्रह्म हूँ, सिद्ध हूँ, नित्य शुद्ध हूँ।

निर्गुणः केवलात्मास्मि निराकारोस्म्यहं सदा ।
केवलं ब्रह्ममात्रोऽस्मि ह्यजरोऽस्म्यमरोऽस्म्यहम् ॥21॥
स्वयमेव स्वयं भामि स्वयमेव सदात्मकः ।
स्वयमेवात्मनि स्वस्थः स्वयमेव परा गतिः ॥22॥
स्वयमेव स्वयं भुञ्जे स्वयमेव स्वयं रमे ।
स्वयमेव स्वयं ज्योतिः स्वयमेव स्वयं महः ॥23॥
स्वस्यात्मनि स्वयं रंस्ये स्वात्मन्येव विलोकये ।
स्वात्मन्येव सुखासीनः स्वात्ममात्रावशेषकः ॥24॥

मैं केवल निर्गुण आत्मा हूँ, सदैव निराकार हूँ, मैं केवल (मात्र) ब्रह्म हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ। मैं स्वयं ही अपना प्रकाश करता हूँ। मैं स्वयं सदा आत्मरूप हूँ। स्वयं अपने आत्मा में रहता हूँ, स्वयं ही परमगति हूँ। मैं स्वयं अपने को खाता हूँ, मैं अपने आपसे ही खेलता हूँ, मैं अपने आपमें ज्योति रूप हूँ, मैं ही अपना प्रकाश हूँ। मैं अपने आपमें ही खेलता हूँ, अपने आपमें ही देखता हूँ, अपने आपमें ही सुख से अवस्थित होकर अपने में ही स्वयं शेष रहता हूँ।

स्वचैतन्ये सदा स्थास्ये स्वात्मराज्ये सुखे रमे ।
स्वात्मसिंहासने स्थित्वा स्वात्मनोऽत्यन्न चिन्तये ॥25॥
चिद्रूपमात्रं ब्रह्मैव सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
आनन्दघन एवाहमहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥26॥
सर्वदा सर्वशून्योऽहं सर्वात्मानन्दवानहम् ।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहमात्माकाशोऽस्मि नित्यदा ॥27॥
अहमेव हृदाकाशश्चिदादित्यस्वरूपवान् ।
आत्मनात्मनि तृप्तोऽस्मि ह्यरूपोऽस्म्यहमव्ययः ॥28॥

मैं अपने चैतन्य में सदैव रहता हूँ। अपने आत्मरूप राज्य में सिंहासन पर बैठकर अपने आत्मा से अलग किसी का चिन्तन नहीं करता। केवल चैतन्यरूप ब्रह्म ही सच्चिदानन्द और अद्वैत है। मैं ही आनन्दमय हूँ, मैं ही वह ब्रह्म हूँ, मात्र ब्रह्म ही हूँ। मैं सर्वदा सर्व से शून्य हूँ। मैं ही सबका आत्मा

और मैं ही सर्वानन्दमय हूँ। मैं नित्यानन्दस्वरूप आकाश की तरह व्यापक हूँ। मैं हृदयाकाश रूप प्रकाशमान चिदाकाश हूँ। मैं अपने आत्मा में आत्मा से ही परितृप्त हूँ। मैं अरूप हूँ, मैं अव्यय हूँ।

एकसंख्याविहीनोऽस्मि नित्यमुक्तस्वरूपवान्।
आकाशादपि सूक्ष्मोऽहमाद्यन्ताभाववानहम् ॥29॥
सर्वप्रकाशरूपोऽहं परावरसुखोऽस्म्यहम्।
सत्तामात्रस्वरूपोऽहं शुद्धमोक्षस्वरूपवान् ॥30॥
सत्यानन्दस्वरूपोऽहं ज्ञानानन्दघनोऽस्म्यहम्।
विज्ञानमात्ररूपोऽहं सच्चिदानन्दलक्षणः ॥31॥
ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन।
तदेवाहं सदानन्दं ब्रह्मैवाहं सनातनम् ॥32॥

मैं एक संख्या से रहित हूँ। मैं नित्यमुक्त स्वरूप वाला हूँ। मैं आकाश से भी सूक्ष्म हूँ। मैं आदि-अन्त से रहित हूँ। मैं सर्वप्रकाशरूप, परमोत्तम (दिव्य) सुखरूप, केवल सद्रूप, शुद्ध मोक्षस्वरूप, सत्य और आनन्दस्वरूप, ज्ञान और आनन्दघन, केवल विज्ञानरूप, सच्चिदानन्द ही हूँ। यह सब भी केवल ब्रह्मस्वरूप ही है, ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। और वह मैं हूँ। मैं ही वह सदानन्दरूप सनातन ब्रह्म हूँ।

त्वमित्येतत्तदित्येतन्मत्तोऽन्यन्नास्ति किञ्चन।
चिच्चैतन्यस्वरूपोऽहमहमेव परः शिवः ॥33॥
अतिभावस्वरूपोऽहमहमेव सुखात्मकः।
साक्षिवस्तुविहीनत्वात्साक्षित्वं नास्ति मे सदा ॥34॥
केवलं ब्रह्ममात्रत्वादहमात्मा सनातनः।
अहमेवादिशेषोऽहमहं शेषोऽहमेव च ॥35॥
नामरूपविमुक्तोऽहमहमानन्दविग्रहः।
इन्द्रियाभावरूपोऽहं सर्वभावस्वरूपकः ॥36॥

'तू' और 'वह' मुझसे अलग नहीं हैं। कुछ भी मुझसे अलग नहीं है। मैं ज्ञानरूप और चैतन्यरूप हूँ। मैं ही परमशिव हूँ। मैं सर्व पदार्थों से परे रहने वाला पदार्थ हूँ, मैं ही सुखस्वरूप हूँ। मैं साक्षी के लिए (साक्ष्य) वस्तु का अभाव हो जाने से सभी काल में साक्षी नहीं बना रहता परन्तु केवल ब्रह्मत्व मात्र से ही मैं सदा शाश्वत आत्मरूप में रहता हूँ। मैं ही आदि में शेष होता हूँ और अन्त में भी मैं ही शेष रहता हूँ। मेरा न कोई नाम है, न रूप है, मैं तो केवल आनन्दस्वरूप हूँ। मुझमें इन्द्रियाँ नहीं है, फिर भी सब पदार्थों में मैं ही तो हूँ। (मैं सर्वभावरूप हूँ)।

बन्धमुक्तिविहीनोऽहं शाश्वतानन्दविग्रहः।
आदिचैतन्यमात्रोऽहमखण्डैकरसोऽस्म्यहम् ॥37॥
वाङ्मनोऽगोचरश्चाहं सर्वत्र सुखवानहम्।
सर्वत्र पूर्णरूपोऽहं भूमानन्दमयोऽस्म्यहम् ॥38॥
सर्वत्र तृप्तिरूपोऽहं परामृतरसोऽस्म्यहम्।
एकमेवाद्वितीयं सद् ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥39॥

सर्वशून्यस्वरूपोऽहं सकलागमगोचरः ।
मुक्तोऽहं मोक्षरूपोऽहं निर्वाणसुखरूपवान् ॥40॥

मैं बन्ध-मोक्ष से रहित, सनातन आनन्दरूप शरीर वाला, केवल आदिचैतन्य और अखण्ड एकरस हूँ। मैं वाणी और मन का विषय नहीं हूँ। मैं सर्वत्र सुखस्वरूप, सर्वत्र पूर्णरूप और सर्वातिशय आनन्दस्वरूप हूँ। मैं सर्वत्र तृप्तिरूप, परम अमृत रसस्वरूप, एक, अद्वितीय, ऐसा ब्रह्म ही हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं। मैं सर्वत्र शून्यस्वरूप हूँ। मैं सभी सत्प्रतिपादक शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय हूँ। मैं मुक्त, मोक्षरूप और निर्वाणस्वरूप वाला हूँ।

सत्यविज्ञानमात्रोऽहं सन्मात्रानन्दवानहम् ।
तुरीयातीतरूपोऽहं निर्विकल्पस्वरूपवान् ॥41॥
सर्वदा ह्यजरूपोऽहं नीरागोऽस्मि निरञ्जनः ।
अहं शुद्धोऽस्मि बुद्धोऽस्मि नित्योऽस्मि प्रभुरस्म्यहम् ॥42॥
ओंकारार्थस्वरूपोऽस्मि निष्कलङ्कमयोऽस्म्यहम् ।
चिदाकारस्वरूपोऽस्मि नाहमस्मि न सोऽस्म्यहम् ॥43॥
न हि किञ्चित्स्वरूपोऽस्मि निर्व्यापारस्वरूपवान् ।
निरंशोऽस्मि निराभासो न मनो नेन्द्रियोऽस्म्यहम् ॥44॥

मैं केवल सत्य, केवल विज्ञान हूँ, मैं केवल सत्य और आनन्दस्वरूप ही हूँ, मैं तुरीय से भी परे स्वरूपवाला हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ। मैं सभी कालों में अजन्मा हूँ। मैं रागरहित और निरंजन हूँ। मैं शुद्ध, ब्रह्म, नित्य हूँ। मैं प्रभु हूँ। मैं ओंकार का अर्थस्वरूप हूँ। निष्कलंक और चैतन्य के स्वरूपवाला हूँ। मैं 'मैं' भी नहीं हूँ और 'तू' भी नहीं हूँ। मेरा कोई स्वरूप ही नहीं है। मैं व्यापाररहित स्वरूप वाला हूँ। मैं अंशहीन और आभासहीन हूँ। मैं न मन हूँ, न इन्द्रिय ही हूँ।

न बुद्धिर्न विकल्पोऽहं न देहादित्रयोऽस्म्यहम् ।
न जाग्रत्स्वप्नरूपोऽहं न सुषुप्तिस्वरूपवान् ॥45॥
न तापत्रयरूपोऽहं नेषणात्रयवानहम् ।
श्रवणं नास्ति मे सिद्धेर्मननं च चिदात्मनि ॥46॥
सजातीयं न मे किञ्चिद्विजातीयं न मे क्वचित् ।
स्वगतं च न मे किञ्चिन्न मे भेदत्रयं क्वचित् ॥47॥
असत्यं हि मनोरूपमसत्यं बुद्धिरूपकम् ।
अहङ्कारमसद्धीति नित्योऽहं शाश्वतो ह्यजः ॥48॥

मैं बुद्धि नहीं हूँ, विकल्प नहीं हूँ, स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप तीनों देह नहीं हूँ, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप तीनों अवस्थाएँ नहीं हूँ, आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक तीनों नामरूप नहीं हूँ, पुत्रैषणा-वित्तैषणा-लोकैषणारूप तीनों एषणाएँ नहीं हूँ। मेरा कोई श्रवण नहीं, चित्स्वरूप आत्मा में कोई मनन भी तो नहीं है। मेरा कोई सजातीय नहीं, विजातीय भी नहीं और स्वगत भी नहीं—ये तीन भेद मुझमें नहीं हैं। मन का रूप असत्य है, बुद्धि का रूप भी तो असत्य ही है, और अहंकार भी असत् है। इसलिए मैं ही शाश्वत नित्य हूँ।

देहत्रयमसद्विद्धि कालत्रयमसत्सदा ।
गुणत्रयमसद्विद्धि ह्यहं सत्यात्मकः शुचिः ॥49॥

श्रुतं सर्वमसद्विद्धि वेदं सर्वमसत्सदा ।
शास्त्रं सर्वमसद्विद्धि ह्यहं सत्यचिदात्मकः ॥50॥
मूर्तित्रयमसद्विद्धि सर्वभूतमसत्सदा ।
सर्वसत्त्वमसद्विद्धि ह्यहं भूमा सदाशिवः ॥51॥
गुरुशिष्यमसद्विद्धि गुरोर्मन्त्रमसत्ततः ।
यद्दृश्यं तदसद्विद्धि न मां विद्धि तथाविधम् ॥52॥

स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप तीनों देह को असत् मानो । भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालों को सदा असत् मानो । सत्त्व-रजस्-तमस् तीनों गुणों को असत् मानो । सत्यरूप और निर्मल तो मैं ही हूँ। शास्त्रों को, वेदों को, श्रवण को असत् मानो । मैं ही एक सत्य चिदात्मक हूँ। ब्रह्मा-विष्णु-महेश की तीन मूर्तियों को असत् मानो । सब प्राणिसमूह को असत् मानो । सर्व भूतों को (पाँच भूतों को) असत् मानो । मैं ही सर्वव्यापक सदाशिव हूँ। गुरु-शिष्य को असत् मानो पर मुझे ऐसा नहीं मानो ।

यच्चिन्त्यं तदसद्विद्धि यन्न्याय्यं तदसत्सदा ।
यद्धितं तदसद्विद्धि न मां विद्धि तथाविधम् ॥53॥
सर्वान्प्राणानसद्विद्धि सर्वान्भोगानसत्त्विति ।
दृष्टं श्रुतमसद्विद्धि ओतं प्रोतमसन्मयम् ॥54॥
कार्याकार्यमसद्विद्धि नष्टं प्राप्तमसन्मयम् ।
दुःखादुःखमसद्विद्धि सर्वासर्वमसन्मयम् ॥55॥
पूर्णापूर्णमसद्विद्धि धर्माधर्ममसन्मयम् ।
लाभालाभावसद्विद्धि जयाजयमसन्मयम् ॥56॥

जो चिन्तनीय है उसे असत् मानो और जो तर्कपूत-न्याय्य है उसे भी असत् मानो । जो हित है उसे असत् मानो । पर मुझे ऐसा नहीं मानना चाहिए । सभी प्राणों को मिथ्या मानो, सब भोगों को मिथ्या मानो, जो दृष्ट और श्रुत है उसे भी मिथ्या मानो, जो ओत-प्रोत है उसे मिथ्या मानो, कार्याकार्य को मिथ्या समझो, जो नष्ट है या जो प्राप्त है उसे भी मिथ्या मानो, दुःख और अदुःख को भी झूठा समझो, सर्व और असर्व को भी असत् मान लो, पूर्ण और अपूर्ण को मिथ्या जानो, जय और पराजय को भी मिथ्या ही मान लो ।

शब्दं सर्वमसद्विद्धि स्पर्शं सर्वमसत्सदा ।
रूपं सर्वमसद्विद्धि रसं सर्वमसन्मयम् ॥57॥
गन्धं सर्वमसद्विद्धि सर्वाज्ञानमसन्मयम् ।
असदेव सदा सर्वमसदेव भवोद्भवम् ॥58॥
असदेव गुणं सर्वं सन्मात्रमहमेव हि ।
स्वात्ममन्त्रं सदा पश्येत् स्वात्ममन्त्रं सदाभ्यसेत् ॥59॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं दृश्यपापं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमन्यमन्त्रं विनाशयेत् ॥60॥

सभी शब्द को, सभी स्पर्श को, सभी रूप को, सभी रस को, सभी गन्ध को हमेशा के लिए असत् (मिथ्या) ही जानो और सभी अज्ञान को भी मिथ्या ही मानो । सब कुछ सदैव असत् ही है । इस संसार में उत्पन्न हुआ सब कुछ मिथ्या ही है । सभी गुण भी असत् हैं । सत् तो केवल मैं ही हूँ। अपने

आत्मरूप मन्त्र का सदा दर्शन करते ही रहना चाहिए और उसी - अपने आत्मा के मन्त्र का - अभ्यास (रटन) करना चाहिए। 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह आत्म मन्त्र दृश्य (दिखाई देने वाले) पाप का नाश करता है, और वही 'मैं ब्रह्म हूँ' का आत्ममन्त्र अन्य मन्त्रों का भी विनाश कर देता है।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं देहदोषं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं जन्मपापं विनाशयेत् ॥61॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं मृत्युपाशं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं द्वैतदुःखं विनाशयेत् ॥62॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं भेदबुद्धिं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चिन्तादुःखं विनाशयेत् ॥63॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं बुद्धिव्याधिं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तबन्धं विनाशयेत् ॥64॥

'मैं ब्रह्म हूँ' – 'अहं ब्रह्मास्मि' – यह मन्त्र देह के दोषों का नाश करता है, यही मन्त्र जन्मों के पाप का नाश करता है, यही मन्त्र मृत्यु के बन्धन का नाश करता है, यह मन्त्र द्वैत के दुःखों का नाश कर देता है। यही मन्त्र भेदबुद्धि का नाश करता है, यह मन्त्र चिन्ता से उत्पन्न होने वाली पीडा को हटा देता है, यह मन्त्र बुद्धिरूपी व्याधि का नाश करता है, यह मन्त्र चित्तरूपी बन्धन को नष्ट कर देता है।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वव्याधीन् विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वशोकं विनाशयेत् ॥65॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कामादीन्नाशयेत्क्षणात्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं क्रोधशक्तिं विनाशयेत् ॥66॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तवृत्तिं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं संकल्पादीन्विनाशयेत् ॥67॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कोटिदोषं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वतन्त्रं विनाशयेत् ॥68॥

यह 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्र सभी व्याधियों का विनाश कर देता है, यही मन्त्र सब शोक को मिटा देता है, यही मन्त्र एक क्षण में कामादि दोषों को दूर कर देता है। यही मन्त्र क्रोधशक्ति का नाश कर देता है, यही मन्त्र चित्तवृत्ति का शमन कर देता है, यही मन्त्र संकल्पादि को नष्ट कर देता है, यही मन्त्र करोड़ों दोषों का नाश करता है और यही मन्त्र सब तन्त्रों का भी नाश कर देता है।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमात्माज्ञानं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमात्मलोकजयप्रदः ॥69॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमप्रतर्क्यसुखप्रदः।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमजडत्वं प्रयच्छति ॥70॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमनात्मासुरमर्दनः।
अहं ब्रह्मास्मि वज्रोऽयमनात्माख्यगिरीन्हरेत् ॥71॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमनात्माख्यासुरान्हरेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वांस्तान्मोक्षयिष्यति ॥72॥

यह 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्र आत्मा के अज्ञान को दूर करता है, यह मन्त्र आत्मलोक को जीतता है, यही मन्त्र अकल्पनीय सुख देने वाला है, यही मन्त्र अजडत्व (चैतन्य) को देने वाला है, यह मन्त्र अनात्मारूपी असुर का नाश करने वाला है, यह मन्त्र अनात्मारूप पर्वत को तोड़ने वाला वज्र है। यह मन्त्र अनात्मा रूपी असुरों का नाश करने वाला है, यह मन्त्र सभी उपासकों को मोक्ष ही देने वाला है।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं ज्ञानानन्दं प्रयच्छति।
सप्तकोटिमहामन्त्रं जन्मकोटिशतप्रदम् ॥73॥
सर्वतन्त्रान्समुत्सृज्य एतं मन्त्रं समभ्यसेत्।
सद्यो मोक्षमवाप्नोति नात्र सन्देहमण्वपि ॥74॥

इति तृतीयोऽध्यायः।

'मैं ब्रह्म हूँ' – 'अहं ब्रह्मास्मि'—यह मन्त्र ज्ञान का आनन्द देता है। और यह मन्त्र सात करोड़ महामन्त्रों की समानता रखता है, और करोड़ों जन्मों के बन्धनों को काट डालता है। इसलिए अन्य सभी मन्त्रों को छोड़कर इसी मन्त्र का अभ्यास करना चाहिए, जिससे मनुष्य तुरन्त ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा हुआ।

❋

चतुर्थोऽध्यायः

कुमारः परमेश्वरं पप्रच्छ जीवन्मुक्तविदेहमुक्तयोः स्थितिमनुब्रूहीति। स होवाचः परः शिवः—

कुमार ने परमेश्वर से पूछा—'जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त की स्थिति कहिए'। तब वह परमशिव बोले—

चिदात्माहं परात्माहं निर्गुणोऽहं परात्परः।
आत्ममात्रेण यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥1॥
देहत्रयातिरिक्तोऽहं शुद्धचैतन्यमस्म्यहम्।
ब्रह्माहमिति यस्यान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥2॥
आनन्दघनरूपोऽस्मि परानन्दघनोऽस्म्यहम्।
यस्य देहादिकं नास्ति यस्य ब्रह्मेति निश्चयः।
परमानन्दपूर्णो यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥3॥
यस्य किंचिदहं नास्ति चिन्मात्रेणावतिष्ठते।
चैतन्यमात्रो यस्यान्तश्चिन्मात्रैकस्वरूपवान् ॥4॥

'मैं चिदात्मा हूँ, मैं परमात्मा हूँ, मैं निर्गुण हूँ, मैं पर से भी परे हूँ'—इस प्रकार जो मनुष्य केवल आत्मा में ही अवस्थित होता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। 'मैं स्थूल-सूक्ष्म-कारण, इन तीनों देहों से अलग हूँ, मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ, मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार का चिन्तन जिसके अन्त:करण में होता रहता हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। 'मैं आनन्दरूप हूँ, मैं परमानन्दघन हूँ'—ऐसे विचार से जिसका

देह आदि से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता और 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा जिसको निश्चय हो चुका हो और जो परमानन्द से पूर्ण हो गया हो, उसे 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। जिसमें किसी भी प्रकार का 'अहंभाव' नहीं है, जो केवल चिन्मात्र भाव में अवस्थित रहता है, जिसके अंतस् में केवल चैतन्य ही रममाण होने से जो केवल चिन्मात्ररूप स्वरूप वाला रहता है।

सर्वत्र पूर्णरूपात्मा सर्वत्रात्मावशेषकः।
आनन्दरतिरव्यक्तः परिपूर्णश्चिदात्मकः ॥5॥
शुद्धचैतन्यरूपात्मा सर्वसङ्गविवर्जितः।
नित्यानन्दः प्रसन्नात्मा ह्यन्यचिन्ताविवर्जितः ॥6॥
किञ्चिदस्तित्वहीनो यः स जीवन्मुक्त उच्यते।
न मे चित्तं न मे बुद्धिर्नाहङ्कारो न चेन्द्रियम् ॥7॥

वह सर्वत्र व्यापक पूर्ण आत्मरूप में रहता है, सभी व्याप्य पदार्थों के बाद भी वह शेष रहता है। वह अपने आनंद में ही प्रेम रखता है। वह अव्यक्त है, परिपूर्ण है, चैतन्यात्मक है, शुद्ध चैतन्य स्वरूपवाला है, सभी प्रकार की आसक्ति से वह मुक्त है, नित्यानन्दस्वरूप है, सदैव प्रसन्न रहता है। आत्मातिरिक्त किसी अन्य विचार से वह रहित होता है। आत्मातिरिक्त अन्य किसी अस्तित्व को वह नहीं मानता; ऐसा जो मनुष्य होता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। वह ऐसा सोचता है कि यह चित्त, यह बुद्धि, ये इन्द्रियाँ—सब कुछ मेरा नहीं है। (और भी—)

न मे देहः कदाचिद् वा न मे प्राणादयः क्वचित्।
न मे माया न मे कामो न मे क्रोधः परोऽस्म्यहम् ॥8॥
न मे किञ्चिदिदं वापि न मे किञ्चित्क्वचिज्जगत्।
न मे दोषो न मे लिङ्गं न मे चक्षुर्न मे मनः ॥9॥
न मे श्रोत्रं न मे नासा न मे जिह्वा न मे करः।
न मे जाग्रन्न मे स्वप्नं न मे कारणमण्वपि ॥10॥
न मे तुरीयमिति यः स जीवन्मुक्त उच्यते।
इदं सर्वं न मे किञ्चिदयं सर्वं न मे क्वचित् ॥11॥

देह कभी मेरा नहीं है, प्राण आदि मेरे नहीं हैं, माया मेरी नहीं है, कामना मेरी नहीं है, क्रोध मेरा नहीं है, मैं तो सबसे परे हूँ। यह जो कुछ है वह मेरा नहीं है, कोई भी, कहीं भी, कभी भी यह जगत् मेरा नहीं है, दोष मेरा नहीं, जाति या चिह्न मेरा नहीं, आँख मेरी नहीं, मन मेरा नहीं, कान भी मेरा नहीं, नाक भी मेरा नहीं, जीभ मेरी नहीं, जाग्रत् मुझे नहीं, स्वप्न भी मेरा नहीं, मेरा कारण अणु भी नहीं है। मेरी कोई तुरीयावस्था भी नहीं है—ऐसा सोचने वाला जीवन्मुक्त कहा जाता है। वह आगे सोचता रहता है कि यह दिखाई देने वाला कुछ भी मेरा नहीं है और वह भी मेरा नहीं है (अर्थात् मैं निर्लेप हूँ)।

न मे कालो न मे देशो न मे वस्तु न मे मतिः।
न मे स्नानं न मे सन्ध्या न मे दैवं न मे स्थलम् ॥12॥
न मे तीर्थं न मे सेवा न मे ज्ञानं न मे पदम्।
न मे बन्धो न मे जन्म न मे वाक्यं न मे रविः ॥13॥

न मे पुण्यं न मे पापं न मे कार्यं न मे शुभम्।
न मे जीव इति स्वात्मा न मे किञ्चिज्जगत्त्रयम्॥14॥
न मे मोक्षो न मे द्वैतं न मे वेदो न मे विधिः।
न मेऽन्तिकं न मे दूरं न मे बोधो न मे रहः ॥15॥

काल मेरा नहीं है, देश मेरा नहीं है, वस्तु मेरी नहीं है, बुद्धि मेरी नहीं है, स्नान मेरा नहीं, सन्ध्या मेरी नहीं, दैव मेरा नहीं, स्थल मेरा नहीं है। मेरा तीर्थ नहीं, मेरी सेवा नहीं, मेरा ज्ञान नहीं, मेरा स्थान नहीं, मेरा बन्ध नहीं, मेरा जन्म नहीं, मेरा वाक्य नहीं, मेरा सूर्य नहीं है, मेरा पुण्य नहीं, मेरा पाप नहीं, मेरा कार्य नहीं, मेरा शुभ नहीं, मेरा जीव नहीं, मैं स्वयं आत्मा हूँ, ये तीनों जगत् में से मेरा कुछ भी नहीं है। मेरा मोक्ष नहीं है, द्वैत मेरा नहीं है, वेद मेरा नहीं, विधि मेरा नहीं, मेरे लिए कोई नजदीकी या दूरी भी नहीं है, मेरा कोई ज्ञान नहीं, मेरा कोई एकान्त नहीं है।

न मे गुरुर्न मे शिष्यो न मे हीनो न चाधिकः।
न मे ब्रह्मा न मे विष्णुर्न मे रुद्रो न चन्द्रमाः ॥16॥
न मे पृथ्वी न मे तोयं न मे वायुर्न मे वियत्।
न मे वह्निर्न मे गोत्रं न मे लक्ष्यं न मे भवः ॥17॥
न मे ध्याता न मे ध्येयं न मे ध्यानं न मे मनुः।
न मे शीतं न मे चोष्णं न मे तृष्णा न मे क्षुधा ॥18॥
न मे मित्रं न मे शत्रुर्न मे मोहो न मे जयः।
न मे पूर्वं न मे पश्चान्न मे चोर्ध्वं न मे दिशः ॥19॥

मेरा कोई गुरु नहीं, कोई शिष्य नहीं, मुझसे कोई हल्का या निम्न नहीं, कोई उच्च भी नहीं, मेरे लिए कोई ब्रह्मा नहीं, कोई विष्णु नहीं, कोई रुद्र नहीं, कोई चन्द्र नहीं है। मेरी कोई पृथ्वी नहीं, कोई जल नहीं, कोई वायु नहीं, मेरा कोई आकाश नहीं है। मेरा कोई अग्नि नहीं, कोई गोत्र नहीं, कोई लक्ष्य नहीं, मेरा कोई संसार ही नहीं है। मेरा कोई ध्याता नहीं, कोई ध्येय नहीं, कोई ध्यान नहीं, मेरा कोई मन्त्र नहीं है (अथवा कालमान नहीं है)। मेरे लिए कोई शीत नहीं, कोई उष्ण नहीं है, मेरी कोई तृष्णा नहीं है, कोई क्षुधा भी नहीं है। मेरा कोई मित्र नहीं, कोई शत्रु भी नहीं है। मुझे किसी का मोह नहीं है, मेरा कोई विजय नहीं है। मेरे लिए कोई पूर्व नहीं, पश्चिम नहीं, ऊपर भी कुछ नहीं, दिशाएँ भी नहीं है।

न मे वक्तव्यमल्पं वा न मे श्रोतव्यमण्वपि।
न मे गन्तव्यमीषद्वा न मे ध्यातव्यमण्वपि ॥20॥
न मे भोक्तव्यमीषद्वा न मे स्मर्तव्यमण्वपि।
न मे भोगो न मे रागो न मे यागो न मे लयः ॥21॥
न मे मौर्ख्यं न मे शान्तं न मे बन्धो न मे प्रियम्।
न मे मोदः प्रमोदो वा न मे स्थूलं न मे कृशम् ॥22॥
न मे दीर्घं न मे ह्रस्वं न मे वृद्धिर्न मे क्षयः।
अध्यारोपोऽपवादो वा न मे चैकं न मे बहु ॥23॥

मेरा कुछ बोलने का नहीं है, सुनने का भी कुछ नहीं है। कहीं जाने का भी नहीं है। कुछ ध्यान करने का भी मेरे लिए नहीं है। मेरे लिए कुछ भोगने का भी नहीं और स्मरणीय भी कुछ नहीं है। मेरा

कोई भोग नहीं है, राग नहीं है, कोई याग नहीं है, कोई लय भी नहीं है। मुझमें मूर्खता नहीं है, मेरी शान्ति नहीं, मेरा कोई बन्ध नहीं, कोई मेरा प्रिय नहीं है, कोई मेरा आनन्द नहीं, कोई प्रमोद नहीं, कोई स्थूल और दुबला-पतला भी मेरा नहीं है। मेरा न दीर्घ है, न ह्रस्व है। बुद्धि मेरी नहीं है, क्षय भी मेरा नहीं है। मुझमें किसी का अध्यारोप नहीं होता, मुझसे कोई अपवाद भी नहीं किया जाता। मैं न एक हूँ, न बहुत हूँ।

न मे आन्ध्यं न मे मान्द्यं न मे पट्विदमण्वपि ।
न मे मांसं न मे रक्तं न मे मेदो न मे ह्यसृक् ॥24॥
न मे मज्जा न मेऽस्थिर्वा न मे त्वग्धातुसप्तकम् ।
न मे शुक्लं न मे रक्तं न मे नीलं न मे पृथक् ॥25॥
न मे तापो न मे लाभो मुख्यं गौणं न मे क्वचित् ।
न मे भ्रान्तिर्न मे स्थैर्यं न मे गुह्यं न मे कुलम् ॥26॥
न मे त्याज्यं न मे ग्राह्यं न मे हास्यं न मे नयः ।
न मे वृत्तं न मे ग्लानिर्न मे शोष्यं न मे सुखम् ॥27॥

मेरे लिए कुछ अन्धापन नहीं है, कोई मन्दता नहीं है। मेरे लिए यह जरा-सा भी कुछ अच्छा नहीं है। मांस मेरा नहीं, लहू मेरा नहीं, चरबी मेरी नहीं, हड्डियाँ मेरी नहीं हैं, त्वक् मेरी नहीं, इस प्रकार सातों धातुएँ मेरी नहीं हैं। सफेद मेरा नहीं, लाल मेरा नहीं, हरा मेरा नहीं है। फिर भी मुझसे कोई अलग भी नहीं है। मेरा ताप नहीं, मेरा लाभ नहीं, मेरा मुख्य नहीं, मेरा गौण नहीं है। मुझे कहीं भी भ्रान्ति नहीं है, स्थिरता भी मेरी नहीं है, मुझे कोई गोपनीय नहीं है और मेरा कोई कुल नहीं है। मेरे लिए कुछ त्याज्य भी नहीं और ग्राह्य भी नहीं है। मेरा कोई हास्य नहीं है, मेरी कोई नीति भी नहीं है। मेरा कोई वर्तन नहीं है और मुझे कोई ग्लानि नहीं है। मेरे लिए कोई शोष्य नहीं है और मेरा कोई सुख नहीं है।

न मे ज्ञाता न मे ज्ञानं न मे ज्ञेयं न मे स्वयम् ।
न मे तुभ्यं न मे मह्यं न मे त्वं च न मे त्वहम् ॥28॥
न मे जरा न मे बाल्यं न मे यौवनमण्वपि ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मेति निश्चयः ॥29॥
चिदहं चिदहं चेति स जीवन्मुक्त उच्यते ।
ब्रह्मैवाहं चिदेवाहं परो वाहं न संशयः ॥30॥
स्वयमेव स्वयं हंसः स्वयमेव स्वयं स्थितः ।
स्वयमेव स्वयं पश्येत् स्वात्मराज्ये सुखं वसेत् ।
स्वात्मानन्दं सदा पश्येत् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥31॥

मेरा कोई ज्ञाता नहीं है, मेरा कोई ज्ञान नहीं है, कोई ज्ञेय नहीं है, मैं स्वयं ही हूँ। मेरा कुछ तुम्हारे लिए नहीं है, मेरा कुछ मेरे लिए भी नहीं है, मेरा तू नहीं है, मेरा मैं भी नहीं हूँ। मुझे वृद्धत्व नहीं, मुझे बचपन नहीं, मुझे थोड़ा-सा यौवन भी नहीं है। 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ'—बस, इतना ही निश्चय है। मैं चित्स्वरूप हूँ, चिद्रूप ही हूँ ऐसा जो सोचता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। मैं ब्रह्म हूँ, मैं चिद्रूप हूँ, मैं सबसे परे हूँ इसमें कोई शंका नहीं है। ऐसा मनुष्य स्वयं ही स्वयं में रहता है, वह स्वयं ही हंसरूप में अपने में अवस्थित रहता है। वह स्वयं ही स्वयं को देखता रहता है, वह अपने आत्मराज्य

में ही सुखपूर्वक रहता है और वह सदैव आत्मानन्द को देखता (आत्मानन्द में मग्न रहता) है, उसे जीवन्मुक्त कहा जाता है।

स्वयमेवैकवीरोऽग्रे स्वयमेव प्रभुः स्मृतः ।
स्वस्वरूपे स्वयं स्वप्स्येत् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥32॥

जो स्वयं ही एक वीर की तरह आगे अग्रसर होता है, वह प्रभु कहलाता है। वह अपने ही स्वरूप में सोता भी है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा ब्रह्मानन्दमयः सुखी ।
स्वच्छभूतो महामौनी वैदेही मुक्त एव सः ॥33॥
सर्वात्मा समरूपात्मा शुद्धात्मा त्वहमुत्थितः ।
एकवर्जित एकात्मा सर्वात्मा स्वात्ममात्रकः ॥34॥
अजात्मा चामृतात्माऽहं स्वयमात्माहमव्ययः ।
लक्ष्यात्मा ललितात्माहं तूष्णीमात्मस्वरूपवान् ॥35॥
आनन्दात्मा प्रियो ह्यात्मा मोक्षात्मा बन्धवर्जितः ।
ब्रह्मैवाहं चिदेवाहमेवं वाऽपि न चिन्त्यते ॥36॥
चिन्मात्रेणैव यस्तिष्ठेद् वैदेही मुक्त एव सः ॥37॥

जो ब्रह्मरूप हो गया हो, अत्यन्त शान्त मनवाला हो, ब्रह्मानन्दमय होते हुए जो सुखी, निर्मल, बड़ा मौनव्रती हो, वह विदेहमुक्त ही है। जो सबका आत्मरूप हो, समान रूप से आत्मा हो और 'मैं शुद्धात्मा हूँ'—इस प्रकार का उत्थान प्राप्त करने वाला हो, वह विदेहमुक्त ही है। एक संख्या से रहित फिर भी एकस्वरूप हो, सर्वस्वरूप हो, आत्माराम हो, वह अजन्मा, अमर, अव्यय है। जो आत्मा को ही लक्ष्य में रखे हुए हो और स्वयं को उसी का स्वरूप मानता हो, जो चुपचाप आत्मस्वभावस्थ हो, जो आनन्दस्वरूप हो, प्रिय-आत्मा मोक्षात्मा हो, बन्ध से मुक्त हो, 'मैं ब्रह्म ही हूँ', 'मैं चिद्रूप ही हूँ'—ऐसा विचार तक नहीं किया जाता (विचार भी छोड़ दिया जाता है)। जो इस तरह चिन्मात्र में ही अवस्थित रहता है, वह विदेहमुक्त ही है।

निश्चयं च परित्यज्य अहं ब्रह्मेति निश्चयम् ।
आनन्दभरितस्वान्तो वैदेही मुक्त एव सः ॥38॥
सर्वमस्तीति नास्तीति निश्चयं त्यज्य तिष्ठति ।
अहं ब्रह्मास्मि नास्मीति सच्चिदानन्दमात्रकः ॥39॥
किञ्चित्क्वचित्कदाचिच्च आत्मानं व स्पृश्यत्यसौ ।
तूष्णीमेव स्थितस्तूष्णीं तूष्णीं सत्यं न किञ्चन ॥40॥

'यह सब कुछ है या नहीं है ?'—इस प्रकार के विचारों या निर्णयों को छोड़कर जो रहता है, इतना ही नहीं, मैं ब्रह्म हूँ या नहीं—ऐसे विचारों को और निश्चय को भी छोड़ देता है, अर्थात् निर्विचार हो जाता है, और अपने अन्तःकरण को केवल आनन्द से ही भर देता है, वह विदेहमुक्त ही है। जो केवल सच्चिदानन्दमात्र है, जो कुछ भी, कहीं भी, कभी भी आत्मा को स्पर्श नहीं करता, जो मौन रहता हो और जो मौन ही को सत्य मानता हो (वह विदेहमुक्त है)।

परमात्मा गुणातीतः सर्वात्मा भूतभावनः ।
कालभेदं वस्तुभेदं देशभेदं स्वभेदकम् ॥41॥

किञ्चिद्भेदं न तस्यास्ति किञ्चिद्वापि न विद्यते ।
अहं त्वं तदिदं सोऽयं कालात्मा कालहीनकः ॥42॥
शून्यात्मा सूक्ष्मरूपात्मा विश्वात्मा विश्वहीनकः ।
देवात्मा देवहीनात्मा मेयात्मा मेयवर्जितः ॥43॥
सर्वत्र जडहीनात्मा सर्वेषामन्तरात्मकः ।
सर्वसङ्कल्पहीनात्मा चिन्मात्रोऽस्मीति सर्वदा ॥44॥

परमात्मा गुणातीत है, वह सर्वात्मा, सर्व भूतों का रक्षक हैं। उसमें न कालभेद है, न वस्तुभेद है, न देशभेद है या न तो कोई स्वगतभेद ही है। किसी भी प्रकार का उसमें भेद नहीं है। उसमें मैं-तू-वह-यह—ऐसा कुछ भी नहीं है। वह कालात्मा होते हुए भी कालहीन है, वह शून्यात्मा है, सूक्ष्मात्मा है, विश्वात्मा हुए भी विश्वविहीन है। वह देवात्मा और देवहीनात्मा दोनों है। मेयात्मा – प्रमेयस्वरूप होते हुए भी मेयवर्जित (प्रमेयहीन) है। वह सर्वत्र जड़हीन (चैतन्यरूप) आत्मा है। वही सबका अंतरात्मा है। वह सभी संकल्पों से रहित स्वरूपवाला है। वह पूर्ववर्णित चिन्मय आत्मा सदा मैं ही हूँ।

केवलः परमात्माहं केवलो ज्ञानविग्रहः ।
सत्तामात्रस्वरूपात्मा नान्यत्किञ्चिज्जगद्भयम् ॥45॥
जीवेश्वरेति वाक् क्वेति वेदशास्त्राद्यहं त्विति ।
इदं चैतन्यमेवेति अहं चैतन्यमित्यपि ॥46॥
इति निश्चयशून्यो यो वैदेही मुक्त एव यः ।
चैतन्यमात्रसंसिद्धः स्वात्मारामः सुखासनः ॥47॥
अपरिच्छिन्नरूपात्मा अणुस्थूलादिवर्जितः ।
तुर्यतुर्यः परानन्दो वैदेही मुक्त एव सः ॥48॥

मैं केवल परमात्मा हूँ, केवल ज्ञानरूप शरीरवाला हूँ, केवल सत्ता ही मेरा स्वरूप है और किसी जगत् जैसा भय है ही नहीं। 'जीव' और 'ईश्वर'—ऐसी वाणी कहाँ है ? वेद और शास्त्र मैं ही हूँ। मैं यह चैतन्य ही हूँ। अरे ! 'मैं चैतन्य हूँ'—ऐसा विचार भी जिसमें न रहा हो, वह विदेहमुक्त ही है। जो केवल चैतन्यरूप से ही सिद्ध हुआ हो, अपने आत्मा में ही रममाण रहता हो, सुखपूर्वक बैठा रहता हो, अपरिमेय आत्मस्वरूप बन गया हो, स्थूल-सूक्ष्मादि से ऊपर उठ गया हो, तुरीय का भी तुरीय बन चुका हो, वह विदेहमुक्त ही है।

नामरूपविहीनात्मा परसंवित्सुखात्मकः ।
तुरीयातीतरूपात्मा शुभाशुभविवर्जितः ॥49॥
योगात्मा योगयुक्तात्मा बन्धमोक्षविवर्जितः ।
गुणागुणविहीनात्मा देशकालादिवर्जितः ॥50॥
साक्ष्यसाक्षित्वहीनात्मा किञ्चित्किञ्चिन्न किञ्चन ।
यस्य प्रपञ्चमानं न ब्रह्माकारमपीह न ॥51॥
स्वस्वरूपे स्वयंज्योतिः स्वस्वरूपे स्वयंरतिः ।
वाचामगोचरानन्दो वाङ्मनोऽगोचरः स्वयम् ॥52॥

जिसका स्वरूप नाम-रूप से रहित बन चुका हो, जिसका आत्मा उत्कृष्ट ज्ञानमय हो गया हो, जो तुरीय से पर स्वरूपवाला हो गया हो, जो शुभ-अशुभ से ऊपर उठ गया हो, जो योगरूप और योग से युक्त आत्मा वाला भी हो, जिसका कोई बन्ध और मोक्ष न हो, जो गुण या अगुण दोनों से रहित हो, देश और काल से रहित हो, साक्षित्व और असाक्षित्व से परे हो, जिसकी दृष्टि में 'कुछ-कुछ' और 'कुछ नहीं' जैसी कोई बात न हो, जिसको न तो संसार का भान है, न ब्रह्म का भी भान है, केवल अपनी ज्योति से अपने स्वरूप में रहता हो, अपने में ही रममाण हो, जो आनंद वाणी का विषय नहीं है, वह वाणी और मन का भविष्य जो है (वह विदेहमुक्त ही है)।

अतीतातीतभावो यो वैदेही मुक्त एव सः ।
चित्तवृत्तेरतीतो यश्चित्तवृत्त्यवभासकः ॥53॥
सर्ववृत्तिविहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः ।
तस्मिन्काले विदेहीति देहस्मरणवर्जितः ॥54॥
ईषन्मात्रं स्मृतं चेद्यस्तदा सर्वसमन्वितः ।
परैरदृष्टबाह्यात्मा परमानन्दचिद्घनः ॥55॥
परैरदृष्टबाह्यात्मा सर्ववेदान्तगोचरः ।
ब्रह्मामृतरसास्वादो ब्रह्मामृतरसायनः ॥56॥

जो चित्त की वृत्तियों से परे रहा हो, जो चित्त की वृत्तियों का प्रकाशक बन गया हो, जो स्वयं सभी चित्तवृत्तियों से रहित हो, वह विदेहमुक्त ही है। उस समय, 'मैं विदेहमुक्त हूँ'—ऐसे ज्ञान से उसे देहभान नहीं रहता। उसे थोड़ा-सा स्मरण यही है कि वह सबके साथ रहता है। फिर भी उसे बाहर के अन्य लोग पहचान नहीं पाते। वह स्वयं तो आनन्दरूप और चैतन्यमय ही होता है। उसका आत्मा बाह्य रूप से देखा नहीं जा सकता। वह सर्व वेदान्तों का विषय है। ब्रह्मरूप अमृतरस का उसे अब स्वाद लग गया है। ब्रह्मरूप अमृतरस का वह आश्रय बना हुआ रहता है।

ब्रह्मामृतरसासक्तो ब्रह्मामृतरसः स्वयम् ।
ब्रह्मामृतरसे मग्नो ब्रह्मानन्दशिवार्चनः ॥57॥
ब्रह्मामृतरसे तृप्तो ब्रह्मानन्दानुभावकः ।
ब्रह्मानन्दशिवानन्दो ब्रह्मानन्दरसप्रभः ॥58॥
ब्रह्मानन्दपरं ज्योतिर्ब्रह्मानन्दनिरन्तरः ।
ब्रह्मानन्दरसान्नादो ब्रह्मानन्दकुटुम्बकः ॥59॥
ब्रह्मानन्दरसारूढो ब्रह्मानन्दैकचिद्घनः ।
ब्रह्मानन्दरसोद्वाहो ब्रह्मानन्दरसम्भरः ॥60॥

वह विदेहमुक्त ब्रह्मानन्दरस में आसक्त होकर स्वयं ब्रह्मात्मकरस बन जाता है। ब्रह्मामृतरस में डूबकर वह ब्रह्मानन्दरस का ही शिवार्चन करता है। ब्रह्मामृतरस से वह तृप्त होता है, ब्रह्मानन्दरस का अनुभव करता रहता है। ब्रह्मानन्दरूप मंगलकारी उसका आनंद होता है, ब्रह्मानन्दरस ही उसका तेज होता है। वह ब्रह्मानन्दरूप परम ज्योति का अनुभव करता रहता है। वह निरंतर ब्रह्मानन्द से व्याप्त रहता है ब्रह्मानन्द रस रूप अन्न को ही वह खाता रहता है। ब्रह्मानन्द ही उसका कुटुम्ब होता है। वह ब्रह्मानन्दरस पर आरूढ रहता है। ब्रह्मानन्दरूप एक समान रस से वह तरबतर रहता है। ब्रह्मानन्द के रस को वह वहन करता है। वह ब्रह्मानन्द रस से भरपूर रहता है।

ब्रह्मानन्दजनैर्युक्तो ब्रह्मानन्दात्मनि स्थितः ।
आत्मरूपमिदं सर्वमात्मनोऽन्यन्न किंचन ॥61॥
सर्वमात्माऽहमात्मास्मि परमात्मा परात्मकः ।
नित्यानन्दस्वरूपात्मा वैदेही मुक्त एव सः ॥62॥
पूर्णरूपो महानात्मा प्रीतात्मा शाश्वदात्मकः ।
सर्वान्तर्यामिरूपात्मा निर्मलात्मा निरात्मकः ॥63॥
निर्विकारस्वरूपात्मा शुद्धात्मा शान्तरूपकः ।
शान्ताशान्तस्वरूपात्मा नैकात्मत्वविवर्जितः ॥64॥

वह ब्रह्मानन्दरूप लोगों के साथ रहता है, वह ब्रह्मानन्दरूप आत्मा में अवस्थित है, उसके लिए यह सब कुछ आत्मरूप ही है, आत्मा से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। यह सब कुछ आत्मा ही है और मैं वही आत्मा हूँ, मैं ही सबसे परे परमात्मा हूँ। वह आत्मा नित्य आनन्दस्वरूप ही है और ऐसे आत्मा वाला वह मनुष्य विदेहमुक्त ही है। वह पूर्णरूप महान् आत्मा है, वह प्रसन्न आत्मा है। वह शाश्वतरूप आत्मा है, वह सर्वान्तर्यामी है, वह विशुद्ध है, वह आत्मभाव से रहित है। वह निर्विकारस्वरूप है। वह शुद्धात्मा, शान्तस्वरूप, शान्त-अशान्तस्वरूपात्मक, अनेक आत्माओं की भावना से रहित है।

जीवात्मपरमात्मेति चिन्तासर्वस्ववर्जितः ।
मुक्तामुक्तस्वरूपात्मा मुक्तामुक्तविवर्जितः ॥65॥
बन्धमोक्षस्वरूपात्मा बन्धमोक्षविवर्जितः ।
द्वैताद्वैतस्वरूपात्मा द्वैताद्वैतविवर्जितः ॥66॥
सर्वासर्वस्वरूपात्मा सर्वासर्वविवर्जितः ।
मोदप्रमोदरूपात्मा मोदादिविनिवर्जितः ॥67॥
सर्वसंकल्पहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः ।
निष्कलात्मा निर्मलात्मा बुद्धात्मा पुरुषात्मकः ॥68॥

वह जीवात्मा और परमात्मा के भेद जैसी सभी चिन्ताओं (विकारों) से पूर्ण मुक्त होता है। वह मुक्तामुक्त दोनों स्वरूप वाला होते हुए भी उन दोनों मुक्त-अमुक्त स्वरूप से रहित है। वह बन्ध-मोक्ष दोनों स्वरूप वाला होते हुए भी उन दोनों (बन्धन और मोक्ष) से रहित है। वह द्वैत-अद्वैत स्वरूपी होते हुए भी वह द्वैत-अद्वैत से रहित है। वह सर्व-असर्व दोनों रूप होते हुए भी सर्व-असर्व से रहित है। वह मोदात्मक-प्रमोदात्मक होते हुए भी मोदादि से रहित है। वह सभी संकल्पों से रहित होता है। ऐसा वह विदेहमुक्त ही होता है। वह अंशरहित है, वह विशुद्ध ही है, वह बुद्ध है और पुरुषात्मा है।

आनन्दादिविहीनात्मा अमृतात्मामृतात्मकः ।
कालत्रयस्वरूपात्मा कालत्रयविवर्जितः ॥69॥
अखिलात्मा ह्यमेयात्मा मानात्मा मानवर्जितः ।
नित्यप्रत्यक्षरूपात्मा नित्यप्रत्यक्षनिर्णयः ॥70॥
अन्यहीनस्वभावात्मा अन्यहीनस्वयम्प्रभः ।
विद्याविद्यादिमेयात्मा विद्याविद्यादिवर्जितः॥71॥
नित्यानित्यविहीनात्मा इहामुत्रविवर्जितः ।
शमादिषट्कशून्यात्मा मुमुक्षुत्वादिवर्जितः ॥72॥

और भी वह तथाकथित आनन्द से रहित स्वरूपवाला, अमृतस्वरूप और अमृत का भी आत्मा, तीनों काल का स्वरूप होते हुए भी तीनों काल से रहित है। वह अखिलात्मा है, अमेयात्मा है - असीम है, वह सभी प्रमाणों का भी आत्मा है, वह किसी प्रमाण से गम्य नहीं है। वह सदैव प्रत्यक्ष है और सदैव प्रत्यक्ष का निर्णय भी है। वह अनन्य स्वभाववाला है, वह अनन्य स्वयंप्रकाशरूप है। विद्या-अविद्या आदि सीमित वस्तुओं का वह आत्मा है, फिर भी स्वयं विद्या और अविद्या से वर्जित है। उसे न नित्य कहा जा सकता है न ही अनित्य। उसमें यहाँ-वहाँ का कोई स्थलभेद नहीं है। शमदमादि षट्सम्पत् उसमें नहीं है, उसमें मुमुक्षुत्व भी नहीं।

स्थूलदेहविहीनात्मा सूक्ष्मदेहविवर्जितः।
कारणादिविहीनात्मा तुरीयादिविवर्जितः ॥73॥
अन्नकोशविहीनात्मा प्राणकोशविवर्जितः।
मनःकोशविहीनात्मा विज्ञानादिविवर्जितः ॥74॥
आनन्दकोशहीनात्मा पंचकोशविवर्जितः।
निर्विकल्पस्वरूपात्मा सविकल्पविवर्जितः ॥75॥
दृश्यानुविद्धहीनात्मा शब्दविद्धविवर्जितः।
सदा समाधिशून्यात्मा आदिमध्यान्तवर्जितः ॥76॥

उस विदेहमुक्त का आत्मा स्थूल देह से, सूक्ष्म देह से, कारण देह से और तुरीय देह से भी अलग ही है। वह अन्नमय कोश से रहित, प्राणमय कोश से रहित, मनोमय कोश से रहित और विज्ञानमय कोश आदि से भी रहित है। वह आनन्दमय कोश से भी रहित है, अर्थात् पंचकोशों से रहित है। वह निर्विकल्पस्वरूप आत्मावाला होता है, सविकल्पकात्मकता से वह रहित है। और भी उस विदेहमुक्त का आत्मा दृश्य के साथ जुड़ा हुआ नहीं रहता। किसी शब्द से भी वह सम्बद्ध नहीं है। वह सदैव समाधिशून्य रहता है और वह आदि-मध्य-अन्त हीन होता है।

प्रज्ञानवाक्यहीनात्मा अहंब्रह्मास्मिवर्जितः।
तत्त्वमस्यादिहीनात्मा अयमात्मेत्यभावकः ॥77॥
ओंकारवाच्यहीनात्मा सर्ववाच्यविवर्जितः।
अवस्थात्रयहीनात्मा अक्षरात्मा चिदात्मकः ॥78॥
आत्मज्ञेयादिहीनात्मा यत्किञ्चिदिदमात्मकः।
भानाभानविहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः ॥79॥
आत्मानमेव वीक्षस्व आत्मानं बोधय स्वकम्।
स्वमात्मानं स्वयं भुंक्ष्व स्वस्थो भव षडानन ॥80॥
स्वमात्मनि स्वयं तृप्तः स्वमात्मानं स्वयं चर।
आत्मानमेव मोदस्व वैदेही मुक्तिको भवेत् ॥81॥ इत्युपनिषत् ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः।

उस विदेहमुक्त का स्वरूप 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस महावाक्य से रहित, 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य से रहित, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से रहित और 'अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्य से भी रहित है।

उसका स्वरूप ओंकार से वाच्य नहीं है, क्योंकि वह सभी वाच्य शब्दों से हीन है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ उसकी नहीं हैं। वह अक्षर-अक्षय स्वरूप है, चिद्रूप है। और वह आत्मरूप से 'ज्ञेय' नहीं है। जो कुछ भी है वह उसी का स्वरूप है। वह भान और अभान से रहित है—वह विदेहमुक्त ऐसा होता है। तुम आत्मा को ही देखते रहो। हे कार्तिक स्वामी ! अपने आत्मा को ही ज्ञान कराओ। अपने आत्मा का ही तुम भोग करो और स्वस्थ बने रहो। अपने आत्मा से ही तुम तृप्त हो जाओ। अपने आत्मा में ही विचरण किया करो। आत्मा में ही आनन्द लिया करो और तुम भी वैसा ही विदेहमुक्त बन जाओ।' यह उपदेश है।

यहाँ चतुर्थ अध्याय पूरा हुआ।

❊

पञ्चमोऽध्यायः

निदाघो नाम वै मुनिः पप्रच्छ ऋभुं भगवन्तमात्मानात्मविवेकमनुब्रूहीति
स होवाच ऋभुः—
सर्ववाचोऽवधिर्ब्रह्म सर्वचिन्तावधिर्गुरुः।
सर्वकारणकार्यात्मा कार्यकारणवर्जितः ॥1॥

निदाघ नाम के मुनि ने भगवान् ऋभु से पूछा कि आप आत्मा और अनात्मा का विवेक कहिए। इस पर ऋभु ने कहा कि—

'ब्रह्म सभी वाणी की अवधि है, और गुरु सभी चिन्ताओं (चिन्तनों) की अवधि है। वह ब्रह्म सर्व कार्यकारणरूप है और फिर भी सभी कार्यकारणों से रहित भी है।

सर्वसंकल्परहितः सर्वनादमयः शिवः।
सर्ववर्जितचिन्मात्रः सर्वानन्दमयः परः ॥2॥
सर्वतेजःप्रकाशात्मा नादानन्दमयात्मकः।
सर्वानुभवनिर्मुक्तः सर्वध्यानविवर्जितः ॥3॥
सर्वनादकलातीतः एष आत्माहमव्ययः।
आत्मानात्मविवेकादिभेदाभेदविवर्जितः ॥4॥
शान्ताशान्तादिहीनात्मा नादान्तर्ज्योतिरूपकः।
महावाक्यार्थतो दूरो ब्रह्मास्मीत्यतिदूरतः ॥5॥
तच्छब्दवर्ज्यस्त्वंशब्दहीनो वाक्यार्थवर्जितः।
क्षराक्षरविहीनो यो नादान्तर्ज्योतिरेव सः ॥6॥

सर्व प्रकार के संकल्पों से रहित, सर्वनादमय, शिवरूप, सर्वपदार्थरहित, केवल चिद्रूप और सर्वानन्दमय ही परमात्मा है। सर्वतेज और सर्वप्रकाश के स्वरूप, नाद और आनंद का स्वरूप, सर्वप्रकार के अनुभवों से रहित, सभी ध्यान से भी रहित, सभी नादों और कलाओं से भी परे यह जो अव्यय आत्मा है, वह मैं हूँ। और मैं आत्मा तथा अनात्मा के विवेक से रहित हूँ। भेद-अभेद से भी ऊपर उठा हुआ हूँ। शान्त-अशान्त आदि के अभाववाला, नाद के भीतर की ज्योतिरूप, महावाक्यों के अर्थ से भी परे, 'ब्रह्मास्मि' वाक्य से तो बहुत ही दूर, 'तत्' शब्द से हीन, 'त्वं' शब्द से भी रहित, वाच्यार्थ से हीन, क्षर-अक्षर से रहित ऐसा जो नाद के भीतर का ज्योतिस्वरूप है, वही आत्मा है।

अखण्डैकरसो वाहमानन्दोऽस्मीति वर्जितः ।
सर्वातीतस्वभावात्मा नादान्तर्ज्योतिरेव सः ॥7॥
आत्मेति शब्दहीनो य आत्मशब्दार्थवर्जितः ।
सच्चिदानन्दहीनो य एषैवात्मा सनातनः ॥8॥
स निर्देष्टुमशक्यो यो वेदवाक्यैरगम्यतः ।
यस्य किञ्चिद्बहिर्नास्ति किञ्चिदन्तः कियन्न च ॥9॥
यस्य लिङ्गं प्रपञ्चं वा ब्रह्मैवात्मा न संशयः ।
नास्ति यस्य शरीरं वा जीवो वा भूतभौतिकः ॥10॥

मैं या तो अखण्डैकरस हूँ, और या तो आनन्दरूप से वर्जित भी हूँ । सबसे ऊपर उठे हुए स्वरूप वाला मैं हूँ, नाद के भीतर की ज्योति वह आत्मा शब्दहीन है । 'आत्मा' शब्द के अर्थ से भी वह रहित है । वह 'सच्चिदानन्द' शब्द से भी रहित है । वही सनातन आत्मा है । उसका निर्देश नहीं किया जा सकता अर्थात् वह बताया नहीं जा सकता । वह वेद के वाक्यों के द्वारा भी गम्य नहीं है । उसके बाहर कुछ नहीं है, उसके भीतर भी कुछ नहीं है । जिसका लिंगशरीर नहीं है, जिसका यह प्रपञ्च – जगत् भी नहीं है, वही ब्रह्म आत्मा है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है, जिसका शरीर भी नहीं है, जीव भी नहीं है अथवा भूत-भौतिक कुछ भी नहीं है ।

नामरूपादिकं नास्ति भोज्यं वा भोगभुक्च वा ।
सद्वाऽसद्वा स्थितिर्वापि यस्य नास्ति क्षराक्षरम् ॥11॥
गुणं वा विगुणं वापि सम आत्मा न संशयः ।
यस्य वाच्यं वाचकं वा श्रवणं मननं च वा ॥12॥
गुरुशिष्यादिभेदं वा देवलोकाः सुरासुराः ।
यत्र धर्ममधर्मं वा शुद्धं वाऽशुद्धमण्वपि ॥13॥
यत्र कालमकालं वा निश्चयः संशयो न हि ।
यत्र मन्त्रममन्त्रं वा विद्याऽविद्या न विद्यते ॥14॥

जिसका कोई नाम-रूप नहीं है, जिसके लिए कुछ भोज्य नहीं है, जो किसी का भोक्ता नहीं है, जिसकी सत् या असत् जैसी कोई स्थिति नहीं है, जो न क्षर है न अक्षर है, जो न गुणयुक्त है न गुणहीन है, वह समान आत्मा है, इसमें कोई शंका नहीं है । उसमें वाच्य और वाचक का तथा श्रवण और मनन का कोई भेद नहीं है, गुरु-शिष्य आदि का भी कोई भेद नहीं है । जिसमें धर्म-अधर्म अथवा शुद्ध-अशुद्ध का लेशमात्र भी भेद नहीं है, जिससे देवलोक या सुर-असुर का कोई सरोकार नहीं है । उसमें काल या अकाल, निश्चय या संशय, मन्त्र या अमन्त्र, विद्या और अविद्या कुछ भी नहीं है ।

द्रष्टृदर्शनदृश्यं वा ईषन्मात्रं कलात्मकम् ।
अनात्मेति प्रसङ्गो वा ह्यनात्मेति मनोऽपि वा ॥15॥
अनात्मेति जगद्वापि नास्ति नास्तीति निश्चिनु ।
सर्वसङ्कल्पशून्यत्वात्सर्वकार्यविवर्जनात् ॥16॥
केवलं ब्रह्ममात्रत्वान्नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ।
देहत्रयविहीनत्वात्कालत्रयविवर्जनात् ॥17॥
जीवत्रयगुणाभावात् तापत्रयविवर्जनात् ।
लोकत्रयविहीनत्वात्सर्वमात्मेति शासनात् ॥18॥

जो कुछ दृश्य है, जो कुछ दर्शन है, या द्रष्टा का जो कुछ है, जो थोड़ा-सा भी कलात्मक है, वह अनात्मा है, अथवा तो उनका स्वरूप ही अनात्मा है। मन भी अनात्मा है और जगत् भी अनात्मा ही है। और ये सब नहीं हैं, नहीं हैं—ऐसा निश्चय करो। सर्वसंकल्प से रहित होने से और सभी कार्यों से रहित होने से तथा केवल ब्रह्म ही होने से कुछ अनात्मा जैसी चीज ही नहीं है, ऐसा निश्चय करो। तीनों देहों से, तीनों कालों से, जीव के तीनों गुणों से, तीनों तापों से और तीनों लोकों से रहित होने से यह सब कुछ अनात्मा ही है, ऐसा उपदेश है। इसलिए अनात्मा जैसी कोई चीज ही नहीं है, ऐसा तुम निश्चय कर लो।

चित्ताभावाच्चिन्तनीयं देहाभावाज्जरा न च।
पादाभावाद् गतिर्नास्ति हस्ताभावात्क्रिया न च ॥19॥
मृत्युर्न जननाभावाद् बुद्ध्यभावात्सुखादिकम्।
धर्मो नास्ति शुचिर्नास्ति सत्यं नास्ति भयं न च ॥20॥
अक्षरोच्चारणं नास्ति गुरुशिष्यादि नास्त्यपि।
एकाभावे द्वितीयं न द्वितीयेऽपि न चैकता ॥21॥
सत्यत्वमस्ति चेत्किञ्चिदसत्यं न च सम्भवेत्।
असत्यत्वं यदि भवेत्सत्यत्वं न घटिष्यति ॥22॥

चित्त नहीं है इसलिए चिन्तनीय भी कुछ नहीं है। देह नहीं है इसलिए बुढ़ापा नहीं है। पैर नहीं है इसलिए गति नहीं है। हाथ नहीं है इसलिए क्रिया नहीं है। जन्म नहीं है इसलिए मृत्यु भी नहीं है। बुद्धि नहीं है इसलिए सुखादि कुछ नहीं है। धर्म नहीं है इसलिए शुचिता नहीं है। सत्य भी नहीं है और भय भी नहीं है। अक्षरों का उच्चारण नहीं है, गुरु-शिष्य आदि भी नहीं हैं, एक नहीं है अत: दूसरा भी नहीं है। और दूसरे के अभाव में एक भी नहीं है। यदि सत्य हो तो कुछ भी असत्य हो ही नहीं सकता और यदि असत्य ही हो तब तो सत्य रह ही नहीं सकता।

शुभं यद्यशुभं विद्धि अशुभाच्छुभमिष्यते।
भयं यद्यभयं विद्धि अभयाद्भयमापतेत् ॥23॥
बन्धत्वमपि चेन्मोक्षो बन्धाभावे क्व मोक्षता।
मरणं यदि चेज्जन्म जन्माभावे मृतिर्न च ॥24॥
त्वमित्यपि भवेच्चाहं त्वं नो चेदहमेव नो।
इदं यदि तदेवास्ति तदभावादिदं न च ॥25॥
अस्तीति चेन्नास्ति तदा नास्ति चेदस्ति किञ्चन।
कार्यं चेत्कारणं किञ्चित्कार्याभावे न कारणम् ॥26॥

यदि शुभ हो तो तुम्हें उसे अशुभ मानना चाहिए क्योंकि अशुभ से ही शुभ की कामना की जाती है। यदि भय हो तो तुम्हें उसे अभय मानना चाहिए क्योंकि अभय से भय आ जाता है। यदि बन्धन है तो मोक्ष है, पर बन्धन ही न हो तो मोक्षत्व कहाँ से होगा? यदि मरण हो तो जन्म हो सकता है पर जन्म ही नहीं है तो मरण नहीं हो सकता। यदि 'तू' है तो 'मैं' हो सकता हूँ, पर 'तू' नहीं है, तो मैं भी नहीं हूँ। यदि 'यह' है, तो 'वह' हो सकता है, पर 'वह' न हो, तो 'यह' भी नहीं होगा। यदि 'है' का अस्तित्व है, तो 'नहीं है' का भी अस्तित्व है, जब 'नहीं है' का कोई अस्तित्व नहीं है, तो 'है' का भी कोई अस्तित्व नहीं। इसी तरह यदि कोई 'कार्य' है तो कारण होगा, पर जब 'कार्य' ही नहीं है, तब कारण भी नहीं होगा।

द्वैतं यदि तदाऽद्वैतं द्वैताभावेऽद्वयं न च।
दृश्यं यदि दृगप्यस्ति दृश्याभावे दृगेव न ॥27॥
अन्तर्यदि बहिः सत्यमन्ताभावे बहिर्न च।
पूर्णत्वमस्ति चेत्किञ्चिदपूर्णत्वं प्रसज्यते ॥28॥
तस्मादेतत्क्वचिन्नास्ति त्वं चाहं वा इमे इदम्।
नास्ति दृष्टान्तिकं सन्ये नास्ति दार्ष्टान्तिकं ह्यजे ॥29॥
परंब्रह्माहमस्मीति स्मरणस्य मनो न हि।
ब्रह्ममात्रं जगदिदं ब्रह्ममात्रं त्वमप्ययम् ॥30॥

यदि द्वैत है तो अद्वैत है, पर द्वैत के अभाव में अद्वैत नहीं होता। यदि दृश्य है तो द्रष्टा भी है, दृश्य के अभाव में द्रष्टा होता ही नहीं। यदि बाहर है तो भीतर सत्य है, पर भीतर के अभाव में बाहर नहीं होता। यदि पूर्णत्व कुछ है, तभी अपूर्णत्व हो सकता है। इसलिए वह कुछ है ही नहीं। न तू है, न मैं हूँ, न ये हैं, न यह है। सत्य में कोई दार्ष्टान्तिक (उदाहरण) नहीं है। अजन्मा का कोई दार्ष्टान्तिक नहीं है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसे स्मरण के लिए मन ही नहीं है। यह जगत् मात्र ब्रह्मरूप ही है और 'मैं' और 'तू' सब ब्रह्मरूप ही है।

चिन्मात्रं केवलं चाहं नास्त्यनात्मेति निश्चिनु।
इदं प्रपञ्चं नास्त्येव नोत्पन्नं न स्थितं क्वचित् ॥31॥
चित्तं प्रपञ्चमित्याहुर्नास्ति नास्त्येव सर्वदा।
न प्रपञ्चं न चित्तादि नाहङ्कारो न जीवकः ॥32॥
मायाकार्यादिकं नास्ति माया नास्ति भयं न हि।
कर्ता नास्ति क्रिया नास्ति श्रवणं मननं न हि ॥33॥
समाधिद्वितयं नास्ति मातृमानादि नास्ति हि।
अज्ञानं चापि नास्त्येव ह्यविवेकं कदाचन ॥34॥

'मात्र चैतन्य ऐसा 'मैं' हूँ अनात्मा जैसा कुछ है ही नहीं'—ऐसा तुम निश्चय कर लो। यह प्रपञ्च (जगत्) है ही नहीं, वह कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं, और कहीं रहा भी नहीं है। चित्त को भी प्रपंच कहा जाता है, और वह कभी है ही नहीं, है ही नहीं। प्रपंच भी नहीं है, चित्त भी नहीं है, अहंकार भी नहीं है, जीव भी नहीं है, माया का कार्य जैसा कुछ नहीं है, माया ही नहीं है, भय भी नहीं है। कर्ता नहीं है, क्रिया नहीं है, श्रवण और मनन भी नहीं है। दो प्रकार की समाधि भी नहीं है। कोई प्रमाता नहीं है, कोई प्रमाण नहीं है, अज्ञान ही नहीं है और इसीलिए अविवेक भी तो नहीं है।

अनुबन्धचतुष्कं न सम्बन्धत्रयमेव न।
न गंगा न गया सेतुर्न भूतं नान्यदस्ति हि ॥35॥
न भूमिर्न जलं नाग्निर्न वायुर्न च खं क्वचित्।
न देवा न च दिक्पाला न वेदा न गुरुः क्वचित् ॥36॥
न दूरं नान्तिकं नालं न मध्यं न क्वचित्स्थितम्।
नाद्वैतं द्वैतसत्यं वा ह्यसत्यं वा इदं न च ॥37॥
बन्धमोक्षादिकं नास्ति सद्वाऽसद्वा सुखादि वा।
जातिर्नास्ति गतिर्नास्ति वर्णो नास्ति न लौकिकम् ॥38॥

चारों अनुबन्ध नहीं हैं, तीनों सम्बन्ध नहीं हैं, गंगा नहीं है, गया नहीं है, सेतु नहीं है, भूत (प्राणी) नहीं है और अन्य भी कुछ है ही नहीं। पृथ्वी नहीं है, जल नहीं है, अग्नि नहीं है, वायु नहीं है, आकाश नहीं है। कभी भी देव नहीं हैं, कहीं दिक्पाल नहीं है, वेद नहीं हैं, कहीं गुरु भी नहीं है, कोई दूर नहीं, नजदीक भी नहीं, कोई अन्त नहीं, कोई मध्य नहीं, कहीं भी अद्वैत नहीं है, द्वैत और सत्य भी नहीं है, असत्य भी नहीं है, यह भी नहीं है, बन्ध और मोक्ष भी नहीं है सत्. असत् या सुख आदि भी नहीं है। जाति नहीं है, गति नहीं है वर्ण नहीं है, कोई व्यवहार भी नहीं है।

सर्वं ब्रह्मेति नास्त्येव ब्रह्म इत्यपि नास्ति हि।
चिदित्येवेति नास्त्येव चिदहंभाषणं न हि ॥39॥
अहं ब्रह्मास्मि नास्त्येव नित्यशुद्धोऽस्मि न क्वचित्।
वाचा यदुच्यते किञ्चिन् मनसा मनुते क्वचित् ॥40॥
बुद्ध्या निश्चिनुते नास्ति चित्तेन ज्ञायते न हि।
योगी योगादिकं नास्ति सदा सर्वं सदा न च ॥41॥
अहोरात्रादिकं नास्ति स्नानध्यानादिकं न हि।
भ्रान्तिरभ्रान्तिर्नास्त्येव नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥42॥

'ब्रह्म सब है' ऐसा भी नहीं है और 'सब ब्रह्म है' ऐसा भी नहीं है। 'सब चिद्रूप है' ऐसा भी नहीं है और 'मैं चिद्रूप हूँ' ऐसा भी भाषण नहीं है। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा भी नहीं है और 'मैं नित्य शुद्ध हूँ' ऐसा भी नहीं है। वाणी से जो बोला जाता है, मन से जो सोचा जाता है, बुद्धि से जो निर्णय किया जाता है और चित्त से जो कुछ देखा जाता है या जाना जाता है वह सब कुछ भी नहीं है। योगी भी नहीं है, मोक्ष भी कभी नहीं है। रात नहीं है, दिन नहीं है, स्नान नहीं है, ध्यानादि कुछ नहीं है। भ्रान्ति और अभ्रान्ति भी नहीं है। इसी तरह आत्मा भी नहीं है—ऐसा तू निश्चय कर ले।

वेदः शास्त्रं पुराणं च कार्यं कारणमीश्वरः।
लोको भूतं जनस्त्वैक्यं सर्वं मिथ्या न संशयः ॥43॥
बन्धो मोक्षः सुखं दुःखं ध्यानं चित्तं सुरासुराः।
गौणं मुख्यं परं चान्यत्सर्वं मिथ्या न संशयः ॥44॥
वाचा वदति यत्किञ्चित् सङ्कल्पैः कल्प्यते च यत्।
मनसा चिन्त्यते यद्यत् सर्वं मिथ्या न संशयः ॥45॥
बुद्ध्या निश्चीयते किञ्चिच्चित्ते निश्चीयते क्वचित्।
शास्त्रैः प्रपञ्च्यते यद्यन्नेत्रेणैव निरीक्ष्यते ॥46॥
श्रोत्राभ्यां श्रूयते यद्यदन्यत्सद्भावमेव च।
नेत्रं श्रोत्रं गात्रमेव मिथ्येति च सुनिश्चितम् ॥47॥

वेद, शास्त्र, पुराण, कार्य, कारण, ईश्वर, लोक, भूत (प्राणी), मनुष्य, ऐक्य—यह सब मिथ्या है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। बन्ध, मोक्ष, सुख, दुःख, ध्यान, चित्त, सुर, असुर, गौण, मुख्य, अन्य, सब निःसंदेह मिथ्या है। जो कुछ वाणी से बोलता है, या संकल्पों से कल्पना की जाती है, या मन में जो कुछ सोचा जाता है, वह सब कुछ निःसंदेह मिथ्या है। जो कुछ बुद्धि से निश्चय किया जाता है, कभी कुछ जो चित्त में निर्णय किया जाता है, शास्त्रों में जिसकी चर्चा की जाती है, जो-जो आँख से देखा जाता है, जो-जो कान से सुना जाता है, और भी जो-जो कुछ है, नेत्र, श्रोत्र, गात्र—यह सब मिथ्या ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इदमित्येव निर्दिष्टमयमित्येव कल्प्यते ।
त्वमहं तदिदं सोऽहमन्यत्सद्भावमेव च ॥48॥
यद्यत्संभाव्यते लोके सर्वसंकल्पसम्भ्रमः ।
सर्वाध्यासं सर्वगोप्यं सर्वभोगप्रभेदकम् ॥49॥
सर्वदोषप्रभेदाच्च नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ।
मदीयं च त्वदीयं च ममेति च तवेति च ॥50॥
मह्यं तुभ्यं मयेत्यादि तत्सर्वं वितथं भवेत् ।
रक्षको विष्णुरित्यादि ब्रह्मा सृष्टेस्तु कारणम् ॥51॥
संहारे रुद्र इत्येवं सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ।

जिसका 'यह' शब्द से निर्देश होता है, और जो 'यह' शब्द से कल्पित किया जाता है, वह और तू, मैं, यह, और अन्य जो कुछ भी अस्तित्व इस लोक में माना जाता है, वह सब केवल संकल्प का संभ्रम है। सभी आरोप, सभी गोपनीय, सभी भोगों के भेद, और सभी दोषों के भेद—ये सब भी अनात्मरूप नहीं है, ऐसा निश्चयपूर्वक जानो। यह तेरा, यह मेरा, यह तेरे लिए, यह मेरे लिए—ये सब मिथ्या है। विष्णु इस सृष्टि के पालक हैं, ब्रह्मा सर्जक हैं और रुद्र संहारक हैं—यह सब मिथ्या ही है।

स्नानं जपस्तपो होमः स्वाध्यायो देवपूजनम् ॥52॥
मन्त्रं तन्त्रं च सत्सङ्गो गुणदोषविजृम्भणम् ।
अन्तःकरणसद्भाव अविद्यायाश्च संशयः ॥53॥
अनेककोटिब्रह्माण्डं सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ।
सर्वदेशिकवाक्योक्तिर्येन केनापि निश्चितम् ॥54॥
दृश्यते जगति यद्यद् यद्यज्जगति वीक्ष्यते ।
वर्तते जगति यद्यत्सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ॥55॥

स्नान, जप, तप, होम, स्वाध्याय, देवपूजन, मन्त्र, तन्त्र, सत्संग, गुण और दोष के विलास, अन्तःकरण की सच्चाई, अविद्या का संशय और अनेक करोड़ों ब्रह्माण्ड—ये सब मिथ्या हैं। सभी गुरुओं के वाक्य और वचन और जिस किसी ने जो कुछ भी निश्चय किया हो वह, तथा जगत् में जो-जो देखा जाता है, और जो-जो कुछ भी दीख पड़ता है, वह सब मिथ्या ही है—ऐसा तुम निश्चय कर लो।

येन केनाक्षरेणोक्तं येन केन विनिश्चितम् ।
येन केनापि गदितं येन केनापि मोदितम् ॥56॥
येन केनापि यद्दत्तं येन केनापि यत्कृतम् ।
यत्र यत्र शुभं कर्म यत्र यत्र च दुष्कृतम् ॥57॥
यद्यत्करोति सत्येन सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ।
त्वमेव परमात्मासि त्वमेव परमो गुरुः ॥58॥
त्वमेवाकाशरूपोऽसि साक्षिहीनोऽसि सर्वदा ।
त्वमेव सर्वभावोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥59॥
कालहीनोऽसि कालोऽसि सदा ब्रह्मासि चिद्घनः ।
सर्वतः स्वस्वरूपोऽसि चैतन्यघनवानसि ॥60॥

जिस किसी अक्षर से कहा गया हो, जिस किसी से निर्णीत किया गया हो, जिस किसी से भी कहा गया हो, जिस किसी से भी आनन्दित हुआ हो, जिस किसी से जो कुछ भी दिया गया हो, जिस किसी से जो कुछ किया गया हो, जहाँ-जहाँ शुभ कर्म हो, जहाँ-जहाँ अशुभ कर्म हो, जो-जो तुम सच्चाई से करते हो—यह सबका सब मिथ्या ही है, ऐसा निश्चय कर लो। तू ही परमात्मा है, तू ही परम गुरु है, तू ही आकाश के-से रूपवाला है, तू ही साक्षी हीन है – सदैव है (क्योंकि दूसरा है नहीं तो साक्षी किसका ?), तू ही सर्व अस्तित्वमय है, तू ही ब्रह्म है, इसमें कोई शंका नहीं है। काल से परे भी तू ही है और कालस्वरूप भी तो तू ही है। तू ही सदैव चिन्मय ब्रह्मस्वरूप है। हमेशा तू अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है, तू चिद्घन चिद्रूप व्यापक है।

सत्योऽसि सिद्धोऽसि सनातनोऽसि मुक्तोऽसि मोक्षोऽसि मुदामृतोऽसि।
देवोऽसि शान्तोऽसि निरामयोऽसि ब्रह्माऽसि पूर्णोऽसि परात्परोऽसि ॥61॥
समोऽसि सच्चासि सनातनोऽसि सत्यादिवाक्यैः प्रतिबोधितोऽसि।
सर्वाङ्गहीनोऽसि सदा स्थितोऽसि ब्रह्मेन्द्ररुद्रादिविभावितोऽसि ॥62॥
सर्वप्रपञ्चभ्रमवर्जितोऽसि सर्वेषु भूतेषु च भासितोऽसि।
सर्वत्र सङ्कल्पविवर्जितोऽसि सर्वागमान्तार्थविभावितोऽसि ॥63॥
सर्वत्र सन्तोषसुखासनोऽसि सर्वत्र गत्यादिविवर्जितोऽसि।
सर्वत्र लक्ष्यादिविवर्जितोऽसि ध्यातोऽसि विष्णवादिसुरैरजस्त्रम् ॥64॥

तू सत्य है, सिद्ध है, सनातन है, मुक्त है, मोक्ष है, आनन्द के साथ अमर है, तू देव है, शान्त है, निर्दोष है, ब्रह्म है, पूर्ण है, परे से भी परे है, सर्वत्र समान है, सद्रूप है, सनातन है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि वाक्यों के द्वारा बताया गया है—ज्ञात करवाया गया है। तू सभी अवयवों से रहित है, तू सदा अवस्थित है। ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र आदि के द्वारा पूजित तू ही है। सब जगत् के भ्रम से तू रहित है, तू ही सभी प्राणियों में अवभासित है, तू सभी संकल्पों से रहित है, सभी आगमों के सार का तात्पर्य को दिखाने वाला तू ही है। तू सर्वत्र संतोष से सुखपूर्वक रहने वाला है, तू सदैव गति आदि क्रियाओं से रहित है, सदा (सर्वत्र) लक्ष्य आदि से तू रहित है, विष्णु आदि देवों के द्वारा ध्यान किया जाने वाला तू ही है।

चिदाकारस्वरूपोऽसि चिन्मात्रोऽसि निरङ्कुशः।
आत्मन्येव स्थितोऽसि त्वं सर्वशून्योऽसि निर्गुणः ॥65॥
आनन्दोऽसि परोऽसि त्वमेक एवाद्वितीयकः।
चिद्घनानन्दरूपोऽसि परिपूर्णस्वरूपकः ॥66॥
सदसि त्वमसि ज्ञोऽसि सोऽसि जानासि वीक्षसि।
सच्चिदानन्दरूपोऽसि वासुदेवोऽसि वै प्रभुः ॥67॥
अमृतोऽसि विभुश्चापि चञ्चलो ह्यचलो ह्यसि।
सर्वोऽपि सर्वहीनोऽसि शान्ताशान्तविवर्जितः ॥68॥

तू चैतन्याकारस्वरूप है, तू केवल चिद्रूप है, तू किसी अंकुश से रहित है, तू आत्मा में ही स्थित है, तू सर्वशून्य है, तू निर्गुण है, तू परम आनन्दरूप है, तू एक और अद्वितीय है, तू व्यापक चैतन्य है, तू परिपूर्ण स्वरूप है, तू सत् है, तू 'त्वम्' है, तू 'सः' है, तू वही है, तू जानता है, तू मुक्त होता है, तू सच्चिदानस्वरूप है, तू वासुदेव है, तू ही प्रभु है, तू अमृत है, तू ही विभु है, तू ही चंचल और

तू ही अचल है। सर्व और असर्व भी तू है, शान्त-अशान्त आदि से मुक्त भी तू ही है—अर्थात् सब कुछ तू ही है।

सत्तामात्रप्रकाशोऽसि सत्तासामान्यको ह्यसि।
नित्यसिद्धिस्वरूपोऽपि सर्वसिद्धिविवर्जितः ॥69॥
ईषन्मात्रविशून्योऽसि अणुमात्रविवर्जितः।
अस्तित्ववर्जितोऽसि त्वं नास्तित्वादिविवर्जितः ॥70॥
लक्ष्यलक्षणहीनोऽसि निर्विकारो निरामयः।
सर्वनादान्तरोऽसि त्वं कलाकाष्ठाविवर्जितः ॥71॥
ब्रह्मविष्णवीशहीनोऽपि स्वस्वरूपं प्रपश्यसि।
स्वस्वरूपावशेषोऽसि स्वानन्दाब्धौ निमज्जसि ॥72॥

तू मात्र सत्तारूप प्रकाशवाला है, तू सामान्य सत्तारूप है, तू नित्यसिद्धिस्वरूप है, तू सर्व सिद्धियों से रहित भी है, तू शून्यता से लेशमात्र रहित है और तू अणुमात्र से रहित है। तू अस्तित्व से भी रहित है और नास्तित्व से भी रहित है। तू लक्ष्य और लक्षण से रहित है। तू निर्विकार, निर्दूषित और नीरोगी है। तू सर्वनादों के भीतर है, तथापि सभी कलाओं की सीमाओं से रहित है। तू न ब्रह्मा है, न विष्णु है, न महेश है, तथापि अपने स्वरूप को स्वयं देख रहा है। तू ही अपने स्वरूप में सब अपवाद दूर हो जाने के बाद अवशिष्ट रहता है। तू ही केवल अपने आनन्दरूपी सागर में निमग्न होकर रहता है।

स्वात्मराज्ये स्वमेवासि स्वयम्भावविवर्जितः।
शिष्टपूर्णस्वरूपोऽसि स्वस्मात्किंचिन्न पश्यसि ॥73॥
स्वस्वरूपान्न चलसि स्वस्वरूपेण जृम्भसि।
स्वस्वरूपादनन्योऽसि ह्यहमेवास्मि निश्चिनु ॥74॥
इदं प्रपञ्चं यत्किंचिद् यद्यज्जगति विद्यते।
दृश्यरूपं च दृग्रूपं सर्वं शशविषाणवत् ॥75॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकारश्च तेजश्च लोकं भुवनमण्डलम् ॥76॥

अपने आत्मराज्य में तू ही है, 'स्वयम्' ऐसे शब्द से (किसी भी सापेक्ष शब्द से) तू रहित है। सभी अपवादों के चले जाने के बाद अवशिष्ट स्वरूप तू ही है। तू पूर्ण है। तू अपने आपसे अलग किसी को देखता नहीं है, तू अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता। तू ऐसा निश्चय कर ले कि 'सर्वत्र मैं ही हूँ'। इस जगत् में जो कुछ दृश्यरूप है या जो द्रष्टा रूप है यह सब खरगोश के सींग की तरह मिथ्या ही है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार, तेज, लोक, भुवनमण्डल सभी खरगोश के सींग जैसे ही मिथ्या (झूठे) ही हैं। उनका अस्तित्व ही नहीं।

नाशो जन्म च सत्यं च पुण्यपापजयादिकम्।
रागः कामः क्रोध-लोभौ ध्यानं ध्येयं गुणं परम् ॥77॥
गुरुशिष्योपदेशादिरादिरन्तं शमं शुभम्।
भूतं भव्यं वर्तमानं लक्ष्यं लक्षणमद्वयम् ॥78॥

शमो विचारः सन्तोषो भोक्तृभोज्यादिरूपकम् ।
यमाद्यष्टाङ्गयोगं च गमनागमनात्मकम् ॥79॥
आदिमध्यान्तरङ्गं च शास्त्रं त्याज्यं हरिः शिवः ।
इन्द्रियाणि मनश्चैव अवस्थात्रितयं तथा ॥80॥

नाश, जन्म, सत्य, पुण्य, पाप, जय आदि तथा राग, काम, क्रोध, ध्यान, ध्येय, गुण, परवस्तु, गुरु-शिष्य उपदेशादि तथा आदि, मध्य, अन्त, शम, शुभ, भूत, भविष्य, वर्तमान, लक्ष्य, लक्षण, अद्वैत, शम, विचार, सन्तोष, भोक्ता, भोज्य आदि तथा यमनियमादि अष्टांगयोग, शास्त्र, त्याज्य, हरि, शिव, इन्द्रियाँ, मन, जाग्रदादि तीन अवस्थाएँ—सब कुछ खरगोश के सींग की तरह मिथ्या (झूठ) ही है ।

चतुर्विंशतितत्त्वं च साधनानां चतुष्टयम् ।
सजातीयं विजातीयं लोका भूरादयः क्रमात् ॥81॥
सर्ववर्णाश्रमाचारं मन्त्रतन्त्रादिसंग्रहम् ।
विद्याविद्यादिरूपं च सर्ववेद्यं जडाजडम् ॥82॥
बन्धमोक्षविभागं च ज्ञानविज्ञानरूपकम् ।
बोधाबोधस्वरूपं वा द्वैताद्वैतादिभाषणम् ॥83॥
सर्ववेदान्तसिद्धान्तं सर्वशास्त्रार्थनिर्णयम् ।
अनेकजीवसद्भावमेकजीवादिनिर्णयम् ॥84॥

चौबीस तत्त्व, चार साधन, सजातीय, विजातीय, भूः आदि सब लोक, सभी वर्णों के आचार, मन्त्रों और तन्त्रों का संग्रह, विद्या, अविद्या, सभी वेद्य वस्तुएँ, जड, अजड, बन्ध, मोक्ष आदि के विभाग, ज्ञान और अज्ञान, बोध, अबोध, द्वैत-अद्वैत आदि का संभाषण, सभी वेदान्तों के सिद्धान्त, सभी शास्त्रों के निर्णय, अनेक जीववाद, एक जीववाद आदि का निर्णय—यह सब भी खरगोश के सींग के समान ही मिथ्या (झूठ) ही है ।

यद्यद् ध्यायति चित्तेन यद्यत्सङ्कल्पते क्वचित् ।
बुद्ध्या निश्चीयते यद्यद् गुरुणा संश्रृणोति यत् ॥85॥
यद्यद्वाचा व्याकरोति यद्यदाचार्यभाषणम् ।
यद्यत्स्वरेन्द्रियैर्भाव्यं यद्यन्मीमांस्यते पृथक् ॥86॥
यद्यन्न्यायेन निर्णीतं महद्भिर्वेदपारगैः ।
शिवः क्षरति लोकान्वै विष्णुः पाति जगत्त्रयम् ॥87॥
ब्रह्मा सृजति लोकान्वै एवमादिक्रियादिकम् ।
यद्यदस्ति पुराणेषु यद्यद्वेदेषु निर्णयम् ॥88॥
सर्वोपनिषदां भावं सर्वं शशविषाणवत् ।

मनुष्य चित्त के द्वारा जो ध्यान करता है वह, और जो-जो चित्त से कल्पना करता है वह, बुद्धि से जो-जो निर्णय किया जाता है वह, जो गुरु से सुनता है, वाणी से जो-जो बोलता है, गुरु का जो भाषण है, जो-जो स्वरों और इन्द्रियों से होता है, जिसकी अलग विचारणा की जाती है, बड़े-बड़े पारंगत लोगों के द्वारा जो वेदों से साबित किया जाता है, शिव लोगों का संहार करते हैं, विष्णु रक्षण करते हैं, इस जगत् को ब्रह्मा उत्पन्न करते हैं'—इत्यादि क्रियाएँ जो पुराणों में बताई गई हैं, और जो-जो वेदों में निर्णय किया गया है, यह सब कुछ खरगोश के सींग की तरह मिथ्या (झूठ) ही है ।

देहोऽहमिति सङ्कल्पं तदन्तःकरणं स्मृतम् ॥89॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो महत्संसार उच्यते ।
देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तद्बन्धमिति चोच्यते ॥90॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तद्दुःखमिति चोच्यते ।
देहोऽहमिति यद्भानं तदेव नरकं स्मृतम् ॥91॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो जगत्सर्वमितीर्यते ।
देहोऽहमिति सङ्कल्पो हृदयग्रन्थिरीरितः ॥92॥

'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही अन्तःकरण है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही बड़ा संसार कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही बन्धन है, ऐसा संकल्प ही दुःख कहा जाता है। 'मै देह हूँ' ऐसा भान होना ही नरक कहलाता है। 'मै देह हूँ' ऐसा संकल्प ही यह सारा जगत् है, ऐसा कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसे संकल्प को ही हृदय की गाँठ कहा गया है।

देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेवाज्ञानमुच्यते ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदसद्भावमेव च ॥93॥
देहोऽहमिति या बुद्धिः सा चाविद्येति भण्यते ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेव द्वैतमुच्यते ॥94॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पः सत्यजीवः स एव हि ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं परिच्छिन्नमितीरितम् ॥95॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो महापापमिति स्फुटम् ।
देहोऽहमिति या बुद्धिस्तृष्णा दोषामयः किल ।
यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पस्तापत्रयमितीरितम् ॥96॥

'मैं देह हूँ', ऐसा ज्ञान वही अज्ञान है, 'मैं देह हूँ' यह ज्ञान असद्रूप ही है, 'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि अविद्या है, 'मैं देह हूँ' ऐसा ज्ञान ही द्वैत कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही सत्य जीव है, 'मैं देह हूँ' ऐसा ज्ञान परिच्छिन्न (संकुचित) है, 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही स्पष्टरूप से बड़ा पाप है, 'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि दोषमय तृष्णा है। सचमुच, जो कुछ भी संकल्प किया जाता है, वह तीन प्रकार के संताप हैं, ऐसा कहा गया है।

कामं क्रोधं बन्धनं सर्वदुःखं विश्वं दोषं कालनानास्वरूपम् ।
यत्किञ्चेदं सर्वसंकल्पजालं तत्किञ्चेदं मानसं सोम्य विद्धि ॥97॥
मन एव जगत्सर्वं मन एव महारिपुः ।
मन एव हि संसारो मन एव जगत्त्रयम् ॥98॥
मन एव महद्दुःखं मन एव जरादिकम् ।
मन एव हि कालश्च मन एव मलं तथा ॥99॥
मन एव हि सङ्कल्पो मन एव च जीवकः ।
मन एव हि चित्तं च मनोऽहङ्कार एव च ॥100॥

काम, क्रोध, बन्धन, सब दुःख, सब दोष, काल के अनेक स्वरूप, जो कुछ भी यह संकल्पों का जाल है, वह सब हे सोम्य ! तुम मानस (मनोविकार) ही मानो। मन ही यह सारा जगत् है, मन

ही बड़ा दुश्मन है, मन ही संसार है, मन ही ये तीन जगत् है, मन ही बड़ा दु:ख है, मन ही बुढ़ापा आदि है, मन ही काल है, मन ही मलिनता है, मन ही संकल्प है, मन ही जीव है, मन ही चित्त है, मन ही अहंकार है।

मन एव महद्बन्धं मनोऽन्तःकरणं च तत्।
मन एव हि भूमिश्च मन एव हि तोयकम् ॥101॥
मन एव हि तेजश्च मन एव मरुन्महान्।
मन एव हि चाकाशं मन एव हि शब्दकम् ॥102॥
स्पर्शं रूपं रसं गन्धं कोशाः पञ्च मनोभवाः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि मनोमयमितीरितम् ॥103॥
दिक्पाला वसवो रुद्रा आदित्याश्च मनोमयाः।
दृश्यं जडं द्वन्द्वजातमज्ञानं मानसं स्मृतम् ॥104॥
सङ्कल्पमेव यत्किञ्चित् तत्तन्नास्तीति निश्चिनु।
नास्ति नास्ति जगत्सर्वं गुरुशिष्यादिकं न हि ॥105॥ इत्युपनिषत्।

इति पञ्चमोऽध्यायः।

मन ही बड़ा बन्धन है, मन ही अन्त:करण है, मन ही पृथ्वी है, मन ही जल है, मन ही तेज है, मन ही महान् वायु है, मन ही आकाश है और मन ही शब्द है। स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पाँच कोश, सब मनोमय ही हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ सब मनोमय ही हैं, ऐसा कहा गया है। दश दिक्पाल, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, बारह आदित्य आदि सब मनोमय हैं। जो कुछ दृश्य है, जड़ है, द्वन्द्वमय है, वह सब अज्ञान और मानस ही है। जो कुछ भी संकल्प है, वह है ही नहीं ऐसा निश्चय कर लो। यह जगत् है ही नहीं, सचमुच नहीं है, यह सब गुरु-शिष्य आदि भी नहीं है—ऐसा उपदेश है।

यहाँ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ।

षष्ठोऽध्यायः

ऋभुः।
सर्वं सच्चिन्मयं विद्धि सर्वं सच्चिन्मयं ततम्।
सच्चिदानन्दमद्वैतं सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥1॥
सच्चिदानन्दमात्रं हि सच्चिदानन्दमन्यकम्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं सच्चिदानन्दमेव खम् ॥2॥
सच्चिदानन्दमेव त्वं सच्चिदानन्दकोऽस्म्यहम्।
मनोबुद्धिरहंकारचित्तसंघातका अमी ॥3॥
न त्वं नाहं न चान्यद्वा सर्वं ब्रह्मैव केवलम्।
न वाक्यं न पदं वेदं नाक्षरं न जडं क्वचित् ॥4॥

ऋभु बोले—तुम ऐसा जान लो कि सब कुछ सच्चिदानन्दमय ही है, सब कुछ सच्चिन्मय का ही विस्तार है, सच्चिदानन्दमय ही अद्वैत है, सच्चिदानन्दमय ही एकमात्र है। केवल एक सच्चिदानन्द ही है, बस, वही मात्र सच्चिदानन्द है। मैं भी सच्चिदानन्द मात्र हूँ, आकाश भी सच्चिदानन्द मात्र है, तू भी सच्चिदानन्द ही है, मैं भी सच्चिदानन्दमय हूँ। ये जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के समूह हैं, वे और तू, मैं या अन्य कुछ भी नहीं हैं, केवल ब्रह्म ही है। कोई वाक्य नहीं है, पद नहीं है, वेद नहीं है, कोई अक्षर नहीं है (केवल ब्रह्म है)।

न मध्यं नादि नान्तं वा न सत्यं न निबन्धनम्।
न दुःखं न सुखं भावं न माया प्रकृतिस्तथा ॥5॥
न देहं न मुखं घ्राणं न जिह्वा न च तालुनी।
न दन्तौष्ठौ ललाटं च निःश्वासोच्छ्वास एव च ॥6॥
न स्वेदमस्थि मांसं च न रक्तं न च मूत्रकम्।
न दूरं नान्तिकं नाङ्गं नोदरं न किरीटकम् ॥7॥
न हस्तपादचलनं न शास्त्रं न च शासनम्।
न वेत्ता वेदनं वेद्यं न जाग्रत्स्वप्नसुप्तयः ॥8॥

मध्य नहीं है, आदि नहीं है, अन्त नहीं है, सत्य नहीं है, बन्धन नहीं है, दुःख नहीं है, सुख नहीं है, पदार्थ नहीं है, माया नहीं है, प्रकृति नहीं है, शरीर नहीं है, मुँह नहीं है, नाक नहीं है, जीभ नहीं है, दो तालु नहीं है, दाँत और ओठ नहीं हैं, ललाट नहीं है, श्वासोच्छ्श्वास भी नहीं हैं। पसीना नहीं है, मांस नहीं है, लहू नहीं है, मूत्र नहीं है। दूर जैसा कुछ नहीं और नजदीक जैसा भी कुछ नहीं है। अंग नहीं है, उदर नहीं है, किरीट भी नहीं है, हाथ-पैर का हिलना भी नहीं है, शास्त्र नहीं है, आज्ञा नहीं है, ज्ञाता नहीं है, ज्ञेय नहीं है, ज्ञान नहीं है, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति भी नहीं है।

तुर्यातीतं न मे किंचित्सर्वं सच्चिन्मयं जगत्।
नाध्यात्मिकं नाधिभूतं नाधिदैवं न मायिकम् ॥9॥
न विश्वस्तैजसः प्राज्ञो विराट्सूत्रात्मकेश्वराः।
न गमागमचेष्टा च न नष्टं न प्रयोजनम् ॥10॥
त्याज्यं ग्राह्यं न दूष्यं वा ह्यमेध्यामेध्यकं तथा।
न पीनं न कृशं क्लेदं न कालं देशभाषणम् ॥11॥
न सर्वं न भयं द्वैतं न वृक्षतृणपर्वताः।
न ध्यानं न योगसिद्धिर्न ब्रह्मक्षत्रवैश्यकम् ॥12॥

मेरी तुरीयातीतावस्था भी नहीं है, सब सच्चिन्मय फैला हुआ है। आध्यात्मिक नहीं है, आधिभौतिक नहीं है, आधिदैविक नहीं है, विश्व नहीं है, तैजस नहीं है, प्राज्ञ नहीं है, विराट् नहीं है, सूत्रात्मा नहीं है, ईश्वर नहीं है, आने-जाने की कोई चेष्टा ही नहीं है, कुछ नष्ट नहीं है, प्रयोजन भी नहीं है, कुछ त्याज्य नहीं है, ग्राह्य नहीं है, कुछ दूषित नहीं है, मेध्य नहीं और अमेध्य भी नहीं है, स्थूल नहीं है, दुबला नहीं है, और काल नहीं, देश का भी कथन नहीं है। सब नहीं है, भय नहीं है, द्वैत नहीं है। पेड़-घास-पर्वत कुछ भी नहीं है। ध्यान नहीं है, योगसिद्धि भी नहीं है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य कुछ भी नहीं है।

न पक्षी न मृगो नाङ्गी न लोभो मोह एव च ।
न मदो न च मात्सर्यं कामक्रोधादयस्तथा ॥13॥
न स्त्रीशूद्रबिडालादि भक्ष्यभोज्यादिकं च तत् ।
न प्रौढहीनो नास्तिक्यं न वार्तावसरोऽस्ति हि ॥14॥
न लौकिको न लोको वा न व्यापारो न मूढता ।
न भोक्ता भोजनं भोज्यं न पात्रं पानपेयकम् ॥15॥
न शत्रुमित्रपुत्रादिर्न मात्रा न पिता स्वसा ।
न जन्म न मृतिर्वृद्धिर्न देहोऽहमिति भ्रमः ॥16॥

पक्षी नहीं हैं, प्राणी नहीं है, कोई अंगी नहीं है। लोभ नहीं है, मोह नहीं है, मद नहीं है, मात्सर्य नहीं है, काम-क्रोध आदि भी नहीं है। स्त्री-शूद्र-बिडाल आदि भी नहीं है। भक्ष्य-भोज्यादि जो भी है वह नहीं है। कोई प्रौढ नहीं, कोई छोटा भी नहीं है। नास्तिकता नहीं है। किसी बात या समाचार का कोई अवसर ही नहीं है। कोई लौकिक नहीं, लोक भी नहीं, व्यापार भी नहीं, मूढता नहीं है। भोक्ता-भोजन-भोज्य भी नहीं है। कोई पात्र-पान-पेय भी नहीं है। शत्रु-मित्र-पुत्रादिक नहीं हैं, माता-पिता-बहन नहीं है। जन्म-मरण-वार्द्धक्य नहीं है। मैं देह हूँ—यह तो केवल भ्रम ही है।

न शून्यं नापि चाशून्यं नान्तः कारणसंसृतिः ।
न रात्रिर्न दिवा नक्तं न ब्रह्मा न हरिः शिवः ॥17॥
न वारपक्षमासादि वत्सरं न च चञ्चलम् ।
न ब्रह्मलोको वैकुण्ठो न कैलासो न चान्यकः ॥18॥
न स्वर्गो न च देवेन्द्रो नाग्निलोको न चाग्निकः ।
न यमो यमलोको वा न लोका लोकपालकाः ॥19॥
न भूर्भुवःस्वस्त्रैलोक्यं न पातालं न भूतलम् ।
नाविद्या न च विद्या च न माया प्रकृतिर्जडा ॥20॥

शून्य नहीं है, अशून्य नहीं है, भीतर नहीं है, कारण नहीं है, संसार नहीं है, रात नहीं, दिन नहीं, मध्य रात्रि नहीं, ब्रह्मा-विष्णु-महेश नहीं हैं, वार-पक्ष-मास-वर्ष आदि भी कुछ नहीं है। चंचल नहीं है। ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, कैलास और अन्य ऐसे लोक भी नहीं हैं। स्वर्ग और इन्द्र भी नहीं है। अग्निलोक और अग्नि भी नहीं है। यम और यमलोक भी नहीं है। लोक और लोकपाल भी नहीं हैं। भूः, भुवः, स्वः ये तीन लोक भी नहीं हैं। पाताल-भूतल आदि भी कुछ नहीं हैं। अविद्या और विद्या नहीं हैं। माया या जड़ प्रकृति भी नहीं है।

न स्थिरं क्षणिकं नाशं न गतिर्न च धावनम् ।
न ध्यातव्यं न मे ध्यानं न मन्त्रो न जपः क्वचित् ॥21॥
न पदार्थं न पूजार्हं नाभिषेको न चार्चनम् ।
न पुष्पं न फलं पत्रं गन्धपुष्पादिधूपकम् ॥22॥
न स्तोत्रं न नमस्कारो न प्रदक्षिणमण्वपि ।
न प्रार्थना न पृथग्भावो न हविर्नाग्निवन्दनम् ॥23॥
न होमो न च कर्माणि न दुर्वाक्यं सुभाषणम् ।
न गायत्री न वा सन्धिर्न मनस्यं न दुःखितिः ॥24॥

स्थिर (क्षणिक) जैसा कुछ नहीं है। नाश, गति, दौड़ना आदि भी नहीं है। ध्यातव्य, ध्यान, मन्त्र, जप आदि कुछ भी मेरे लिए कहीं भी नहीं हैं। कोई पदार्थ नहीं है, पूजायोग्य कोई नहीं है, अभिषेक (पूजन) भी नहीं है, पुष्प, फल, पत्र, गन्ध, धूप आदि भी कुछ नहीं हैं, स्तोत्र, नमस्कार और प्रदक्षिणा भी कुछ नहीं है, प्रार्थना भी नहीं है, कोई अलगपन ही नहीं है, हविष्य, अग्निवन्दन, होम और अन्य कर्म भी नहीं हैं, कोई सुवाक्य नहीं, दुर्वाक्य भी नहीं है। गायत्री, सन्ध्या आदि भी नहीं है। मन में होने वाली कोई भावना भी नहीं है अतः दुःख भी नहीं हैं।

न दुराशा न दुष्टात्मा न चाण्डालो न पौल्कसः।
न दुःसहं दुरालापं न किरातो न कैतवम् ॥25॥
न पक्षपातं न पक्षं वा न विभूषणतस्करौ।
न च दम्भो दाम्भिको वा न हीनो नाधिको नरः ॥26॥
नैकं द्वयं त्रयं तुर्यं न महत्त्वं न चाल्पता।
न पूर्णं न परिच्छिन्नं न काशी न व्रतं तपः ॥27॥
न गोत्रं न कुलं सूत्रं न विभुत्वं न शून्यता।
न स्त्री न योषिन्नो वृद्धा न कन्या न वितन्तुता ॥28॥

दुष्ट आशा नहीं है, दुष्ट आत्मा नहीं है, चाण्डाल नहीं है, भंगी नहीं है, दुःसह नहीं है, दुष्ट आलाप नहीं है। भील नहीं, कपट नहीं, पक्षपात नहीं, पक्ष भी नहीं है। कोई चोर नहीं, चोरी करने का कोई पदार्थ भी नहीं है। दम्भ नहीं है, दाम्भिक नहीं है, कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा भी नहीं है। कोई एक नहीं है, दूसरा नहीं, तीसरा नहीं, चौथा भी नहीं है, कोई बड़प्पन नहीं है, छुटपन भी नहीं है, पूर्ण नहीं है, मर्यादित नहीं है, काशी नहीं, व्रत नहीं, तप नहीं है। गोत्र-कुल-सूत्र कुछ भी नहीं है। विभुता नहीं है, शून्यता नहीं है। स्त्री-युवती-वृद्धा-कन्या-वन्ध्या कुछ भी नहीं है।

न सूतकं न जातं वा नान्तर्मुखसुविभ्रमः।
न महावाक्यमैक्यं वा नाणिमादिविभूतयः ॥29॥
सर्वचैतन्यमात्रत्वात् सर्वदोषा सदा न हि।
सर्वं सन्मात्ररूपत्वात् सच्चिदानन्दमात्रकम् ॥30॥
ब्रह्मैव सर्वं नान्योऽस्ति तदहं तदहं तथा।
तदेवाहं तदेवाहं ब्रह्मैवाहं सनानतम् ॥31॥
ब्रह्मैवाहं न संसारी ब्रह्मैवाहं न मे मनः।
ब्रह्मैवाहं न मे बुद्धिर्ब्रह्मैवाहं न चेन्द्रियः ॥32॥

सूतक नहीं है, कोई जन्मा ही नहीं है, कोई भीतर के भ्रमवाला नहीं है, महावाक्यों की एकता नहीं है और अणिमा आदि सिद्धियाँ भी नहीं हैं। सभी चैतन्यमात्र ही हैं, इसलिए सभी दोष हैं ही नहीं। सब कुछ केवल सत् मात्र होने से सब सच्चिदानन्दरूप ही है। ब्रह्म ही सब कुछ है, इसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। मैं वही हूँ बस, मैं वही हूँ। मैं सनातन ब्रह्म हूँ, वही मैं हूँ। मैं ब्रह्म ही हूँ। संसारी नहीं हूँ, मेरा कोई मन नहीं है, मेरी कोई बुद्धि भी नहीं है, कोई इन्द्रिय भी नहीं। मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही हूँ।

ब्रह्मैवाहं न देहोऽहं ब्रह्मैवाहं न गोचरः।
ब्रह्मैवाहं न जीवोऽहं ब्रह्मैवाहं न भेदभूः ॥33॥

ब्रह्मैवाहं जडो नाहमहं ब्रह्म न मे मृतिः ।
ब्रह्मैवाहं न च प्राणो ब्रह्मैवाहं परात्परः ॥34॥
इदं ब्रह्म परं ब्रह्म सत्यं ब्रह्म प्रभुर्हि सः ।
कालो ब्रह्म कला ब्रह्म सुखं ब्रह्म स्वयंप्रभम् ॥35॥
एकं ब्रह्म द्वयं ब्रह्म मोहो ब्रह्म शमादिकम् ।
दोषो ब्रह्म गुणो ब्रह्म दमः शान्तं विभुः प्रभुः ॥36॥

मैं ब्रह्म हूँ, देह नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, विषय नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, जीव नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, भेद की भूमि नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, जड नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, मेरा मरण नहीं है। मैं ब्रह्म हूँ, प्राण नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, परे से भी परे हूँ। यह भी ब्रह्म है, परे भी ब्रह्म है, सत्य ब्रह्म है, वही समर्थ (जगत् का स्रोत) है। काल ब्रह्म है, कला ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है। वह स्वयंप्रकाश है। एक भी ब्रह्म और दो भी ब्रह्म ही है। मोह भी ब्रह्म है और शमादि भी ब्रह्म ही हैं। दोष भी ब्रह्म है, गुण भी ब्रह्म है, दम और शान्त भी वह व्यापक प्रभु (जगत् का प्रभवस्थान) ब्रह्म ही है।

लोको ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म शिष्यो ब्रह्म सदाशिवः ।
पूर्वं ब्रह्म परं ब्रह्म शुद्धं ब्रह्म शुभाशुभम् ॥37॥
जीव एव सदा ब्रह्म सच्चिदानन्दमस्म्यहम् ।
सर्वं ब्रह्ममयं प्रोक्तं सर्वं ब्रह्ममयं जगत् ॥38॥
स्वयं ब्रह्म न सन्देहः स्वस्मादन्यन्न किञ्चन ।
सर्वमात्मैव शुद्धात्मा सर्वं चिन्मात्रमव्ययम् ॥39॥
नित्यनिर्मलरूपात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ।
अणुमात्रलसद्रूपमणुमात्रमिदं जगत् ॥40॥

यह लोक ब्रह्म है, गुरु ब्रह्म है, शिष्य ब्रह्म है, सदाशिव ब्रह्म है, पूर्व ब्रह्म है, परे ब्रह्म है, शुद्ध ब्रह्म है, शुभ ब्रह्म है, अशुभ भी ब्रह्म है, जीव सदैव ब्रह्म ही है, मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। सब ब्रह्ममय ही कहा गया है। यह सारा जगत् ब्रह्ममय है। मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अपने से अन्य कुछ भी नहीं है। सब कुछ आत्मा ही है, आत्मा शुद्ध है सब कुछ केवल चिन्मात्रस्वरूप वाला है। आत्मा नित्य निर्मल रूपवाला है और ऐसे आत्मा से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। वह यहाँ अणुमात्र ही प्रकाशित होता है और उसके अणुमात्र से ही यह जगत् है।

अणुमात्रं शरीरं वा ह्यणुमात्रमसत्यकम् ।
अणुमात्रमचिन्त्यं वा चिन्त्यं वा ह्यणुमात्रकम् ॥41॥
ब्रह्मैव सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्ममात्रं जगत्त्रयम् ।
आनन्दं परमानन्दमन्यत्किञ्चिन्न किञ्चन ॥42॥
चैतन्यमात्रमोंकारं ब्रह्मैव सकलं स्वयम् ।
अहमेव जगत्सर्वमहमेव परं पदम् ॥43॥
अहमेव गुणातीत अहमेव परात्परः ।
अहमेव परं ब्रह्म अहमेव गुरोर्गुरुः ॥44॥

शरीर तो अणुमात्र है, और अणु असत्य ही है। वह अचिन्त्य है अथवा तो अणुमात्र चिन्तनीय है। सब चिन्मात्र ब्रह्म ही है, यह त्रिभुवन ब्रह्मस्वरूप मात्र ही है। आनन्दरूप परमानन्दरूप ही सब कुछ

है, ब्रह्मातिरिक्त कुछ है ही नहीं। सब ओंकारमात्र, चैतन्यमात्र, ब्रह्मरूप ही है। यह जगत् स्वयं आत्मरूप ही है। मैं ही तो यह सारा जगत् हूँ। मैं ही परमोच्च स्थानरूप हूँ। मैं ही गुणातीत, मैं ही पर से भी परे, मैं ही परब्रह्म हूँ। मैं ही गुरु का भी गुरु हूँ।

अहमेवाखिलाधार अहमेव सुखात्सुखम्।
आत्मनोऽन्यज्जगन्नास्ति आत्मनोऽन्यत्सुखं न च ॥45॥
आत्मनोऽन्या गतिर्नास्ति सर्वमात्ममयं जगत्।
आत्मनोऽन्यन्न हि क्वापि आत्मनोऽन्यत्तृणं न हि ॥46॥
आत्मनोऽन्यत्तुषं नास्ति सर्वमात्ममयं जगत्।
ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं ब्रह्ममात्रमसन्न हि ॥47॥
ब्रह्ममात्रं श्रुतं सर्वं स्वयं ब्रह्मैव केवलम्।
ब्रह्ममात्रं वृत्तं सर्वं ब्रह्ममात्रं रसं सुखम् ॥48॥

मैं सबका आधार हूँ, मैं सुख से सुख हूँ, आत्मा से अतिरिक्त कोई जगत् नहीं है। आत्मा से अतिरिक्त कोई सुख नहीं है। आत्मा के बिना कोई गति नहीं है, सब जगत् आत्ममय है, कहीं कुछ आत्मा से अलग नहीं है। एक तिनका भी आत्मा से अलग नहीं है। आत्मा से अलग छिलका भी नहीं है, सब जगत् आत्ममय है, सब ब्रह्ममय है, सब ब्रह्ममय होने से असत् नहीं है। सुना हुआ सब ब्रह्म है, स्वयं केवल ब्रह्म है, बना हुआ सब ब्रह्म है। और ब्रह्म ही सदा सुखरूप तथा रसरूप है।

ब्रह्ममात्रं चिदाकाशं सच्चिदानन्दमव्ययम्।
ब्रह्मणोऽन्यतरन्नास्ति ब्रह्मणोऽन्यज्जगन्न च ॥49॥
ब्रह्मणोऽन्यदहं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यत्फलं न हि।
ब्रह्मणोऽन्यत्तृणं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यत्पदं न हि ॥50॥
ब्रह्मणोऽन्यद्गुरुर्नास्ति ब्रह्मणोऽन्यदसद्वपुः।
ब्रह्मणोऽन्यन्न चाहंता त्वत्तेदन्ते न हि क्वचित् ॥51॥
स्वयं ब्रह्मात्मकं विद्धि स्वस्मादन्यन्न किञ्चन।
यत्किञ्चिद्दृश्यते लोके यत्किञ्चिद्भाष्यते जनैः ॥52॥

चैतन्यरूप आकाशमात्र ब्रह्म है, सब सच्चिदानंद है, सब अव्यय है, ब्रह्म के सिवा दूसरा कुछ नहीं। ब्रह्मातिरिक्त कोई जगत् नहीं है, मैं भी ब्रह्मातिरिक्त नहीं हूँ, ब्रह्म के सिवा कोई फल नहीं है। एक तिनका भी ब्रह्मातिरिक्त नहीं है। ब्रह्म से उच्चतर कुछ है ही नहीं। कोई गुरु भी ब्रह्म के सिवा नहीं है, ब्रह्म के सिवा शरीर असत् है। ब्रह्म के सिवा अहंभाव नहीं है। ब्रह्म के सिवा 'वह' का और 'यह' का भी कोई भाव नहीं है। अपने आपको ब्रह्मात्मक मानो। अपने आपको छोड़कर कुछ नहीं है। जो कुछ इस लोक में देखा जाता है, और जो कुछ लोगों से बोला जाता है, वह तो मिथ्या है।

यत्किञ्चिद्भुज्यते क्वापि तत्सर्वमसदेव हि।
कर्तृभेदं क्रियाभेदं गणभेदं रसात्मकम् ॥53॥
लिङ्गभेदमिदं सर्वमसदेव सदा सुखम्।
कालभेदं देशभेदं वस्तुभेदं जयाजयम् ॥54॥
यद्यद्भेदं च तत्सर्वमसदेव हि केवलम्।
असदन्तःकरणकमसदेवेन्द्रियादिकम् ॥55॥

असत्प्राणादिकं सर्वं संघातमसदात्मकम्।
असत्यं पञ्चकोशाख्यमसत्यं पञ्चदेवताः ॥56॥

जो कुछ कहीं भी खाया जाता है, वह असत् ही है। कर्ता का भेद, क्रिया का भेद, गुण का भेद, रस आदि एवं जाति का भेद—सब का सब असत् है। सदा रहने वाला तो मात्र सुख ही है। काल का भेद, देश का भेद, वस्तु का भेद, जय और पराजय, और भी जो कुछ भेद है वह सभी असत् (मिथ्या) ही हैं। अन्तःकरण भी असत् है, इन्द्रियादिक भी असत् हैं, प्राणादिक भी असत् हैं, भूतसंघ भी असत् है, पाँच कोश आदि भी असत् हैं और पाँच देव भी असत्य हैं।

असत्यं षड्विकारादि असत्यमरिवर्गकम्।
असत्यं षड्तुश्चैव असत्यं षड्रसस्तथा ॥57॥
सच्चिदानन्दमात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत्।
आत्मैवाहं परं सत्यं नान्याः संसारदृष्टयः ॥58॥
सत्यमानन्दरूपोऽहं चिद्घनानन्दविग्रहः।
अहमेव परानन्द अहमेव परात्परः ॥59॥
ज्ञानाकारमिदं सर्वं ज्ञानानन्दोऽहमद्वयः।
सर्वप्रकाशरूपोऽहं सर्वाभावस्वरूपकः ॥60॥

कामक्रोधादि छः विकार, शत्रुओं का नाश, छः ऋतुएँ, छः रस आदि सब मिथ्या (झूठे) ही हैं। मैं तो केवल सच्चिदानन्दस्वरूप ही हूँ। सत्य रूप तो मैं आत्मा ही हूँ। कोई संसार की दृष्टियाँ मैं नहीं हूँ। मैं सत्य और आनन्दस्वरूप हूँ। मैं चिद्घनानन्दस्वरूप हूँ। मैं ही परम आनन्द हूँ। मैं ही परम से भी परम हूँ। यह सब ज्ञान का ही स्वरूप है, मैं भी ज्ञान का ही स्वरूप हूँ, मैं अद्वय – एक ही हूँ, मैं सभी का प्रकाशक हूँ और सर्व का अभावरूप भी तो मैं ही हूँ।

अहमेव सदा भामीत्येवं रूपं कुतोऽप्यसत्।
त्वमित्येवं परं ब्रह्म चिन्मयानन्दरूपवान् ॥61॥
चिदाकारं चिदाकाशं चिदेव परमं सुखम्।
आत्मैवाहमसन्नाहं कूटस्थोऽहं गुरुः परः ॥62॥
सच्चिदानन्दमात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत्।
कालो नास्ति जगन्नास्ति मायाप्रकृतिरेव न ॥63॥
अहमेव हरिः साक्षादहमेव सदाशिवः।
शुद्धचैतन्यभावोऽहं शुद्धसत्त्वानुभावनः ॥64॥

मैं ही सदा प्रकाशित रहता हूँ, तो ऐसा रूप भला असत्य कैसे होगा ? 'तू' शब्द से कहा जाने वाला भी परब्रह्म ही है। वह भी चैतन्यमय तथा आनन्दरूप है। चैतन्याकार चिदाकाश है, चैतन्य ही परमसुख है। मैं आत्मा ही हूँ, मैं असत् नहीं हूँ, मैं कूटस्थ हूँ, मैं परमगुरु हूँ। मैं केवल सच्चिदानन्द हूँ। इस जगत् की तो कभी उत्पत्ति ही नहीं हुई। काल, जगत्, माया, प्रकृति कुछ है ही नहीं। मैं ही हरि हूँ, मैं ही साक्षात् सदाशिव हूँ। मैं ही केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। मैं ही सही रूप से चैतन्यरूप भाव पदार्थ अथवा शुद्ध सत्त्वगुण का अनुभव करने वाला हूँ।

अद्वयानन्दमात्रोऽहं चिद्घनैकरसोऽस्म्यहम्।
सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥65॥

सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्मैव चेतनम् ।
सर्वान्तर्यामिरूपोऽहं सर्वसाक्षित्वलक्षणः ॥66॥
परमात्मा परं ज्योतिः परं धाम परा गतिः ।
सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः ॥67॥
योगानन्दस्वरूपोऽहं मुख्यानन्दमहोदयः ।
सर्वज्ञानप्रकाशोऽस्मि मुख्यविज्ञानविग्रहः ॥68॥

मैं मात्र अद्वैत आनन्द हूँ। चैतन्यव्याप्त एकरस हूँ। सब निरंतर ब्रह्म है, सब कुछ ब्रह्म - चेतन ही है। मैं सबका अन्तर्यामी हूँ। मैं सबके साक्षीरूप लक्षण वाला हूँ। मैं परमात्मा हूँ, परम ज्योति हूँ, परम धाम हूँ, परम गति हूँ। सभी वेदान्तों का मैं सार हूँ और सभी शास्त्रों द्वारा सुनिश्चित रूप से निर्णीत हुआ हूँ। मैं योगानन्दस्वरूप हूँ। प्रमुख आनन्दरूप और बड़े उदयवाला हूँ। मैं सर्व ज्ञानों को प्रकाशित करने वाला हूँ और परम विज्ञानरूप शरीरवाला भी मैं ही हूँ।

तुर्यातुर्यप्रकाशोऽस्मि तुर्यातुर्यादिवर्जितः ।
चिदक्षरोऽहं सत्योऽहं वासुदेवोऽजरोऽमरः ॥69॥
अहं ब्रह्म चिदाकाशं नित्यं ब्रह्म निरञ्जनम् ।
शुद्धं बुद्धं सदामुक्तमनामकमरूपकम् ॥70॥
सच्चिदानन्दरूपोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ।
सत्यासत्यं जगन्नास्ति सङ्कल्पकलनादिकम् ॥71॥
नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम् ।
अनन्तमव्ययं शान्तमेकरूपमनामयम् ॥72॥

तुर्यप्रकाश भी मैं हूँ और अतुर्यप्रकाश भी मैं हूँ। फिर भी मैं तुर्य और अतुर्य से अलग हूँ। मैं चैतन्य रूप और अच्युत (अक्षय) हूँ। मैं ही सत्य, वासुदेव, अजर, अमर हूँ। मैं चिदाकाशरूप ब्रह्म हूँ। मैं नित्य, निरंजन, शुद्ध, बुद्ध, सदैव मुक्त, नामरहित और रूपरहित ब्रह्म ही हूँ। मैं सच्चिदानन्द-स्वरूप हूँ। इस जगत् की तो कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं है। यह जगत् न सत्य है न असत्य ही है। संकल्पों की घटना आदि कुछ भी नहीं है। ब्रह्म तो नित्य आनन्दमय है और वह केवल (एक-अद्वितीय) है तथा अनन्त, अव्यय, शान्त, एकरूप और नामरहित है।

मत्तोऽन्यदस्ति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका ।
बन्ध्याकुमारवचने भीतिश्चेदस्ति किञ्चन ॥73॥
शशशृङ्गेण नागेन्द्रो मतश्चेज्जगदस्ति तत् ।
मृगतृष्णाजलं पीत्वा तृप्तश्चेदस्त्विदं जगत् ॥74॥
नरशृङ्गेण नष्टश्चेत्कश्चिदस्त्विदमेव हि ।
गन्धर्वनगरे सत्ये जगद्भवति सर्वदा ॥75॥
गगने नीलिमासत्ये जगत्सत्यं भविष्यति ।
शुक्तिकारजतं सत्यं भूषणं चेज्जगद्भवेत् ॥76॥

जो कुछ भी मुझसे अलग है, वह मृगजल की तरह ही मिथ्या है। बाँझ के बच्चे के वचन से यदि भय होता हो, तभी यह सब सत्य कहा जा सकता है। खरगोश के सींग से अगर हाथी का मारा जाना सत्य हो सकता है, तभी यह जगत् का अस्तित्व सही हो सकता है। मरुमरीचिका का जल पीकर

यदि कोई तृप्त हो सकता हो, तभी यह जगत् सत्य है। मनुष्य के सींग से किसी का मारा जाना होता हो, तभी यह जगत् है। गन्धर्वनगर सत्य हो, तभी जगत् सत्य है। आकाश की नीलिमा का यदि अस्तित्व है, तभी यह जगत् सत्य है। शुक्तिरजत का गहना यदि सत्य है, तभी यह जगत् सत्य है। अर्थात् जगत् मिथ्या ही है।

रज्जुसर्पेण दष्टश्चेन्नरो भवतु संसृतिः ।
जातरूपेण बाणेन ज्वालाग्नौ नाशिते जगत् ॥77॥
विन्ध्याटव्यां पायसान्नमस्ति चेज्जगदुद्भवः ।
रम्भास्तम्भेन काष्ठेन पाकसिद्धौ जगद्भवेत् ॥78॥
सद्यःकुमारिकारूपैः पाके सिद्धे जगद्भवेत् ।
चित्रस्थदीपैस्तमसो नाशश्चेदस्त्विदं जगत् ॥79॥
मासात्पूर्वं मृतो मर्त्यो ह्यागतश्चेज्जगद्भवेत् ।
तक्रं क्षीरस्वरूपं चेत् क्वचिन्नित्यं जगद्भवेत् ॥80॥

यदि रज्जु में भ्रम से माने गए साँप ने किसी को डंक मारा हो, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। सोने के बाण से यदि जलती हुई आग नष्ट हो, तब जगत् सत्य हो सकता है। विन्ध्याचल के जंगल में यदि दूधपाक मिले, तो जगत् सत्य हो सकता है। केले के पेड़ के तने के काष्ठ से यदि रसोई पक सकती हो, तभी जगत् सत्य हो सकता है। तुरन्त जन्मी हुई कुमारिका के रूप में रसोई यदि बन जाती हो, तभी जगत् सत्य है। चित्र में आलिखित दीपों से यदि अन्धकार का नाश हो सकता हो, तभी जगत् सत्य हो सकता है। एक मास पहले मरा हुआ कोई मनुष्य फिर से आ जाए, तभी जगत् सत्य हो सकता है। लस्सी फिर से दूधस्वरूप में हो जाय तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। अर्थात् जगत् का सत्य होना ऐसे उदाहरणों की तरह ही बिल्कुल असंभव है।

गोस्तनादुद्भवं क्षीरं पुनरारोपणे जगत् ।
भूरजोऽब्धौ समुत्पन्ने जगद्भवतु सर्वदा ॥81॥
कूर्मरोम्णा गजे बद्धे जगदस्तु मदोत्कटे ।
नालस्थतन्तुना मेरुश्चालितश्चेज्जगद्भवेत् ॥82॥
तरङ्गमालया सिन्धुर्बद्धश्चेदस्त्विदं जगत् ।
अग्नेरधश्चेज्ज्वलनं जगद्भवतु सर्वदा ॥83॥
ज्वालावह्निः शीतलश्चेदस्तिरूपमिदं जगत् ।
ज्वालाग्निमण्डले पद्मवृद्धिश्चेज्जगदस्त्विदम् ॥84॥

गाय के स्तन से निकला हुआ दूध यदि फिर से स्तन में आरोपित किया जा सके, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। धरती की धूल से यदि सागर बन सकता हो, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। कछुए के रोंगटों से यदि मदोन्मत्त हाथी बाँधा जा सके, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। कमलनाल के तन्तु से यदि मेरु को हिलाया जा सके, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। तरंगों की माला से यदि सागर को बाँधा जा सके, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। आग की ज्वालाएँ निम्नगामी हों, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। जलती हुई आग यदि शीतल हो, तब जगत् का अस्तित्व हो सकता है और जलती आग के घेरे में यदि कमलों की वृद्धि सम्भव हो तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है।

महच्छैलेन्द्रनीलं वा सम्भवेच्चेदिदं जगत् ।
मेरुरागत्य पद्माक्षे स्थितश्चेदस्त्विदं जगत् ॥85॥
निगिरेच्चेद्भृङ्गसूनुर्मेरुं चलवदस्त्विदम् ।
मशकेन हते सिंहे जगत्सत्यं तदास्तु ते ॥86॥
अणुकोटरविस्तीर्णे त्रैलोक्यं चेज्जगद्भवेत् ।
तृणानलश्च नित्यश्चेत् क्षणिकं तज्जगद्भवेत् ॥87॥
स्वप्नदृष्टं च यद्वस्तु जागरे चेज्जगद्भवः ।
नदीवेगो निश्चलश्चेत्केनाऽपीदं जगद्भवेत् ॥88॥

बड़े पर्वत पर यदि नीलकमल उगता हो, तभी यह जगत् सत्य हो सकता है । पद्म के बीज पर यदि मेरु पर्वत आकर बैठ जाए, तो जगत् का अस्तित्व है । भौंरे का बच्चा यदि मेरु पर्वत को निगल जाए, तो यह जगत् सत्य हो सकता है । मच्छर यदि सिंह को मार डाले, तब तुम्हारा जगत् भी भले सत्य हो जाए । अणु के परिमाणवाली गुफा में यदि तीनों लोक समा सकते हों, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है । घास की आग यदि हमेशा के लिए रहती हो, तब यह क्षणिक जगत् कदाचित् सत्य हो सकता है । स्वप्न में देखी गई वस्तुएँ अगर जाग्रत् अवस्था में भी दिखाई देती हों, तब कहीं जगत् की उत्पत्ति हो सकती है; और नदी का वेग यदि निश्चल हो जाए, तो किसी तरह यह जगत् सत्य हो सकता है ।

क्षुधितस्याग्निर्भोज्यश्चेन्निमिषं कल्पितं भवेत् ।
जात्यन्धै रत्नविषयः सुज्ञातश्चेज्जगत्सदा ॥89॥
नपुंसककुमारस्य स्त्रीसुखं चेद्भवेज्जगत् ।
निर्मितः शशश्रृंगेण रथश्चेज्जगदस्ति तत् ॥90॥
सद्योजाता तु या कन्या भोगयोग्या भवेज्जगत् ।
वन्ध्या गर्भाप्ततत्सौख्यं ज्ञाता चेदस्त्विदं जगत् ॥91॥
काको वा हंसवद्गच्छेज्जगद्भवतु निश्चलम् ।
महाखरो वा सिंहेन युध्यते चेज्जगत्स्थितिः ॥92॥

भूखा आदमी यदि आग को खा सके, तब एक निमिष के लिए भी यह जगत् कल्पित किया जा सकता है । जन्मान्ध लोगों के द्वारा यदि रत्नों की परख की जा सकती हो, तब यह जगत् हो सकता है । नपुंसक कुमार को यदि स्त्री का सुख मिलता हो, तो यह जगत् कहीं हो सकता है । यदि खरगोश के सींगों से रथ बनाया जा सकता हो तब जगत् हो सकता है । तुरन्त ही जन्मी हुई कन्या यदि भोग-योग्य हो, तब जगत् हो सकता है । वन्ध्या स्त्री यदि गर्भधारण करने के बाद होने वाले सुख को जानने वाली हो सके, तब वह जगत् हो सकता है । कौआ यदि हंस की चाल चलता हो, तब स्थायी जगत् कहीं हो सकता है । कोई बड़ा गधा सिंह के साथ यदि युद्ध कर सकता हो, तब इस जगत् की स्थिति हो सकती है । (सभी उदाहरण असंभव हैं अतः जगत् भी असंभव है) ।

महाखरो गजगतिं गतश्चेज्जगदस्तु तत् ।
सम्पूर्णसूर्यचन्द्रश्चेदज्जगद्भातु स्वयं जडम् ॥93॥
चन्द्रसूर्यादिकौ त्यक्त्वा राहुश्चेद्दृश्यते जगत् ।
भृष्टबीजसमुत्पन्नवृद्धिश्चेज्जगदस्तु सत् ॥94॥
दरिद्रो धनिकानां च सुखं भुङ्क्ते तदा जगत् ।
शुना वीर्येण सिंहस्तु जितो यदि जगत्तदा ॥95॥

ज्ञानिनो हृदयं मूढैर्ज्ञातं चेत्कल्पनं तदा ।
श्वानेन सागरे पीते निःशेषेण मनो भवेत् ॥96॥

कोई बड़ा गधा यदि हाथी की चाल चलने लगे, तो कहीं जगत् सत्य हो सकता है। पूरा चाँद यदि सूर्य बन जाए तो भले यह जड़ जगत् दिखाई पड़े। सूर्य-चन्द्र को छोड़कर राहु अगर दिखाई दे तो जगत् कहीं हो सकता है। भूँजे गए बीज से उत्पन्न पौधा अगर बढ़ता रहे, तो ही जगत् सत्य ठहर सकता है। गरीब आदमी यदि धनिकों के सुख को भोगने लगे तो जगत् हो सकता है। कुत्ता अगर अपने पराक्रम से सिंह को जीत ले, तभी जगत् हो सकता है। मूर्ख आदमी यदि ज्ञानी के हृदय को जान ले तो यह कल्पित जगत् हो सकता है। कुत्ता यदि पूरे सागर को पी जाए तो ही यह मनरूप जगत् हो सकता है। (उदाहरणगत सभी बातें बिल्कुल ही असंभव हैं, अतः जगत् भी असंभव ही है)।

शुद्धाकाशो मनुष्येषु पतितश्चेत्तदा जगत् ।
भूमौ वा पतितं व्योम व्योमपुष्पं सुगन्धकम् ॥97॥
शुद्धाकाशे वने जाते चलिते तु तदा जगत् ।
केवले दर्पणे नास्ति प्रतिबिम्बं तदा जगत् ॥98॥
अजकुक्षौ जगन्नास्ति ह्यात्मकुक्षौ जगन्न हि ।
सर्वथा भेदकलनं द्वैताद्वैतं न विद्यते ॥99॥
मायाकार्यमिदं भेदमस्ति चेद् ब्रह्मभावनम् ।
देहोऽमिति दुःखं चेद् ब्रह्माहमिति निश्चयः ॥100॥

मनुष्यों पर यदि शुद्ध आकाश गिर पड़े, तो जगत् कहीं हो सकता है, अथवा आकाश या आकाश का सुगन्धी पुष्प भी पृथ्वी पर गिरे, तो जगत् संभव है। शुद्ध आकाश में यदि वन-उपवन बन गया हो और वह चलित-विकसित-फूला-फला हो, तो जगत् कहीं होगा। केवल-शुद्ध आइने में भी यदि प्रतिबिम्ब न पड़ता हो, तब कहीं जगत् हो सकता है। जैसे बकरे की कोख में जगत् नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की कोख में भी जगत् नहीं है। सभी प्रकार के भेदों कीं गणना और द्वैत या अद्वैत कुछ है ही नहीं। यह भेद तो माया का कार्य है, और तब तो ब्रह्म की भावना ही करनी चाहिए। यदि 'मैं देह हूँ'—यह दुःख ही है तो फिर 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार का निश्चय कर लेना चाहिए।

हृदयग्रन्थिरस्तित्वे छिद्यते ब्रह्मचक्रकम् ।
संशये समनुप्राप्तं ब्रह्मनिश्चयमाचरेत् ॥101॥
अनात्मरूपचौरश्चेदात्मरत्नस्य रक्षणम् ।
नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम् ॥102॥
एवमादिसुदृष्टान्तैः साधितं ब्रह्ममात्रकम् ।
ब्रह्मैव सर्वभवनं भुवनं नाम सन्त्यज ॥103॥
अहं ब्रह्मेति निश्चित्य अहंभावं परित्यज ।
सर्वमेव लयं याति सुप्तहस्तस्थपुष्पवत् ॥104॥

हृदय में यदि कोई गाँठ हो तो ब्रह्मरूपी चक्र उसे काट डालेगा। यदि मन में कोई संशय रहा हो, तो ब्रह्मरूपी निश्चय कर लेना चाहिए। अनात्मरूप यदि कोई चोर आ गया हो, तो उससे आत्मारूपी रत्न का रक्षण करना चाहिए। क्योंकि वह ब्रह्म ही नित्य आनन्दमय और अपने आपमें केवल एक ही है। और ऊपर के दिए हुए एवं यहाँ पर दिए गए सुयोग्य दृष्टान्तों के द्वारा वही केवल एकमात्र ब्रह्म साधित – प्रतिपादित किया गया है। सभी का ब्रह्म ही घर (भवन) है, भुवन की, स्वर्ग

आदि लोक की बात छोड़ दो। 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा निश्चय करके अपने (देहादि के) अहंभाव को छोड़ दो। ब्रह्मातिरिक्त सभी तो सोए हुए पुरुष के हाथ में रखे गए फूल की तरह लय (नष्ट) ही हो जाता है।

न देहो न च कर्माणि सर्वं ब्रह्मैव केवलम्।
न भूतं न च कार्यं च न चावस्थाचतुष्टयम् ॥105॥
लक्षणात्रयविज्ञानं सर्वं ब्रह्मैव केवलम्।
सर्वव्यापारमुत्सृज्य ह्यहं ब्रह्मेति भावय ॥106॥
अहं ब्रह्म न सन्देहो अहं ब्रह्म चिदात्मकम्।
सच्चिदानन्दमात्रोऽहमिति निश्चित्य सन्त्यज ॥107॥
शाङ्करीयं महाशास्त्रं न देयं यस्य कस्यचित्।
नास्तिकाय कृतघ्नाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने ॥108॥

देह जैसा कुछ नहीं है, कर्म भी नहीं है। सब कुछ केवल ब्रह्म ही है। भूत नहीं, कोई कार्य भी नहीं है और जाग्रदादि चारों अवस्थाएँ भी नहीं हैं। तीनों लक्षणाओं के विशेष ज्ञान रूप सब कुछ केवल ब्रह्म ही है, इसलिए अन्य सभी व्यापारों को छोड़कर, 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—ऐसी भावना करे। मैं ब्रह्म हूँ इसमें कोई सन्देह नहीं है, वास्तव में ही मैं चिदात्मक – चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही हूँ। 'मैं सच्चिदानन्दमय ब्रह्म हूँ'—ऐसा निश्चय करके सबका त्याग करो। (उस निश्चय का भी त्याग कर दो)। यह शंकर का महान् शास्त्र है। इसे किसी अपरीक्षित को, नास्तिक को और कृतघ्न आदमी को एवं दुष्ट चारित्र्य वालों एवं दुष्टात्मा को नहीं देना चाहिए अर्थात् नहीं सुनाना चाहिए।

गुरुभक्तिविशुद्धान्तःकरणाय महात्मने।
सम्यक्परीक्ष्य दातव्यं मासं षण्मासवत्सरम् ॥109॥
सर्वोपनिषदभ्यासं दूरतस्त्यज्य सादरम्।
तेजोबिन्दूपनिषदमभ्यसेत्सर्वदा मुदा ॥110॥
सकृदभ्यासमात्रेण ब्रह्मैव भवति स्वयं ब्रह्मैव भवति स्वयमित्युपनिषत् ॥

इति तेजोबिन्दूपनिषत् समाप्ता।

परन्तु जिसका अन्तःकरण गुरुभक्ति से विशुद्ध हो गया हो, ऐसे महान् – योग्य अन्तःकरण वाले मनुष्य की एक मास तक, छः मास तक या एक वर्ष तक कसौटी (परीक्षा) करने के बाद ही उसे यह उपदेश हमेशा देना अर्थात् सुनाना चाहिए। अन्य सभी उपनिषदों का अभ्यास छोड़कर आदरपूर्वक इस तेजोबिन्दु उपनिषद् का अभ्यास सर्वदा आनन्दपूर्वक करना चाहिए। इस उपनिषद् का केवल एक बार ही अभ्यास करने से स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है, मनुष्य आप ही ब्रह्म हो जाता है, यही (इसका) उपदेश है।

यहाँ तेजोबिन्दूपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ……मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(45) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में ब्रह्मप्राप्ति के उपायभूत अष्टांगयोग का विशेष निरूपण किया गया है। त्रिशिखी नाम के ब्राह्मण और भगवान् आदित्य के बीच आत्मा और ब्रह्म विषयक प्रश्नोत्तर से इसका प्रारंभ होता है। अन्य विषयों में शिवतत्त्व की सर्वव्यापकता, ब्रह्म का जगत्कारणत्व, एक का बहुधा होना, ब्रह्म से लेकर पञ्चीकरण तक की सृष्टि का वर्णन, चार अवस्थाएँ, दक्षिण-उत्तर पथ, ज्ञान द्वारा सद्योमुक्ति, ज्ञानोपायरूप योग, कर्मयोग-ज्ञानयोग-अष्टांगयोग, यम-नियमादि, हठयोग, आसन, नाडीशोधन, प्राणायाम की विधियाँ, अग्निमण्डल, नाडीचक्र में जीव का भ्रमण, कुण्डलिनी-स्थान-क्रियाव्यापार, नाडीकेन्द्र की स्थिति, नाडीविचरण, योगाभ्यास का स्थान और विधि, षण्मुखी मुद्रा, मनोजय, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और उनके भेदोपभेद आदि अनेकानेक विषयों का विशद वर्णन किया गया है। यह दो भागों में विभक्त है—एक ब्राह्मण भाग और दूसरा मन्त्र भाग।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं······पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ब्राह्मणभागः (1)

त्रिशिखी ब्राह्मण आदित्यलोकं जगाम। तं गत्वोवाच। भगवन्! किं देहः किं प्राणः किं कारणं किमात्मा ॥1॥
स होवाच सर्वमिदं शिव एव विजानीहि। किन्तु नित्यः शुद्धो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः शिव एकः स्वेन भासेदं सर्वं दृष्ट्वा तप्तायः पिण्डवदेकं भिन्नवदवभासते। तद्भासकं किमिति चेदुच्यते। सच्छब्दवाच्यमविद्या-शबलं ब्रह्म ॥2॥

त्रिशिखी नाम का एक ब्राह्मण एक बार आदित्यलोक में गया। वहाँ जाकर उसने आदित्य से पूछा—'हे भगवन्! यह देह क्या है? ये प्राण क्या हैं? इस सारे जगत् का कारण क्या है? और आत्मा क्या है?'

तब आदित्य ने कहा—'हे ब्राह्मण! यह सब कुछ शिव ही है, ऐसा जानो। परन्तु, वही एक नित्य, शुद्ध, निरंजन, विभु, अद्वैत, आनन्दरूप शिव अपने तेज से सभी पदार्थों को देखने के बाद, आग से तपे हुए लाल लोहपिण्ड के समान स्वयं एक होते हुए भी अनेक रूपों में अपने आपको प्रकट करते हैं। अगर पूछा जाए कि प्रकाश देने वाला कौन है? तो कहते हैं कि वह है अविद्याशबलित ब्रह्म। अर्थात् 'सत्' शब्द से कहा जाने वाला वह मायोपहित अपर ब्रह्म है, विश्वब्रह्माण्ड में संव्याप्त अपर ब्रह्म ही वह भासक है।

ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहङ्कारः। अहङ्कारात्पञ्च-तन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत् ॥3॥

ब्रह्म से अव्यक्त, अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पंच तन्मात्राएँ, पंच तन्मात्राओं से पंचमहाभूत, पंचमहाभूतों से यह सारा जगत् उत्पन्न होता है।

तदखिलं किमिति। भूतविकारविभागादिरिति। एकस्मिन्पिण्डे कथं भूतविकारविभाग इति। तत्तत्कार्यकारणभेदरूपेणांशतत्त्ववाचक-वाच्यस्थानभेदविषयदेवताकोशभेदविभागा भवन्ति ॥4॥

यदि पूछा जाए कि यह अखिल विश्व क्या है ? तो कहते हैं कि इन पाँच भूतों के विकार द्वारा उत्पन्न विभाग ही वह अखिल जगत् है। इसमें भी यदि पूछा जाए कि भूतों के ये विकार एक ही पिण्ड से कैसे हो जाते हैं ? तो उत्तर यह है कि उन अलग-अलग भूतों के कार्य तथा कारण के भेद के द्वारा अंशतत्त्व, वाच्यवाचक भेद, स्थानभेद, विषय, देवता तथा कोश के भेद आदि के आधार पर विभाग कहे गए हैं (जो अगले मन्त्रों में स्पष्ट किए गए हैं)।

अथाकाशोऽन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहङ्काराः। वायुः समानोदानव्याना-पानप्राणाः। वह्निः श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि। आपः शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धाः। पृथिवी वाक्पाणिपादपायूपस्थाः ॥5॥

आकाश के पाँच भेद हैं—अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। वायु के पाँच भेद हैं—समान, उदान, व्यान, अपान और प्राण। अग्नि के पाँच भेद हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण (ये ज्ञानेन्द्रियाँ अग्नि से उत्पन्न होती हैं)। जल से ये पाँच तन्मात्राएँ प्रादुर्भूत होती हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। और पृथ्वी से वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ—ये कर्मेन्द्रियाँ प्रादुर्भूत होती हैं।

ज्ञानसङ्कल्पनिश्चयानुसन्धानाभिमाना आकाशकार्यान्तःकरणविषयाः। समीकरणोन्नयनग्रहणश्रवणोच्छ्वासा वायुकार्यप्राणादिविषयाः। शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धा अग्निकार्यज्ञानेन्द्रियविषया अबाश्रिताः। वचनादान-गमनविसर्गानन्दाः पृथिवीकार्यकर्मेन्द्रियविषयाः। कर्मज्ञानेन्द्रियविषयेषु प्राणतन्मात्रविषया अन्तर्भूताः। मनोबुद्ध्योश्चित्ताहङ्कारौ चान्तर्भूतौ ॥6॥

इनमें आकाश का कार्य जो अन्तःकरण है, उसके विषय ज्ञान, संकल्प, निश्चय, अनुसन्धान (स्मृति) और अहंकार हैं। और वायु तत्त्व के कार्य एवं प्राणादि के विषय—सन्तुलन, ऊर्ध्वगमन, ग्रहण, श्रवण और श्वासोच्छ्वास हैं। तथा अग्नि तत्त्व के कार्य एवं ज्ञानेन्द्रियों के विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। ये विषय जलाश्रित हैं। एवं पृथ्वी तत्त्व के कार्य एवं कर्मेन्द्रियों के विषय—बोलना, लेना-देना, आना-जाना, उत्सर्ग और आनन्द हैं। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के विषयों में प्राण और तन्मात्राओं के विषय अन्तर्भूत हैं। मन और बुद्धि में ही चित्त और अहंकार अन्तर्भूत हैं।

अवकाशविधूतदर्शनपिण्डीकरणधारणाः सूक्ष्मतमा जैवतन्मात्र-विषयाः ॥7॥

एवं द्वादशाङ्गानि आध्यात्मिकान्याधिभौतिकान्याधिदैविकानि। अत्र निशाकरचतुर्मुखदिग्वातार्कवरुणाश्व्यग्नीन्द्रोपेन्द्रप्रजापतियमा इत्यक्षा-

धिदेवतारूपैर्द्वादशनाड्यन्तःप्रवृत्ताः प्राणा एवाङ्गानि अङ्गज्ञानं तदेव ज्ञातेति ॥8॥

अवकाश, गतिशीलता, दर्शन, पिण्डीकरण और धारणा—ये सभी क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से सम्बद्ध सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्मात्राओं के विषय हैं।

इस प्रकार बारह अंगों का उल्लेख मिलता है। जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों भागों में प्रतिपादित किए गए हैं। इनमें चन्द्रमा, ब्रह्मा, दिशाएँ, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनी-कुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति और यम—ये सभी बारह इन्द्रियों के अधिदेवतारूप से बारह नाड़ियों में अवस्थित रहते हैं। ये ही प्राण के अंग कहे जाते हैं। इन अंगों को जानने वाला ही ज्ञाता कहा गया है।

अथ व्योमानिलानलजलान्नानां पञ्चीकरणमिति। ज्ञातृत्वं समानयोगेन श्रोत्रद्वारा शब्दगुणो वागधिष्ठित आकाशे तिष्ठति आकाशस्तिष्ठति। मनोव्यानयोगेन त्वग्द्वारा स्पर्शगुणः पाण्यधिष्ठितो वायौ तिष्ठति वायुस्तिष्ठिति। बुद्धिरुदानयोगेन चक्षुर्द्वारा रूपगुणः पादाधिष्ठितोऽग्नौ तिष्ठत्यग्निस्तिष्ठति। चित्तमपानयोगेन जिह्वाद्वारा रसगुण उपस्थाधिष्ठि-तोऽप्सु तिष्ठत्यापस्तिष्ठन्ति। अहङ्कारः प्राणयोगेन घ्राणद्वारा गन्धगुणो गुदाधिष्ठितः पृथिव्यां तिष्ठति पृथिवी तिष्ठति य एवं वेद ॥9॥

अब आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का पंचीकरण कहा जाता है। समानवायु के योग से श्रोत्र के द्वारा शब्द नामक गुण वाणी के द्वारा अधिष्ठित होकर आकाश में रहता है, वहाँ ज्ञातृत्व है, वह आकाश में रहता है, और आकाश उसमें रहता है। व्यानवायु के योग से त्वगिन्द्रिय द्वारा स्पर्श नामक गुण हाथ में अधिष्ठित होकर जो वायु में रहता है, और वायु उसमें रहता है, वहाँ मन होता है। बुद्धि वहाँ है जहाँ उदान के योग से चक्षु के द्वारा रूप नामक गुण पैरों पर अधिष्ठित होकर अग्नि में रहता है, और अग्नि उसमें रहता है। अपान के योग से जिह्वा के द्वारा रस नामक गुण उपस्थ के द्वारा अधिष्ठित होकर जल में रहता है, और जल उसमें रहता है, वहाँ चित्त है। और प्राण के योग से नासिका द्वारा गन्ध नामक गुण गुदा से अधिष्ठित होकर पृथ्वी में रहता है और पृथ्वी उसमें रहती है, वहाँ अहंकार भी है।

मन्त्रभागः (2)

अत्रैते श्लोका भवन्ति—
पृथग्भूते षोडश कलाः स्वार्धभागान्परान्क्रमात्।
अन्तःकरणव्यानाक्षिरसपायुनभः क्रमात् ॥1॥
मुख्यात्पूर्वोत्तरैर्भागैर्भूते भूते चतुश्चतुः।
पूर्वमाकाशमाश्रित्य पृथिव्यादिषु संस्थिताः ॥2॥
मुख्या ऊर्ध्वं परा ज्ञेया न परानुत्तरान्विदुः।
एवमंशो ह्यभूत्तस्मात् तेभ्यश्चांशो ह्यभूत्तदा ॥3॥
तस्मादन्योन्यमाश्रित्य ह्योतं प्रोतमनुक्रमात्।
पञ्चभूतमयी भूमिः सा चेतनसमन्विता ॥4॥

इस विषय में ये श्लोक कहे गए हैं—प्रत्येक सूक्ष्मतत्त्व के आधे भाग से तथा अन्तःकरण (आकाश), व्यान (वायु), अक्षि (अग्नि), रस (जल), पायु (पृथ्वी) आदि से सोलह कला वाले स्थूल आकाशादि बनते हैं। अर्धभाग वाले मुख्य आकाशादि तत्त्व से लेकर पृथ्वी तक पाँचों में बाकी के भूतों के चौथाई-चौथाई भागों की पाँचों भूतों में अवस्थिति रहती है। (हरएक स्थूल तत्त्व में आधा भाग मूल सूक्ष्मतत्त्व का और बाकी के आधे भाग में चारों अन्य तत्त्वों का $^1/_8$ भाग रहता है अर्थात् मुख्य मूल सूक्ष्मतत्त्व की 8 कलाएँ और अन्य सूक्ष्म तत्त्वों की 8 कलाएँ मिलकर 16 कलाएँ होती हैं। वह स्थूल तत्त्व होता है)। इस ऊपर वाले आधे मुख्य भाग को सूक्ष्मभूत समझना चाहिए तथा इसमें मिले हुएं बाद के भागों को गौण मानना चाहिए, मुख्य नहीं मानना चाहिए। इसलिए एक मुख्य कहे जाने वाले सूक्ष्मतत्त्व में अन्यों का अंश भी मिला-जुला ही रहता है। इस तरह ये समस्त (स्थूल-व्यवहार में आने वाले) भूत एक-दूसरे का आश्रय करके ही आपस में मिलकर यहाँ अवस्थित रहते हैं। सभी एक-दूसरे में ओतप्रोत ही हैं। वह भूमि भी इसी तरह पाँच तत्त्वों से युक्त तथा चेतनामय है।

> तत ओषधयोऽन्नं च ततः पिण्डाश्चतुर्विधाः।
> रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ॥5॥
> केचित्तद्योगतः पिण्डाः भूतेभ्यः सम्भवः क्वचित्।
> तस्मिन्नन्नमयः पिण्डो नाभिमण्डलसंस्थितः ॥6॥
> अस्य मध्येऽस्ति हृदयं सनालं पद्मकोशवत्।
> सत्त्वान्तर्वर्तिनो देवाः कर्त्रहङ्कारचेतनाः ॥7॥
> अस्य बीजं तमःपिण्डं मोहरूपं जडं घनम्।
> वर्तते कण्ठमाश्रित्य मिश्रीभूतमिदं जगत् ॥8॥

तब उस भूमि से औषधियाँ, अन्न, चार प्रकार के पिण्ड = शरीर (जरायुज, स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज) तथा रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि एवं शुक्र—ये सात धातुएँ उत्पन्न हुईं। इन धातुओं के योग से कई भूतपिण्डों की रचना संभव हो जाती है। उनमें से एक अन्नमय पिण्ड नाभिमण्डल के बीच स्थित है। उसके बीच में नालसहित कमल जैसा हृदय है। और उस हृदय के भीतर में देव (जीवात्मा) रहते हैं, जो कि कर्त्तापन के अहंकारयुक्त चेतनावाले होते हैं। इसका बीज तमः का पिण्ड है, वह गाढ़ा (जड) है, और अज्ञानमय मन कण्ठ का आश्रय लिए रहता है, और सारे जगत् में व्याप्त है।

> प्रत्यगानन्दरूपात्मा मूर्ध्नि स्थाने परे पदे।
> अनन्तशक्तिसंयुक्तो जगद्रूपेण भासते ॥9॥
> सर्वत्र वर्तते जाग्रत्स्वप्नं जाग्रति वर्तते।
> सुषुप्तं च तुरीयं च नान्यावस्थासु कुत्रचित् ॥10॥
> सर्वदेशेष्वनुस्यूतश्चतूरूपः शिवात्मकः।
> यथा महाफले सर्वे रसाः सर्वप्रवर्तकाः ॥11॥
> यथैवान्नमये कोशे कोशास्तिष्ठन्ति चान्तरे।
> यथा कोशास्तथा जीवो यथा जीवस्तथा शिवः ॥12॥

जो प्रत्यगानन्दमय आत्मा है, वह परमश्रेष्ठ मूर्धा – मस्तिष्क के उच्च स्थान में है और वह अनन्त शक्तियों से युक्त होने से सारे जगत् के रूप में भासमान होता है। जाग्रत् अवस्था सर्वत्र विद्यमान है और उसी में स्वप्न तथा सुषुप्तावस्था तथा तुरीयावस्था रहती है, जैसे कि अन्नमय कोश के भीतर

ही प्राणमय और मनोमय कोश रहते हैं। और कोई अवस्था ऐसी नहीं है, जिसमें अन्य तीन अवस्थाओं का समावेश हो। जिस प्रकार श्रेष्ठ सुन्दर फल में रस चारों ओर संव्याप्त होकर रहता है, उसी प्रकार समस्त देह-देशों में वह चार रूपों वाला शिवात्मक आत्मा संव्याप्त है। जिस प्रकार एक अन्नमय कोश के भीतर प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आदि कोश रहते हैं ठीक उसी प्रकार जीव शरीर में रहता है, और जैसा जीव का स्वरूप है, वैसा ही शिव का स्वरूप है अर्थात् दोनों एक ही हैं।

सविकारस्तथा जीवो निर्विकारस्तथा शिवः।
कोशास्तस्य विकारास्ते ह्यवस्थासु प्रवर्तकाः ॥13॥
यथा रसाशये फेनं मथनादेव जायते।
मनोनिर्मथनादेव विकल्पा बहवस्तथा ॥14॥
कर्मणा वर्तते कर्मी तत्त्यागाच्छान्तिमाप्नुयात्।
अयने दक्षिणे प्राप्ते प्रपञ्चाभिमुखं गतः ॥15॥
अहङ्काराभिमानेन जीवः स्याद्धि सदाशिवः।
स चाविवेकप्रकृतिसङ्गत्या तत्र मुह्यते ॥16॥

परन्तु, दोनों में अन्तर मात्र इतना ही है कि जीव विकारवाला है और शिव विकाररहित है। ये कोश ही जीव के विकार हैं, जो सभी अवस्थाओं में जीव का प्रवर्तन करते हैं। जैसे दूध आदि को मथने से फेन पैदा होता है, वैसे ही मन को मथने से विकल्प पैदा होते हैं। कर्म द्वारा ही कर्मा (जीव) का अस्तित्व कहा गया है। कर्मों के त्याग से ही शान्ति मिलती है। दक्षिणायन में आने से—सूर्य के दक्षिण गति में आने से उसे माया के जाल में गिरना पड़ता है। सदाशिव ही अहंकार के अभिमान से जीव बनते हैं, क्योंकि वहाँ पर आकर वह अविवेकरूपी प्रकृति के संग में मोहित हो जाता है।

नानायोनिशतं गत्वा शेतेऽसौ वासनावशात्।
विमोक्षात्सञ्चरत्येव मत्स्यः कूलद्वयं यथा ॥17॥
ततः कालवशादेव ह्यात्मज्ञानविवेकतः।
उत्तराभिमुखो भूत्वा स्थानात्स्थानान्तरं क्रमात् ॥18॥
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणान् योगाभ्यासं स्थितश्चरन्।
योगात्सञ्जायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते ॥19॥
योगज्ञानपरो नित्यं स योगी न प्रणश्यति।
विकारस्थं शिवं पश्येद् विकारश्च शिवे न तु ॥20॥

वासनावश वह सैकड़ों योनियों में जाकर अज्ञान की निद्रा में सोया रहता है। वह वासनाओं से मुक्त हो जाने पर मछली की भाँति दोनों किनारों पर भ्रमण करता रहता है। इसके बाद समय आने पर जब उसमें आत्मज्ञान का विवेक उदित होता है, तब उत्तराभिमुख होकर (उत्तरायण के समय में) एक स्तर से अन्य स्तर पर आता है। बाद में वह अपने प्राणतत्त्व को मूर्धा स्थान में (मस्तिष्क में) स्थिर रखकर योगाभ्यास में परायण हो जाता है। योग द्वारा ज्ञान की और ज्ञान द्वारा योग की प्रवृत्ति हुआ करती है। सदैव योगज्ञान में परायण योगी को कभी नष्ट नहीं होता। वह विकारों में अवस्थित शिव के दर्शन तो निरन्तर करता रहता है, किन्तु शिव में किसी भी प्रकार के विकार का दर्शन वह नहीं करता।

योगप्रकाशकं योगैर्ध्यायेच्चानन्यभावनः।
योगज्ञाने न विद्येते तस्य भावो न सिद्ध्यति ॥21॥

तस्मादभ्यासयोगेन मनःप्राणान्निरोधयेत् ।
योगी निशितधारेण क्षुरेणैव निकृन्तयेत् ॥22॥
शिखा ज्ञानमयी वृत्तिर्यमाद्यष्टाङ्गसाधनैः ।
ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगी द्विधा मतः ॥23॥
क्रियायोगमथेदानीं शृणु ब्राह्मणसत्तम ।
अव्याकुलस्य चित्तस्य बन्धनं विषये क्वचित् ॥24॥

वह योगी पूर्वकथित श्रवणादि द्वारा योग को प्रकाशित करने वाले परब्रह्म को अनन्य भाव से सभी विकारों से शून्य होकर चिन्तन (ध्यान) करे। क्योंकि यदि योग और ज्ञान नहीं होते तो वह अनन्य भाव नहीं आ सकता। इसलिए अभ्यासयोग से प्राणों के द्वारा मन का निरोध करना चाहिए। योगी को छुरी की धार जैसी पैनी धार वाले निश्चय से मन का निरोध करना चाहिए। योग के यम-नियमादि अष्टांग साधनों से ज्ञानमयी शिखा का आविर्भाव होता है। योग के दो मार्ग बतलाए गए हैं, जिनमें एक है ज्ञानयोग और दूसरा है कर्मयोग। इस तरह से योगी दो प्रकार के होते हैं। उन दोनों में से पहले तुम क्रियायोग को (कर्मयोग को) सुनो! हे ब्राह्मणोत्तम! अव्याकुल चित्तवाले कर्मयोगी के लिए कहीं शास्त्रोक्त विषय में बन्धन 'यह कर्तव्य कर्म ही है' ऐसा मानसिक लगाव होता है।

यत्संयोगो द्विजश्रेष्ठ स च द्वैविध्यमश्नुते ।
कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ॥25॥
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते ।
यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ॥26॥
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ।
यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेऽप्यव्ययं मनः ॥27॥
स याति परमं श्रेयो मोक्षलक्षणमञ्जसा ।
देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः ॥28॥

हे द्विजोत्तम! संयोग भी दो प्रकार के होते हैं। शास्त्रविहित कर्मों में 'यह कर्तव्य कर्म ही है'— ऐसा जो मन का निरन्तर बन्धन रहता हो, इसको 'कर्मयोग' कहा जाता है। और चित्त के कल्याणकारी आत्मिक उत्थान के लिए ही लगाव रहता है (बन्धन रहता है) उसे ज्ञानयोग कहा जाता है (दोनों योगों में चित्त का तत्तदनुकूल बन्धन = लगाव सतत रहता ही है)। यह ज्ञानयोग सर्वसिद्धियों को देने वाला है, मंगलकारी है। जिस योगी का मन दोनों प्रकार से बताए गए लक्षणयुक्त इस योग में अव्यय (अविकारी) होकर साधना करता है, वह योगी तेज से परम श्रेय को प्राप्त करता है। वह श्रेय मोक्षलक्षण (मोक्ष ही) है। अब ज्ञानी लोग 'यम' को कहते हैं कि शरीर और इन्द्रियों में जो वैराग्य भावना होती है, वह यम है।

अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः ।
सर्ववस्तुन्युदासीनभावमासनमुत्तमम् ॥29॥
जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः ।
चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम ॥30॥
चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः ।
सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥31॥

परमतत्त्व में सतत अनुराग रखना ही नियम है। सभी वस्तुओं में उदासीन भाव ही उत्तम आसन है। यह सारा जगत् मिथ्या है ऐसी प्रतीति प्राणसंयम कहलाती है। चित्त का अन्तर्मुख होना ही प्रत्याहार है। चित्त की अचलता ही धारणा कही जाती है और 'मैं वही चिदात्मा हूँ' ऐसा चिन्तन ही ध्यान कहा जाता है।

ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक्समाधिरभिधीयते।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ॥32॥
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश।
तपःसन्तुष्टिरास्तिक्यं दानमाराधनं हरेः ॥33॥
वेदान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्। इति।
आसनानि तदङ्गानि स्वस्तिकादीनि वै द्विज ॥34॥
वर्ण्यन्ते स्वस्तिकं पादतलयोरुभयोरपि।
पूर्वोत्तरे जानुनी द्वे कृत्वासनमुदीरितम् ॥35॥

ध्यान की पूर्णतः विस्मृति होना ही समाधि है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, मिताहार और आन्तर्बाह्य पवित्रता—ये दश 'यम' कहे जाते हैं। और तप, सन्तोष, गुरु-शास्त्रों में श्रद्धा, दान, ईश्वराराधन, वेदान्तश्रवण, लज्जा-मर्यादा, बुद्धि, जप, व्रत—ये सब नियम हैं। और जो स्वस्तिक आदि आसन हैं, वे उन यम-नियमों के अंग हैं। अब इन आसनों का वर्णन किया जा रहा है। उनमें स्वस्तिक आसन का वर्णन करते हैं—दोनों पैरों के तलों को दोनों घुटनों के मध्य में करके बैठना ही स्वस्तिकासन है।

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखे गोमुखं यथा ॥36॥
एकं चरणमन्यस्मिन्नुरावारोप्य निश्चलः।
आस्ते यदिदमेनोघ्नं वीरासनमुदाहृतम् ॥37॥
गुदं नियम्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः।
योगासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥38॥
ऊर्वोरुपरि वै धत्ते यदा पादतले उभे।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ॥39॥
पद्मासनं सुसंस्थाप्य तदङ्गुष्ठद्वयं पुनः।
व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासनं भवेत् ॥40॥

पीठ के बाँये भाग की ओर दाहिनी एँड़ी की गाँठ को तथा पीठ के दाहिने भाग की ओर बाँयी एँड़ी की गाँठ को नियोजित करने से गोमुख जैसा 'गोमुख' नाम का आसन होता है। एक चरण को अन्य जांघ पर आरोपित करके अर्थात् दाहिने चरण को बाँयी और बाँये चरण को दाहिनी जाँघ पर आरोपित करके निश्चल होकर बैठने से सर्वपापहर ऐसा वीरासन कहा जाता है। दाहिनी एड़ी को गुदा की बाँयी ओर तथा बाँयी एड़ी को गुदा की दाहिनी ओर लगाकर बैठने से यह योगासन बनता है, ऐसा योग को जानने वाले कहते हैं। दोनों जाँघों के ऊपर जब दोनों पादतल विपरीत क्रम में रखे जाते हैं, तब सर्वरोगनाशक 'पद्मासन' बनता है। और उसी पद्मासन को अच्छी तरह करके फिर विपरीत क्रम में दोनों अंगुष्ठों को दोनों हाथों से पकड़ने पर 'बद्धपद्मासन' नाम का आसन बनता है।

पद्मासनं सुसंस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।
निवेश्य भूमावातिष्ठेद् व्योमस्थः कुक्कुटासनः ॥41॥
कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बध्य कन्धरम् ।
शेते कूर्मवदुत्तान तदुत्तानकूर्मकम् ॥42॥
पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।
धनुराकर्षकाकृष्टं धनुरासनमीरितम् ॥43॥
सीवनीं गुल्फदेशाभ्यां निपीड्य व्युत्क्रमेण तु ।
प्रसार्य जानुनोर्हस्तावासनं सिंहरूपकम् ॥44॥

अच्छी तरह से पद्मासन करके दोनों हाथों से घुटनों और जंघाओं के बीच से निकालकर भूमि पर लगाकर शरीर को आकाश की ओर अधर पर रखने से कुक्कुट आसन होता है । और उसी कुक्कुटासन लगाने के बाद दोनों हाथों को दोनों कन्धों के साथ आबद्ध कर कच्छप के समान सीध में लाने से उत्तान कूर्मासन बनता है । दोनों पैरों के अँगूठों को हाथ से पकड़कर कानों तक धनुष के आकार की तरह खींचने से धनुरासन बनता है, ऐसा कहते हैं । गुल्फ प्रदेश (दोनों एड़ियों) के द्वारा सीवनीप्रदेश को विपरीत क्रम से दबाकर दोनों हाथों और घुटनों को फैलाने से सिंहरूपकासन बनता है ।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्युभयपार्श्वयोः ।
निवेश्य पादौ हस्ताभ्यां बद्ध्वा भद्रासनं भवेत् ॥45॥
सीवनीपार्श्वमुभयं गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।
निपीड्यासनमेतच्च मुक्तासनमुदीरितम् ॥46॥

अण्डकोश के नीचे सीवनी के प्रदेश के दोनों ओर दोनों गुल्फों को (टखनों को) स्थिर करके पैरों को हाथों से बाँधकर भद्रासन किया जाता है । सीवनी प्रदेश के दोनों पार्श्वों को विपरीत क्रम से दोनों गुल्फों के द्वारा दबाकर स्थिर रहना ही मुक्तासन कहा गया है ।

अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां हस्तयोर्द्वयोः ।
कूर्परौ नाभिपार्श्वे तु स्थापयित्वा मयूरवत् ॥47॥
समुन्नतशिरःपादं मयूरासनमिष्यते ।
वामोरुमूले दक्षांघ्रिं जान्वोर्वेष्टितपाणिना ॥48॥
वामेन वामाङ्गुष्ठं तु गृहीतं मत्स्यपीठकम् ।
योनिं वामेन सम्पीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम् ॥49॥
ऋजुकायः समासीनः सिद्धासनमुदीरितम् ।
प्रसार्य भुवि पादौ तु दोर्भ्यामङ्गुष्ठमादरात् ॥50॥
जानूपरि ललाटं तु पश्चिमं तानमुच्यते ।
येन केन प्रकारेण सुखं धार्यं च जायते ॥51॥
तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाचरेत् ।
आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम् ॥52॥

दोनों हथेलियों को जमीन स्थिर करके दोनों कोहनियों को नाभि के दोनों ओर लगाकर फिर मोर की भाँति सिर और पैर ऊँचा रखने से मयूरासन होता है । बाँयी जाँघ के मूल में दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ने से मत्स्यपीठक आसन होता है । बाँयें पैर की एड़ी को सीवन पर स्थिर करके दाहिने पैर

को उपस्थ के ऊपर के भाग में रखकर सीधा बैठने से सिद्धासन नाम का आसन बनता है। जमीन पर दोनों पैरों को फैलाकर दोनों हाथों से पैरों के अँगूठों को पकड़ लेने से तथा घुटनों पर ललाट को स्थिर रहने से बनने वाला आसन पश्चिमोत्तान आसन कहलाता है। जिस किसी प्रकार से बैठने से सुख और स्थिरता प्राप्त हो सके उसे सुखासन कहा जाता है। जो मनुष्य अन्य आसनों को करने में अशक्त हो, उसे यह सुखासन लगाना चाहिए। जिस मनुष्य ने आसन जीत लिया है, उसने तीनों जगत् को (भुवनों को) जीत लिया है, ऐसा समझना चाहिए।

यमैश्च नियमैश्चैव आसनैश्च सुसंयतः।
नाडीशुद्धिं च कृत्वादौ प्राणायामं समाचरेत् ॥53॥
देहमानं स्वाङ्गुलिभिः षण्णवत्यङ्गुलायतम्।
प्राणः शरीरादधिको द्वादशाङ्गुलमानतः ॥54॥
देहस्थमनिलं देहसमुद्भूतेन वह्निना।
न्यूनं समं वा योगेन कुर्वन्ब्रह्मविदिष्यते ॥55॥

संयमी साधक यम, नियम और आसन से आरम्भ में नाडीशुद्धि करके प्राणायाम का परिशीलन करे। मानवदेह का प्रमाण (कद) अपनी छियानवें अँगुलियों के माप का है। और जो प्राण है, वह शरीर से बारह अंगुल से अधिक प्रमाण वाला माना गया है। शरीर में स्थित वायु को प्राणायाम के द्वारा उत्पन्न किए गए अग्नि द्वारा योग प्रकिंया से कम या ज्यादा करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है—अथवा ब्रह्मज्ञ उस वायु को कम या ज्यादा कर सकता है।

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्।
त्रिकोणं द्विपदामन्यच्चतुरस्त्रं चतुष्पदम् ॥56॥
वृत्तं विहङ्गमानां तु षडस्त्रं सर्वजन्मनाम्।
अष्टास्त्रं स्वेदजानां तु तस्मिन्दीपवदुज्ज्वलम् ॥57॥
कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यं नवाङ्गुलम्।
चतुरङ्गुलमुत्सेधं चतुरङ्गुलमायतम् ॥58॥

शरीर में तपे हुए सुवर्ण जैसे तेज वाला एक अग्नि का स्थान होता है। यह मनुष्यों में त्रिकोणाकार होता है, पशुओं में चार कोने वाला होता है, पक्षियों में गोलाकार होता है, साँप आदि जातियों में वह षट्कोणाकार होता है, स्वेदज जीवों में वह अष्टकोणाकार होता है। उस स्थान में दीप जैसा तेजस्वी कन्द का निवास मनुष्यों के देह के मध्य में होता है। वह नौ अंगुल के प्रमाण का, चार अंगुल ऊँचा और चार अंगुल चौड़ा है।

अण्डाकृति तिरश्चां च द्विजानां च चतुष्पदाम्।
तुन्दमध्यं तदिष्टं वै तन्मध्यं नाभिरिष्यते ॥59॥
तत्र चक्रं द्वादशारं तेषु विष्णवादिमूर्तयः।
अहं तत्र स्थितश्चक्रं भ्रामयामि स्वमायया ॥60॥
अरेषु भ्रमते जीवः क्रमेण द्विजसत्तम।
तन्तुपञ्जरमध्यस्था यथा भ्रमति लूतिका ॥61॥
प्राणाविरूढश्चरति जीवस्तेन विना नहि।
तस्योर्ध्वे कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः ॥62॥

वह कन्द छोटे जन्तुओं, पक्षियों और पशुओं में अण्डाकार होता है। उदर में स्थित नाभि उसका मध्य स्थान कहा गया है। उसमें बारह अरों वाला चक्र है। उस चक्र में विष्णु आदि देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। इस चक्र को मैं (ब्रह्म) अपनी माया से घुमाता रहता हूँ। इन बारह अरों में जीव, जैसे मकड़ी अपने जाल में घुमा करती है, वैसे ही घूमता रहता है। यह जीव प्राणतत्त्व में आरूढ होकर ही वहाँ चल-फिर सकता है। प्राण के बिना तो वह ऐसा नहीं कर सकता। उसके ऊपर में कुण्डलिनी महाशक्ति का ऊँचा और वक्र स्थान है।

अष्टप्रकृतिरूपा सा चाष्टधा कुण्डलीकृता।
यथावद्वायुसारं च जलान्नादि च नित्यशः ॥63॥
परितः कन्दपार्श्वे तु निरुध्यैव सदा स्थिता।
मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं तथा ॥64॥
योगकालेन मरुता साग्निना बोधिता सती।
स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला ॥65॥
अपानाद्द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्रस्य तावता।
देहमध्यं मनुष्याणां हृन्मध्यं तु चतुष्पदाम् ॥66॥

वह कुण्डलिनी शक्ति अष्ट प्रकृतिरूप है, वह आठ तरह से कुण्डली करके वायु और अन्न-जल को यथायोग्य रूप से रोकती रहती है। वह कन्द को चारों ओर से घेरकर उसके पार्श्व में स्थित है। वह अपने मुख के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र के मुख को लपेट कर अवस्थित है। योग के अभ्यास द्वारा कालान्तर में वह कुण्डलिनी महाशक्ति, जैसे वायु से आग जाग उठती है, वैसे हृदयरूपी आकाश में नागिन के रूपवाली सी वह अत्यन्त शुभ्र प्रकाश से स्फुरित होती रहती है। अपान से दो अंगुल ऊर्ध्व की ओर तथा मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) से नीचे मनुष्य के शरीर का मध्यभाग माना जाता है और पशुओं के शरीर का मध्यभाग हृदय के बीच माना गया है।

इतरेषां तुन्दमध्ये नानानाडीसमावृतम्।
चतुष्प्रकारद्वययुते देहमध्ये सुषुम्नया ॥67॥
कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता।
पद्मसूत्रप्रतीकाशा ऋजुरूर्ध्वप्रवर्तिनी ॥68॥
ब्रह्मणो विवरं यावद् विद्युदाभासनालकम्।
वैष्णवी ब्रह्मनाडी च निर्वाणप्राप्तिपद्धतिः ॥69॥

अन्य प्राणियों का मध्यभाग उदर के बीच नाभि का मध्यक्षेत्र है। वह विविध नाड़ियों से आवृत्त है। प्राण और अपान—दोनों से युक्त देह के मध्य भाग में यह सुषुम्ना चार प्रकार से प्रकाशित होती है। जो सुषुम्ना नाडी कन्द में अवस्थित है, वह पद्मसूत्र के समान अतिसूक्ष्म है, वह सीधी और ऊर्ध्वभाग की ओर जाने वाली बन गई है। ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने वाली वह 'वैष्णवी ब्रह्मनाडी' विद्युत् के आभास वाली और मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग वाली ही है।

इडा च पिङ्गला चैव तस्याः सव्येतरे स्थिते।
इडा समुत्थिता कन्दाद् वामनासापुटावधिः ॥70॥
पिङ्गला चोत्थिता तस्माद् दक्षनासापुटावधिः।
गान्धारी हस्तजिह्वा च द्वे चान्ये नाडिके स्थिते ॥71॥

पुरतः पृष्ठतस्तस्य वामेतरदृशौ प्रति ।
पूषायशस्विनीनाड्यौ तस्मादेव समुत्थिते ॥72॥
सव्येतरश्रुत्यवधि पायुमूलादलम्बुसा ।
अधोगता शुभा नाडी मेढ्रान्तावधिरायता ॥73॥

उस सुषुम्ना नाडी की बाँयी-दाँयी ओर (अगल-बगल में) इडा और पिंगला नाम की दो नाडियाँ स्थित हैं। इडा नाडी कन्द से निकलकर बाँये नासापुट तक गई है और पिंगला भी कन्द से निकलकर दाहिने नासापुट तक गई है। गान्धारी तथा हस्तिजिह्वा नाम की दो नाडियाँ भी वहाँ विद्यमान हैं। ये दोनों नाडियाँ भी उनके आगे-पीछे बाँयी और दाहिनी आँख तक गई हुई हैं। पूषा और यशस्विनी नाम की दो नाड़ियाँ उसी कन्द से निकलकर बाँये और दाहिने कान में जाती हैं। अलम्बुसा नाम की नाडी गुदा के मूल से निकलकर मेढ़ के (मूत्रेन्द्रिय के) एक छोर तक विस्तृत होती है।

पादाङ्गुष्ठावधिः कन्दादधोयाता च कौशिकी ।
दशप्रकारभूतास्ताः कथिताः कन्दसम्भवाः ॥74॥
तन्मूला बहवो नाड्यः स्थूलसूक्ष्माश्च नाडिकाः ।
द्वासप्ततिसहस्राणि स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाडयः ॥75॥
संख्यातुं नैव शक्यन्ते स्थूलमूलाः पृथग्विधाः ।
यथाश्वत्थदले सूक्ष्माः स्थूलाश्च विततास्तथा ॥76॥

कन्द के नीचे की ओर पैर के अँगूठे तक गई हुई नाडी का नाम 'कौशिकी' है। यह उपर्युक्त दस नाड़ियाँ कन्द से निकली हुई कही गई है। और उन नाडियों के मूल से स्थूल और सूक्ष्म अनेकानेक नाडियाँ निकलती हैं। ये सूक्ष्म और स्थूल सब नाडियाँ मिलकर बहत्तर हजार बताई जाती हैं। इनमें स्थूल और सूक्ष्म नाडियों को पृथक्-पृथक् गिनना तो संभव नहीं है। यह तो पिप्पल के पत्ते की स्थूल और सूक्ष्म नसों को गिनने की भाँति ही अशक्य है।

प्राणापानौ समानश्च उदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥77॥
चरन्ति दशनाडीषु दश प्राणादिवायवः ।
प्राणादिपञ्चकं तेषु प्रधानं तत्र च द्वयम् ॥78॥
प्राण एवाऽथवा ज्येष्ठो जीवात्मानं बिभर्ति यः ।
आस्यनासिकयोर्मध्यं हृदयं नाभिमण्डलम् ॥79॥
पादाङ्गुष्ठमिति प्राणस्थानानि द्विजसत्तम ।
अपानश्चरति ब्रह्मन् ! गुदमेढ्रोरुजानुषु ॥80॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये दश प्राण भी दस नाडियों में विचरण करते रहते हैं। उनमें पहले पाँच प्राणवायु मुख्य हैं और उनमें भी पहले दो—प्राण और अपान प्रधान हैं। अथवा प्राण ही सबसे प्रधान है, जो जीवात्मा को धारण करता है। हे द्विजश्रेष्ठ ! उस महान् प्राण के पाँच निवासस्थान बताए गए हैं। वे हैं—मुख, नासिका का मध्यभाग, हृदय, नाभिमण्डल और पैर का अँगूठा। हे ब्रह्मन् ! अब अपानवायु जो है, वह गुदा, मेढ़, जंघा एवं घुटनों में विचरता है।

समानः सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी व्यवस्थितः ।
उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि ॥81॥
व्यानः श्रोत्रोरुकट्यां च गुल्फस्कन्धगलेषु च ।
नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ॥82॥
तुन्दस्थजलमन्नं च रसादीनि समीकृतम् ।
तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात्पृथक्पृथक् ॥83॥
इत्यादिचेष्टनं प्राणः करोति च पृथक् स्थितम् ।
अपानवायुर्मूत्रादेः करोति च विसर्जनम् ॥84॥

समानवायु शरीर के सभी अवयवों में सर्वव्यापी होकर विद्यमान है। उदानवायु हाथों, पैरों और शरीर के सभी सन्धिस्थलों में रहता है। व्यानवायु कान, जंघाएँ और कटि प्रदेश में रहता है तथा एडी, कन्धों और गले में भी वह रहता है। नाग आदि पाँच उपप्राण त्वगिन्द्रिय एवं अस्थि आदि में रहते हैं। प्राणवायु आमाशयस्थ जल, अन्न, रस आदि का पहले समीकरण (मिश्रण) करता है और बाद में उसका पृथक्करण करता है। प्राणवायु इन सभी कार्यों को स्वयं पृथक् रहकर करता है। और जो अपानवायु है, वह मल-मूत्रादि का विसर्जन करता है।

प्राणापानादिचेष्टादि क्रियते व्यानवायुना ।
उज्जीर्यते शरीरस्थमुदानेन नभस्वता ॥85॥
पोषणादिशरीरस्य समानः कुरुते सदा ।
उद्गारादिक्रियो नागः कूर्मोऽक्षादिनिमीलनः ॥86॥
कृकरः क्षुतयोः कर्त्ता दत्तो निद्रादिकर्मकृत् ।
मृतगात्रस्य शोभादेर्धनञ्जय उदाहृतः ॥87॥
नाडीभेदं मरुद्भेदं मरुतां स्थानमेव च ।
चेष्टाश्च विविधास्तेषां ज्ञात्वैव द्विजसत्तम ॥88॥

प्राण और अपान आदि वायुओं की चेष्टाएँ व्यानवायु के संयोग से ही सम्पन्न होती हैं। और शरीरस्थ उदान वायु से नभोगामी (ऊँचे उठने की क्रिया) की जा सकती है। शरीर की पोषण आदि क्रियाएँ समानवायु करता है। नागवायु द्वारा डकार आदि क्रियाएँ होती है। आँख की पलकों का मीलनोन्मीलन कूर्मवायु करता है। कृकरवायु का कार्य भूख लगाना है और देवदत्तवायु निद्रा आदि कार्य करता है। मृत व्यक्ति के देह की थोड़ी देर तक शोभा ज्यों-की-त्यों रखने का काम धनंजय वायु करता है, ऐसा कहा गया है। हे द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार नाड़ी, वायु आदि के स्थान तथा उनके प्रकार और उनके विविध कार्यों को जानने का प्रयत्न चाहिए।

शुद्धौ यतेत नाडीनां पूर्वोक्तज्ञानसंयुतः ।
विविक्तदेशमासाद्य सर्वसम्बन्धवर्जितः ॥89॥
योगाङ्गद्रव्यसम्पूर्णं तत्र दारुमये शुभे ।
आसने कल्पिते दर्भकुशकृष्णाजिनादिभिः ॥90॥
तावदासनमुत्सेधे तावद् द्वयसमायते ।
उपविश्यासनं सम्यक् स्वस्तिकादि यथारुचि ॥91॥

उपर्युक्त ज्ञानविधि से नाडीशोधन कर लेना चाहिए। बाद में सभी सम्बन्धों को छोड़कर किसी एकान्त स्थान में रहते हुए योगांग के लिए सभी सामग्री एकत्रित करके, दर्भ, कुश अथवा काले हिरन

के चर्म आदि का दारुमय आसन बनाकर जब तक दोनों ओर के अंग समान न हो जाएँ, तब तक आसन की साधना करते रहना चाहिए। इसके लिए आसन-स्थान पर बैठकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्वस्तिक आदि किसी आसन का अभ्यास करते रहना चाहिए।

बद्ध्वा प्रागासनं विप्र ऋजुकायः समाहितः।
नासाग्रन्यस्तनयनो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥92॥
रसनां तालुनि न्यस्य स्वस्थचित्तो निरामयः।
आकुञ्चितशिरः किञ्चिन्निबध्नन्योगमुद्रया ॥93॥
हस्तौ यथोक्तविधिना प्राणायामं समाचरेत्।
रेचनं पूरणं वायोः शोधनं रेचनं तथा ॥94॥

पहले तो आसन लगाकर सीधे बैठना चाहिए। हे ब्रह्मन्! बाद में नाक के अग्र भाग पर दृष्टि रखनी चाहिए। फिर दाँतों को दाँतों से स्पर्श किए बिना ही जीभ को तालु में लगाकर चित्त को स्वस्थ करके निरामय भाव से सिर को थोड़ा आगे झुकाकर, हाथों को एक-दूसरे से जोड़कर योगमुद्रा में प्राणायाम का परिशीलन करना चाहिए। रेचक-पूरक-कुम्भक के द्वारा वायु का शोधन करके बारी-बारी से रेचन की क्रिया करनी चाहिए।

चतुर्भिः क्लेशनं वायोः प्राणायाम उदीर्यते।
हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम् ॥95॥
शनैः शनैरथ बहिः प्रक्षिपेत्पिङ्गलानिलम्।
इडया वायुमापूर्य ब्रह्मन् षोडशमात्रया ॥96॥
पूरितं कुम्भयेत्पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया।
द्वात्रिंशन्मात्रया सम्यग्रेचयेत्पिङ्गलानिलम् ॥97॥

इस तरह चार प्रक्रियाओं से वायु का क्लेशन (गतिमान) करने की विधि को प्राणायाम कहा जाता है। दाहिने हाथ से नासापुट को दबाकर पिंगला से (दायीं नासिका से) वायु को पहले बाहर निकालना चाहिए। बाद में सोलह मात्रा से इडा (बाँयी नासिका) से वायु को भीतर की ओर खींचना चाहिए। और चौंसठ मात्रा से कुम्भक करना चाहिए। तथा बत्तीस मात्रा से उस वायु को पिंगला (दायीं नासिका) से बाहर कर देना चाहिए।

एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु।
सम्पूर्णकुम्भवद्देहं कुम्भयेन्मातरिश्वना ॥98॥
पूरणान्नाडयः सर्वाः पूर्यन्ते मातरिश्वना।
एवं कृते सति ब्रह्मंश्चरन्ति दश वायवः ॥99॥
हृदयाम्भोरुहं चापि व्याकोचं भवति स्फुटम्।
तत्र पश्येत्परात्मानं वासुदेवमकल्मषम् ॥100॥
प्रातर्माध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥101॥

इस प्रकार बार-बार परिवर्तित क्रम से सर्वदा अभ्यास करते रहना चाहिए और शरीर के भीतर भरी हुई वायु को घड़े की भाँति स्थिर करके रोकते रहना चाहिए। इस क्रिया में हे ब्रह्मन्! सभी नाडियाँ वायु से भर जाती हैं। उन नाडियों में दसों वायु ठीक तरह से चलते रहते हैं। इसके बाद हृदयरूपी

कमल स्वच्छ, विकसित एवं स्पष्ट हो जाता है। और उस स्थान पर परमात्मरूप निष्कलंक वासुदेव के स्पष्टरूप से दर्शन होने लगते हैं। इस तरह के अभ्यास से प्रात:काल, मध्याह्नकाल, सायंकाल तथा अर्धरात्रि में चार बार कुम्भक करना चाहिए और धीरे-धीरे क्रमशः उसे अस्सी मात्रा तक बढ़ाना चाहिए।

एकाहमात्रं कुर्वाणः सर्वपापैः प्रमुच्यते।
संवत्सरत्रयादूर्ध्वं प्राणायामपरो नरः ॥102॥
योगसिद्धो भवेद्योगी वायुजिद्विजितेन्द्रियः।
अल्पाशी स्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी बलवान्भवेत् ॥103॥
अपमृत्युमतिक्रम्य दीर्घमायुरवाप्नुयात्।
प्रस्वेदजननं यस्य प्राणायामस्तु सोऽधमः ॥104॥
कम्पनं वपुषो यस्य प्राणायामेषु मध्यमः।
उत्थानं वपुषो यस्य स उत्तम उदाहृतः ॥105॥

जो मनुष्य केवल एक दिन ऐसा प्राणायाम करता है, वह सभी पापों से छुटकारा पाता है। जो लगातार तीन साल तक इस प्रकार प्राणायामपरायण रहता है, वह मनुष्य योगसिद्ध योगी बन जाता है। इस वायु को जीतने वाला इन्द्रियों को वश में रखने वाला, कम खाने वाला, कम निद्रा लेने वाला, तेजस्वी और बलवान होता है। वह अपमृत्यु को पार करके लम्बी आयु को प्राप्त करता है। जिसे प्राणायाम में पसीना होता है, उसका प्राणायाम अधम है। जिस प्राणायाम से शरीर में कँपकँपी आती है, वह मध्यम प्राणायाम होता है, और जिसका शरीर प्राणायाम से ऊपर उठता है, वह उत्तम प्राणायाम कहा जाता है।

अधमे व्याधिपापानां नाशः स्यान्मध्यमे पुनः।
पापरोगमहाव्याधिनाशः स्यादुत्तमे पुनः ॥106॥
अल्पमूत्रोऽल्पविष्टश्च लघुदेहो मिताशनः।
पट्विन्द्रियः पटुमतिः कालत्रयविदात्मवान् ॥107॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भीकरणमेव यः।
करोति त्रिषु कालेषु नैव तस्यास्ति दुर्लभम् ॥108॥
नाभिकन्दे च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नवान्।
धारयेन्मनसा प्राणान् सन्ध्याकालेषु वा सदा ॥109॥
सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः।
कुक्षिरोगविनाशः स्यान्नाभिकन्देषु धारणात् ॥110॥

अधम कोटि के प्राणायाम से आधि-व्याधि और संपूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। मध्यम कोटि के प्राणायाम से पापों का, महारोगों का और पीड़ाओं का नाश होता है। और उत्तम कोटि के प्राणायाम से तो वह सचेत योगी अल्प मूत्रवाला अल्प बिष्टावाला, लघुदेहवाला, कम खाने वाला, तेजस्वी इन्द्रिय शक्तियों वाला, तेजस्वी बुद्धिवाला तथा तीनों काल को जानने वाला हो जाता है। जो योगी रेचक और पूरक को छोड़कर केवल कुम्भक को ही करने के लिए तत्पर रहता है, उसके लिए तीनों काल में कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। योग में सतत प्रयत्नशील योगी को सन्ध्यावन्दन के समय में नाभिकन्द में (मूल में), नासिका के अग्रभाग में तथा दोनों पैरों के अँगूठों में अपने मन से प्राणतत्त्व की धारणा करनी चाहिए। इस प्रकार की धारणा करने से योगी सभी रोगों से मुक्त होकर आनन्दपूर्वक जीवन गुजारता है। नाभिकन्द में प्राणों को धारण करने से कुक्षि (पेट) के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

नासाग्रे धारणाद्दीर्घमायुः स्याद्देहलाघवम् ।
ब्राह्मे मुहूर्ते सम्प्राप्ते वायुमाकृष्य जिह्वया ॥111॥
पिबतस्त्रिषु मासेषु वाक्सिद्धिर्महती भवेत् ।
अभ्यासतश्च षण्मासान्महारोगविनाशनम् ॥112॥
यत्र यत्र धृतो वायुरङ्गे रोगादिदूषिते ।
धारणादेव मरुतस्तत्तदारोग्यमश्नुते ॥113॥
मनसो धारणादेव पवनो धारितो भवेत् ।
मनसः स्थापने हेतुरुच्यते द्विजपुङ्गव ॥114॥

नासिका के अग्रभाग में प्राण को धारण करने से लम्बी आयु और देह का लाघव होता है। ब्राह्ममुहूर्त में जीभ से वायु को भीतर खींचकर तीन महीनों तक पीने से वाणी की महान् सिद्ध प्राप्त होती है और छः मास के ऐसे अभ्यास से महारोग भी नष्ट हो जाते हैं। रोग आदि से दूषित शरीर में जहाँ-जहाँ वायु धारण किया जाता है, वहाँ वायु के धारण से ही उस-उस रोग का नाश हो जाता है। हे द्विजश्रेष्ठ ! मन की धारणा से ही वायु की धारणा उत्पन्न होने लगती है। मन को स्थापन (एकाग्र) करने के लिए प्राण की साधना (प्राणायाम का परिशीलन) अनिवार्य हेतु (कारण) कहा गया है।

करणानि समाहृत्य विषयेभ्यः समाहितः ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्येदुदरोपरि धारयेत् ॥115॥
बध्नन्कराभ्यां श्रोत्रादिकरणानि यथातथम् ।
युञ्जानस्य यथोक्तेन वर्त्मना स्ववशं मनः ॥116॥

इन्द्रियों को विषयों से हटाकर, सावधान होकर, अपानवायु को ऊर्ध्व में अर्थात् पेट के ऊपर धारण करना चाहिए और दोनों हाथों की अँगुलियों से दोनों कानों को बन्द कर लेना चाहिए। इस क्रिया से मन को वश में लाया जा सकता है। (इसको षण्मुखी मुद्रा कहा जाता है। इसमें दोनों हाथों की अँगुलियों से आँख, कान, नाक, मुख आदि छिद्रों को बन्द करके मन को वश में लाने का प्रयत्न किया जाता है)।

मनोवशात्प्राणवायुः स्ववशे स्थाप्यते सदा ।
नासिकापुटयोः प्राणः पर्यायेण प्रवर्तते ॥117॥
तिस्त्रश्च नाडिकास्तासु स यावन्तं चरत्ययम् ।
शङ्खिनीविवरे याम्ये प्राणः प्राणभृतां सताम् ॥118॥
तावन्तं च पुनः कालं सौम्ये चरति सन्ततम् ।
इत्थं क्रमेण चरता वायुना वायुजिन्नरः ॥119॥
अहश्च रात्रिश्च पक्षं च मासमृत्वयनादिकम् ।
अन्तर्मुखो विजानीयात्कालभेदं समाहितः ॥120॥

इस प्रकार मनोजय प्राप्त कर लेने के बाद, प्राणवायु नियमित हो जाता है अर्थात् सदैव अपने वश में आ जाता है और दोनों नथुनों से उसका आना-जाना व्यवस्थित रूप में होने लगता है। इडा आदि तीन नाडियाँ हैं। इन इडादि तीन नाडियों में जितने काल तक यह प्राणियों का प्राणवायु याम्य में (शंखिनीविवर में अर्थात् पिंगला नाम से प्रख्यात दाहिने नथुने में) घूमता है उतने ही काल तक योगियों के सौम्य में (सुषुम्ना में) सतत घूमा करता है। इस तरह जिस योगी का प्राण समान समय में

दोनों में घूमता है इससे वह 'वायुजित्' (वायु को जीतने वाला) हो जाता है और वह दिवस, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि के कालभेद को अन्तर्मुखी होकर सावधानतया पहचान लेता है।

अङ्गुष्ठादिस्वावयवस्फुरणादर्शनैरपि ।
अरिष्टैर्जीवितस्यापि जानीयात्क्षयमात्मनः ॥121॥
ज्ञात्वा यतेत कैवल्यप्राप्तये योगवित्तमः ।
पादाङ्गुष्ठे कराङ्गुष्ठे स्फुरणं यस्य न श्रुतिः ॥122॥
तस्य संवत्सरादूर्ध्वं जीवितस्य क्षयो भवेत् ।
मणिबन्धे तथा गुल्फे स्फुरणं यस्य नश्यति ॥123॥
षण्मासावधिरेतस्य जीवितस्य स्थितिर्भवेत् ।
कूर्परे स्फुरणं यस्य तस्य त्रैमासिकी स्थितिः ॥124॥

अपने अंगुष्ठ आदि अंगों का फड़कना रुक जाने पर अपने जीवन की समाप्ति जल्द से जल्द समझ लेनी चाहिए। उन अरिष्टों को जानकर श्रेष्ठ योगी को कैवल्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जिसके पैरों के और हाथों के अंगुष्ठों में धडकन (स्फुरण) बन्द हो जाए तो उसका एक वर्ष के बाद जीवन का अन्त होगा, ऐसा जानना चाहिए। जिसके मणिबन्ध में (कलाई में) और गुल्फ में (टखने में) स्फुरण नष्ट हो जाए तो उसके जीवन की अवधि छः मास की होगी, ऐसा समझना चाहिए। और जिसकी कोहनी में स्फुरण बन्द हो जाए उसका जीवन तीन मास ही रहेगा, ऐसा समझना चाहिए।

कुक्षिमेहनपार्श्वे च स्फुरणानुपलम्भने ।
मासावधिर्जीवितस्य तदर्धस्य तु दर्शने ॥125॥
आश्रिते जठरद्वारे दिनानि दश जीवितम् ।
ज्योतिः खद्योतवद्यस्य तदर्धं तस्य जीवितम् ॥126॥
जिह्वाग्रादर्शने त्रीणि दिनानि स्थितिरात्मनः ।
ज्वालाया दर्शने मृत्युर्द्विदिने भवति ध्रुवम् ॥127॥
एवमादीन्यरिष्टानि दृष्टायुःक्षयकारणम् ।
निःश्रेयसाय युञ्जीत जपध्यानपरायणः ॥128॥

कुक्षि, उपस्थ और पार्श्व भाग में स्फुरण न हो तो केवल एक मास तक जीवन रहेगा और आँख में स्फुरण के अभाव में सिर्फ पंद्रह दिन तक जीवन रह सकता है। जठर के मुँह पर यदि स्फुरण नहीं होता, तो जीवन दस दिन तक रहता है और सूर्य-चन्द्र की ज्योति जब पतंगे की भाँति दिखाई दे, तब पाँच दिन ही जीवन टिक सकता है। जीभ के अग्र भाग में यदि स्फुरण का अभाव हो, तब आत्मा की स्थिति तीन दिन तक रहती है और यदि ज्वाला का दर्शन होने लगे, तब दो ही दिनों में मृत्यु अवश्य आ जाती है। ये सब अरिष्ट (अनिष्टकारक तत्त्व) आयु को क्षीण करने के कारणरूप हैं। इन सभी को जानने वाले साधक को अर्थात् अपनी आयु को पहचानने वाले योगी को अपने कल्याण के लिए स्वयं को जप, तप, ध्यानपरायण होकर कल्याण में प्रवृत्त होना चाहिए।

मनसा परमात्मानं ध्यात्वा तद्रूपतामियात् ।
यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम् ॥129॥
स्थानात्स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते ।
पादाङ्गुष्ठं तथा गुल्फं जङ्घामध्यं तथैव च ॥130॥

मध्यमूर्वोश्च मूलं च पायुर्हृदयमेव च।
मेहनं देहमध्यं च नाभिं च गलकूर्परम् ॥131॥
तालुमूलं च मूलं च घ्राणस्याक्ष्णोश्च मण्डलम्।
भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूलमूर्ध्वं च जानुनी ॥132॥
मूलं च करयोर्मूलं महान्त्येतानि वै द्विज।
पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु ॥133॥

मन के द्वारा परमात्मा का ध्यान करके तद्रूप बनने का प्रयत्न करना चाहिए। उसकी चेतना को शरीर के अठारहों मर्मस्थानों में धारण करना चाहिए। एक स्थान से दूसरे स्थान में खींचने की प्रक्रिया को प्रत्याहार कहा जाता है। पूर्वोक्त अठारह मर्मस्थान ये हैं—पैर का अँगूठा, एड़ी, जाँघ का मध्यभाग, ऊरु का मध्यभाग, गुदा का मध्यभाग, हृदय, उपस्थ, देह का मध्यभाग, नाभि, गला, कोहनी, तालु का मूल, नासिका का मूल, नेत्रमण्डल, भौंहों के बीच का भाग, ललाट, मस्तक का मूल भाग, दोनों घुटने तथा हाथों का मूलभाग—ये सभी स्थल, हे द्विज ! पाँचों भूतों से युक्त इस पाँचभौतिक शरीर में महान् (मर्मस्थान) कहे जाते हैं।

मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य च यमादिभिः।
धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम् ॥134॥
आजानुपादपर्यन्तं पृथिवीस्थानमिष्यते।
पित्तला चतुरस्रा च वसुधा वज्रलाञ्छिता ॥135॥
स्मर्तव्या पञ्चघटिकास्तत्रारोप्य प्रभञ्जनम्।
आजानुकटिपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ॥136॥
अर्धचन्द्रसमाकारं श्वेतमर्जुनलाञ्छितम्।
स्मर्तव्यमम्भःश्वसनमारोप्य दशनाडिकाः ॥137॥

यम आदि से युक्त मन की एकाग्रता को ही धारणा कहा जाता है। ऐसी धारणा संसाररूपी सागर को पार करने का कारण मानी जाती है। घुटनों से लेकर पैरों तक का स्थान पृथ्वीस्थान माना जाता है। पीले रंग की और चार कोणों से युक्त पृथ्वी वज्र से जड़ी हुई है। उस पृथ्वी में वायु को रोककर उसका पाँच घटिकापर्यन्त (दो घण्टों तक) स्मरण (चिन्तन) करना चाहिए। अब घुटने से लेकर ऊपर का कमर तक का भाग जल का स्थान माना जाता है। वह अर्धचन्द्रकार है, और श्वेतवर्ण का है तथा चाँदी से जड़ा हुआ है। उसका भी श्वास को रोककर (उसी में तन्मय होकर) दश घटिका तक (चार घण्टों तक) चिन्तन करना चाहिए।

आदेहमध्यकट्यन्तमग्निस्थानमुदाहृतम्।
तत्र सिन्दूरवर्णोऽग्निर्ज्वलनं दश पञ्च च ॥138॥
स्मर्तव्या नाडिकाः प्राणं कृत्वा कुम्भे तथेरितम्।
नाभेरुपरि नासान्तं वायुस्थानं तु तत्र वै ॥139॥
वेदिकाकारवद् धूम्रो बलवान्भूतमारुतः।
स्मर्तव्यः कुम्भकेनैव प्राणमारोप्य मारुतम् ॥140॥
घटिकाविंशतिस्तस्माद् घ्राणाद् ब्रह्मबिलावधि।
व्योमस्थानं नभस्तत्र भिन्नाञ्जनसमप्रभम् ॥141॥

शरीर में कटि प्रदेश के मध्य का भाग अग्नि का स्थान कहा गया है। वहाँ सिन्दूरवर्णी अग्नि ज्वालारूप है। उसका पंद्रह घटिका (छः घण्टे) तक प्राण को कुंभक में रोककर चिन्तन करना चाहिए। नाभि से लेकर तक नासिका तक वायु का स्थान है। उसका आकार वेदी के मुख जैसा होता है। धूम्र जैसा उसका स्वरूप होता है जो कि बड़ा शक्तिशाली होता है। वहाँ प्राणवायु को कुम्भक के द्वारा रोककर उसका बीस घटिका तक (आठ घण्टे तक) चिन्तन करना चाहिए। और नासिका से ब्रह्मरन्ध्र तक का स्थान आकाशतत्त्व का कहा गया है। इसकी आभा नीले रंग की कही गई है।

व्योम्नि मारुतमारोप्य कुम्भकेनैव यत्नवान्।
पृथिव्यंशे तु देहस्य चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥142॥
अनिरुद्धं हरिं योगी यतेत भवमुक्तये।
अबंशे पूरयेद्योगी नारायणमुदग्रधीः ॥143॥
प्रद्युम्नमग्नौ वाय्वंशे सङ्कर्षणमतः परम्।
व्योमांशे परमात्मानं वासुदेवं सदा स्मरेत् ॥144॥

प्रयत्नशील योगी कुंभक के द्वारा ही आकाश के क्षेत्र में आरोपण करता है और बाद में देह के पृथ्वी क्षेत्र के भाग में चतुर्भुज, मुकुटधारी, अनिरुद्ध हरि का चिन्तन करता है (करना चाहिए)। यह संसार से मुक्त होने के लिए किया जाता है। फिर देह के जल क्षेत्र वाले भाग में तेजस्वी बुद्धिवाला वह योगी नारायण का चिन्तन करता है और अग्निवाले स्थान में प्रद्युम्न का चिन्तन करता है। बाद में उस योगी को वायु के क्षेत्र में संकर्षण का और आकाश वाले अंश में वासुदेव का चिन्तन निरन्तर करते ही रहना चाहिए।

अचिरादेव तत्प्राप्तिर्युञ्जानस्य न संशयः।
बद्ध्वा योगासनं पूर्वं हृद्देशे हृदयाञ्जलिः ॥145॥
नासाग्रन्यस्तनयनो जिह्वां कृत्वा च तालुनि।
दन्तैर्दन्तानसंस्पृश्य ऊर्ध्वकायः समाहितः ॥146॥
संयमेच्चेन्द्रियग्राममात्मबुद्ध्या विशुद्धया।
चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः ॥147॥

जो साधक योगी ऐसे अभ्यास को नियमपूर्वक निरन्तर किया करता है, वह जल्द से जल्द परब्रह्म परमात्मा वासुदेव की प्राप्ति कर लेता है, इसमें कोई शंका नहीं है। सबसे पहले तो योगासन लगाकर हृदय प्रदेश में हृदयरूपी अंजलियुक्त होकर, नाक के अग्र भाग में नेत्रों को (दृष्टि को) रखते हुए, जीभ को तालुस्थान में लगाकर, दाँतों को दाँतों से स्पर्श नहीं करना चाहिए। शरीर को सीधा एवं स्थिर रखकर, सावधान होकर, इन्द्रियों का संयम करना चाहिए और बाद में परब्रह्म वासुदेव का अपनी निर्मल बुद्धि से चिन्तन करना चाहिए।

स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम्।
यग्ममात्रं वासुदेवं चिन्तयेत्कुम्भकेन यः ॥148॥
र ए ।जन्मार्जितं पापं तस्य नश्यति योगिनः।
नाभिकन्दात्समारभ्य यावद्धृदयगोचरम् ॥149॥
जाग्रद्वृत्तिं विजानीयात्कण्ठस्थं स्वप्नवर्तनम्।
सुषुप्तं तालुमध्यस्थं तुर्यं भ्रूमध्यसंस्थितम् ॥150॥

अपने स्वरूप से व्याप्त रूपवाले परमात्मा का ध्यान कैवल्य की सिद्धि कराने वाला है। जो साधक कुम्भक के द्वारा एक प्रहरमात्र भी वासुदेव का चिन्तन करता है, उस योगी के सात जन्मों में किए हुए पापों का नाश हो जाता है। नाभिकेन्द्र से लेकर हृदय तक का क्षेत्र जाग्रदवस्था का क्षेत्र है, ऐसा जानना चाहिए। स्वप्नावस्था का केन्द्र कण्ठ है और सुषुप्तावस्था का केन्द्र तालुस्थान है और तुर्य का क्षेत्र भौहों के मध्यस्थान का क्षेत्र माना गया है।

तुर्यातीतं परंब्रह्म ब्रह्मरन्ध्रे तु लक्षयेत्।
जाग्रद्वृत्तिं समारभ्य यावद् ब्रह्मबिलान्तरम् ॥151॥
तत्रात्मायं तुरीयस्य तुर्यान्ते विष्णुरुच्यते।
ध्यानेनैव समायुक्तो व्योम्नि चात्यन्तनिर्मले ॥152॥
सूर्यकोटिद्युतिधरं नित्योदितमधोक्षजम्।
हृदयाम्बुरुहासीनं ध्यायेद्वा विष्णुरूपिणम् ॥153॥

तुर्यातीत परब्रह्म का क्षेत्र ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म को लक्ष्य करके अवस्थित है। जाग्रदवस्था से शुरू होकर ब्रह्मरन्ध्र तक तुर्यात्मा का तत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। और उसके अन्त में वह विष्णु कहा गया है। इसके बाद साधक योगी को चाहिए कि वह ध्यान में परायण होकर अत्यन्त निर्मल आकाश में (हृदयरूपी आकाश में) करोड़ों सूर्य जैसे तेज को धारण किए हुए, हृदयरूपी कमल पर बैठे हुए, विश्वरूपधारी, नित्योदित भगवान् विष्णु का निरन्तर चिन्तन-मनन करता रहे।

अनेकाकारखचितमनेकवदनान्वितम्।
अनेकभुजसंयुक्तमनेकायुधमण्डितम् ॥154॥
नानावर्णधरं देवं शान्तमुग्रमुदायुधम्।
अनेकनयनाकीर्णं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥155॥
ध्यायतो योगिनः सर्वमनोवृत्तिर्विनश्यति।
हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं चैतन्यज्योतिरव्ययम् ॥156॥
कदम्बगोलकाकारं तुर्यातीतं परात्परम्।
अनन्तमानन्दमयं चिन्मयं भास्करं विभुम् ॥157॥
निवातदीपसदृशमकृत्रिममणिप्रभम्।
ध्यायतो योगिनस्तस्य मुक्तिः करतले स्थिता ॥158॥

ऐसे अनेक आकार-प्रकारवाले, अनेक मुखों वाले, अनेक हाथों वाले, अनेक आयुध धारण किए हुए, विविध वर्ण धारण करने वाले, देवस्वरूप, शान्त, अस्त्र धारण किये हुए, असंख्य आँखों वाले, करोड़ों-करोडों सूर्यों की आभावाले, विश्वस्वरूप भगवान् विष्णु का चिन्तन-मनन करने से योगी की सभी मनोवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। हृदयरूपी कमल के मध्य प्रदेश में स्थित चैतन्यरूप ज्योतिर्मय, अव्यय (शाश्वत), कदम्ब के समान गोलाकार, तुर्यातीत, परे से भी परे, अनन्त, आनन्दमय, चैतन्यमय, व्यापक प्रकाशरूप, वायुरहित स्थान में स्थित दीपक की भाँति अचल, सच्चे मणि के जैसे तेजोमय, तुर्यातीत का ध्यान करने से मुक्ति तो योगी के हाथ में ही रहती है।

विश्वरूपस्य देवस्य रूपं यत्किञ्चिदेव हि।
स्थवीयः सूक्ष्ममन्यद्वा पश्यन्हृदयपङ्कजे ॥159॥
ध्यायतो योगिनो यस्तु साक्षादेव प्रकाशते।
अणिमादिफलं चैव सुखेनैवोपजायते ॥160॥

जीवात्मनः परस्यापि यद्येवमुभयोरपि ।
अहमेव परंब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ॥161॥
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ।
ब्रह्म सम्पद्यते योगी न भूयः संसृतिं व्रजेत् ॥162॥

इस विश्वरूप देव का जो कोई भी स्थूल, सूक्ष्म अथवा और कोई भी रूप है, उसका अपने हृदयरूपी कमल में ध्यान करते हुए योगी के सामने साक्षात् वह उस रूप में प्रकट होता है। अथवा ध्यान करने वाला योगी ही स्वयं ध्येय के रूपवाला हो जाता है। उस योगी को बिना किसी परिश्रम के (सुखपूर्वक) अणिमा, लघिमा आदि का फल प्राप्त हो जाता है। जीवात्मा तथा परमात्मा—दोनों के पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान हो जाने से जब 'मैं ही परब्रह्म हूँ'—ऐसी अवस्था आ जाती है, उसे ही 'समाधि' कहा जाता है। समाधि में मन की सभी वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। ऐसा समाधिप्राप्त योगी ब्रह्म को प्राप्त करता है और वह फिर कभी इस नश्वर जगत् में नहीं आता है।

एवं विशोध्य तत्त्वानि योगी निःस्पृहचेतसा ।
यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥163॥
ग्राह्याभावे मनःप्राणो निश्चयज्ञानसंयुतः ।
शुद्धसत्त्वे परे लीनो जीवः सैन्धवपिण्डवत् ॥164॥
मोहजालकसङ्घातं विश्वं पश्यति स्वप्नवत् ।
सुषुप्तिवद्यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः ।
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुतः ॥165॥ इत्युपनिषत् ।

इति त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता ।

वह साधक योगी इस तरह से योगतत्त्वों का शोधन करके स्पृहारहित मन से ईंधनरहित अग्नि की तरह स्वयं ही शान्त हो जाता है। तब ऐसे योगी के लिए कुछ भी स्वीकार्य नहीं होता अर्थात् उसके लिए कोई ग्राह्य वस्तु नहीं होती, क्योंकि तब उसके मन और प्राण निश्चयात्मक –.पारमार्थिक ज्ञान से युक्त हो जाते हैं और उसका जीवात्मा परमशुद्ध तत्त्व में (ब्रह्म में) जल में नमक के पिण्ड की भाँति विलीन हो जाता है। उस योगी को यह मोह के जाल जैसा विश्व स्वप्न की तरह ही दीखता है और वह संपूर्णतः अचल (स्थिर) होकर सहजभाव से सुषुप्ति जैसी अवस्था में रहने लगता है। ऐसा उत्तम योगी (साधक) निर्वाणपद पर आसीन होकर कैवल्यावंस्था को प्राप्त होता है।

यहाँ त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ...... पूर्णमेवावशिष्यते । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(92) जाबालदर्शनोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस सामवेदीय उपनिषत् को 'दर्शनोपनिषत्' भी कहते हैं। इसमें कुल दस खण्ड हैं। इसमें दत्तात्रेय और सांकृति की अष्टांग योग के बारे में प्रश्नोत्तरी है। प्रथम खण्ड में आठ अंगों तथा दस यमों का, द्वितीय में दस नियमों का, तृतीय में नौ यौगिक आसनों का, चौथे में नाड़ियों का परिचय दिया गया है और इसके साथ आत्मतीर्थ तथा आत्मज्ञान की महिमा बताई गई हैं। पाँचवें में नाड़ीशोधन की प्रक्रिया तथा आत्मशोधन की विधियाँ बताई गई हैं। छठे खण्ड में प्राणायामविधि, उसके प्रकार, फलप्रयोग आदि का उल्लेख है। सातवें में प्रत्याहार तथा उसके प्रकारों का प्रतिपादन है। आठवें और नवें खण्ड में धारणा और ध्यान का वर्णन किया है और दसवें में समाधि अवस्था का वर्णन है। फलश्रुति भी है। इस तरह से यह पूरी उपनिषत् योगपरक ही है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि·····ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (महोपनिषद् में) द्रष्टव्य हैं।

प्रथमः खण्डः

दत्तात्रेयो महायोगी भगवान्भूतभावनः।
चतुर्भुजो महाविष्णुर्योगसाम्राज्यदीक्षितः॥1॥
तस्य शिष्यो मुनिवरः सांकृतिर्नाम भक्तिमान्।
पप्रच्छ गुरुमेकान्ते प्राञ्जलिर्विनयान्वितः॥2॥
भगवन्ब्रूहि मे योगं साष्टाङ्गं सप्रपञ्चकम्।
येन विज्ञातमात्रेण जीवन्मुक्तो भवाम्यहम्॥3॥

महायोगी भगवान् दत्तात्रेय प्राणियों का कल्याण करने वाले थे। वे योगसाम्राज्य में दीक्षित थे और चतुर्भुजधारी महाविष्णु भगवान् के अवतार थे। मुनियों में श्रेष्ठ सांकृति नाम का उनका एक शिष्य था। एक बार भक्तिमान् उस शिष्य ने दोनों हाथ जोड़कर विनयपूर्वक एकान्त में गुरु से पूछा कि— 'भगवन्! आठ अंगों के साथ योग का मुझे विस्तार से उपदेश दीजिए कि जिसको जानने से ही मैं जीवन्मुक्त हो जाऊँ।'

सांकृते शृणु वक्ष्यामि योगं साष्टाङ्गदर्शनम्।
यमश्च नियमश्चैव तथैवासनमेव च॥4॥

प्राणायामस्तथा ब्रह्मन्प्रत्याहारस्ततः परम् ।
धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमं मुने ॥5॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमाधृतिर्मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥6॥

(यह सुनकर गुरु दत्तात्रेय ने कहा—) 'हे सांकृति, आठ अंगों के साथ योग मैं तुम्हें कह रहा हूँ, सुनो। हे ब्राह्मण ! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योग के अंग हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, मिताहार और अन्तः-बाह्य शौच—ये दश यम कहे जाते हैं।

वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधन ।
कायेन मनसा वाचाऽहिंसाऽहिंसा न चान्यथा ॥7॥
आत्मा सर्वगतोऽछेद्यो न ग्राह्य इति मे मतिः ।
सा चाहिंसा वरा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः ॥8॥

हे तपोधन ! उनमें वेदविहित हिंसा के सिवा, मन-कर्म-वचन से हिंसा न करना ही सच्ची अहिंसा है। अन्य प्रकार से तो हिंसा नहीं करनी चाहिए। परन्तु आत्मा सर्वव्यापी है और वह छेदा (मारा) नहीं जा सकता, ऐसा मैं मानता हूँ। हे मुनि ! ऐसा मानना ही वेदान्त जानने वालों के मत में श्रेष्ठ अहिंसा है।

चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर ।
तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत् ॥9॥
सर्वं सत्यं परं ब्रह्म न चान्यदिति या मतिः ।
तच्च सत्यं वरं प्रोक्तं वेदान्तज्ञानपारगैः ॥10॥
अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि च ।
मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः ॥11॥
आत्मन्यनात्मभावेन व्यवहारविवर्जितम् ।
यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्भिर्महामते ॥12॥

हे ब्राह्मण ! चक्षुरादि इन्द्रियों से जो देखा गया हो, सुना गया हो या सूँघा गया हो, उसे उसी प्रकार यथातथ्य कहना ही सत्य कहलाता है। हे मुनिवर ! सत्य अन्यथा नहीं हो सकता। परन्तु, 'परब्रह्म सर्वस्वरूप और सत्य है, और कुछ सत्य नहीं है'—ऐसी जो मान्यता है, उसे ही वेदान्तशास्त्र के पारंगत लोग श्रेष्ठ सत्य मानते हैं। हे बुद्धिमान् ! दूसरों के रत्न में, सोने में, मोती में और तिनके में भी मनोकामना न करने को विद्वान् लोग 'अस्तेय' कहते हैं, परन्तु आत्मवेत्ता लोग तो उसी तरह आत्मा में अनात्मभाव वाले व्यवहारों का त्याग कर देने को भी 'अस्तेय' कहते हैं।

कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिविवर्जनम् ।
ऋतौ भार्यां तदा स्वस्य ब्रह्मचर्यं तदुच्यते ॥13॥
ब्रह्मभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परन्तप ॥14॥
स्वात्मवत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा ।
अनुज्ञा या दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ॥15॥

पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौ स्वात्मनि सन्ततम् ।
एकरूपं मुने यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया ॥16॥

मन-वचन-कर्म से स्त्रियों का त्याग करना और अपनी पत्नी के साथ भी ऋतुकाल में ही संभोग करना 'ब्रह्मचर्य' कहा जाता है। और हे शत्रुतापन् ! ब्रह्मभाव में (महाभाव में) मन का चरण (संचरण) हो, उसे भी तो ब्रह्मचर्य कहते हैं। मन-वचन-कर्म से सभी प्राणियों को अपने जैसे ही मानने को ही वेदान्त जानने वाले 'दया' कहते हैं। हे मुनि ! पुत्र, मित्र, शत्रु, स्त्री और अपनी आत्मा—इन सभी में निरन्तर एकरूपता देखने को ही मैं आर्जव (सरलता) कहता (मानता) हूँ।

कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडिते ।
बुद्धिक्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुङ्गव ॥17॥
वेदादेव विनिर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा ।
इति विज्ञाननिष्पत्तिर्धृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः ।
अहमात्मा न चान्योऽस्मीत्येवमप्रच्युता मतिः ॥18॥
अल्पमृष्टाशनाभ्यां च चतुर्थांशावशेषकम् ।
तस्माद्योगानुगुण्येन भोजनं मितभोजनम् ॥19॥
स्वदेहमलनिर्मोक्षो मृज्जलाभ्यां महामुने ।
यत्तच्छौचं भवेद्बाह्यं मानसं मननं विदुः ।
अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचमाहुर्मनीषिणः ॥20॥

हे मुनिवर ! शत्रु लोग मन-वचन-काया से पीड़ा पहुँचाएँ, तो भी बुद्धि का क्षुब्ध न होना ही 'क्षमा' है। 'वेद–ज्ञान से ही संसार से छुटकारा होता है, ज्ञान के सिवा मुक्ति नहीं होती'—इस प्रकार की अनुभूति हो और 'मैं आत्मा ही हूँ, और कुछ नहीं हूँ'—इस प्रकार की अस्खलित विभावना हो, उसी को वेदज्ञ लोग 'धृति' कहते हैं। पेट का चौथा भाग खाली रखकर परिमित, शुद्ध और योग के अनुकूल आहार को 'मिताहार' कहते हैं। हे महामुनि ! मिट्टी और जल से अपने शरीर के मैल को दूर करना बाह्य शौच होता है। और 'मैं तो शुद्ध ही हूँ'—इस प्रकार का मनन करना और इस प्रकार मन में अच्छी तरह से समझना, उसे विद्वान् लोग मानस शौच कहते हैं।

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते ॥21॥
ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः ।
स मूढः काञ्चनं त्यक्त्वा लोष्ठं गृह्णाति सुव्रत ॥22॥
ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
न चास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥23॥
लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किञ्चिन्नास्त्यात्मवेदिनाम् ॥24॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मुनेऽहिंसादिसाधनैः ।
आत्मानमक्षरं ब्रह्म विद्धि ज्ञानात्तु वेदनात् ॥25॥

इति प्रथमः खण्डः ।

शरीर तो बहुत मलिन है और आत्मा अत्यन्त निर्मल है—इस प्रकार उन दोनों का भेद समझकर फिर तो उन दो में से किसका शौच किया जाए ? हे सुव्रत् ! जो पुरुष ज्ञानशौच का त्याग करके केवल

बाह्य शौच में ही रचा-पचा रहता है, वह तो मूढ़ है। वह सोना छोड़कर मिट्टी के पिण्ड को ही मानो स्वीकार करता है। ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त हुआ योगी धन्य है, कृतकृत्य है। उसके लिए अब कुछ भी करने को शेष नहीं रहता। यदि उसे कुछ करने की मनीषा होती है, तो वह अभी तत्त्ववेत्ता नहीं हुआ है, क्योंकि आत्मवेत्ताओं के लिए तीनों लोकों में कुछ भी करने को शेष रहता ही नहीं है। इसलिए हे मुनि! सभी प्रयत्नों से अहिंसा आदि साधनों के द्वारा ज्ञान से और अनुभव से इस आत्मा को तुम अक्षरब्रह्म के रूप में ही जान लो।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❋

द्वितीयः खण्डः

तपः संतोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ॥1॥
एते च नियमाः प्रोक्तास्तान्वक्ष्यामि क्रमाच्छृणु ॥2॥
वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः ॥3॥
को वा मोक्षः कथं तेन संसारं प्रतिपन्नवान्।
इत्यालोकनमर्थज्ञास्तपः शंसन्ति पण्डिताः ॥4॥
यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्या जायते नृणाम्।
तत्संतोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैकतत्पराः ॥5॥

तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, लज्जा, मति, जप, व्रत—ये सब नियम कहे जाते हैं, उनके बारे में मैं क्रमानुसार कह रहा हूँ, इसे तुम सुनो। वेद में बताए गए अनुसार कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा शरीर को कृश करना ही विद्वानों के द्वारा तप कहा जाता है। और "मोक्ष क्या है ? मैं यहाँ संसार को क्यों प्राप्त हुआ ?"—ऐसी बातों पर चिन्तन करने को भी मर्मज्ञ पण्डित लोग 'तप' कहते हैं। दैवेच्छा से जो भी कुछ आ मिले, उसी में लोगों की जो प्रीति होती है, उसे ही केवल ज्ञानपरायण प्राज्ञ सन्तोष कहते हैं।

ब्रह्मादिलोकपर्यन्ताद्विरक्त्या यल्लभेत्प्रियम्।
सर्वत्र विगतस्नेहः सन्तोषं परमं विदुः।
श्रौते स्मार्ते च विश्वासो यत्तदास्तिक्यमुच्यते ॥6॥
न्यायार्जितधनं श्रान्ते श्रद्धया वैदिके जने।
अन्यद्वा यत्प्रदीयन्ते तद्दानं प्रोच्यते मया ॥7॥
रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना।
हिंसादिरहितं कर्म यत्तदीश्वरपूजनम् ॥8॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दं परं ध्रुवम्।
प्रत्यगित्यवगन्तव्यं वेदान्तेश्रवणं बुधाः ॥9॥

और भी—ब्रह्मलोक आदि लोकों के विषयों पर भी वैराग्य हो जाने से उन सभी पर स्नेहरहित बना हुआ मनुष्य यों ही आ मिली हुई किसी वस्तु को प्रिय मान ले, तो उसे उत्तम सन्तोष कहा जाता

है। श्रौत और स्मार्त कर्मों में श्रद्धा रखना ही आस्तिकता है। न्याय से प्राप्त किया गया धन या अन्य कोई वस्तु यदि कोई वेदानुसारी पुरुष को दे, थके हुए ऐसे मनुष्य को दे, तो उसे मैं दान कहता हूँ। यदि हृदय रागादि दोषों से रहित हुआ हो, वाणी असत्यभाषण से दूषित न हुई हो, और कर्म भी हिंसादि दूषणों से रहित हो, तो वही ईश्वरपूजन है। यह प्रत्यगात्मा सत्यरूप, ज्ञानरूप, अनन्त, परमानन्दस्वरूप और सर्व से परे है, ऐसी समझदारी को विद्वान् लोग वेदान्तश्रवण कहते हैं।

वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत्।
तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीः सैवेति प्रकीर्तिता ॥10॥
वैदिकेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत्।
गुरुणा चोपदिष्टोऽपि तत्र सम्बन्धवर्जितः ॥11॥
वेदोक्तेनैव मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः।
कल्पसूत्रे तथा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके ॥12॥
इतिहासे च वृत्तिर्या स जपः प्रोच्यते मया।
जपस्तु द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा ॥13॥

वेदों में और लौकिक मार्गों में जो कुत्सित (निन्दनीय) कर्म माना जाता है, उस निन्द्य कार्य में जो शर्म आती है उसे 'लज्जा' कहा जाता है। और वैदिक कार्यों में जो श्रद्धा होती हो, उसे 'मति' कहा जाता है। गुरु ने उपदेश किया हो, फिर भी उसके बारे में कोई सम्बन्ध न रखकर केवल वेदोक्त मार्ग से ही जो मन्त्राभ्यास किया जाता है, उसे जप कहा जाता है। और भी कल्पसूत्र में, वेद में, धर्मशास्त्र में, पुराण में और इतिहास में जो वृत्ति रहती है, इसको मैं जप कहता हूँ। जप वाचिक और मानसिक के भेद से दो प्रकार का होता है।

वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः।
मानसो मननध्यानभेदाद्द्वैविध्यमाश्रितः ॥14॥
उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुणमुच्यते।
मानसश्च तथोपांशोः सहस्रगुणमुच्यते ॥15॥
उच्चैर्जपश्च सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत्।
नीचैः श्रोत्रेण चेन्मन्त्रः श्रुतश्चेन्निष्फलं भवेत् ॥16॥

इति द्वितीयः खण्डः।

उनमें भी वाचिक जप दो प्रकार का है—उपांशु (धीमा) और उच्चैः (ऊँचा)। और मानसिक जप भी दो प्रकार का है—एक मनन से और दूसरा ध्यान से। उच्च स्वर से जपने की उपेक्षा उपांशु (धीमे से) जपने का हजार गुना फल होता है। और उपांशु जप से भी मानसिक जप तो उससे भी हजार गुना ज्यादा फल देने वाला होता है। उच्च स्वर से जप करना तो मेरे कहने के अनुसार फलदायी होता ही है, परन्तु धीमे से जप करते समय अगर वह कानों से सुना जाए, तो वह निष्फल जाता है।

यहाँ दूसरा खण्ड पूरा होता है।

❋

तृतीयः खण्डः

स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरसिंहासने तथा ।
भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च ॥1॥
सुखासनसमाख्यं च नवमं मुनिपुङ्गव ।
जानूर्वोरन्तरे कृत्वा सम्यक् पादतले उभे ॥2॥
समग्रीवशिरःकायः स्वस्तिकं नित्यमभ्यसेत् ।
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ॥3॥
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं तत्प्रचक्षते ।
अङ्गुष्ठावधि गृह्णीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ॥4॥
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतलद्वयम् ।
पद्मासनं भवेत्प्राज्ञ सर्वरोगभयापहम् ॥5॥

हे मुनिवर ! स्वस्तिक, गोमुख, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, भद्रासन, मुक्तासन, मयूरासन और सुखासन—इस तरह नव प्रकार के आसन होते हैं। उनमें से जब घुटनों और जाँघों के बीच में दोनों पैर के तलों को अच्छी तरह से रख देने से तथा गर्दन, मस्तक और शरीर को सीधा रखकर बैठने से स्वस्तिक-आसन बनता है। इसका नित्य अभ्यास करना चाहिए। अब जब दाहिने पैर के टखने को, पीछे की बाँयीं ओर तथा बाँयें पैर के टखने को पीछे की दाहिनी ओर ले लिया जाए तो वह गोमुखासन कहलाता है ! हे द्विजश्रेष्ठ ! दोनों पैरों पर दोनों जाँघों को रखकर उन्हें उल्टे हाथों से अँगूठे तक पकड़ रखा जाय तो वह पद्मासन बन जाता है। हे बुद्धिमान् ! यह आसन सभी प्रकार के रोगों के भय का नाश कर देता है।

दक्षिणेतरपादं तु दक्षिणोरुणि विन्यसेत् ।
ऋजुकायः समासीनो वीरासनमुदाहृतम् ॥6॥
गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतद्विषरोगविनाशम् ॥7॥
निपीड्य सीवनीं सूक्ष्मं दक्षिणेतरगुल्फतः ।
वामं याम्येन गुल्फेन मुक्तासनमिदं भवेत् ॥8॥
मेढ्रादुपरि निक्षिप्य सव्यं गुल्फं ततोपरि ।
गुल्फान्तरं च संक्षिप्य मुक्तासनमिदं मुने ॥9॥

बाँयें पैर को दाहिनी जाँघ पर रखें और बाद में शरीर को सीधा करके बैठें, तो इसे वीरासन कहते हैं। दोनों टखनों को अण्डकोश के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्वों पर लगाकर रखें तथा दोनों हाथों से पार्श्वों और पैरों को मजबूती से बाँधकर एकाग्र होकर बैठें। ऐसा करने से समस्त विषरोगों का विनाश करने वाला भद्रासन होता है। सीवनी की सूक्ष्मरेखा को बाँयें टखने से दबाकर दाँये टखने से बाँया भाग दबाने से मुक्तासन बनता है। और भी हे मुनि ! (अन्य) लिंग के ऊपर दाहिनी घूँटी रखकर, उस पर दूसरी घूँटी रखने से बैठना भी मुक्तासन ही है।

कूर्पराग्रे मुनिश्रेष्ठ निक्षिपेन्नाभिपार्श्वयोः ।
भूम्यां पाणितलद्वन्द्वं निक्षिप्यैकाग्रमानसः ॥10॥
सुमुन्नतशिरःपादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः ।
मयूरासनमेतत्स्यात्सर्वपापप्रणाशनम् ॥11॥
येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं च जायते ।
तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाश्रयेत् ॥12॥
आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम् ।
अनेन विधिना युक्तः प्राणायामं सदा कुरु ॥13॥

इति तृतीयः खण्डः ।

हे मुनिश्रेष्ठ ! कुहनियों के दोनों अग्रभाग नाभि के दोनों पार्श्वों में पहले स्थापित करने चाहिए। फिर दोनों करतलों को जमीन पर रखकर, एकाग्र मन से मस्तक और दो पैर ऊँचे आकाश में ले जाकर लाठी की तरह सीधा रहना चाहिए। इसे मयूरासन कहते हैं। यह सभी पापों का नाश करने वाला है। जिस किसी भी प्रकार से सुख हो और धैर्य रहे, उस प्रकार से बैठना चाहिए। इसे सुखासन कहते हैं। अन्य आसन करने में अशक्त मनुष्य को यही सुखासन करना चाहिए। जिसने आसन को जीत लिया है, उसने तीनों जगतों को (भुवनों को) जीत लिया है। इसलिए तुम इस विधि से युक्त होकर सदा प्राणायाम करते रहो।

यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।

❊

चतुर्थः खण्डः

शरीरं तावदेव स्यात्षण्णवत्यङ्गुलात्मकम् ।
देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥1॥
त्रिकोणं मनुजानां तु सत्यमुक्तं हि सांकृते ।
गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः ॥2॥
देहमध्यं मुनिप्रोक्तमनुजानीहि सांकृते ।
कन्दस्थानं मुनिश्रेष्ठ मूलाधारान्नवाङ्गुलम् ॥3॥
चतुरङ्गुलमायामविस्तारं मुनिपुङ्गव ।
कुक्कुटाण्डसमाकारं भूषितं तु त्वगादिभिः ॥4॥

शरीर छियानबे अगुलों के परिमाण वाला है। मनुष्यों के शरीर के बीच तीन कोनों वाला अग्नि का स्थान है। वह तपाए गए सुवर्ण जैसी कान्तिवाला है। हे सांकृति ! यह मैंने ठीक ही कहा है। गुदा से दो अंगुल ऊपर और लिंग से दो अंगुल नीचे शरीर का मध्य भाग है, ऐसा मुनि लोग कहते हैं। हे मुनिवर सांकृति ! मूलाधार से नव अंगुल के अन्तर में कन्द है, ऐसा तुम जानो। हे मुनिवर ! वह (कन्द) चार अंगुल लम्बा-चौड़ा कुक्कुट (मुर्गे) के अण्डे जैसे आकारवाला और त्वचा आदि से भूषित है।

तन्मध्ये नाभिरित्युक्तं योगज्ञैर्मुनिपुङ्गव ।
कन्दमध्यस्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता ॥5॥

तिष्ठन्ति परितस्तस्या नाडयो मुनिपुङ्गव ।
द्विसप्ततिसहस्राणि तासां मुख्याश्चतुर्दश ॥6॥
सुषुम्ना पिङ्गला तद्वदिडा चैव सरस्वती ।
पूषा च वरुणा चैव हस्तिजिह्वा यशस्विनी ॥7॥
अलम्बुसा कुहूश्चैव विश्वोदरी तपस्विनी ।
शङ्खिनी चैव गान्धारा इति मुख्याश्चतुर्दश ॥8॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! उसके बीच में नाभि है, ऐसा योग जानने वाले कहते हैं। उस कन्द के बीच में जो नाड़ी आई है, उसे सुषुम्ना कहते हैं। हे मुनिवर ! उस नाड़ी के चारों ओर बहत्तर हजार नाड़ियाँ आई हुई हैं। उनमें चौदह मुख्य हैं। ये चौदह मुख्य नाड़ियाँ—सुषुम्ना, पिंगला, इडा, सरस्वती, पूषा, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरी, तपस्विनी, शंखिनी और गान्धारा नाम की हैं।

आसां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वेकोत्तमोत्तमा ।
ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः ॥9॥
पृष्ठमध्यस्थितेनास्थ्ना वीणादण्डेन सुव्रत ।
सह मस्तकपर्यन्तं सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ॥10॥
नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्व्यङ्गुल मुने ।
अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम ॥11॥
यथावद्वायुचेष्टां च जलान्नादीनि नित्यशः ।
परितः कन्दपार्श्वेषु निरुध्यैव सदा स्थिता ॥12॥

इन चौदह नाड़ियों में भी तीन ही मुख्य हैं। और उन तीनों में भी एक ही नाड़ी—सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। इसे वेदान्त जानने वाले 'ब्रह्मनाड़ी' कहते हैं। यह सुषुम्ना नाड़ी पीठ के बीच में स्थित वीणादण्ड (मेरुदण्ड) नाम के हड्डियों के समूह में से होती हुई मस्तक तक पहुँचती है। हे मुनि ! नाभिकन्द के नीचे दो अंगुल का कुण्डलिनी का स्थान है। हे मुनिवर ! वह कुण्डलिनी आठ प्रकृतिरूप है। और वह वायु की चेष्टा को ठीक तरह से सन्तुलित करती रहती है तथा जल और अन्न आदि को कन्द के चारों ओर रोकती रहती है।

स्वमुखेन समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं मुने ।
सुषुम्नाया इडा सव्ये दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ॥13॥
सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्नापार्श्वयोः स्थिते ।
गान्धारा हस्तिजिह्वा च इडायाः पृष्ठपूर्वयोः ॥14॥
पूषा यशस्विनी चैव पिङ्गला पृष्ठपूर्वयोः ।
कुहोश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरी स्थिता ॥15॥
यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वरुणा सुप्रतिष्ठिता ।
पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता यशस्विनी ॥16॥

उसने अपने मुख से ब्रह्मरन्ध्र का मुख ढँककर रखा है। हे मुनि ! सुषुम्ना की बाँयीं ओर इडा नाडी है, और दाहिनी ओर पिंगला है। तथा सरस्वती और कुहू नाड़ियाँ भी सुषुम्ना के दोनों ओर स्थित हैं। और गांधारा तथा हस्तिजिह्वा इडा की पीठ के दोनों पार्श्वों में अवस्थित हैं। पूषा और यशस्विनी

नाड़ियाँ पिंगला नाड़ी के पीठ के पूर्व भाग में आई हुई है, और विश्वोदरी नाड़ी कुहू तथा हस्तिजिह्वा के बीच में आई हुई है। यशस्विनी तथा कुहू के बीच में वरुणा स्थित है। और पूषा तथा सरस्वती के बीच यशस्विनी कही जाती है।

गान्धारायाः सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी।
अलम्बुसा स्थिता पायुपर्यन्तं कन्दमध्यगा ॥17॥
पूर्वभागे सुषुम्नाया राकायाः संस्थिता कुहूः।
अधश्चोर्ध्वं स्थिता नाडी याम्यनासान्तमिष्यते ॥18॥
इडा तु सव्यनासान्तं संस्थिता मुनिपुङ्गव।
यशस्विनी च वामस्य पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ॥19॥
पूषा वामाक्षिपर्यन्ता पिङ्गलायास्तु पृष्ठतः।
पयस्विनी च याम्यस्य कर्णान्तं प्रोच्यते बुधैः ॥20॥

गांधारा और सरस्वती के बीच में शंखिनी का स्थान है। और अलंबुसा नाड़ी कन्द के बीच से होकर गुदा तक पहुँची हुई है। सुषुम्ना नाड़ी पूर्णिमा जैसी है। उसके पूर्वभाग में ऊपर और नीचे कुहू नाड़ी स्थित है, और वह बाँयीं नासिका तक पहुँची हुई है। हे मुनिवर ! इडा नाड़ी दाहिनी नासिका तक पहुँची हुई है, और यशस्विनी नाड़ी बाँयें पैर के अँगूठे तक बढ़ी हुई है। पिंगला के पीछे पूषा नाड़ी बायीं आँख तक पहुँची हुई है, और पयस्विनी बाँये कान तक पहुँची हुई है, ऐसा विद्वान् मानते हैं।

सरस्वती तथा चोर्ध्वं गता जिह्वा तथा मुने।
हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ॥21॥
शङ्खिनी नाम या नाडी सव्यकर्णान्तमिष्यते।
गान्धारा सव्यनेत्रान्ता प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ॥22॥
विश्वोदराभिधा नाडी कन्दमध्ये व्यवस्थिता।
प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानोदान एव च ॥23॥
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः।
एते नाडीषु सर्वासु चरन्ति दश वायवः ॥24॥

हे मुनि ! सरस्वती जिह्वा के ऊपर पहुँची हुई है और हस्तिनी दाहिने पैर के अँगूठे तक पहुँची हुई मानी जाती है। शंखिनी नाम की नाड़ी दाहिने कान तक है और गांधारा दाहिनी आँख तक है, ऐसा वेदान्त जानने वाले कहते हैं। विश्वोदरा नाम की नाड़ी कन्द के बीच में अवस्थित है। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये दश वायु सभी नाड़ियों में विचरण करते हैं।

तेषु प्राणादयः पञ्च मुख्याः पञ्चसु सुव्रत।
प्राणसंज्ञस्तथापानः पूज्यः प्राणस्तयोर्मुने ॥25॥
आस्यनासिकयोर्मध्ये नाभिमध्ये तथा हृदि।
प्राणसंज्ञोऽनिलो नित्यं वर्तते मुनिसत्तम ॥26॥
अपानो वर्तते नित्यं गुदमध्योरुजानुषु।
उदरे सकले कट्यां नाभौ जङ्घे च सुव्रत ॥27॥

व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये च ककुद्भ्यां गुल्फयोरपि ।
प्राणस्थाने गले चैव वर्तते मुनिपुङ्गव ॥28॥
उदानसंज्ञो विज्ञेयः पादयोर्हस्तयोरपि ।
समानः सर्वदेहेषु व्याप्य तिष्ठत्यसंशयः ॥29॥

हे उत्तमव्रतधारी ! इन दश वायुओं में प्राण आदि पहले पाँच मुख्य हैं। इन पाँचों में भी प्राण और अपान मुख्य हैं और उन दोनों में भी प्राण मुख्य हैं (पूज्य है)। हे मुनिवर ! यह प्राणवायु मुख और नाक के बीच, नाभि में तथा हृदय में सदा रहता है। हे सुव्रत ! अपानवायु गुदा के बीच में, दोनों जाँघों में, घुटनों में, समग्र उदर में कमर में, नाभि में तथा दोनों पिण्डलियों में सदा रहता है। हे मुनिवर ! व्यान वायु आँखों और कानों के बीच, दोनों कन्धों में, प्राणों के स्थानों और कण्ठ में भी रहता है। उदान नामक वायु दोनों पैरों में, दोनों हाथों में रहता है और समानवायु सारे देह को व्याप्त करके रहता है, निश्चय ही ऐसा है।

नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ।
निश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्म हि सांकृते ॥30॥
अपानाख्यस्य वायोस्तु विण्मूत्रादिविसर्जनम् ।
समानः सर्वसामीप्यं करोति मुनिपुङ्गव ॥31॥
उदान ऊर्ध्वगमनं करोत्येव न संशयः ।
व्यानो विवादकृत्प्रोक्तो मुने वेदान्तवेदिभिः ॥32॥
उद्गारादिगुणः प्रोक्तो व्यानाख्यस्य महामुने ।
धनंजयस्य शोभादि कर्म प्रोक्तं हि सांकृते ॥33॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुधा तु कृकरस्य च ।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्रीकर्म प्रकीर्तितम् ॥34॥

हे सांकृति ! नाग आदि पाँच वायु त्वचा एवं अस्थियों आदि में रहते हैं। श्वासोच्छ्वास और खाँसी आदि प्राण के कार्य हैं। विष्टा, मूत्र आदि को बाहर निकालने का काम अपान का है। और हे मुनिवर ! समानवायु सब की समीपता करता है। उदान वायु ऊर्ध्व गति ही करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। और हे मुनि ! वेदान्त को जानने वालों ने व्यान वायु को विवाद करने वाला माना है। हे महामुनि सांकृति ! डकार आदि गुण व्यान के होते हैं। और धनंजय का काम शोभा आदि बताया गया है। हे द्विजश्रेष्ठ ! आँखें बन्द करना आदि काम कूर्म वायु का है। क्षुधा उत्पन्न करने का काम कृकर का है। और आलस्य आदि कार्य देवदत्त के कहे जाते हैं।

सुषुम्नायाः शिवो देव इडाया देवता हरिः ।
पिङ्गलाया विरञ्चिः स्यात्सरस्वत्या विराण्मुने ॥35॥
पूषाधिदेवता प्रोक्ता वरुणा वायुदेवता ।
हस्तिजिह्वाभिधायास्तु वरुणो देवता भवेत् ॥36॥
यशस्विन्या मुनिश्रेष्ठ भगवान्भास्करस्तथा ।
अलम्बुसाया अम्बात्मा वरुणः परिकीर्तितः ॥37॥
कुहोः क्षुद्देवता प्रोक्ता गान्धारी चन्द्रदेवता ।
शङ्खिन्याश्चन्द्रमास्तद्वत्पयस्विन्याः प्रजापतिः ॥38॥

हे मुनि ! सुषुम्ना नाड़ी के देवता शंकर हैं, इडा के देव विष्णु हैं, पिंगला के देव ब्रह्मा हैं और सरस्वती के देवता विराट् है। पूषा के देव पूषा हैं, वरुणा के देव वायु हैं, हस्तिजिह्वा के देव वरुण हैं। हे मुनिवर ! यशस्विनी के देव भगवान् सूर्य हैं, अलम्बुसा ने देव जलमय वरुण हैं, कुहू के देव क्षुधा है, गान्धारा के देव चन्द्र हैं, शंखिनी के देव भी चन्द्रमा ही हैं। पयस्विनी के देव प्रजापति हैं।

विश्वोदराभिधायास्तु भगवान्पावकः पतिः ।
इडायां चन्द्रमा नित्यं चरत्येव महामुने ॥39॥
पिङ्गलायां रविस्तद्वन्मुने वेदविदां वर ।
पिङ्गलायामिडायां तु वायोः सङ्क्रमणं तु यत् ॥40॥
तदुत्तरायणं प्रोक्तं मुने वेदान्तवेदिभिः ।
इडायां पिङ्गलायां तु प्राणसङ्क्रमणं मुने ॥41॥
दक्षिणायनमित्युक्तं पिङ्गलायामिति श्रुतिः ।
इडापिङ्गलयोः सन्धिं यदा प्राणः समागतः ॥42॥
अमावास्या तदा प्रोक्ता देहे देहभृतां वर ।
मूलाधारं यदा प्राणः प्रविष्टः पण्डितोत्तम ॥43॥

विश्वोदरा नामक नाड़ी के देव भगवान् अग्नि हैं, और हे मुनि ! इडा में नित्य चन्द्र घूमता है। हे श्रेष्ठ वेदज्ञ मुनि ! इसी तरह पिंगला में नित्य सूर्य घूमता (विचरण करता) है। और पिंगला में से इडा में वायु का जो संचार होता है उसे ही वेदान्त जानने वाले लोग संवत्सरात्मक 'उत्तरायण' नाम से कहते हैं। हे मुनि ! इडा में से पिंगला में जो प्राणवायु का गमन होता है उसे श्रुति दक्षिणायन कहती है। जिस समय प्राण इड़ा और पिंगला के बीच की ग्रन्थि में आता है, तो उसी समय प्राणियों के देह में अमावास्या कही जाती है। हे श्रेष्ठ पण्डित ! हे नरश्रेष्ठ ! जिस समय प्राणवायु मूलाधार में प्रवेश करता है, उस समय तपस्वी लोग उसे—

तदाद्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तापसोत्तम ।
प्राणसंज्ञो मुनिश्रेष्ठ मूर्धानं प्राविशद्यदा ॥44॥
तदन्त्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तत्त्वचिन्तकैः ।
निःश्वासोच्छ्वासनं सर्वं मासानां सङ्क्रमो भवेत् ॥45॥
इडायाः कुण्डलीस्थानं यदा प्राणः समागतः ।
सोमग्रहणमित्युक्तं तदा तत्त्वविदां वर ॥46॥
यदा पिङ्गलया प्राणः कुण्डलीस्थानमागतः ।
तदा तदा भवेत्सूर्यग्रहणं मुनिपुङ्गव ॥47॥

—पहला विषुव काल कहते हैं। हे तपस्वियों में श्रेष्ठ ! हे मुनिवर ! जिस समय प्राणवायु मस्तक में प्रवेश करता है उस समय को तत्त्वचिन्तक ज्ञानी लोग 'अन्तिम विषुवकाल' कहते हैं। और जो श्वासोच्छ्वास निरन्तर चला करता है उसी को वे मासों (महीनों) का आना-जाना कहते हैं। हे श्रेष्ठ तत्त्वज्ञ ! प्राणवायु जब इडा के द्वारा कुण्डली स्थान में आया होता है, तब चन्द्रग्रहण का होना कहा जाता है और जब पिंगला के द्वारा प्राण कुण्डलिनी स्थान में आता है तब हे मुनिवर ! सूर्यग्रहण हुआ, ऐसा समझा जाता है।

श्रीपर्वतं शिरःस्थाने केदारं तु ललाटके ।
वाराणसी महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ॥48॥
कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागं हृत्सरोरुहे ।
चिदम्बरं तु हृन्मध्ये आधारे कमलालयम् ॥49॥
आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत् ।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते ॥50॥

मस्तक के स्थान में श्रीपर्वत है और ललाट में केदारक्षेत्र है। हे महाबुद्धिशाली ! दोनों भौंहों और नाक के बीच में काशीक्षेत्र है। स्तन के स्थान में कुरुक्षेत्र है। हृदयकमल में प्रयागतीर्थ है और हृदय के बीच में चिदाकाश है एवं मूलाधार में लक्ष्मी का स्थान है। इस प्रकार अपने ही भीतर में सब तीर्थ अवस्थित हैं, फिर भी जो मनुष्य बाहर के तीर्थों में जाता है, वह तो हाथ में रखे गए उत्तम रत्न को छोड़कर काच को ही खोजता फिरता है।

भावतीर्थं परं तीर्थं प्रमाणं सर्वकर्मसु ।
अन्यथालिङ्ग्यते कान्ता अन्यथालिङ्ग्यते सुता ॥51॥
तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्काष्ठादिनिर्मितान् ।
योगिनो न प्रपूज्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात् ॥52॥
बहिस्तीर्थात्परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने ।
आत्मतीर्थं महातीर्थमन्यत्तीर्थं निरर्थकम् ॥53॥

भावतीर्थ ही उत्तम तीर्थ है। और वही सभी कर्मों में प्रमाणभूत है। स्त्री का आलिंगन एक अलग भाव से किया जाता है, और पुत्री का आलिंगन किसी अलग भाव से ही किया जाता है। योगियों को तो अपने आत्मा में ही पूरा विश्वास होता है और इसी कारण से वे लोग पानी से भरे हुए बाहर के तीर्थों में नहीं जाते और काष्ठादि से बने हुए देवों की पूजा नहीं करते। हे मुनि ! बाहर के तीर्थ की अपेक्षा भीतर का तीर्थ उत्तम है, और आत्मरूप तीर्थ ही सबसे बड़ा तीर्थ है। अन्य सभी तीर्थ तो निरर्थक ही हैं।

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुद्ध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि ॥54॥
विषुवायनकालेषु ग्रहणे चान्तरे सदा ।
वाराणस्यादिके स्थाने स्नात्वा शुद्धो भवेन्नरः ॥55॥
ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालितं जलम् ।
भावशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिपुङ्गव ॥56॥
तीर्थे दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा ।
शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते ॥57॥

सैंकड़ों बार पानी से धोए जाने पर भी शराब का बरतन जैसे अपवित्र ही रहता है, उसी तरह हमारे भीतर स्थित चित्त बाहर के तीर्थस्थानों से पवित्र (शुद्ध) नहीं होता। विषुवकाल और उत्तरायण के काल में और ग्रहण के समय में तथा और किसी समय में, काशी आदि तीर्थों में स्नान करके मनुष्य शुद्ध होता है, पर हे मुनिवर ! जो लोग ज्ञान के योग में परायण होते हैं, उनके धोए हुए पैरों का जल तो अज्ञानियों की भावशुद्धि के लिए प्रसिद्ध तीर्थरूप ही माना जाता है। अपने स्वयं के शरीर में शिव

उपस्थित ही हैं, फिर भी मूढात्मा मनुष्य तीर्थ, जप, दान और काष्ठ-पाषाण की मूर्तियों में शिव को देखता है (वहाँ ढूँढ़ने का प्रयास करता है)।

अन्तःस्थं मां परित्यज्य बहिष्ठं यस्तु सेवते।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहेत्कूर्परमात्मनः ॥58॥
शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः।
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ॥59॥
अपूर्वमपरं ब्रह्म स्वात्मानं सत्यमद्वयम्।
प्रज्ञानघनमानन्दं यः पश्यति स पश्यति ॥60॥

परमेश्वर स्वयं ही यह कहते हैं कि—मनुष्य अपने ही भीतर उपस्थित रहने वाले मुझ परमेश्वर को छोड़कर के जो बाहर में रहे हुए मेरी पूजा (उपासना) करता है, वह अपने हाथ में ही रहे हुए शक्कर (या मिठाई) के टुकड़े को छोड़कर मानो अपनी कोहनी को ही चाट रहा है। योगी लोग तो अपने में ही शिव को देखते हैं, प्रतिमाओं में नहीं देखते। प्रतिमाएँ तो जो लोग अज्ञानी हैं उनमें भावना उत्पन्न हो, इसलिए कल्पित की गई हैं। जो मनुष्य अपने आत्मा को ही सत्य, अद्वैत, प्रज्ञानमय और आनन्दरूप अपरब्रह्म के रूप में देखता है, वही यथार्थ देखता है।

नाडीपुञ्जं सदाऽसारं नरभावं महामुने।
समुत्सृज्यात्मनात्मानमहमित्येव धारय ॥61॥
अशरीरं शरीरेषु महान्तं विभुमीश्वरम्।
आनन्दमक्षरं साक्षान्मत्वा धीरो न शोचति ॥62॥
विभेदजनकेऽज्ञाने नष्टे ज्ञानबलान्मुने।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं किं करिष्यति ॥63॥

इति चतुर्थः खण्डः।

हे महामुनि! नाड़ियों के ढेर जैसा मनुष्यत्व तो बिल्कुल ही सारहीन है। इसलिए इसका त्याग करके तुम स्वयं अपनी आत्मा में 'मैं आत्मा हूँ'—इस प्रकार का भाव धारण करो। 'हर एक शरीर में, शरीर से अलग ही आनन्दमय, अविनाशी और व्यापक महान् परमेश्वर सदैव उपस्थित ही है'—ऐसा जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता। हे मुनि! भेद उत्पन्न करने वाला अज्ञान, जब ज्ञान के बल से नष्ट हो जाता है, तब आत्मा और ब्रह्म में कोई भी भेद रहता ही नहीं। फिर वहाँ भेद को कौन उत्पन्न कर सकेगा?

यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।

❋

पञ्चमः खण्डः

सम्यक्कथय मे ब्रह्मन्नाडीशुद्धिं समासतः।
यथा शुद्ध्या सदा ध्यायञ्जीवन्मुक्तो भवाम्यहम् ॥1॥
सांकृते शृणु वक्ष्यामि नाडीशुद्धिं समासतः।
विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः ॥2॥

यमाद्यष्टाङ्गसंयुक्तः शान्तः सत्यपरायणः ।
स्वात्मन्यवस्थितः सम्यग्ज्ञानिभिश्च सुशिक्षितः ॥3॥

सांकृति ने कहा—'हे ब्रह्मन् ! आप मुझे नाड़ी शुद्धि के बारे में संक्षेप में समझाइए कि जिस शुद्धि के द्वारा हमेशा आत्मा का ध्यान करते हुए मैं जीवन्मुक्त हो जाऊँ।' तब दत्तात्रेय ने कहा कि—हे सांकृति ! मैं संक्षेप में नाड़ीशुद्धि बताता हूँ, सुनो। पहले तो शास्त्रविहित कर्मों को करते रहना चाहिए और कामनायुक्त संकल्पों का परित्याग करना चाहिए। इसके बाद यम आदि आठ अंगों वाले योग से युक्त होकर, शान्त और सत्यपरायण होकर, ज्ञानियों के पास अच्छी तरह से शिक्षित होना चाहिए। और अपने आत्मा में स्थिति (स्थिरता) करनी चाहिए।

पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले वनेऽथवा ।
मनोरमे शुचौ देशे मठं कृत्वा समाहितः ॥4॥
आरभ्य चासनं पश्चात्प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ।
समग्रीवशिरःकायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥5॥
नासाग्रे शशभृद्बिम्बे बिन्दुमध्ये तुरीयकम् ।
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः ॥6॥

उस समय किसी पर्वत के शिखर पर, नदी के तट पर बिल्ववृक्ष के नीचे मूल के पास अथवा किसी वन के पवित्र मनोरम प्रदेश में आसन लगाकर पूर्वाभिमुख होकर या उत्तराभिमुख होकर बैठना चाहिए। उस समय गरदन, मस्तक और शरीर सीधा रखना चाहिए। मुँह बन्द रखना चाहिए और एकदम निश्चल रहना चाहिए। बाद में अत्यंत एकाग्र होकर नाक के आगे, चन्द्रमण्डल में, जो बिन्दुस्थान है, उसके बीच में तुरीयस्थान है। उसमें से अमृत द्रवित हो रहा है, इस प्रकार दोनों नेत्रों से देखना चाहिए।

इडया प्राणमाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम् ।
ततोऽग्निं देहमध्यस्थं ध्यायञ्ज्वालावलीयुतम् ॥7॥
बिन्दुनादसमायुक्तमग्निबीजं विचिन्तयेत् ।
पश्चाद्विरेचयेत्सम्यक्प्राणं पिङ्गलया बुधः ॥8॥
पुनः पिङ्गलयापूर्यवह्निबीजमनुस्मरेत् ।
पुनर्विरेचयेद्धीमानिडयैव शनैः शनैः ॥9॥
त्रिचतुर्वासरं वाथ त्रिचतुर्वारमेव च ।
षट्कृत्वो विचरेन्नित्यं रहस्येवं त्रिसन्धिषु ॥10॥

इडा नाड़ी के द्वारा प्राणवायु को खींचकर पेट में भरकर फिर देह में रहे हुए अग्नि का ज्वालाओं के समूह के साथ ध्यान करना चाहिए और बिन्दुनाद के साथ अग्निबीज का चिन्तन करना चाहिए। बाद में पिंगला नाडी के द्वारा भीतर के प्राण को साधक विद्वान् को अच्छी तरह से बाहर निकालना चाहिए। बाद में फिर से साधकों को पिंगला नाड़ी के द्वारा प्राणवायु को भीतर भरना चाहिए। उसी तरह अग्निबीजादि का स्मरण करना चाहिए और फिर इडा नाड़ी के द्वारा वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। इस प्रकार तीनों सन्ध्याओं के समय में एकान्त में तीन-चार दिन तीन-तीन बार करना चाहिए और बाद के दिनों में छः-छः बार करना चाहिए।

नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक्चिह्नोपलक्षितः ।
शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जाठरवर्तिनः ॥11॥

नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम् ।
यावदेतानि संपश्येत्तावदेवं समाचरेत् ॥12॥
अथवैतत्परित्यज्य स्वात्मशुद्धिं समाचरेत् ।
आत्मा शुद्धः सदा नित्यः सुखरूपः स्वयम्प्रभः ॥13॥
अज्ञानान्मलिनो भाति ज्ञानाच्छुद्धो भवत्ययम् ।
अज्ञानमलपङ्कं यः क्षालयेज्ज्ञानतोयतः ।
स एव सर्वदा शुद्धो नान्यः कर्मरतो हि सः ॥14॥

पञ्चमः खण्डः ।

इससे नाड़ी शुद्धि होती है। इसके तरह-तरह के लक्षण दिखाई देते हैं। शरीर में लाघव आ जाता है, जठर का अग्नि प्रदीप्त हो जाता है और भीतर से नाद सुनाई देता है। यह भी नाड़ी शुद्धि होने का सूचक चिह्न है। जहाँ तक ये चिह्न दिखाई पड़ें, वहाँ तक पूर्वोक्त प्रकार से करना चाहिए। बाद में (नाड़ीशुद्धि के बाद) इन सब कार्यों को छोड़कर आत्मा की सिद्धि करनी चाहिए। यद्यपि यों तो आत्मा सदा शुद्ध और नित्य है ही, मुखरूप एवं स्वप्रकाशित भी है ही, तथापि अज्ञान से वह मलिन दिखाई दे रहा है एवं ज्ञान से शुद्ध होता है। जो मनुष्य अज्ञानरूपी कीचड़ को ज्ञानरूपी जल से धो डालता है, वही सर्वदा शुद्ध होता है। इसके सिवा और कर्मपरायण मनुष्य शुद्ध नहीं हो सकता।

यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❈

षष्ठः खण्डः

प्राणायामक्रमं वक्ष्ये सांकृते शृणु सादरम् ।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ॥1॥
वर्णत्रयात्मकाः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः ।
स एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामस्तु तन्मयः ॥2॥

अब हे सांकृति ! मैं प्राणायाम का क्रम कह रहा हूँ। तुम यह आदरपूर्वक सुनो। पूरक, कुंभक और रेचक इस तरह से प्राणायाम तीन प्रकार का होता है। इन तीनों प्रकारों में हर एक के तीन-तीन अक्षर हैं। इसलिए इस प्राणायाम को प्रणवरूप (ओंकाररूप) ही कहा गया है और वह प्रणवमय ही है।

इडया वायुमाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम् ।
शनैः षोडशभिर्मात्रैरकारं तत्र संस्मरेत् ॥3॥
पूरितं धारयेत्पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ।
उकारमूर्तिमात्रापि संस्मरन्प्रणवं जपेत् ॥4॥
यावद्वा शक्यते तावद्धारयेज्जपतत्परः ।
पूरितं रेचयेत्पश्चान्मकारेणानिलं बुधः ॥5॥
शनैः पिङ्गलया तत्र द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।
प्राणायामो भवेदेवं ततश्चैवं समभ्यसेत् ॥6॥

इडा नाड़ी द्वारा बाहर के वायु को भीतर खींचकर उदर में भरकर धीरे-धीरे सोलह मात्राओं तक उसमें 'अ'कार का स्मरण करना चाहिए। बाद में भरे हुए उस वायु को चौसठ मात्रा तक रोके रखना

चाहिए और तब तक 'उ'का स्मरण करते रहना चाहिए एवं प्रणव का जप करते रहना चाहिए। जहाँ तक शक्ति हो, उतने प्रमाण में वायु को रोके रखना चाहिए और जपपरायण बने रहना चाहिए। फिर बाद में उस साधक को उस भरे हुए वायु को 'म'कार जप के द्वारा बाहर निकालना चाहिए। उस समय बत्तीस मात्रा के समय तक 'मकार' का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार प्राणायाम होता है और इस प्रकार इसका अभ्यास करना चाहिए।

पुनः पिङ्गलयापूर्य मात्रैः षोडशभिस्तथा।
अकारमूर्तिमत्रापि स्मरेदेकाग्रमानसः ॥7॥
धारयेत्पूरितं विद्वान्प्रणवं सञ्जपन्वशी।
उकारमूर्तिं स ध्यायंश्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥8॥
मकारं तु स्मरन्पश्चाद्रेचयेदिडयानिलम्।
एवमेव पुनः कुर्यादिडयापूर्य बुद्धिमान् ॥9॥
एवं समभ्यसेन्नित्यं प्राणायामं मुनीश्वर।
एवमभ्यासतो नित्यं षण्मासाद्यत्नवान्भवेत् ॥10॥

बाद में फिर पिंगला से वायु भरकर सोलह मात्रा के समय तक उसमें अकार का स्मरण (ध्यान) करके चिन्तन करना चाहिए। बाद में विद्वान् जितेन्द्रिय मनुष्य को उस भरे हुए वायु को चौसठ मात्रा के समय तक 'उकार मूर्ति' का ध्यान करते हुए रोके रखना चाहिए तथा प्रणव का जाप करना चाहिए। फिर 'मकार' का स्मरण करते-करते (चिन्तन करते-करते) इडा नाड़ी के द्वारा बाहर निकालना चाहिए। इसी प्रकार बुद्धिमान साधक को फिर से वायु को खींच-भर कर अभ्यास करना चाहिए। हे मुनीश्वर ! इस प्रकार नित्य प्राणायाम का अभ्यास करते रहकर छः महीनों में पूरा ज्ञान सम्पन्न हो जाता है। (अथवा छः महीनों तक यत्न करना चाहिए।)

वत्सराद्ब्रह्मविद्वान्स्यात्तस्मान्नित्यं समभ्यसेत्।
योगाभ्यासरतो नित्यं स्वधर्मनिरतश्च यः ॥11॥
प्राणसंयमनेनैव ज्ञानान्मुक्तो भविष्यति।
बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ॥12॥
सम्पूर्णकुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत्।
बहिर्विरेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः ॥13॥

और एक वर्ष तक प्रयत्न (अभ्यास) करने पर तो वह विद्वान् मनुष्य ब्रह्मवेत्ता हो जाता है। इसलिए नित्य अभ्यास करना चाहिए। जो मनुष्य योगाभ्यास में ही रमण करता है और नित्य स्वधर्म-परायण रहता है, वह प्राणायाम द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। बाहर से वायु को खींचकर पेट में भरने को 'पूरक' कहा जाता है। फिर उस भरे हुए वायु को वहाँ रोके रखना 'कुंभक' कहलाता है, और फिर उस रोके हुए वायु को बाहर निकालना 'रेचक' कहा जाता है।

प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः।
कम्पनं मध्यमं विद्यादुत्थानं चोत्तमं विदुः ॥14॥
पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्थानसम्भवः।
सम्भवत्युत्तमे प्राज्ञः प्राणायामे सुखी भवेत् ॥15॥

पसीना पैदा करने वाला प्राणायाम अधम कहा जाता है, कम्पन उत्पन्न करने वाला मध्यम कहा जाता है और जिसमें उत्थान होता है, वह उत्तम है। जहाँ तक उत्थान हो, वहाँ तक पूर्व-पूर्व का प्राणायाम करना चाहिए। बाद में उत्तम प्राणायाम सिद्ध होने पर साधक ज्ञानी और सुखी होता है।

प्राणायामेन चित्तं तु शुद्धं भवति सुव्रत।
चित्ते शुद्धे शुचिः साक्षात्प्रत्यग्ज्योतिर्व्यवस्थितः ॥16॥
प्राणश्चित्तेन संयुक्तः परमात्मनि तिष्ठति।
प्राणायामपरस्यास्य पुरुषस्य महात्मनः ॥17॥
देहश्चोत्तिष्ठते तेन किञ्चिज्ज्ञानाद्विमुक्तता।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ॥18॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात्।
मनोजवत्वमाप्नोति पलितादि च नश्यति ॥19॥
प्राणायामैकनिष्ठस्य न किञ्चिदपि दुर्लभम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥20॥

हे सुव्रत ! प्राणायाम से चित्त शुद्ध होता है। चित्त शुद्ध होने से पवित्र बना हुआ मनुष्य तो साक्षात् (प्रत्यक्) ज्योतिःस्वरूप होकर अवस्थिति करता है। जो महापुरुष प्राणायाम में तत्पर रहता है, उस पुरुष के प्राण चित्त के साथ परमात्मा में ही रहते हैं। उत्तम प्राणायाम से देह कुछ उत्थान करता है (अपने आप ऊपर उठता है) और फिर ज्ञान होने पर मुक्तता प्राप्त होती है। इसलिए क्रमशः रेचक और पूरक का त्याग करके नित्य कुंभक का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम का अभ्यास करके मनुष्य सभी पापों से मुक्त होकर उत्तम ज्ञान प्राप्त करता है। वह मन जैसे वेग को प्राप्त करता है, उसके पलित केश आदि नाश होते हैं। केवल एक प्राणायाम में ही परायण (तल्लीन) रहने वाले के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। इसलिए सभी प्रयत्नों से प्राणायाम का ही अभ्यास करते रहना चाहिए।

विनियोगान्प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य सुव्रत।
सन्ध्ययोर्ब्राह्मकालेऽपि मध्याह्ने वाथवा सदा ॥21॥
बाह्यं प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरेण च।
नासाग्रे नाभिमध्ये च पादाङ्गुष्ठे च धारयेत् ॥22॥
सर्वरोगविनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं नरः।
नासाग्रधारणाद्वापि जितो भवति सुव्रत ॥23॥
सर्वरोगनिवृत्तिः स्यान्नाभिमध्ये तु धारणात्।
शरीरलघुता विप्र पादाङ्गुष्ठनिरोधनात् ॥24॥

हे सुव्रत ! अब मैं प्राणायाम का विनियोग बता रहा हूँ। दोनों सध्याकाल में और ब्रह्मकाल में (पौ फटते समय) अथवा मध्याह्नकाल में सदैव बाहर के वायु को भीतर खींचकर, पेट में भरकर, नासिका के अग्रभाग में और नाभि के मध्यभाग में तथा अँगूठे के अग्रभाग में उसे रोककर रखना चाहिए। नासिका के अग्रभाग में वायु को रोकने से मनुष्य सभी रोगों से मुक्त होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है, एवं उससे वायु भी जीता जा सकता है। हे ब्राह्मण ! वायु को नाभि में रोकने से सभी रोग दूर होते हैं और अँगूठे में रोकने से शरीर में लाघव आता है।

जिह्वया वायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः ।
श्रमदाहविनिर्मुक्तो योगी नीरोगतामियात् ॥25॥
जिह्वया वायुमाकृष्य जिह्वामूले निरोधयेत् ।
पिबेदमृतमव्यग्रं सकलं सुखमाप्नुयात् ॥26॥
इडया वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत् ।
यः पिबेदमृतं शुद्धं व्याधिभिर्मुच्यते हि सः ॥27॥
इडया वेदतत्त्वज्ञस्तथा पिङ्गलयैव च ।
नाभौ निरोधयेत्तेन व्याधिभिर्मुच्यते नरः ॥28॥

जो मनुष्य (योगी) वायु को जीभ से खींचकर हमेशा पिया करता है, वह श्रम और दाह से मुक्ति पाकर नीरोगी होता है। और जो मनुष्य जीभ से वायु को खींचकर जीभ के मूल में रोकता है, वह अमृत ही पीता है और अव्यग्र रहकर सभी सुखों को प्राप्त करता है। जो मनुष्य इडा से वायु को खींचकर दो भ्रमरों के बीच उसे रोकता है, वह शुद्ध अमृत पीता है और रोगों से मुक्त होता है। इडा से वायु खींचने वाला वेदतत्त्वज्ञ होता है और पिंगला से वायु को खींचकर जो मनुष्य नाभि में उसे रोकता है, वह मनुष्य रोगों से मुक्त हो जाता है।

मासमात्रं त्रिसन्ध्यायां जिह्वयारोप्य मारुतम् ।
अमृतं च पिबेन्नाभौ मन्दं मन्दं निरोधयेत् ॥29॥
वातजाः पित्तजा दोषा नश्यन्त्येव न संशयः ।
नासाभ्यां वायुमाकृष्य नेत्रद्वन्द्वे निरोधयेत् ॥30॥
नेत्ररोगा विनश्यन्ति तथा श्रोत्रनिरोधनात् ।
तथा वायुं समारोप्य धारयेच्छिरसि स्थितम् ॥31॥
शिरोरोगा विनश्यन्ति सत्यमुक्तं हि सांकृते ।
स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा ॥32॥

एक महीने तक तीनों सन्ध्याकाल में जीभ से वायु को खींचकर जो अमृतपान करता है और धीरे-धीरे वायु को रोकता है उसके वायुदोष और पित्तदोष अवश्य नष्ट हो जाते हैं, उसमें कोई सन्देह नहीं है। और जो मनुष्य दोनों नाक से वायु को खींचकर दोनों नेत्रों में उसे रोकता है, उसके नेत्ररोग नष्ट होते हैं तथा उसे कान में ले जाकर अथवा और भी अधिक ऊपर ले जाकर मस्तक में ले जाने से मस्तक के रोगों का नाश होता है। हे सांकृति ! यह मैंने ठीक ही कहा है। और भी स्वस्तिकासन में बैठकर मन को एकाग्र करके—

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन शनैः शनैः ।
हस्ताभ्यां धारयेत्सम्यक्कर्णादिकरणानि च ॥33॥
अङ्गुष्ठाभ्यां मुने श्रोत्रे तर्जनीभ्यां तु चक्षुषी ।
नासापुटावधानाभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै ॥34॥
आनन्दाविर्भवो यावत्तावन्मूर्धनि धारणात् ।
प्राणः प्रयात्यनेनैव ब्रह्मरन्ध्रं महामुने ॥35॥

प्रणवमंत्र के जापपूर्वक अपानवायु को ऊपर ले जाकर धीरे-धीरे दोनों हाथों द्वारा कान आदि इन्द्रियों में ठीक तौर से रोकना चाहिए। हे मुनि ! दोनों अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से

दोनों नेत्रों को तथा दोनों अनामिकाओं के द्वारा दोनों नासिकाओं को बन्द करके, जहाँ तक आनन्द का आविर्भाव हो, वहाँ तक मस्तक में प्राणवायु को धारण करना चाहिए। हे महामुनि ! इसी मार्ग से प्राण ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचता है।

ब्रह्मरन्ध्रं गते वायौ नादश्चोत्पद्यतेऽनघ।
शङ्खध्वनिनिभश्चादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा ॥36॥
शिरोमध्यगते वायौ गिरिप्रस्त्रवणं यथा।
पश्चात्प्रीतो महाप्राज्ञः साक्षादात्मोन्मुखो भवेत् ॥37॥
पुनस्तज्ज्ञाननिष्पत्तिर्योगात्संसारनिह्नुतिः।
दक्षिणोत्तरगुल्फेन सीवनीं पीडयेत्स्थिरम् ॥38॥
सव्येतरेण गुल्फेन पीडयेद्बुद्धिमान्नरः।
जान्वोरधः स्थितां सन्धिं स्मृत्वा देवं त्रियम्बकम् ॥39॥

हे निर्दोष ! वायु जब ब्रह्मरन्ध्र में जाता है, तब नाद उत्पन्न होता है। वह नाद पहले शंख की आवाज जैसा होता है, मध्य में मेघ की ध्वनि जैसा है, और जब वह वायु ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाता है तब पर्वत के झरने जैसा सुनाई पड़ता है। इस नाद के बाद महाबुद्धिमान योगी प्रसन्न होकर साक्षात् आत्मा का अनुभव करता है। और भी उस योग से ज्ञान की सिद्धि होती है एवं संसार निवृत्त हो (रुक) जाता है। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह दाहिनी एड़ी से सीवनी को दृढ़तापूर्वक दबा रखे और फिर बाँयीं एड़ी से भी उसे दबाकर दोनों घुटनों के नीचे की सन्धि में भगवान् त्र्यंबक की भावना करनी चाहिए।

विनायकं च संस्मृत्य तथा वागीश्वरीं पुनः।
लिङ्गनालात्समाकृष्य वायुमप्यग्रतो मुने ॥40॥
प्रणवेन नियुक्तेन बिन्दुयुक्तेन बुद्धिमान्।
मूलाधारस्य विप्रेन्द्र मध्ये तं तु निरोधयेत् ॥41॥
निरुध्य वायुना दीप्तो वह्निरूहति कुण्डलीम्।
पुनः सुषुम्नया वायुर्वह्निना सह गच्छति ॥42॥

बाद में विनायक का और वागीश्वरी का (गणेश और सरस्वती का) स्मरण करके लिंग के नाल द्वारा वायु को खींचकर आगे लाना चाहिए। बाद में हे विप्रवर ! बिन्दुयुक्त प्रणवमंत्र का ध्यान करके बुद्धिमान पुरुष को उस वायु को मूलाधार के मध्य में रोकना चाहिए। इस प्रकार से रोके जाने से उस वायु के द्वारा अग्नि प्रदीप्त हो जाता है और बाद में उस अग्नि के साथ वायु सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ऊर्ध्वगति करता है।

एवमभ्यासतस्तस्य जितो वायुर्भवेद्भृशम्।
प्रस्वेदः प्रथमः पश्चात्कम्पनं मुनिपुङ्गव ॥43॥
उत्थानं च शरीरस्य चिह्नमेतज्जितेऽनिले।
एवमभ्यासतस्तस्य मूलरोगो विनश्यति ॥44॥

इस प्रकार अभ्यास करने से उस योगी का वायु एकदम जीता जा सकता है। हे मुनिवर ! इस अभ्यास में पहले तो पसीना होता है। बाद में कम्पन होता है और उसके बाद शरीर ऊपर उठ जाता है। वायु के जीते जाने का यह चिह्न है। इस प्रकार अभ्यास करने से रोग नष्ट हो जाते हैं।

भगन्दरं च नष्टं स्यात्सर्वरोगाश्च सांकृते ।
पातकानि विनश्यन्ति क्षुद्राणि च महान्ति च ॥45॥
नष्टे पापे विशुद्धं स्याच्चित्तदर्पणमद्भुतम् ।
पुनर्ब्रह्मादिभोगेभ्यो वैराग्यं जायते हृदि ॥46॥

और भी हे सांकृति ! इससे भगंदर का भी नाश होता है, यही नहीं, छोटे-मोटे अनेक पापों का भी नाश हो जाता है। पापों के नाश हो जाने से चित्तरूपी अद्भुत दर्पण भी विशुद्ध हो जाता है और हृदय में ब्रह्मा (ब्रह्मलोक) आदि के भोगों के प्रति वैराग्य हो जाता है।

विरक्तस्य तु संसाराज्ज्ञानं कैवल्यसाधनम् ।
तेन पापापहानिः स्याज्ज्ञात्वा देवं सदाशिवम् ॥47॥
ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत् ।
स सर्वकार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति ॥48॥
ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विलक्षणम् ।
अर्थस्वरूपमज्ञानात्पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ॥49॥
आत्मस्वरूपविज्ञानादज्ञानस्य परिक्षयः ।
क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः ॥50॥
रागाद्यसम्भवे प्राज्ञ पुण्यपापविमर्दनम् ।
तयोर्नाशे शरीरेण न पुनः संप्रयुज्यते ॥51॥

इति षष्ठः खण्डः ।

इस प्रकार जो मनुष्य संसार से विरक्त हो गया होता है, उसे कैवल्य का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। और इस प्रकार सदाशिव का ज्ञान होने के बाद उसके पापों की हानि हो जाती है। जिस मनुष्य ने एक बाद भी ज्ञानामृत का रस चख लिया हो, वह अन्य सभी कार्यों को छोड़कर उसी के पीछे दौड़ता है। यह जगत् विलक्षण हो जाए (जगत् का रूप ही मिट जाए) उसे ही ज्ञान का स्वरूप कहा जाता है। परन्तु जो लोग अज्ञान से निन्द्य दृष्टिवाले होते हैं, वे तो जगत् को अलग दृष्टि से (वस्तु के रूप में) ही देखते हैं। हे बुद्धिमान ! आत्मस्वरूप का ज्ञान होने से अज्ञान का नाश होता है। और अज्ञान के नाश से रागादि का नाश हो जाता है। और रागादि का असंभव हो जाने से पुण्य-पाप दोनों नष्ट हो जाते हैं। और उनका नाश हो जाने से यह आत्मा फिर से शरीर के साथ संयुक्त नहीं होता है।

यहाँ छठा खण्ड समाप्त हुआ।

❋

सप्तमः खण्डः

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारं महामुने ।
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ॥1॥
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ।
यत्पश्यति तु तत्सर्वं ब्रह्म पश्यन्समाहितः ॥2॥
प्रत्याहारो भवेदेष ब्रह्मविद्भिः पुरोदितः ।
यद्यच्छुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम् ॥3॥

तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते ।
अथवा नित्यकर्माणि ब्रह्माराधनबुद्धितः ॥4॥
काम्यानि च तथा कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते ।
अथवा वायुमाकृष्य स्थानात्स्थानं निरोधयेत् ॥5॥

हे मुनि ! अब मैं प्रत्याहार को कह रहा हूँ । इन्द्रियाँ स्वभाव से ही विषयों में घूमा करती हैं । उन्हें बलात् विषयों से खींच लेना ही प्रत्याहार कहलाता है । मनुष्य स्वयं जिस-जिसको देखता रहता है, वह सब ब्रह्म ही है, ऐसा सावधानी से यदि देखता रहे, तो उसे भी पूर्वकालीन ब्रह्मवेत्ताओं ने 'प्रत्याहार' कहा है । अथवा मरणकालपर्यन्त स्वयं जो शुद्ध या अशुद्ध कर्म करता है, वह सब कर्मसमूह यदि वह ब्रह्म के लिए ही करता है, तो उसे भी 'प्रत्याहार' कहा जाता है । अथवा ब्रह्म का आराधन करने की बुद्धि से ही वह यदि नित्य कर्म और काम्य कर्म करता है, तो वह भी 'प्रत्याहार' कहा जाता है । अथवा वायु को एक स्थान से खींचकर अन्य स्थान में रोककर रखा जाए जैसे—

दन्तमूलात्तथा कण्ठे कण्ठादुरसि मारुतम् ।
उरोदेशात्समाकृष्य नाभिदेशे निरोधयेत् ॥6॥
नाभिदेशात्समाकृष्य कुण्डल्यां तु निरोधयेत् ।
कुण्डलीदेशतो विद्वान्मूलाधारे निरोधयेत् ॥7॥
अथापानात्कटिद्वन्द्वे तथोरौ च सुमध्यमे ।
तस्माज्जानुद्वये जङ्घे पादाङ्गुष्ठे निरोधयेत् ॥8॥
प्रत्याहारोऽयमुक्तस्तु प्रत्याहारस्मरैः पुरा ।
एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ॥9॥
सर्वपापानि नश्यन्ति भवरोगश्च सुव्रत ।
नासाभ्यां वायुमाकृष्य निश्चलः स्वस्तिकासनः ॥10॥

—दाँत के मूल से वायु को खींचकर कण्ठ में, कण्ठ में से छाती में, छाती के प्रदेश से खींचकर नाभिप्रदेश में रोका जाए । फिर नाभिप्रदेश से खींचकर कुण्डलिनी में रोका जाए, फिर कुण्डलिनी प्रदेश से खींचकर मूलाधार में रोका जाए, फिर गुदास्थान में से खींचकर दोनों ओर की कमरों में, दोनों उरुओं में और मध्यप्रदेश में रोका जाए, फिर आगे दोनों घुटनों में, जाँघों में तथा पैरों के अँगूठों में भी रोका जाए तो उस वायुनिरोध को भी प्रत्याहार कहा जाता है । प्रत्याहार को जानने वाले महात्मा लोगों का यह अभिप्राय है । इस प्रकार के प्रत्याहार का अभ्यास करते हुए महात्मा के सभी पाप तथा संसाररूपी रोग नष्ट हो जाते हैं। हे सुव्रत ! स्वस्तिकासन पर निश्चल बैठकर विद्वान् पुरुष को पहले दोनों नासिकाओं के द्वारा वायु को भीतर खींचना चाहिए ।

पूरयेदनिलं विद्वानापादतलमस्तकम् ।
पश्चात्पादद्वये तद्वन्मूलाधारे तथैव च ॥11॥
नाभिकन्दे च हृन्मध्ये कण्ठमूले च तालुके ।
भ्रुवोर्मध्ये ललाटे च तथा मूर्धनि धारयेत् ॥12॥
देहे स्वात्ममतिं विद्वान्समाकृष्य समाहितः ।
आत्मनात्मनि निर्द्वन्द्वे निर्विकल्पे निरोधयेत् ॥13॥

प्रत्याहारः समाख्यातः साक्षाद्वेदान्तवेदिभिः ।
एवमभ्यसतस्तस्य न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥14॥

इति सप्तमः खण्डः ।

इस प्रकार वायु को खींचकर उसे पैरों के तलों से लेकर मस्तक तक भरना चाहिए। फिर उसे दोनों पैरों में, मूलाधार में, नाभिकन्द में, हृदय के बीच में, कण्ठ के मूल में, तालुस्थान में, दो भौंहों के बीच के स्थान में, ललाट में और मस्तक में रोकना चाहिए। फिर विद्वान् मनुष्य को समाधिनिष्ठ होकर देह के ऊपर रखी हुई आत्मबुद्धि को खींचकर उसे अन्त:करण द्वारा द्वन्द्वरहित निर्विकल्प आत्मा में रोक देना चाहिए। वेदान्त जानने वाले इसे ही साक्षात् प्रत्याहार कहते हैं। इसका अभ्यास करने वाले के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❊

अष्टमः खण्डः

अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुव्रत ।
देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत् ॥1॥
प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे ।
तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने ॥2॥
हयवरलकाराख्यं मन्त्रमुच्चारयेत्क्रमात् ।
धारणैषा परा प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी ॥3॥

हे सुव्रत ! अब मैं पाँच धारणाएँ बता रहा हूँ। देह के मध्य में जो आकाश अवस्थित है, उसमें बाहर के आकाश की भावना करनी चाहिए। और हे मुनि ! उसी तरह प्राण में बाहर के वायु की, पेट की अग्नि में बाहर के अग्नि की, भीतर के पानी के अंशों में बाहर के पानी की तथा पृथ्वी के अंशों में पृथ्वी की धारणा करनी चाहिए। उस सयम ह, य, व, र, ल ऐसे मंत्ररूप अक्षरों का क्रमशः उच्चारण करते जाना चाहिए। इस धारणा को श्रेष्ठ कहा गया है। और वह सर्व पापों की शुद्धि करने वाली है।

जान्वन्तं पृथिवी ह्यंशो ह्यपां पाय्वन्तमुच्यते ।
हृदयांशस्तथाग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः ॥4॥
आकाशांशस्तथा प्राज्ञ मूर्धांशः परिकीर्तितः ।
ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा ॥5॥
अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके ।
आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत्तु सदाशिवम् ॥6॥

घुटने तक का भाग पृथ्वी का अंश है। गुदा तक का भाग जल का अंश है। हृदय तक का भाग अग्नि का अंश है। भ्रकुटि तक का भाग वायु का अंश है, एवं मस्तक का भाग आकाश का अंश है। हे सुज्ञ ! उनमें से पृथ्वी के भाग में ब्रह्म की, जल के भाग में विष्णु की, अग्नि के भाग में महेश्वर की, वायु के भाग में ईश्वर की और आकाश के भाग में सदाशिव की धारणा करनी चाहिए।

अथवा तव वक्ष्यामि धारणां मुनिपुङ्गव ।
पुरुषे सर्वशास्तारं बोधानन्दमयं शिवम् ॥7॥
धारयेद्बुद्धिमान्नित्यं सर्वपापविशुद्धये ।
ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे ॥8॥
सर्वकारणमव्यक्तमनिरूप्यमचेतनम् ।
साक्षादात्मनि सम्पूर्णे धारयेत्प्रणवेन तु ।
इन्द्रियाणि समाहृत्य मनसात्मनि योजयेत् ॥9॥

इत्यष्टमः खण्डः ।

अथवा हे मुनिवर ! मैं एक और धारणा बताता हूँ। बुद्धिमान मनुष्य को सर्व पापों की शुद्धि के लिए ज्ञानस्वरूप और आनन्दमय सदाशिव की पुरुष में (जीवात्मा में) धारणा करनी चाहिए। और भी ब्रह्मा आदि सभी कार्यरूपों का उन-उनके (अपने-अपने) कारण में लय कराकर ॐ इस प्रणवमंत्र के उच्चारणपूर्वक सभी के कारण में जो कि अवर्णनीय, अचेतन प्रकृति का भी कारण रूप है, उसमें—साक्षात् सम्पूर्ण आत्मा में—धारणा करनी चाहिए। और इन्द्रियों को सभी ओर से खींचकर मन के साथ लगा देना चाहिए।

यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

नवमः खण्डः

अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानं संसारनाशनम् ।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म सर्वसंसारभेषजम् ॥1॥
उर्ध्वरेतं विश्वरूपं विरूपाक्षं महेश्वरम् ।
सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम् ॥2॥

अब मैं संसार का नाश करने वाले ध्यान के बारे में कह रहा हूँ। ऋत (मानसिक सत्य) और सत्य (वाचिक सत्यरूप) ब्रह्म ही सर्व संसार का औषध है। इसलिए उन ऊर्ध्वरेतस् और विश्वस्वरूप तथा योगेश्वरों के भी ईश्वर ऐसे विरूपाक्ष का ध्यान 'मैं वही हूँ'—इस विभावना से करना चाहिए।

अथवा सत्यमीशानं ज्ञानमानन्दमद्वयम् ।
अत्यर्थमचलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥3॥
तथा स्थूलमनाकाशमसंस्पृश्यमचाक्षुषम् ।
न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनूपमम् ॥4॥
आत्मानं सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुव्रत ।
अहमस्मीत्यभिध्यायेद्ध्येयातीतं विमुक्तये ॥5॥
एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ।
क्रमाद्वेदान्तविज्ञानं विजायेत न संशयः ॥6॥

इति नवमः खण्डः ।

अथवा सत्य, ईश्वर, ज्ञानस्वरूप, आनन्दमय, अद्वैतरूप, परात्पर (सर्वातीत), अचल, नित्य, आदि-मध्य-अन्तरहित, स्थूलतारहित, आकाशरहित, अस्पर्श्य, अदृश्य (अचाक्षुष) रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अप्रमेय, अनुपम, सच्चिदानन्द आत्मा को 'मैं वही हूँ'—इस प्रकार से उस ध्येय से परे का ध्यान मुक्ति के लिए करना चाहिए। इस प्रकार से अभ्यास में लगे हुए महात्मा को वेदान्त का ज्ञान प्राप्त हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यहाँ नवम खण्ड पूरा हुआ।

❋

दशमः खण्डः

अथातः संप्रवक्ष्यामि समाधिं भवनाशनम्।
समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ॥1॥
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।
एकः सम्भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः ॥2॥

अब संसार का नाश करने वाली समाधि बता रहा हूँ। जीव और परमात्मा की एकता का ज्ञान होना ही 'समाधि' है। जैसे नित्य, सर्वव्यापक, कूटस्थ और निष्कलंक आत्मा एक ही है। वह केवल माया की वजह से ही अलग-अलग होता है, वास्तविक स्वरूप में तो ऐसी भिन्नता है ही नहीं (पारमार्थिक एक ही चैतन्य की सत्ता है)।

तस्मादद्वैतमेवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः।
यथाकाशो घटाकाशो मठाकाश इतीरितः ॥3॥
तथा भ्रान्तैर्द्विधा प्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना।
नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि मनो नहि ॥4॥
सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः।
इति धीर्या मुनिश्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते ॥5॥

इसलिए सब अद्वैत ही है, प्रपंच है ही नहीं, और संसार भी नहीं है। जिस प्रकार एक ही आकाश घटाकाश और मठाकाश भी कहा जाता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा को भ्रमप्राप्त लोगों ने जीव और ईश्वर इस तरह दो भिन्न रूपों में कहा है। 'मैं देह नहीं हूँ, प्राण भी नहीं हूँ, इन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ और मन भी नहीं हूँ। किन्तु सदा साक्षीरूप होने से सदाशिव ही हूँ'—ऐसी जो बुद्धि होती है, उसे ही हे मुनिवर ! समाधि कहा जाता है।

सोऽहं ब्रह्म न संसारी न मत्तोऽन्यः कदाचन।
यथा फेनतरङ्गादि समुद्रादुत्थितं पुनः ॥6॥
समुद्रे लीयते तद्वज्जगन्मय्यनुलीयते।
तस्मान्मनः पृथङ् नास्ति जगन्माया च नास्ति हि ॥7॥
यस्यैवं परमात्मायं प्रत्यग्भूतः प्रकाशितः।
स तु याति च पुंभावं स्वयं साक्षात्परामृतम् ॥8॥

और भी—'वह ब्रह्म मैं ही हूँ, मैं संसारी नहीं हूँ, किसी भी काल में मुझसे भिन्न कुछ है ही नहीं, जैसे समुद्र से उत्पन्न हुए फेन, तरंगादि समुद्र में ही लय हो जाते हैं, वैसे ही मुझसे ही उत्पन्न हुआ यह

जगत् मुझमें ही लय हो जाता है। मुझसे अलग न तो मन है, न जगत् है या न तो माया ही है'— इस तरह से प्रत्यक् स्वरूप परमात्मा जिसको प्रकाशित हो गया है, वह स्वयं ही साक्षात् अमृतस्वरूप परमपुरुष के भाव को प्राप्त हो जाता है।

यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा।
योगिनोऽव्यवधानेन तदा सम्पद्यते स्वयम् ॥9॥
यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥10॥
यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति।
एकीभूतः परेणाऽसौ तदा भवति केवलः ॥11॥
यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः।
मायामात्रं जगत्कृत्स्नं तदा भवति निर्वृतिः ॥12॥
एवमुक्त्वा स भगवान्दत्तात्रेयो महामुनिः।
सांकृतिः स्वस्वरूपेण सुखमास्तेऽतिनिर्भयः ॥13॥

इति दशमः खण्डः।

इति जाबालदर्शनोपनिषत्समाप्ता।

जब योगी के मन में परमचैतन्य सर्वव्यापक चेतना अस्खलित रूप से प्रकाशित हो जाती है। तब ही वह स्वयं तद्रूप (चैतन्यरूप) हो जाता है। जिस समय सभी भूतों को वह अपनी आत्मा में ही देखने लगता है, और सभी भूतों (प्राणियों) को आत्मा से भिन्न नहीं देखता है, तब वह मनुष्य ब्रह्म ही बन जाता है। समाधि में रहा हुआ मनुष्य जब सभी प्राणियों को देखता नहीं है और वह जब परमात्मा के साथ ही एकीभूत होता है तब वह केवल परमेश्वर ही बना हुआ होता है। जिस समय मनुष्य केवल आत्मा को ही पारमार्थिक सत्ता के रूप में देखता है, और इस सारे जगत् को केवल माया के रूप में ही देखता है, तब उसका निर्वाण (मोक्ष) हो जाता है। इस प्रकार कहकर भगवान् दत्तात्रेय मौन हो गए और महामुनि सांकृति आत्मस्वरूप में अवस्थित होकर अतिनिर्भय होकर सुखपूर्वक रहने लगे।

यहाँ दसवाँ खण्ड पूरा हुआ।

इस प्रकार जाबालदर्शनोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि......ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(40) ध्यानबिन्दूपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है। इसमें ध्यान केन्द्रविषय है। ब्रह्म के ध्यानयोग की महिमा बताकर पहले ब्रह्म का सूक्ष्मत्व और सर्वव्यापकत्व बताया है। बाद में प्रणव का स्वरूप, उसके ध्यान की विधि, प्राणायाम और अन्य प्रकार से प्रणवध्यान, ब्रह्मध्यान, त्रिमूर्तिध्यान और उसका फल बताया गया है। तदुपरान्त षडंगयोग, आसनचतुष्टय, योनिस्थान, मूलाधारादि चक्र, नाड़ीचक्र, प्राणादि दशावयव आदि कई विषय समाविष्ट हैं। यौगिक क्रियाओं के द्वारा योगी प्राण को अलग-अलग चक्रों में से क्रमशः सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा ऊपर चढ़ाता है, और योग की अलग-अलग अन्यान्य क्रियाओं के द्वारा योगी को तरह-तरह की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, और अन्त में उस योगी को ब्रह्म का अनुभव होता है। इस उपनिषद् में योग की अनेकानेक क्रियाओं का भी सविस्तार वर्णन किया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन॥1॥

यदि पर्वत जैसा (विशालतम) पाप हो और जो योजनों तक फैला हुआ हो, तो भी ध्यानयोग के द्वारा उसका नाश हो सकता है। ऐसे विशाल पाप के नाश के लिए अन्य कोई उपाय नहीं है।

बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥2॥

बीजाक्षर ॐकार के परे बिन्दु है। उसके ऊपर नाद अवस्थित है। वह ध्वनियुक्त नाद जब अक्षर में क्षीण (लीन) हो जाता है, तब यह निःशब्द परमपद की स्थिति होती है।

अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्।
तत्परं विन्दते यस्तु सयोगी छिन्नसंशयः॥3॥

जो अनाहत (आघात किए बिना होने वाली) ध्वनि है, उससे पर (उस शब्द का कारणभूत) जो तत्त्व है, उससे भी परे अर्थात् उसका भी जो कारण निर्विशेष ब्रह्म है, उसको जो साधक प्राप्त कर लेता है, उस योगीजन के सभी संशय छिन्न (नष्ट) हो जाते हैं।

वालाग्रशतसाहस्रं तस्य भागस्य भागिनः।
तस्य भागस्य भागार्धं तत्क्षये तु निरञ्जनम्॥4॥

गेहूँ आदि पौधों के डंठल के अग्रभाग को (नोक को) यदि एक लाख हिस्सों में बाँटा जाय (तो उसका वह एकांश सूक्ष्मभाग जीव की सूक्ष्मता होगी) फिर उस एकांश भाग को भी उतने ही भागों में अर्थात् एक लाख भागों में बाँटा जाए (तो उस सूक्ष्मतः भाग की सूक्ष्मता ईश्वर की कही जाएगी), इसके बाद उस सूक्ष्म हिस्से को भी आधे (पचास हजार) भागों में बाँट देने पर जो बाकी रहता है वह भी क्षीण या नष्ट हो जाने पर (अर्थात् साक्ष्य-साक्षी आदि विशेषण के भी नष्ट होने के बाद) जो शेष रहता है, वही सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरंजन (ब्रह्म) की सत्ता है।

पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैलं पाषणेष्विव काञ्चनम् ॥5॥
एवं सर्वाणि भूतानि मणौ सूत्र इवात्मनि ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥6॥

पुष्पों में जिस प्रकार आँखों से दिखाई न पड़ने पर भी गन्ध होती है, दूध में जिस तरह अव्यक्त रूप से घी रहता है, तिल में जैसे अव्यक्त तेल रहता है और पत्थर में जैसे छिपकर सोना रहता है, ठीक उसी प्रकार सभी प्राणियों में आत्मा का अस्तित्व रहता ही है। जो स्थिर बुद्धिवाला, मोहरहित और ब्रह्मज्ञानी होता है वह मणियों में पिरोये हुए सूत्र की तरह ही सर्वत्र उस अव्यक्त आत्मा को अपने में ही जानकर ब्रह्म में ही अवस्थित रहता है।

तिलानां तु यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवाश्रितः ।
पुरुषस्य शरीरे तु सबाह्यभ्यन्तरे स्थितः ॥7॥

जिस प्रकार तिल में तेल बाहर-भीतर (सब जगह पर) व्याप्त होकर रहता है, और पुष्प में भी गन्ध जिस तरह समग्रतया समव्याप्त रहती है, उसी प्रकार पुरुष के शरीर में आत्मा बाहर और भीतर (सर्वत्र) समव्याप्त होकर रहता है।

वृक्षं तु सकलं विद्याच्छाया तस्यैव निष्कला ।
सकले निष्कले भावे सर्वत्रात्मा व्यवस्थितः ॥8॥

ईश्वर-साक्षी आदि कलाओं से युक्त को वृक्षरूप जानना चाहिए और उस कलासहित चैतन्य की छाया में कोई कला नहीं है – वह एक-सी है। यह जो चैतन्य - शुद्ध चिद्रूप है, वह तो उस कलासहित चैतन्य रूप वृक्ष में और उसकी छाया रूप निष्कल (एक) माया में—दोनों में ही सर्वत्र समभाव से व्यवस्थित रहता है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वमुमुक्षुभिः ।
पृथिव्यग्निश्च ऋग्वेदो भूरित्येव पितामहः ॥9॥
अकारे तु लयं प्राप्ते प्रथमे प्रणवांशके ।
अन्तरिक्षं यजुर्वायुर्भुवो विष्णुर्जनार्दनः ॥10॥
उकारे तु लयं प्राप्ते द्वितीये प्रणवांशके ।
द्यौः सूर्यः सामवेदश्च स्वरित्येव महेश्वरः ॥11॥
मकारे तु लयं प्राप्ते तृतीये प्रणवांशके ।
अकारः पीतवर्णः स्याद्रजोगुण उदीरितः ॥12॥
उकारः सात्त्विकः शुक्लो मकारः कृष्णतामसः ।
अष्टांगं च चतुष्पादं त्रिस्थानं पञ्चदैवतम् ॥13॥

'ओंकार'रूपी एकाक्षर ब्रह्म सभी मुमुक्षुओं का ध्येय रहा है। उस प्रणव के पहले **'अ'** अंश में पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, भूर्लोक और पितामह ब्रह्मा का लय होता है। ओंकार का दूसरा अंश **'उ'** है। इस अंश में अन्तरिक्ष, यजुर्वेद, वायु, भुवर्लोक और जनार्दन विष्णु का लय हो जाता है। ओंकार का तीसरा अंश **'म'** है, इसमें द्यौः, सूर्य, सामवेद, स्वर्लोक और महेश्वर का लय होता है। ऊपर के इन तीनों अंशों में 'अकार' पीले वर्ण वाला है और रजोगुण से युक्त है। 'उकार' श्वेतवर्णवाला है और सत्त्वगुण से युक्त है और 'मकार' कृष्णवर्ण वाला और तमोगुणयुक्त है। यह ओंकार आठ अंगों वाला, चार पैरों वाला, तीन आँखों वाला तथा पाँच देवताओं वाला है। (ओंकार के **आठ** अंग—अकार, उकार, मकार, नाद, बिन्दु, कला, कलातीत तथा कालातीतातीत हैं। ओंकार के **चार** पैर—विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय **अथवा** विराट्, सूत्र, बीज और तुरीय हैं। ओंकार के **तीन** स्थान—सत्त्व-रजस्-तमस् या जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति **या** स्थूल-सूक्ष्म-कारण, **या** ज्ञान-इच्छा-क्रियाशक्ति, **या** भूत-भविष्यत्-वर्तमान काल माने जा सकते हैं। ओंकार के **पाँच** देवता—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव हैं।

ओंकारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः।
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ॥14॥
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।
निवर्तन्ते क्रियाः सर्वास्तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥15॥

जो ओंकार को नहीं जानता, वह ब्राह्मण ही नहीं हो सकता। प्रणव (ओंकार) धनुष रूप है और आत्मा बाणरूप है और लक्ष्य ब्रह्म है। साधक को प्रमादरहित होकर उस ब्रह्मरूप लक्ष्य को आत्मारूपी बाण का प्रणव में सन्धान करके तन्मय होकर बींध देना चाहिए। ऐसा होने पर वह जब परात्पर ब्रह्मतत्त्व से सायुज्य प्राप्त कर लेगा, तब उसके लिए कोई कर्तव्य बाकी नहीं रहेगा।

ओंकारप्रभवा देवा ओंकारप्रभवाः स्वराः।
ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥16॥

सभी देव ओंकार से ही उत्पन्न हुए हैं। सभी स्वर भी ओंकार से उत्पन्न हुए हैं। यह सारा जगत् ओंकार से ही उत्पन्न हुआ है। ये तीनों (भूः, भुवः, स्वः) लोक और यह जड और चेतन सब कुछ ओंकार ही से उत्पन्न हुआ है।

ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः सम्पत्प्रदोऽव्ययः।
अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः ॥17॥

प्रणव का ह्रस्व जप पापों को जला देता है और दीर्घमात्रीय जप अक्षयरूप से संपत्ति प्रदान करने वाला होता है। और अर्ध मात्रा से युक्त प्रणव जप मोक्ष को देने वाला होता है। (यहाँ ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत प्रकार से किए जाने प्रणव जप का फल बताया गया है। अर्ध मात्रा समायुक्त दीर्घ जप ही प्लुतता से किया गया जप है)।

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ॥18॥

तेल की धारा की तरह अविच्छिन्न (अटूट) और विशाल घण्टा की दीर्घ आवाज के समान प्रणव-जाप के आगे अश्राव्य (ध्वनिरहित) आवाज को भी जो सुन लेता है वही वेद को सही जानने वाला है।

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम् ।
अंगुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम् ॥19॥

हृदयरूपी कमल की कर्णिका के मध्य अचल दीप जैसी प्रभा को धारण करने वाले के समान अंगुष्ठमात्र आकार वाले तेजोमय और स्थिर ऐसे ओंकाररूपी ईश्वर का ध्यान करना चाहिए।

इडया वायुमापूर्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
ओंकारं देहमध्यस्थं ध्यायेज्ज्वालावलीयुतम् ॥20॥
ब्रह्मा पूरक इत्युक्तो विष्णुः कुम्भक उच्यते ।
रेचो रुद्र इति प्रोक्तः प्राणायामस्य देवताः ॥21॥

इडा (बायीं नासिका) से वायु को भरकर उदर में स्थापित करना चाहिए और तब देह के मध्यभाग में स्थित ज्योतिर्मय ओंकार का ध्यान करना चाहिए। इस पूरक के ध्येय देवता ब्रह्मा हैं। कुम्भक के ध्येय देवता विष्णु और रेचक के ध्येय देवता रुद्र कहे गए हैं। ये तीन—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र क्रमशः पूरक, कुंभक और रेचक के ध्येय देवता हैं। (परंपरा से हटकर इस मन्त्र में तीन प्राणायाम के देवता बताए गए हैं, यह चिन्तनीय है। परंपरा तो पूरक के विष्णु, कुंभक के ब्रह्मा और रेचक के शिव—इस प्रकार कहती है। इसी उपनिषद् के 29 और 31 मन्त्र में वही परंपरा बताई है)।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥22॥

आत्मा को अरणि बनाकर और प्रणवमन्त्र को ऊपर की अरणिरूप बनाकर ध्यानरूपी मन्थन के बार-बार परिशीलन से अरणि में आग की तरह स्थित निगूढ आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए।

ओंकारध्वनिनादेन वायोः संहरणान्तिकम् ।
यावद्बलं समादध्यात्सम्यङ्नादलयावधि ॥23॥

जहाँ तक नादसहित रेचक वायु का अच्छी तरह से विलय हो जाए, वहाँ तक जितना बल हो उसे लगाकर ओंकार के निनाद के साथ ध्यान करते ही रहना चाहिए।

गमागमस्थं गमनादिशून्यमोंकारमेकं रविकोटिदीप्तम् ।
पश्यन्ति ये सर्वजनान्तरस्थं हंसात्मकं ते विरजा भवन्ति ॥24॥

गमन और आगमन में अनुस्यूत होते हुए भी गमन और आगमन से रहित एवं करोड़ों सूर्यों के-से तेजस्वी, सभी मनुष्यों के अन्तस् में अवस्थित हंसरूप उस ओंकार को जो मनुष्य देख लेते हैं (साक्षात्कार कर लेते हैं) वे निष्पाप हो जाते हैं।

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिप्रलयकर्मकत् ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥25॥
अष्टपत्रं तु हृत्पद्मं द्वात्रिंशत्केसरान्वितम् ।
तस्य मध्ये स्थितो भानुर्भानुमध्यगतः शशी ॥26॥

जो मन इस जगत् का सर्जन, पालन और प्रलय करता है, उस मन का ही तब विलय हो जाता है और वही विष्णु का परमपद है। हृदयरूपी कमल आठ पँखुड़ियों वाला है और उसमें बत्तीस केसर (तन्तु) हैं। उसके बीच सूर्य अवस्थित है और उस सूर्य के मध्य में शशी (चन्द्र) अवस्थित है।

शशिमध्यगतो वह्निर्वह्निमध्यगता प्रभा ।
प्रभामध्यगतं पीठं नानारत्नप्रवेष्टितम् ॥27॥
तस्य मध्यगतं देवं वासुदेवं निरञ्जनम् ।
श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्तामणिविभूषितम् ॥28॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ।
एवं ध्यायेन्महाविष्णुमेवं वा विनयान्वितः ॥29॥
अतसीपुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम् ।
चतुर्भुजं महाविष्णुं पूरकेण विचिन्तयेत् ॥30॥

उस शशी के बीच में वह्नि अवस्थित है, वह्नि के मध्य में तेज है और उस तेज के बीच में तरह-तरह के रत्नों से मढ़ा हुआ एक पीठ है। उस पीठ के ऊपर वासुदेव निरंजन विराजित हैं जो श्रीवत्स का लांछन और कौस्तुभमणि को वक्षस्थल पर धारण किए हुए, मुक्तारत्न से विभूषित हैं, जो शुद्ध स्फटिक के सदृश वर्णवाले एवं करोड़ों चन्द्रों के तेज से युक्त हैं—ऐसे महाविष्णु का विनयपूर्वक ध्यान करना चाहिए। **अथवा** उसी पूरक के समय में—नाभिस्थान में प्रतिष्ठित और अतसी के पुष्प के समान चतुर्भुज भगवान् विष्णु का ध्यान करना चाहिए।

कुम्भकेन हृदि स्थाने चिन्तयेत्कमलासनम् ।
ब्रह्माणं रक्तगौराभं चतुर्वक्त्रं पितामहम् ॥31॥

कुंभक के द्वारा (कुंभक करते समय) हृदयरूपी कमल के आसन पर विराजमान लाल और गौर (गेहुँए) वर्णवाले, चार मुँहवाले पितामह ब्रह्माजी का ध्यान करना चाहिए।

रेचकेन तु विद्यात्मा ललाटस्थं त्रिलोचनम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्फलं पापनाशनम् ॥32॥
अब्जपत्रमधःपुष्पमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
कदलीपुष्पसंकाशं सर्ववेदमयं शिवम् ॥33॥

रेचक के समय (साँस छोड़ने के समय) भाल प्रदेश में शुद्ध स्फटिक के समान तथा श्वेत वर्णवाले एवं तीन नेत्रवाले तथा कलारहित, पापनाशक, भगवान् शिव का ध्यान करना चाहिए। वह शिव ऐसे हृदयरूपी कमल में विराजित हैं, जो नीचे की ओर पद्मपत्रों से युक्त है और पुष्पित है तथा जिसकी नाल ऊपर की ओर बढ़ी हुई है, जो कदली के फूल जैसा कोमल है, जो सर्ववेदों का आधाररूप अतएव सदैव कल्याणकारी है।

शतारं शतपत्राढ्यं विकीर्णाम्बुजकर्णिकम् ।
तत्रार्कचन्द्रवह्नीनामुपर्युपरि चिन्तयेत् ॥34॥

सौ अरेवाले, सौ पत्ते वाले विकसित पँखुड़ियों से युक्त उस हृदयरूपी कमल में शिव का पूर्वोक्त प्रकार से ध्यान करने के बाद क्रमशः (एक के बाद एक) सूर्य, चन्द्र और अग्नि का ध्यान करना चाहिए।

पद्मस्योद्घाटनं कृत्वा बोधचन्द्रादिसूर्यकम् ।
तस्य हृद्बीजमादाय आत्मानं चरते ध्रुवम् ॥35॥

सूर्य-चन्द्र-अग्नि का बोध करने के लिए सर्वप्रथम उस हृदयकमल का प्रणवमन्त्र से उद्घाटन करके (उसे ऊर्ध्वमुख करके) ही चन्द्र-सूर्यादि ज्ञान के लिए ध्यान करना चाहिए। बाद में उस हृदयकमल के अकार नामक बीज को ग्रहण कर अपने आत्मा की उसी रूप में संभावना करने से वह अकारार्थ विष्णु आत्मा में अवश्य संचारित हो जाते हैं।

त्रिस्थानं च त्रिमार्गं च त्रिब्रह्म च त्रयाक्षरम्।
त्रिमात्रमर्धमात्रं वा यस्तं वेद स वेदवित् ॥36॥

(जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप) तीन स्थान, (धूम-अर्चि-अगतिरूप) तीन मार्ग, (विश्व-विराट्-ओतृ-ब्रह्मरूप) तीन ब्रह्म, (अ-उ-म्-रूप) तीन अक्षर, और (ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत) रूप तीन मात्राएँ तथा अर्ध-मात्रा—इन सबमें जो परमात्मा स्थित है, उसको जो जानता है, वही सही रूप में वेदों को जानता है।

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
बिन्दुनादकलातीतं यस्तं वेद स वेदवित् ॥37॥

दीर्घघण्टा की ध्वनि सदृश, तेल की अविच्छिन्न धारा की तरह सातत्ययुक्त तथा बिन्दु, नाद और कला से परे (रहित) ऐसे इस परमतत्त्व ॐकार को जो जानता है, वही सही रूप में वेदों को जानने वाला है।

यथैवोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।
तथैवोत्कर्षयेद्वायुं योगी योगपथे स्थितः ॥38॥

जैसे मनुष्य कमल की नाल से पानी को खींचता है, उसी प्रकार योगमार्ग का अनुसरण करने वाला योगी वायु को धीरे-धीरे ऊर्ध्व को ओर ले जाय।

अर्धमात्रात्मकं कृत्वा कोशभूतं तु पङ्कजम्।
कर्षयेन्नालमात्रेण भ्रुवोर्मध्ये लयं नयेत् ॥39॥

फिर स्थूल-सूक्ष्म-बीजभाव को प्राप्त हुए, दृष्टि-मन-अग्नि से एकीभूत हुए हृदयकमल को अर्धमात्रात्मक बनाकर, नालरूप सुषुम्नामार्ग से दोनों भौंहों के बीच उसका लय कर देना चाहिए। (पहले कोशभूत हृदयकमल को अर्धमात्रात्मक (अव्यक्तोच्चारणात्मक) करके उसकी सहायता से सुषुम्नामार्ग से कुण्डलिनी को भौंहों के बीच स्थित अमृतस्थान में लय करना चाहिए)।

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः।
जानीयादमृतं स्थानं तद्ब्रह्मायतनं महत् ॥40॥

दोनों भौंहों के बीच, भाल प्रदेश में, नासिका के मूल में, वह अमृतस्थान अवस्थित है। वह ब्रह्म का महान् निवास स्थान है, ऐसा जानना चाहिए।

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥41॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये छः योग के अंग होते हैं।

आसनानि तु तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः।
एतेषामतुलान्भेदान् विजानाति महेश्वरः ॥42॥

जीव की जितनी जातियाँ हैं, उतनी ही (असंख्य) आसन की विधियाँ हैं। इन असंख्य भेदों के ज्ञाता तो एक महेश्वर हैं।

सिद्धं भद्रं तथा सिंहं पद्मं चेति चतुष्टयम्।
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥43॥

आसनों में सिद्धासन, भद्रासन, सिंहासन तथा पद्मासन—ये चार मुख्य हैं। (अब नया विषय कहते हैं—) पहला चक्र आधार - मूलाधारचक्र है और दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान कहा जाता है।

योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते।
आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम् ॥44॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता।
योनिमध्ये स्थितं लिङ्गं पश्चिमाभिमुखं तथा ॥45॥

इन मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों के बीच कामरूप प्रजननस्थान कहा जाता है। गुदा स्थान पर आए हुए मूलाधार चक्र में चार पँखुडियों वाला कमल है। उसके बीच कामाख्या नाम की सुविख्यात प्रजननयोनि (कुण्डलिनी शक्ति) है। वह सिद्ध पुरुषों के द्वारा अभ्यर्थित है। उस योनि के बीच पश्चिम की ओर प्रत्यगात्मलिंग है।

मस्तके मणिवद्भिन्नं यो जानाति स योगवित्।
तप्तचामीकराकारं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥46॥
चतुरस्रमुपर्यग्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम्।
स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम् ॥47॥

वह प्रत्यगात्मलिंग उस कामाख्या योनि के मुख पर स्थित है जो वहाँ मणि की तरह स्वप्रकाशित रूप से विद्यमान है। उसे जो जानता है, वह योगवित् माना जाता है। अब जो तपे हुए सोने जैसे आकार (तेज) वाला और बिजली की रेखा की तरह स्फुरित होता हुआ वहाँ विद्यमान है और जो अग्निमण्डल से चार अंगुल ऊपर है तथा मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय) के नीचे है वह मूलाधार चक्र है। और लिंग के मूल में 'स्व' शब्दवाचक जो प्राण है, उसके आश्रयभूत चक्र को (जो छः दलवाला है) 'स्वाधिष्ठान चक्र' कहा जाता है।

स्वाधिष्ठानं ततश्चक्रं मेढ्रमेव निगद्यते।
मणिवत्तन्तुना यत्र वायुना पूरितं वपुः ॥48॥
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्।
द्वादशारमहाचक्रे पुण्यपापनियन्त्रितः ॥49॥

इसीलिए मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय) को ही स्वाधिष्ठान चक्र कहा जाता है। और जहाँ पर मणि में पिरोए गए तन्तु की तरह वायु के द्वारा शरीर अनुस्यूत हुआ है, उस नाभिमण्डल के चक्र को मणिपूरक कहा गया है। वह दश दलवाला होता है। उससे ऊपर जो बारह दलवाला महाचक्र है, वह अनाहतचक्र है। इसमें जीव पुण्य और पाप से विवर्जित होता है। (अब यहाँ कहना चाहिए कि इस द्वादशदलीय अनाहतचक्र के ऊपर षोडशदलीय विशुद्धिचक्र, उससे परे द्विदलीय आज्ञाचक्र तथा उससे परे चन्द्रसूर्य मण्डल तथा उससे भी परे सहस्रारचक्र अवस्थित है, यह जान लेना चाहिए)।

तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्वं न विन्दति ।
ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति खगाण्डवत् ॥50॥
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः ।
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ॥51॥

जीव जब तक आत्मतत्त्व को नहीं पहचान लेता, तब तक संसार में घूमा ही करता है। मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) के ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे के आकार का एक कन्द नामक स्थान है। वहाँ से बहत्तर हजार नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं। उन हजारों नाड़ियों में से बहत्तर नाड़ियाँ मुख्य हैं।

प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ॥52॥
गान्धारी हस्तजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुसा कुहूरत्र शंखिनी दशमी स्मृता ॥53॥

इनमें से भी प्राणों का संचरण करने वाली मुख्य दस नाडियाँ मानी गई हैं। वे हैं—इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू और शंखिनी।

एवं नाडीमयं चक्रं विज्ञेयं योगिना सदा ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥54॥
इडापिङ्गलासुषुम्नास्तिस्रो नाड्यः प्रकीर्तिताः ।
इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ॥55॥
सुषुम्ना मध्यदेशे तु प्राणमार्गास्त्रयः स्मृताः ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानस्तथैव च ॥56॥
नागः कूर्मः कृकरको देवदत्तो धनञ्जयः ।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ॥57॥

योगी को इस प्रकार का नाडीचक्र सदैव जान लेना चाहिए। सतत प्राण का संचरण करने वाली इडा, पिंगला और सुषुम्ना—इन तीन नाडियों के अधिष्ठाता देवता क्रमशः सोम, सूर्य और अग्नि हैं। इन तीन नाडियों में इडा बाँयें भाग पर है और पिंगला दक्षिण भाग में है। सुषुम्ना इन दोनों के बीच में अवस्थित है। इस प्रकार प्राणों के संचार के तीन मार्ग हैं। ये प्राण इस प्रकार हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकरक, देवदत्त और धनंजय है। इनमें प्राण आदि पहले पाँच विख्यात (मुख्य) हैं और नाग आदि अंतिम पाँच गौण हैं।

एते नाडीसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः ।
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं प्रधावति ॥58॥

इन हजारों नाड़ियों में प्राण जीवरूप होकर स्थित है। जीव प्राण और अपान का वशवर्ती होकर ऊपर-नीचे आया-जाया करता है अर्थात् दौड़ता रहता है।

वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ।
आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ॥59॥
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तद्वज्जीवो न विश्रमेत् ।
अपानात्कर्षति प्राणोऽपानः प्राणाच्च कर्षति ॥60॥

खगरज्जुवदित्येतद्यो जानाति स योगवित् ।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥61॥
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
शतानि षड्दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ॥62॥
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥63॥

यह प्राण शरीर के दाँये-बाँये गमन करता रहता है, पर चंचल होने से वह दिखाई नहीं देता । जैसे हाथ से उछाली गई गेंद इधर-उधर चलायमान होती है, उसी प्रकार प्राण और अपान के द्वारा अपनी-अपनी ओर खींचा जाने वाला यह जीव कभी आराम नहीं प्राप्त करता, क्योंकि उसे अपान की ओर से प्राण अपनी ओर खींचता है और प्राण की ओर से अपान अपनी ओर हमेशा खींचता ही रहता है, जिस प्रकार रस्सी से बाँधा गया पक्षी खींच लिया जाता है । इस तत्त्व को जो जानता है उसे योगवित् कहा जा सकता है । हमारा प्राण 'ह'कार जैसे उच्चारण से बाहर निकलता है, और 'स'कार जैसे उच्चारण से फिर वह शरीर में प्रवेश करता है । इस प्रकार यह जीव सदैव 'हंस' 'हंस' का मंत्र जपता ही रहता है और ऐसा जप प्रतिदिन इक्कीस हजार छः सौ की संख्या में होता है । ऐसे जाप को अजपा गायत्री कहा जाता है । ऐसा जाप योगियों के लिए सदा मोक्ष देने वाला होता है ।

अस्याः सङ्कल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ॥64॥
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥65॥

इस अजपा गायत्री के संकल्पमात्र से मनुष्य पापों से मुक्त हो जाता है । इसके जैसी कोई विद्या, इसके जैसा कोई जप, इसके जैसा कोई पुण्य, न अभी तक हुआ है, न होगा कि जिस मार्ग पर चलकर निरामय विशुद्ध ब्रह्म को प्राप्त किया जा सके ।

मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ॥66॥
सूचीवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ॥67॥
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥68॥

वह्नियोग के द्वारा जाग्रत् की जाने वाली वह परमेश्वरी (कुण्डलिनी शक्ति) उस द्वारमार्ग को अपने मुँह से आच्छादित कर स्थित है (वह सोई हुई अवस्था में है) । वह जब वह्नियोग से जाग्रत् की जाती है, तब मन और प्राणवायु के साथ सुषुम्ना के मार्ग से ऊर्ध्वगमन करती है और जैसे सुई धागे को अपने साथ ले आती है वैसे ही वह शक्ति भी मन और प्राण को अपने साथ लेकर ही ऊपर बढ़ती है। योगीजन मुक्तिद्वार को कुण्डलिनी शक्ति द्वारा उसी प्रकार खोल देते हैं, जैसे चाभी से ताला खोलकर प्रयत्नपूर्वक दरवाजा खोल दिया जाता है ।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वाऽथ पद्मासनं,
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ।

वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयन्पूरितं,
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥69॥

अच्छी तरह से पद्मासन लगाकर हाथों को संपुटित करके छाती पर चिबुक (ठोड़ी) को मजबूती से रखकर चित्त में स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। ध्यान करते समय बार-बार नीचे की अपानवायु को ऊपर की ओर लाना चाहिए तथा पूरित वायु को बाहर छोड़ते रहना चाहिए। इस प्रकार करने वाला योगी उस कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव से अतुलनीय बोध प्राप्त कर सकता है।

पद्मासनस्थितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयन्।
मारुतं कुम्भयन्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥70॥

पद्मासन में स्थित योगीजन नाड़ियों के द्वारों से प्राण वायु को भीतर लाते हुए पूरक प्राणायाम करता है, फिर वह उस वायु को कुंभक प्राणायाम से रोकता है, वह निःसन्देह मुक्त हो जाता है।

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमजातेन वारिणा।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी ॥71॥
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥72॥

इस प्राणायाम के परिश्रम से उत्पन्न हुए प्रस्वेद-बिन्दुओं से ही अपने शरीर को मलकर और तीखे, खट्टे एवं नमकीन पदार्थों को छोड़कर, केवल दूध के पान से ही जीने वाला, सुखी, ब्रह्मचारी, मिताहार करने वाला योगपरायण योगीजन एक वर्ष के भीतर ही सिद्धि प्राप्त करता है, इसमें कुछ विचारने की बात नहीं है।

कन्दोर्ध्वकुण्डलीशक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ॥73॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।
पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ॥74॥
अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते।
उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः ॥75॥
उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥76॥

कन्द-प्रदेश से ऊपर के भाग में जिसकी कुण्डलिनी शक्ति स्थित है, वह योगी सिद्धि के योग्य है। अर्थात् जिसकी नाडीकन्द के ऊर्ध्व भाग में (सुषुम्ना में) कुण्डलिनी शक्ति हो, वह योगी योगसिद्धि का पात्र बनता है। सतत मूलबन्ध का अभ्यास करने से अपान और प्राण का एकीभाव हो जाता है। मल-मूत्र का क्षय हो जाने से बूढ़ा भी जवान हो जाता है। एड़ी से योनि को दबाकर गुदा को संकुचित करना चाहिए और अपानवायु को ऊपर खींचना चाहिए—इस क्रिया को मूलबन्ध कहा गया है। 'उड्डियाणबन्ध' की विधि में कहा गया है कि जिस प्रकार कोई बड़ा पक्षी बिना थकान के ही उड़ने की क्रिया करता है उसी प्रकार पेट को पीछे की ओर वेग से खींचने (सिकोड़ने) की 'ताण' क्रिया करने के साथ नाभि को ऊपर की ओर खींचना चाहिए (इसको 'उड्डियाणबन्ध' कहा जाता है)।

उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ।
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम् ॥77॥
ततो जालन्धरो बन्धः कर्मदुःखौघनाशनः ।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ॥78॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥79॥
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥80॥

यह पूर्वोक्त 'उड्डियाणबन्ध' मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंह जैसा नाशक होता है । और अन्य एक जो बन्ध है, शिरो(नभो)जात अर्थात् सहस्रारुपी आकाश में विद्यमान तथा नीचे जाने वाले सर्वरोगहर कफ-जल को बाँध देता है (सुखा देता है), उसे 'जालन्धरबन्ध' कहा जाता है । इस बन्ध से कर्मबन्ध और पापजन्य दुःखों का नाश होता है । जालन्धरबन्ध करते समय कण्ठ को सिकोड़ा जाता है, जिससे वायु की गति रुक जाती है और अमृत के अग्नि में गिरने की संभावना नहीं रहती । अब इसके बाद 'खेचरी' मुद्रा' कहते हैं—जीभ को उल्टा कर कपाल के कुहर में प्रविष्ट किया जाता है और अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच स्थिर किया जाता है । इस खेचरी मुद्रा के स्थिर हो जाने से निद्रा एवं भूख-प्यास नहीं सताती है और किसी पीड़ा (रोग) तथा मृत्यु का भी भय नहीं होता ।

न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥81॥
बध्यते न च कालेन यस्य मुद्रास्ति खेचरी ।
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा भवति खे गता ॥82॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धनमस्कृता ।
खेचर्या मुद्रया यस्य विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ॥83॥
बिन्दुः क्षरति नो यस्य कामिन्यालिङ्गितस्य च ।
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ॥84॥

इस खेचरी मुद्रा को जो जानता है, वह कभी मूर्च्छित नहीं होता । रोगों से वह पीड़ित नहीं होता है, कर्म से वह लिप्त नहीं होता । जिसको खेचरी मुद्रा सिद्ध है, उसे काल बाँध नहीं सकता । लम्बे अरसे तक उसका चित्त आकाश में विहार कर सकता है, क्योंकि उसकी जीभ अन्तरिक्षगामिनी हो जाती है । इसीलिए तो यह खेचरी मुद्रा सिद्धों के लिए भी वन्दनीय है । इस खेचरी मुद्रा के द्वारा जिसने लम्बिका (अन्तर्जिह्वा) से भी आगे के विवर (तालु) को अवरुद्ध कर दिया है, ऐसे मनुष्य का कामिनी के आलिंगन करने पर भी वीर्यबिन्दु स्खलित नहीं होता और जब तक शरीर में वीर्य रहता है तब तक मृत्यु का भय भी कहाँ से हो सकता है ?

यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ।
गलितोऽपि यथा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डले ॥85॥
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ।
स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ॥86॥
पाण्डरं शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ।
विद्रुमद्रुमसङ्काशं योनिस्थाने स्थितं रजः ॥87॥

शशिस्थाने वसेद्बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ।
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ॥88॥

यह नभोमुद्रा (खेचरी) जहाँ तक बद्ध (चालू) रहती है, वहाँ तक तो वीर्य - बिन्दु का स्खलन नहीं होता, तथापि यदि कहीं वह वीर्य - बिन्दु गिर जाए और योनि में चला जाए, तो हठपूर्वक (बलात्) उसे योनिमण्डल से पुनः शक्ति द्वारा ऊपर खींच लिया जाता है। यह वीर्य - बिन्दु दो प्रकार का होता है—एक पाण्डर (सफेद) रंग का और दूसरा लाल रंग का। पाण्डर (सफेद) वर्ण वाले को 'शुक्र' और लाल रंगवाले को 'महारज' कहा जाता है। मूँगे के सदृश रंगवाला रज योगी के योनिस्थान में रहता है, और शुक्ल (पाण्डर) वर्णवाला वीर्य योगी के चन्द्रस्थान में रहता है। उन दोनों का ऐक्य होना बड़ा दुष्कर है। जो शुक्ल बिन्दु है वह शिव है और जो रज है वह शक्ति है। वीर्य ही चन्द्र है, रज ही सूर्य है।

उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं वपुः ।
वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं खे यथा रजः ॥89॥
रविणैकत्वमायाति भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ।
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम् ॥90॥
द्वयोः समरसीभावं यो जानाति स योगवित् ।

आकाश में शक्ति द्वारा संचालित वायु से प्रेरित रज जिस तरह सूर्य से संयुक्त होकर दिव्य स्वरूप (तेजस्वी रूप) धारण करता है उसी तरह इन दोनों के संयोग से परम देह की प्राप्ति होती है। रवि (रज) के साथ वीर्यबिन्दु का एकत्व होने से तब दिव्य शरीर प्राप्त हो जाता है। पूर्व कथनानुसार शुक्ल वीर्य चन्द्र के साथ संयुक्त है और रज सूर्य के साथ युक्त है—इन दोनों की समरसता के भाव को जो जानता है, वही सही रूप में योगवित् कहा जाता है।

शोधनं मलजालानां घटनं चन्द्रसूर्ययोः ॥91॥
रसानां शोषणं सम्यङ् महामुद्राभिधीयते ॥92॥
वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्च वामाङ्घ्रिणा,
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रविततं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचये-
देषा पातकनाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥93॥

'महामुद्रा' उसे कहा गया है कि जो मल के जालों का शोधन करती हो, जो चन्द्र और सूर्य का मेल करती हो, जो वात, पित्त और कफ का अच्छी तरह से शोषण करती हो। महामुद्रा की विधि इस प्रकार है—वक्षःस्थल को ठोड़ी से दबाकर तथा बाँयी एड़ी से योनि-स्थल को दबाकर, दोनों हाथों से फैलाए गए दाहिने पैर को पकड़कर, और दोनों कोखों को वायु से भरकर कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे साँस को बाहर निकालना चाहिए। योगियों ने इसे 'पातकनाशिनी महामुद्रा' नाम दिया है।

अथात्मनिर्णयं व्याख्यास्ये—हृदि स्थाने अष्टदलपद्मं वर्तते। तन्मध्ये रेखावलयं कृत्वा जीवात्मरूपं ज्योतीरूपमणुमात्रं वर्तते। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं भवति सर्वं जानाति सर्वं करोति सर्वमेतच्चरितमहं कर्ताऽहं भोक्ता सुखी दुःखी काणः खञ्जो बधिरो मूकः कृश स्थूलोऽनेन प्रकारेण स्वतन्त्रवादेन वर्तते ॥ (93-1)॥

अब आत्मा के सम्बन्ध में विवेचन करता हूँ—हृदय प्रदेश में आठ पँखुड़ियों वाला कमल है। इसके मध्य में रेखावलय बनाकर ज्योतिरूप जीवात्मा अणुमात्र स्वरूप से निवास करता है। वह सर्वज्ञाता, सर्वकर्ता है, सब-कुछ उसी में प्रतिष्ठित रहता है। वह ऐसा सोचता है कि इन सभी चरित्रों में मैं ही कर्ता, मैं ही भोक्ता, सुखी, दु:खी, काना, बहरा, लँगड़ा, गूँगा, पतला, मोटा हूँ। इस प्रकार वह स्वतंत्र व्यवहार करते हुए रहता है।

पूर्वदले विश्रमते पूर्वं दलं श्वेतवर्णं तदा भक्तिपुरःसरं धर्मे मतिर्भवति ॥ (93-2)॥ यदाऽऽग्नेयदले विश्रमते तदाऽऽग्नेयदलं रक्तवर्णं तदा निद्रालस्यमतिर्भवति ॥ (93-3)॥ यदा दक्षिणदले विश्रमते तद्दक्षिणदलं कृष्णवर्णं तदा द्वेषकोपमतिर्भवति ॥ (93-4)॥ यदा नैर्ऋतदले विश्रमते तन्नैर्ऋतदलं नीलवर्णं तदा पापकर्महिंसामतिर्भवति ॥ (93-5)॥

उस अष्टदल कमल के पूर्व दिशा के दल में, जो दल श्वेतवर्ण है, जब वह रहता है, तब भक्तिपूर्वक धर्म में मति होती है। जब आग्नेय दिशा के रक्तवर्ण वाले दल में रहता है, तब निद्रा और आलस्य की वृत्ति होती है। जब दक्षिण दिशा के काले रंग वाले दल में रहता है, तब द्वेष और क्रोध की मति होती है। जब नैर्ऋत्य दिशा के नीलवर्ण वाले दल में रहता है, तब पापकर्म और हिंसा की वृत्ति उभर आती है।

यदा पश्चिमदले विश्रमते तत्पश्चिमदलं स्फटिवर्णं तदा क्रीडाविनोदे मतिर्भवति ॥ (93-6)॥ यदा वायव्यदले विश्रमते वायव्यदलं माणिक्यवर्णं तदा गमनचलनवैराग्यमतिर्भवति ॥ (93-7)॥ यदोत्तरदले विश्रमते तदुत्तरदलं पीतवर्णं तदा सुखशृङ्गारमतिर्भवति ॥ (93-8)॥ यदेशानदले विश्रमते तदीशानदलं वैडूर्यवर्णं तदा दानादिकृपामतिर्भवति ॥ (93-9)॥

जब वह स्फटिक वर्ण वाले पश्चिम दिशा के दल में निवास करता है, तब खेल (आनन्द) करने की रुचि उत्पन्न होती है। जब वह माणिक्य के से वर्ण वाले वायव्य दिशा के दल में निवास करता है, तब घूमने-फिरने तथा वैराग्य की वृत्ति होती है। जब वह पीले वर्ण वाले उत्तर दिशा के दल में निवास करता है, तब सुख और शृंगार की अभिलाषा होती है और जब वह वैडूर्य मणि जैसे वर्णवाले ईशान दिशा के दल में निवास करता है, तब दान देने और दया करने की ओर मन का झुकाव होता है।

यदा सन्धिसन्धिषु मतिर्भवति तदा वातपित्तश्लेष्ममहाव्याधिप्रकोपो भवति ॥ (93-10)॥ यदा मध्ये तिष्ठति तदा सर्वं जानाति गायति नृत्यति पठत्यानन्दं करोति ॥ (93-11)॥

जब उसकी मति जोड़ों के सन्धिभाग में रहती है, तब वात-पित्त-कफ की महाव्याधि होती है और जब वह मति मध्य में रहती है, तब इस अवस्था में मनुष्य सब जानता है, गाता है, नाचता है, पढ़ता है और आनन्द करता है।

यदा नेत्रश्रमो भवति श्रमनिर्भरणार्थं प्रथमरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते। प्रथमरेखाबन्धूकपुष्पवर्णं तथा निद्रावस्था भवति। निद्रावस्थामध्ये स्वप्नावस्था भवति। स्वप्नावस्थामध्ये दृष्टं श्रुतमनुमानसम्भववार्ता इत्यादिकल्पनां करोति तदादिश्रमो भवति ॥ (93-12)॥

जब आँख थक जाती है तो थकान दूर करने के लिए पहली रेखा का आश्रय करके वह उसके बीच निमज्जन करती है और तब निद्रावस्था होती है। वह प्रथम रेखा बन्धूक के पुष्प जैसे वर्ण वाली होती है। निद्रावस्था के बीच स्वप्नावस्था होती है। स्वप्नावस्था में देखी गई, सुनी गई, अनुमान की गई, संभावित कथा आदि की कल्पना होती है। इस कल्पना से भी परिश्रम (थकान) उत्पन्न होती है।

श्रमनिर्हरणार्थं द्वितीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते। द्वितीयरेखा इन्द्रकोपवर्णं तदा सुषुप्तावस्था भवति। सुषुप्तौ केवलपरमेश्वरसम्बन्धिनी बुद्धिर्भवति। नित्यबोधस्वरूपा भवति। पश्चात् परमेश्वरस्वरूपेण प्राप्तिर्भवति ॥(93-13)॥

तब उस थकान को दूर करने के लिए द्वितीय रेखा का वलय करके उसमें निमज्जन करता है। वह द्वितीय रेखा बहूटी के वर्ण की है। तब सुषुप्तावस्था होती है। सुषुप्तावस्था में केवल परमेश्वर सम्बन्धी ही बुद्धि होती है। वह नित्यबोधस्वरूप होती है। बाद में ही परमेश्वर की प्राप्ति होती है।

तृतीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते। तृतीयरेखा पद्मरागवर्णं तदा तुरीयावस्था भवति। तुरीये केवलपरमात्मसम्बन्धिनी मतिर्भवति। नित्यबोधस्वरूपा भवति। तदा शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतयात्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥(93-14)॥

जब तृतीय रेखा का वलय करके उसके बीच वह निमज्जन करता है, तब तुरीयावस्था प्राप्त होती है। वह तृतीय रेखा पद्मराग जैसे वर्णवाली है। उस तुरीयावस्था में केवल परमात्मा सम्बन्धी वृत्ति होती है। वह नित्यबोधस्वरूप है, तब धीरे-धीरे धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को आत्मा में अवस्थित करके शान्त हो जाना चाहिए और किसी अन्य विषय का विचार नहीं करना चाहिए।

तदा प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा सर्वं विश्वमात्मस्वरूपेण लक्ष्यं धारयति। यदा तुरीयातीतावस्था तदा सर्वेषामानन्दरूपो भवति द्वन्द्वातीतो भवति। यावद्देहधारणा वर्तते तावत्तिष्ठति। पश्चात् परमात्मस्वरूपेण प्राप्तिर्भवति। इत्यनेन प्रकारेण मोक्षो भवतीदमेवात्मदर्शनोपाया भवन्ति ॥(93-15)॥

तब प्राण और अपान का एकीकरण करके अखिल विश्व को आत्मस्वरूप मानकर ऐसे ही आत्मस्वरूप को लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करे। और जब तुरीयातीत अवस्था प्राप्त होती है, तब सब कुछ आनन्दस्वरूप ही होने लगता है, और वह द्वन्द्वातीत हो जाता है। जहाँ तक जीव में देहधारणा रहती है, वहीं तक वह देह में रहता है। बाद में तो उसे परमात्मतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। इसी मार्ग से मोक्ष होता है। ये ही सब आत्मदर्शन के उपाय हैं।

चतुष्पथसमायुक्तमहाद्वारगवायुना।
सहस्थितत्रिकोणार्धगमने दृश्यतेऽच्युतः ॥94॥

चारों मार्ग से संयुक्त ऐसे महाद्वार की ओर जाने वाले वायु के साथ स्थिर होने पर अर्धत्रिकोण में जाकर परमात्मा के दर्शन किए जा सकते हैं।

पूर्वोक्तत्रिकोणस्थानादुपरि पृथिव्यादिपञ्चवर्णकं ध्येयम्।
प्राणादिपञ्चवायुश्च बीजं वर्णं च स्थानकम्।

यकारं प्राणबीजं च नीलजीमूतसन्निभम् ।
रकारमग्निबीजं च अपानादित्यसन्निभम् ॥95॥

पूर्वोक्त त्रिकोणस्थान के ऊपर पृथिवी आदि पाँच वर्ण वाले तत्त्व ध्यान करने योग्य हैं । बीज, वर्ण और स्थान सहित पाँच प्राणादि वायु भी उसी के साथ ध्यान करने योग्य हैं । नीले बादलों के समान कान्ति वाला 'य'कार प्राण का बीज है और 'र'कार आदित्य के वर्णवाले अग्निरूप अपान का बीज है ।

लकारं पृथिवीरूपं ध्यानं बन्धूकसन्निभम् ।
वकारं जीवबीजं च उदानं शंखवर्णकम् ॥96॥
हकारं वियत्स्वरूपं च समानं स्फटिकप्रभम् ।
हृन्नाभिनासाकर्णं च पादाङ्गुष्ठादिसंस्थितम् ॥97॥
द्विसप्ततिसहस्त्राणि नाडीमार्गेषु वर्तते ।
अष्टाविंशतिकोटिषु रोमकूपेषु संस्थिताः ॥98॥
समानप्राण एकस्तु जीवः स एक एव हि ।
रेचकादित्रयं कुर्याद् दृढचित्तः समाहितः ॥99॥
शनैः समस्तमाकृष्य हृत्सरोरुहकोटरे ।
प्राणापानौ च बद्ध्वा तु प्रणवेन समुच्चरेत् ॥100॥

बन्धूकपुष्प के वर्णवाला 'ल'कार पृथ्वीरूप ध्यान का बीज है । और शंखवर्णी 'व'कार जीवरूप उदान का बीज है । स्फटिक जैसी कान्तिवाला 'ह'कार आकाशरूप समान का बीज है । इस समान प्राण के स्थान हृदय, नाभि, नासिका, कान तथा पैर हैं । और यह समान प्राण बहत्तर हजार नाडियों में तथा शरीर के अट्ठाइस हजार रोमकूपों में विद्यमान होता है । समान और प्राण अलग-अलग नहीं हैं, अपितु एक ही हैं । दोनों एकस्वरूप (जीवस्वरूप) ही हैं । साधक चित्त को दृढ़ता से समाहित करके पूरक-रेचक-कुंभक—तीनों प्राणायाम करे । हृदयरूपी कमल की गुहा में धीरे-धीरे सबको खींचकर प्राणवायु और अपानवायु को रोकते हुए प्रणव का – ॐकार का उच्चारण करना चाहिए ।

कण्ठसंकोचनं कृत्वा लिङ्गसंकोचनं तथा ।
मूलाधारात्सुषुम्ना च पद्मतन्तुनिभा शुभा ॥101॥
अमूर्तो वर्तते नादो वीणादण्डसमुत्थितः ।
शङ्खनादादिभिश्चैव मध्यमेव ध्वनिर्यथा ॥102॥

कण्ठ का संकोच करके लिंग का भी संकोच करना चाहिए (अर्थात् बन्धत्रय करना चाहिए) । तत्पश्चात् मूलाधार से शुरू होती हुई एक पद्म के तन्तु जैसी सूक्ष्म मंगलकारी सुषुम्ना नाम की जो नाडी है, उसमें से वीणादण्ड के सदृश एक अमूर्त नाद होता है, जैसे कि शंख आदि के द्वारा 'मध्यम' ध्वनि निकल रही हो ।

व्योमरन्ध्रगतो नादो मायूरं नादमेव च ।
कपालकुहरे मध्ये चतुर्द्वारस्य मध्यमे ॥103॥
तदात्मा राजते तत्र यथा व्योम्नि दिवाकरः ।
कोदण्डद्वयमध्ये तु ब्रह्मरन्ध्रेषु शक्ति च ॥104॥
स्वात्मानं पुरुषं पश्येन्मनस्तत्र लयं गतम् ।

रत्नानि ज्योत्स्निनादं तु बिन्दुमाहेश्वरं पदम् ॥105॥
य एवं वेद पुरुषः स कैवल्यं समश्नुत इत्युपनिषत् ॥106॥

इति ध्यानबिन्दूपनिषत् समाप्ता ।

आकाशरन्ध्र से गमन करने वाला नाद मयूर पक्षी की आवाज के जैसा होता है । कपाल के कुहर के बीच में चार दरवाजों वाले मध्य के भाग में आत्मा विराजमान रहता है । वह आत्मा आकाश में सूर्य की भाँति शोभित है । और ब्रह्मरन्ध्र में दो धनुष के बीच शक्ति विद्यमान है । वहाँ मन को तन्मय करके अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए । वहीं रत्नों से ज्योतिर्मय नादबिन्दु महेश्वर का स्थान है । जो पुरुष इस प्रकार से जानता है, वह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है—इस प्रकार का उपदेश है ।

यहाँ ध्यानबिन्दु उपनिषत् पूरी हुई ।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ...... मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(39) नादबिन्दूपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का सम्बन्ध ऋग्वेद से है। 56 मन्त्रों की इस उपनिषद् में वैराजप्रणव का स्वरूप, वैराजविद्या का फल, प्रणव की मुख्य चार मात्राओं का स्वरूप, व्यष्टि और समष्टि के भेद से प्रणव के द्वादश मात्रा-भेदों का कथन और उपासकों का उस-उस मात्रा के काल के उत्क्रमण का फल, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान का स्वरूप और उसके ज्ञान का फल बताया गया है। तदुपरान्त ज्ञानी के प्रारब्ध कर्मों के भाव और अभाव का विचार किया गया है। तुरीयतुरीय की प्राप्ति के लिए नादानुसन्धान नामक उपाय का निर्देश किया गया है। नाद का मन के नियमन का सामर्थ्य भी बताया गया है। अन्त में उपेयनाद का स्वरूप बतलाकर नादारूढ योगियों के लिए विदेहमुक्ति का लाभ बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि""वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ अकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः।
मकारं पुच्छमित्याहुरर्धमात्रा तु मस्तकम् ॥1॥

ॐकाररूपी पक्षी (हंस) का जो 'अ'कार है, वह दाहिना पंख है, 'उ'कार उत्तर पंख (दायाँ पंख) है और 'म'कार को उसकी पुच्छ माना गया है और जो अर्धमात्रा है, वह मस्तक है।

पादादिकं गुणास्तस्य शरीरं तत्त्वमुच्यते।
धर्मोऽस्य दक्षिणश्चक्षुरधर्मोऽथो परः स्मृतः ॥2॥

गुण उस ॐकार हंस के पाद आदि हैं अर्थात् रजोगुण और तमोगुण उस हंस का क्रमशः दाहिना और बाँया पैर है। और तत्त्व – सत्त्वगुण उसका शरीर है (कुछ लोग 'तत्त्व' शब्द का अर्थ वाराहोपनिषद् में बताये गये छियानवें तत्त्वों से युक्त विशिष्ट अवयववाला शरीर मानते हैं)। इसका दाहिना नेत्र धर्म है और बाँया नेत्र अधर्म कहा गया है।

भूर्लोकः पादयोस्तस्य भुवर्लोकस्तु जानुनि।
सुवर्लोकः कटीदेशे नाभिदेशे महर्जगत् ॥3॥
जनोलोकस्तु हृद्देशे कण्ठे लोकस्तपस्ततः।
भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थितः ॥4॥

इस ॐकाररूप हंस के दोनों पैरों में भूर्लोक (पृथ्वी) आया हुआ है। उसकी जंघाओं में भुवर्लोक (अन्तरिक्षलोक) आया हुआ है, उसके कटि प्रदेश में सुवर्लोक (स्वर्लोक-स्वर्गलोग) अवस्थित है और नाभिप्रदेश में महर्लोक है। हृदय प्रदेश में जनलोक अवस्थित है, उसके कण्ठ में तपोलोक है। दोनों

भौंहों के बीच ललाट में सत्यलोक का स्थान है (इसे वैराजप्रणव कहते हैं और उसका स्वरूप ऊपर के चार मन्त्रों में बताया गया है)।

सहस्त्रार्णमतीवात्र मन्त्र एव प्रदर्शितः ।
एवमेतां समारूढो हंसयोगविचक्षणः ॥5॥
न भिद्यते कर्मचारैः पापकोटिशतैरपि ।
आग्नेयी प्रथमा मात्रा वायव्येषा तथापरा ॥6॥
भानुमण्डलसंकाशा भवेन्मात्रा तथोत्तरा ।
परमा चार्धमात्रा या वारुणीं तां विदुर्बुधाः ॥7॥
कालत्रयेऽपि यस्येमा मात्रा नूनं प्रतिष्ठिताः ।
एष ओंकार आख्यातो धारणाभिर्निबोधत ॥8॥

(वैराजप्रणव का स्वरूप बताकर अब वैराजविद्या का फल बताते हुए कहते हैं कि—) इस प्रकार से सहस्त्र अवयवों से युक्त प्रणवमन्त्र – वैराजप्रणवरूपी हंसपर आरूढ़ होकर अर्थात् ध्यान आदि उपासना में लीन होकर हंसयोगी (हंसयोग में विचक्षण योगी) इस ओंकार की विधि-मनन-चिन्तनादियुक्त उपासना करता हुआ, अपने कर्मों से उत्पन्न हजारों-करोड़ों पापों से भी आहत नहीं होता और मुक्ति को प्राप्त होता है। (इस प्रकार वैराजविद्या का फल बताकर अब प्रणव की मुख्य चार मात्राओं का स्वरूप बताते हैं कि—) प्रणव की 'अ'कार नामक प्रथम मात्रा 'आग्नेयी' कही जाती है, और 'उ'कार नामक द्वितीय मात्रा 'वायव्या' कही गई है। इसके बाद 'म'कार की तीसरी मात्रा सूर्यमण्डल जैसी है। इसके देव सूर्य हैं (प्रथम मात्रा के अग्नि, द्वितीय मात्रा के वायु और तृतीय मात्रा के देव सूर्य हैं) और जो अर्धमात्रा है वह चतुर्थ है और वह 'वारुणी' कही जाती है (क्योंकि इसके देव वरुण हैं)। उपर्युक्त चारों मात्राएँ तीन-तीन काल या तीन-तीन कलारूप हैं। इस प्रकार ओंकार को बारह कलाओं से युक्त कहा गया है। धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा उसे जानने का प्रयत्न करना चाहिए। (कहने का तात्पर्य यह है कि ओंकार की साधना केवल उच्चारण (जप या रटने) से ही पूरी नहीं हो जाती। उसमें ध्यान, धारणा आदि भी आवश्यक हैं)।

घोषिणी प्रथमा मात्रा विद्युन्मात्रा तथापरा ।
पतङ्गिनी तृतीया स्याच्चतुर्था वायुवेगिनी ॥9॥
पञ्चमी नामधेया तु षष्ठी चैन्द्र्यभिधीयते ।
सप्तमी वैष्णवी नाम अष्टमी शांकरीति च ॥10॥
नवमी महती नाम धृतिस्तु दशमी मता ।
एकादशी भवेन्नारी ब्राह्मी तु द्वादशी परा ॥11॥

अब उन द्वादश कलाओं की सूची दी जा रही है—इनमें प्रथम कला (मात्रा) 'घोषिणी' कही जाती है, और दूसरी मात्रा को 'विद्युत्' कहते हैं। तृतीय को 'पतंगिनी' और चतुर्थ मात्रा को 'वायुवेगिनी' कहा जाता है। पंचमी का नाम 'नामधेया' है और षष्ठी मात्रा का नाम 'ऐन्द्री' कहा जाता है। सातवीं मात्रा का नाम 'वैष्णवी' है, और आठवीं मात्रा 'शांकरी' है। नवमीं मात्रा 'महती' नाम की है और दसवीं मात्रा 'द्युति' नाम की कही गई है। ग्यारहवीं मात्रा 'नारी' कही जाती है और बारहवीं मात्रा 'ब्राह्मी' है।

प्रथमायां तु मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते ।
भरते वर्षराजाऽसौ सार्वभौमः प्रजायते ॥12॥
द्वितीयायां समुत्क्रान्तो भवेद्यक्षो महात्मवान् ।
विद्याधरस्तृतीयायां गान्धर्वस्तु चतुर्थिका ॥13॥
पञ्चम्यामथ मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते ।
उषितः सह देवत्वं सोमलोके महीयते ॥14॥
षष्ठ्यामिन्द्रस्य सायुज्यं सप्तम्यां वैष्णवं पदम् ।
अष्टम्यां व्रजते रुद्रं पशूनां च पतिं तथा ॥15॥
नवम्यां तु महर्लोकं दशम्यां तु जनं व्रजेत् ।
एकादश्यां तपोलोकं द्वादश्यां ब्रह्म शाश्वतम् ॥16॥

(अब उपासकों के उस-उस मात्रा (कला) के समय में उत्क्रमण का फल कहा जाता है। साठ घड़ियों में पाँच घड़ियों की एक मात्रा के प्रमाण में कुल बारह मात्राओं की दृष्टि करके उपासना करने वाले के लिए उस-उस काल में उत्क्रमण का फल बताया जाता है—) यदि साधक प्रथम मात्रा में ही अपने शरीर का परित्याग कर देता है तो वह इस भरतखण्ड के चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में आविर्भूत होता है। यदि वह साधक दूसरी कला (मात्रा) में अपने प्राणों का उत्क्रमण करता है, तो वह बड़े महिमामय यक्ष के रूप में उत्पन्न होता है। ॐकार की तृतीय मात्रा (कला) में प्राण का उत्सर्ग करने पर विद्याधर के रूप में जन्म लेता है। यदि वह उपासक ओंकार की चौथी मात्रा में उत्क्रमण करता है तो गन्धर्व बनता है, और यदि पाँचवीं मात्रा में वह अपने प्राणों से वियुक्त होता है, तो उसका निवास देवों के साथ होता है और वह सोमलोक में अत्यन्त आनन्द प्राप्त करता है। छठी मात्रा में उत्क्रान्त होने पर वह इन्द्र का सायुज्य प्राप्त करता है। सातवीं मात्रा में उत्क्रमण करने पर साधक विष्णु के पद को प्राप्त करता है, और आठवीं मात्रा में प्राणों का उत्क्रमण करने वाला साधक रुद्रलोक को प्राप्त होता है। नवमीं मात्रा में प्राणों का परित्याग करने वाला महर्लोक में और दसवीं मात्रा में उत्क्रमण करने वाला साधक जनलोक में जाता है। ग्यारहवीं मात्रा में उत्क्रमण करने वाला तपोलोक को और बारहवीं मात्रा में उत्क्रमण करने वाला साधक शाश्वत ब्रह्म को प्राप्त करता है।

ततः परतरं शुद्धं व्यापकं निर्मलं शिवम् ।
सदोदितं परं ब्रह्म ज्योतिषामुदयो यतः ॥17॥
अतीन्द्रियं गुणातीतं मनो लीनं यदा भवेत् ।
अनूपमं शिवं शान्तं योगयुक्तः(तं) सदा विशेत् ॥18॥
तद्युक्तस्तन्मयो जन्तुः शनैर्मुञ्चेत्कलेवरम् ।
संस्थितो योगचारेण सर्वसङ्गविवर्जितः ॥19॥
ततो विलीनपाशोऽसौ विमलः कमलाप्रभुः ।
तेनैव ब्रह्मभावेन परमानन्दमश्नुते ॥20॥

उस सविशेष ब्रह्म से परे शुद्ध, व्यापक और निर्विशेष परब्रह्म है। वह मंगलकारी सदैव उदीयमान है और उसी से सूर्य-चन्द्रादि अन्य ज्योतियाँ उदित होती हैं। वह इन्द्रियों से अगम्य है, तीनों गुणों से परे है, ऐसे निर्विशेष में जब मन लीन होता है, तब वह साधक अनुपम, कल्याणकारी, शान्त, योगयुक्त हो जाता है। ऐसी उच्च स्थिति में पहुँचे हुए साधकों को योगयुक्त कहना चाहिए। उस

योगयुक्त और तन्मय बने हुए साधक को धीरे-धीरे शरीर छोड़ते हुए योग का परिशीलन करते हुए सभी प्रकार के संग से (आसक्तियों से) छुटकारा पा लेना चाहिए। और बाद में सांसारिक सभी पाशों के छूट जाने से निर्मल होकर वह स्वयं कमलाप्रभु—सभी ऐश्वर्यों का स्वामी बन जाता है और उसी ब्रह्मभाव से परम आनन्द को भोगता है।

आत्मानं सततं ज्ञात्वा कालं नय महामते।
प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ॥21॥

हे महाज्ञानी जन ! आत्मा को निरन्तर जानते (परिशीलन करते) हुए तुम समय बिताते रहो। और अखिल (संपूर्ण) प्रारब्ध कर्मों का फल भोगते हुए मन में किसी प्रकार का उद्वेग मत करो।

उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति।
तत्त्वज्ञातोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ॥22॥
देहादीनामसत्त्वात्तु यथा स्वप्ने विबोधतः।
कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम् ॥23॥

तत्त्वविज्ञान (ब्रह्मज्ञान) प्राप्त हो जाने से प्रारब्ध मनुष्य को छोड़ता नहीं है। (यहाँ प्रारब्ध का अर्थ, जिन कर्मों ने फल देना शुरू कर दिया है ऐसे पूर्वकृत कर्म—यह अर्थ नहीं है। यहाँ 'प्रारब्ध' का अर्थ केवल पूर्वजन्म में किए गए कर्मों का संस्कार—ऐसा ही अर्थ है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान होने पर भी पूर्व संस्कार अमुक समय तक बने ही रहते हैं। परन्तु तत्त्वज्ञान हो जाने के बाद वह प्रारब्ध – वे संस्कार नहीं रहते, जैसे कि स्वप्न से जागकर स्वप्नादि में देखे गए देहादि असत् ही मालूम पड़ते हैं। प्रारब्ध जन्मान्तरीय अर्थात् अन्य जन्मों में किए गए कर्मों को कहा गया है।

यत्तु जन्मान्तराभावात्पुंसो नैवास्ति कर्हिचित्।
स्वप्नदेहो यथाऽध्यस्तस्तथैवायं च देहकः ॥24॥

पूर्व कथनानुसार ज्ञानीजन का तो कर्मजन्य दूसरा जन्म कहीं होता ही नहीं है। और इसीलिए जागने पर जैसे स्वप्न का देह अध्यस्त (क्रम) ही था ऐसा मालूम पड़ता है, ठीक इसी प्रकार ज्ञानावस्था में यह देह की अध्यस्त (भ्रान्त) ही मालूम पड़ता है।

अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे कुतः स्थितिः।
उपादानं प्रपञ्चस्य मृद्भाण्डस्येव पश्यति ॥25॥

जो पदार्थ अध्यस्त (भ्रम – मिथ्या) ही है, भला उसका जन्म कैसे हो सकता है ? और जिसका जन्म नहीं हुआ उसका अस्तित्व भी कैसे हो सकता है ? इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म ही है। ज्ञानी पुरुष घड़े का उपादानकारण जैसे मिट्टी है, वैसे ही जगत् के उपादानकारण ब्रह्म को ही जानता है।

अज्ञानं चेति वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टे क्व विश्वता।
यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात् ॥26॥
तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः।
रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति ॥27॥

वेदान्तों के द्वारा तो यह सब जगत् अज्ञान ही है (ऐसा प्रतिपादित किया गया है)। उस अज्ञान का नाश होने पर यह विश्वत्व (सांसारिक प्रपंच) भला कहाँ है ? जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम होने के बाद उस भ्रम का नाश होने से रज्जु ही दिखाई पड़ती है, साँप तो नहीं दिखाई देता। उसी प्रकार आत्मा को जाने बिना मूढ बुद्धि वाला मनुष्य जगत् देख रहा है, पर रज्जुखण्ड के जानने से सर्परूप नहीं दीखता, उसी प्रकार आत्मज्ञान होने के बाद जगत् नहीं ठहरता।

अधिष्ठाने यथा ज्ञाते प्रपञ्चे शून्यतां गते।
देहस्यापि प्रपञ्चत्वात् प्रारब्धावस्थितिः कुतः ॥28॥

जब जगत् के मूल अधिष्ठान को पहचान लिया गया, तो फिर उसमें अध्यस्त (मिथ्या, भ्रम) प्रपञ्च नष्ट हो जायगा। और जब उस जगत् में आया हुआ यह देह भी अध्यस्त ही हुआ, तब तो प्रारब्ध की स्थिति भी कैसे और कहाँ रह सकती है ? अर्थात् कहीं नहीं रहेगी।

अज्ञानजनबोधार्थं प्रारब्धमिति चोच्यते।
ततः कालवशादेव प्रारब्धे तु क्षयं गते ॥29॥
ब्रह्मप्रणवसन्धानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेऽशुमानिव ॥30॥

प्रारब्धादि सब अध्यस्त (भ्रान्त-मिथ्या) होने पर भी उसकी शास्त्रों में कही गई बात तो मूर्ख मनुष्यों को ज्ञान देने के लिए (अभ्युपगमवाद से) ही कही गई हैं। परन्तु, ज्ञान होने के बाद कुछ काल के कारण से ही जब उन प्रारब्धों का क्षय हो जाता है, तब ब्रह्मरूप प्रणव का आत्मा के साथ अनुसन्धान होता है और तब नादरूप, ज्योतिर्मय, कल्याणकारी स्वयं आत्मा उसी प्रकार आविर्भूत हो जाता है, जिस प्रकार बादलों के हट जाने से सूर्य प्रकाशित हो उठता है।

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥31॥

योगी को सिद्धासन[1] में बैठने के उपरान्त वैष्णवी मुद्रा[2] का अनुसन्धान करना चाहिए। ऐसी अवस्था (सिद्धासन एवं वैष्णवी मुद्रा की स्थिति) में दाहिने कान के भीतर होने वाले अनाहत नाद को सतत सुनना चाहिए।

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिः।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत् ॥32॥

इस प्रकार इस नाद को सुनने का अभ्यास बाहर की ध्वनियों को आवृत कर देता है। इस प्रकार उपासक योगी वह नाद केवल अपने ही पक्ष से – केवल अपनी अनाहतनाद की ही प्रबलता से सब विपक्षरूप बाह्य ध्वनियों को जीतकर (नाश करके) अन्त में तुर्यपद (परमपद) की प्राप्ति करता है अर्थात् इसके परिशीलन से योगी परमपद को प्राप्त करता है।

1. बायें पैर की एड़ी से गुदा को ओर दाहिने पैर से जननेन्द्रिय के मूल को दबाकर शरीर को सीधा रखकर त्रिबन्ध लगाकर बैठना 'सिद्धासन' कहलाता है।
2. अपलक नेत्रों से बाह्य दृष्टि को अन्तर्लक्ष्य करके भ्रूकुटि के मध्य में देखने की क्रिया को 'वैष्णवी मुद्रा' कहते हैं।

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
वर्धमाने तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥33॥

यह पूर्वोक्त अनाहतनाद अभ्यास के आरम्भ में तरह-तरह का और बड़े परिमाण में सुनाई देता है, परन्तु ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होता जाता सुनाई देता है।

आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसम्भवः।
मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा ॥34॥
अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥35॥

शुरू में वह अनाहतनाद सागर, मेघगर्जन, भेरी और झरने से उत्पन्न हुई आवाज जैसा सुनाई पड़ता है। मध्य की अवस्था में वह नाद मृदंग, घण्टा और नगाड़े की आवाज जैसा सुनाई देता है। उत्तरावस्था में वह नाद किंकिणी, वंशी, वीणा और भ्रमर की-सी आवाज में जैसा सुनाई देता है। इस प्रकार तरह-तरह से वे नाद सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते सुनाई देते हैं।

महति श्रूयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ।
तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥36॥

नाद का अभ्यास करते समय जब शुरू में महाभेरी आदि जैसा बड़ा नाद सुनाई दे, तब उससे सन्तोष न करते हुए साधक को उससे सूक्ष्म और सूक्ष्मतर नाद सुनने का ही प्रयास करना चाहिए।

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्म सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥37॥

नादसाधक के लिए यह आवश्यक है कि वह स्थूल नाद को छोड़कर सूक्ष्मनाद में लगे हुए मन को, अथवा ऐसा न बन सके तो सूक्ष्म नाद को छोड़कर स्थूलनाद की ओर लगे हुए अपने मन को स्थिर रखे। नाद से अतिरिक्त किसी अन्य विषय की ओर मन को चलित न करे। उसे नाद में ही रममाण रखे—चाहे वह स्थूल हो चाहे सूक्ष्म।

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ॥38॥

नाद स्थूल हो या सूक्ष्म—जहाँ कहीं भी पहले मन लग जाता है, तो मन को उसी में स्थिर करे और फिर उसी नाद में विलीन हो जाये।

विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः।
एकीभूयाऽथ सहसा चिदाकाशे विलीयते ॥39॥

साधक को चाहिए कि वह बाहर की सभी वस्तुओं को भूल जाए और जैसे दूध में पानी मिल जाता है, वैसे ही अपने मन को नाद के साथ एकीभूत करे। ऐसा करने से मन स्वयं ही चिदाकाश में अपना विलय कर देता है।

उदासीनस्ततो भूत्वा सदाभ्यासेन संयमी।
उन्मनीकारकं सद्यो नादमेवावधारयेत् ॥40॥

साधक को चाहिए कि वह नादातिरिक्त सभी विषयों से उदासीन होकर, मन को संयत कर, सतत नादाभ्यास के द्वारा अमनस्क बनाने वाले नाद को ही दृढ़ता से अवधारित करे।

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः।
नादमेवानुसन्दध्यान्नादे चित्तं विलीयते ॥41॥

और सभी चिन्ताओं को छोड़कर तथा सभी चेष्टाओं से रहित होकर नाद का ही अनुसन्धान करना चाहिए। तब नाद में ही चित्त विलीन हो जाता है।

मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धान्नापेक्षते यथा।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि कांक्षति ॥42॥

जिस प्रकार पुष्परस को पीता हुआ भौंरा फिर अन्यान्य गन्धों की अपेक्षा नहीं करता (केवल एकचित्त होकर मधुपान ही करता रहता है), उसी तरह जब मन नाद में आसक्त हो जाता है, तब वह बाहर के किसी विषय की आकांक्षा नहीं रखता।

बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलः।
नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्गभुजङ्गमः ॥43॥

सुन्दर आवाजरूपी गन्ध से बँधा हुआ साँप जिस तरह अपनी चपलता को एकदम ही छोड़ देता है (और स्थिर-शान्त हो जाता है), ठीक उसी तरह नादग्रहण से मन (चित्तरूपी भीतर का साँप भी) चंचलता को एकदम छोड़कर शान्त हो जाता है (तल्लीन हो जाता है)।

विस्मृत्य विश्वमेकाग्रं कुत्रचिन्न हि धावति।
मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥44॥
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः।
नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ॥45॥
अन्तरङ्गसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा।
ब्रह्मप्रणवसंलग्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः ॥46॥

जब ऐसा होता है, तब वह एकाग्र हुआ मन विश्व (जगत्प्रपंच) को भूलकर और कहीं भी नहीं दौड़ता है। विषयरूपी बगीचे में घूमने वाले मदोन्मत्त हाथी के सदृश मन को नियम में रखने के लिए यह निनाद ही तो तीक्ष्ण अङ्कुश है। यह नाद ही अन्तःकरणरूपी (चंचल) हिरण को पकड़ने के जाल समान है। अथवा तो अन्तस् के (मन के) सागर को रोकने के लिए यह निनाद तीर (किनारे) जैसा है। यह ब्रह्मप्रणव के साथ सम्बद्ध नाद ज्योतिर्मयस्वरूप वाला है।

मनस्तत्र स्वयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।
तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥47॥

उस ज्योतिर्मय स्वरूप में मन स्वयं लीन होता है और वही विष्णु का परमपद है। मन में आकाशतत्त्व का संकल्प तो तभी तक ही रहता है जब तक कि शब्द का प्रवर्तन होता है।

निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीयते।
नादो यावन्मनस्तावन्नादान्ते तु मनोन्मनी ॥48॥

नादानुभव के बाद जब वह मन निःशब्द हो जाता है, तब वह परब्रह्म परमात्मा का अनुभव करने

लगता है। क्योंकि मन भी अपना अस्तित्व वहीं तक रखता है जहाँ तक नाद का अस्तित्व होता है। जब नाद का अन्त हो जाता है तब मन भी अमन (शून्य) बन जाता है।

सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्।
सदा नादानुसन्धानात्संक्षीणा वासना तु या ॥49॥
निरञ्जने विलीयेते मनोवायू न संशयः।

जब सशब्द (शब्दसहित) नाद अक्षर में (ब्रह्म में) क्षीण (लय) हो जाता है, तब वह जो निःशब्द (शब्द-ध्वनिरहित) स्थान है, वही परमपद है, इसमें कोई संशय नहीं है। पहले तो नाद के अनुसन्धान से जो वासना होती है, वह क्षीण होती है और बाद में मन और प्राण उस निरंजन परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

नादकोटिसहस्राणि बिन्दुकोटिशतानि च ॥50॥
सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्मप्रणवनादके।

करोड़ों-करोड़ों नाद एवं करोड़ों-करोड़ों बिन्दु – सभी उस ब्रह्मरूपी प्रणवनाद (निःशब्द नाद) में विलीन हो जाते हैं।

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥51॥
मृतवत् तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः।
शङ्खदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥52॥

वह योगी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तावस्थाओं से विनिर्मुक्त होकर, अन्य किसी भी विचार से रहित होकर मरे हुए आदमी की तरह रहता है। वह मुक्त ही है, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। ऐसा योगी शंख-भेरी-दुन्दुभि आदि लौकिक ध्वनियों को सुनता ही नहीं है।

काष्ठवज्जायते देहः उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्।
न जानाति स शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥53॥

जब ऐसी उन्मनी (मनोरहित) अवस्था हो जाती है, तब निश्चित रूप से यह देह काष्ठवत् हो जाता है। उस समय वह योगी न शीत जानता है, न उष्ण ही जानता है तथा सुख या दुःख का भी अनुभव नहीं करता।

न मानं नावमानं च सन्त्यक्त्वा तु समाधिना।
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा ॥54॥

ऐसे योगी को मान या अपमान कुछ भी अनुभव नहीं होता। अपनी समाधि से सब कुछ त्याग कर रहता है। ऐसे योगी का मन जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं का अनुसरण नहीं करता।

जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्तः स्वरूपावस्थतामियात् ॥55॥
दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं स ब्रह्मतारान्तरनादरूपः ॥56॥

इत्युपनिषत्।

इति नादबिन्दूपनिषत् समाप्ता।

वह योगी जाग्रत् और निद्रा से विनिर्मुक्त होकर अपने स्वरूप की अवस्था को ही प्राप्त होता है। दृश्य पदार्थ के अभाव में भी जिसकी दृष्टि स्थिर रहती है, किसी भी प्रयत्न के बिना जिसका प्राण (श्वासोच्छ्वास) स्थिर रहता है, किसी भी आधार के बिना भी जिसका चित्त स्थिर ही रहता है वह ऐसा योगी ब्रह्मरूप प्रणवनाद के भीतर के नादरूप तुर्यतुर्य वादरूपता से विदेहमुक्त हो जाता है—यह उपदेश है।

यहाँ नादबिन्दु उपनिषद् पूर्ण हुई।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि......वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❈

(79) पाशुपतब्रह्मोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् अथर्ववेदीय है। इसे पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड—ऐसे दो काण्डों में बाँटा गया है। इसमें ऋषि वालखिल्य और ब्रह्माजी के बीच हंसविषयक प्रश्नोत्तर हैं। पूर्वकाण्ड में पहले जगन्नियन्ता के बारे में सात प्रश्न हैं, और उनके उत्तर भी हैं। बाद में सृष्टिरूपी यज्ञ में कर्ता का स्वरूप बताया गया है। नादानुसन्धान यज्ञ, परमात्मा का हंस रूप, यज्ञसूत्र, ब्रह्मसूत्र, प्रणवहंस की यज्ञता, ब्रह्मसन्ध्यादि क्रियारूप मनोयाग, हंस-प्रणवाभेद का अनुसन्धान, छियानबे सूत्र, हंसात्मविद्या का मुक्तिरूपत्व, बाह्य की अपेक्षा आन्तर् योग की श्रेष्ठता, ज्ञानयज्ञरूपी अश्वमेध, तारकहंसज्योति आदि विषय हैं। और उत्तरकाण्ड में अखण्डवृत्ति से ब्रह्मसम्पत्ति, परमात्मा में मायिक जगत्, हंसार्क प्रणव ध्यान की विधि, आत्मातिरिक्त सब कुछ की मायिकता, आत्मा में माया का वस्तुतः अभाव, आत्मज्ञानी की ब्रह्मरूपता, परविद्या का साधन, आत्मज्ञानी का वर्तन, स्थिति, आदि बहुत से विषयों का निर्देश किया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः……देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

पूर्वकाण्डः

अथ ह वै स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजाः सृजानीति कामकामो जायते कामेश्वरो वैश्रवणः ॥1॥

वैश्रवणो ब्रह्मपुत्रो वालखिल्यः स्वयंभुवं परिपृच्छति जगतां का विद्या का देवता जाग्रत्तुरीययोरस्य को देवो यानि कस्य वशानि कालाः कियत्प्रमाणाः कस्याज्ञया रविचन्द्रग्रहादयो भासन्ते कस्य महिमा गगनस्वरूप एतदहं श्रोतुमिच्छामि नान्यो जानाति त्वं ब्रूहि ब्रह्मन् ॥2॥

एक बार स्वयंभू ब्रह्मा के मन में 'मैं सृष्टि का सर्जन करूँ'—ऐसी कामना हुई। तब क्रमशः कामेश्वर (रुद्र) और वैश्रवण दोनों की उत्पत्ति हुई। इसके बाद ब्रह्मा के उस वैश्रवण यानी वालखिल्य नाम के पुत्र ने ब्रह्मा जी से प्रश्न किया कि—''हे भगवन्! इस जगत् की विद्या कौन-सी है ? इसका देवता कौन है ? जाग्रत् और तुरीय का देव कौन है ? यह जगत् किसके वश में है ? काल के क्या और कितने प्रमाण हैं ? ये सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदि किसकी आज्ञा से प्रकाशित हो रहे हैं ? किसकी

महिमा आकाश के समान विस्तृत (व्यापक) है ? यह सब मैं जानना चाहता हूँ। आपके सिवा और कोई यह जानता नहीं है, इसलिए आप ही मुझे यह बताइए।''

स्वयंभूरुवाच कृत्स्नजगतां मातृका विद्या ॥3॥
द्वित्रिवर्णसहिता द्विवर्णमाता त्रिवर्णसहिता ।
चतुर्मात्रात्मकोङ्कारो मम प्राणात्मिका देवता ॥4॥
अहमेव जगत्त्रयस्यैकः पतिः ॥5॥
मम वशानि सर्वाणि युगान्यपि ॥6॥
अहोरात्रादयो मत्संवर्धिताः कालाः ॥7॥
मम रूपा रवेस्तेजश्चन्द्रनक्षत्रग्रहतेजांसि च ॥8॥
गगनो मम त्रिशक्तिमायास्वरूपो नान्यो मदस्ति ॥9॥
तमोमायात्मको रुद्रः सात्त्विकमायात्मको विष्णू राजसमायात्मको ब्रह्मा ।
इन्द्रादयस्तामसराजसात्मिका न सात्त्विकः कोऽपि। अघोरः सर्व-साधारणस्वरूपः ॥10॥

तब ब्रह्माजी ने कहा—इस समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाली मातृका विद्या है। वह दो वर्णों से (हंस) युक्त है, और तीन वर्णों से (प्रणव) भी युक्त है। दो वर्णों से नापी गई यह विद्या तीन वर्ण सहित जो विद्या है, वही है। और चार मात्राओं से युक्त प्रणव मेरा प्राणदेवता हैं। मैं अकेला ही इन तीनों लोकों का पालक और पोषक हूँ। समस्त युग भी मेरे ही वश में रहते हैं। मेरे द्वारा ही ये दिन-रात आदि कालमान पैदा होते हैं। सूर्य, चन्द्र, तारों आदि में जो तेज दिखाई पड़ता है, वह मेरा ही तेज है। यह आकाश भी मेरी ही सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन शक्तियों वाली माया के रूप में मेरा ही स्वरूप है। मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है। तमोगुणी मायारूप रुद्र है, सत्त्वगुणी मायारूप विष्णु है और रजोगुणी माया रूप ब्रह्मा है। और इन्द्र आदि देव तामस-राजस माया वाले हैं, इनमें कोई भी सात्त्विक नहीं है। केवल अघोर (शिव) जो हैं, वे सर्वसाधारण स्वरूप हैं।

समस्तयागानां रुद्रः पशुपतिः कर्ता। रुद्रो यागदेवो विष्णुरध्वर्युर्होतेन्द्रो देवता यज्ञभुग् मानसं ब्रह्म महेश्वरं ब्रह्म ॥11॥
मानसो हंसः सोऽहं हंस इति। तन्मययज्ञो नादानुसन्धानम्। तन्मय-विकारो जीवः ॥12॥
परमात्मस्वरूपो हंसः। अन्तर्बहिश्चरति हंसः। अन्तर्गतोऽनवकाशान्त-र्गतसुपर्णस्वरूपो हंसः ॥13॥
षण्णवतितत्त्वतन्तुवद्व्यक्तं चित्सूत्रत्रयचिन्मयलक्षणं नवतत्त्वत्रिरावृतं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मकमग्नित्रयकलोपेतं चिद्ग्रन्थिबन्धनम् अद्वैत-ग्रन्थिः ॥14॥
यज्ञसाधारणाङ्गं बहिरन्तर्ज्वलनं यज्ञाङ्गलक्षणब्रह्मस्वरूपो हंसः ॥15॥

समस्त यज्ञों के कर्ता पशुपति भगवान् रुद्र हैं। रुद्र यज्ञदेव, विष्णु अध्वर्यु, इन्द्र होता और महेश्वर ब्रह्म का मानस रूप है। जो ब्रह्म है, वही इस यज्ञ के भोक्ता हैं। इस मानस ब्रह्म का रूप ही 'हंसः सोऽहम्' है। इस प्रकार की तन्मयता के लिए जो यज्ञ सम्पन्न किया जाता है, उसी को नादानुसन्धान कहा जाता है। और उस चैतन्यमयता का विकार ही जीव है। वह हंस परमात्मा का

ही स्वरूप है। यह हंस भीतर-बाहर विचरण करता रहता है। यह हंस भीतर के अनवकाश वाले मायाग्रसित स्थल में सुपर्णमय (ब्रह्म या ईश्वर) सदा वर्तमान होता है। जो यज्ञोपवीत है, वह भी ब्रह्मरूप ही है, जैसे वह भी छियानबे तन्तुरूपी तत्त्वों से ब्रह्म की तरह व्यक्त होता है। वह भी सत्, चित्, आनन्दरूपी तीन लक्षणरूपी तन्तुओं वाला होता है। त्रिगुणित होने से नौ तत्त्वों वाला, ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूप तीन अग्नियों वाला, चिद् ग्रन्थियों से बँधा हुआ, अद्वैत रूप ब्रह्मग्रन्थि से युक्त यज्ञ के सामान्य अंगरूप में बाह्य तथा अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाला यज्ञोपवीत ब्रह्मलक्षण-युक्त हंसरूप ही है।

उपवीतलक्षणसूत्रब्रह्मगा यज्ञाः। ब्रह्माङ्गलक्षणयुक्तो यज्ञसूत्रम्। तद्-ब्रह्मसूत्रम्। यज्ञसूत्रसम्बन्धी ब्रह्मयज्ञः तत्स्वरूपः ॥16॥
अङ्गानि मात्राणि। मनोयज्ञस्य हंसो यज्ञसूत्रम्। प्रणवं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्मयज्ञ-मयम्। प्रणवान्तर्वर्ती हंसो ब्रह्मसूत्रम्। तदेव ब्रह्मयज्ञमयं मोक्ष-क्रमम् ॥17॥

इस प्रकार यह उपवीत के लक्षणों से युक्त सूत्र (ब्रह्मसूत्र) यज्ञरूप ही है, अर्थात् यज्ञरूप का प्रतीक माना जाता है। यह यज्ञोपवीत (यज्ञसूत्र) ब्रह्म के अंगों के लक्षणों से भी युक्त है। इसलिए यज्ञोपवीत और ब्रह्मयज्ञ—दोनों एक-दूसरे के स्वरूप ही हैं। वे ब्रह्म के अंग मात्राएँ हैं। यह ब्रह्मसूत्र ही मनोयज्ञ का हंस है। और ब्रह्मयज्ञ से युक्त यह प्रणव भी ब्रह्मसूत्र ही है। प्रणव का अन्तर्वर्ती हंस भी ब्रह्मसूत्र ही है। यह ब्रह्मयज्ञ मोक्ष का साधनरूप ही है।

ब्रह्मसन्ध्याक्रिया मनोयागः। संध्याक्रिया मनोयागस्य लक्षणम् ॥18॥
यज्ञसूत्रप्रणवब्रह्मयज्ञक्रियायुक्तो ब्राह्मणः। ब्रह्मचर्येण चरन्ति देवाः। हंससूत्रचर्या यज्ञाः। हंसप्रणवयोरभेदः ॥19॥
हंसस्य प्रार्थनास्त्रिकालाः। त्रिकालास्त्रिवर्णाः। त्रेताग्न्यनुसंधानो यागः। त्रेताग्न्यात्माकृतिवर्णोङ्कारहंसानुसंधानोऽन्तर्यागः ॥20॥

ब्रह्मसन्ध्या मानसिक यज्ञ की क्रिया है। संध्या की क्रिया मनोयाग का लक्षण है। यज्ञोपवीत, प्रणव और ब्रह्मयज्ञ की क्रिया से युक्त मनुष्य ब्राह्मण कहलाता है। देवता लोग ब्रह्मचर्य में ही विचरण करते हैं। हंस और सूत्र से यज्ञ संपन्न किए जाते हैं। इस प्रकार हंस तथा प्रणव में अभेद है।

चित्स्वरूपवत्तन्मयं तुरीयस्वरूपम्। अन्तरादित्ये ज्योतिःस्वरूपो हंसः ॥21॥
यज्ञाङ्गं ब्रह्मसंपत्तिः। ब्रह्मप्रवृत्तौ तत्प्रणवहंससूत्रेणैव ध्यानमा-चरन्ति ॥22॥

चित्स्वरूप में तन्मय हो जाना ही तुर्यावस्था का स्वरूप है। भीतर के आदित्य में हंस ही ज्योतिरूप में अवस्थित है। यज्ञाङ्ग ही ब्रह्मसम्पत्ति है। इसलिए ब्रह्मप्राप्ति की प्रवृत्ति के लिए प्रणवहंस की साधना में ही ध्यान द्वारा विचरण करना चाहिए।

प्रोवाच पुनः स्वयंभुवं प्रतिजानीते ब्रह्मपुत्रो ऋषिर्वालखिल्यः। हंस-सूत्राणि कतिसंख्यानि कियद्वा प्रमाणम् ॥23॥

हृद्यादित्यमरीचीनां पदं षण्णवतिः। चित्सूत्रघ्राणयोः स्वर्निर्गता प्रणव-धारा षडङ्गुलदशाशीतिः ॥24॥
वामबाहुदक्षिणकट्योरन्तश्चरति हंसः परमात्मा ब्रह्मगुह्यप्रकारो नान्यत्र विदितः ॥25॥
जानन्ति तेऽमृतफलकाः। सर्वकालं हंसं प्रकाशकम्। प्रणवहंसान्त-र्ध्यानप्रकृतिं विना न मुक्तिः ॥26॥

ब्रह्मपुत्र वालखिल्य ने फिर से स्वयंभू ब्रह्माजी से पूछा—'हे भगवन्! हंससूत्रों की संख्या कितनी है? और उनके प्रमाण कितने हैं?' तब ब्रह्माजी ने कहा—हृदयादित्य की छियानबे किरणें हैं। और चित्सूत्र घ्राण से स्वरसहित निकलने वाली धारा भी छियानबे अंगुल की होती है। प्रणव धारा उतनी लम्बी है। बाँयी भुजा और दाहिनी कमर की छोर के मध्य भाग में (अर्थात् हृदयक्षेत्र में) परमात्मा हंस का निवास है। परन्तु इस गुह्य विषय की जानकारी किसी को प्राप्त नहीं होती। जिन्हें अमृतत्व की प्राप्ति हो चुकी है, वे ही उस सर्वकाल प्रकाशमान हंस को पहचानते हैं। भीतर में स्थित इस प्रणव हंस का ध्यान किए बिना तो मुक्ति मिल नहीं सकती।

नवसूत्रान्परिचर्चितान्। तेऽपि यद्ब्रह्म चरन्ति। अन्तरादित्यं न ज्ञातं मनुष्याणाम् ॥27॥
जगदादित्यो रोचत इति ज्ञात्वा ते मर्त्या विबुधास्तपनप्रार्थनायुक्ता आचरन्ति ॥28॥
वाजपेयः पशुहर्ता अध्वर्युरिन्द्रो देवता अहिंसा धर्मयागः परमहंसोऽध्वर्युः परमात्मा देवता पशुपतिः ॥29॥
ब्रह्मोपनिषदो ब्रह्म। स्वाध्याययुक्ता ब्राह्मणाश्चरन्ति ॥30॥

जो मनुष्य इन परिचर्चित (रंगे हुए) नवसूत्रों वाले यज्ञोपवीत को धारण करते हैं, वे भी उसे ब्रह्ममय मानकर ही उपासना करते हैं। परन्तु इन मनुष्यों के भीतर रहे हुए आदित्यरूप ब्रह्म का ज्ञान तो नहीं होता। सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है, ऐसा जानकर ये बुद्धिमान लोग पवित्रता और ज्ञान के लिए उनकी प्रार्थना करते हैं। वाजपेय यज्ञ पशुभाव को दूर करने वाला है। इस यज्ञ के अध्वर्यु और देवता इन्द्र (परमेश्वर) है। यह मानस अहिंसात्मक धर्मयज्ञ (मुक्तियज्ञ) है। इसके अध्वर्यु परमहंस और देवता पशुपति (ईश्वर) हैं। वेद-उपनिषत् का प्रतिपाद्य जो ब्रह्म है, वही ब्रह्म इस स्वाध्याययुक्त ब्रह्मज्ञानियों का भी उपास्य है (वे इसी की उपासना करते हैं)।

अश्वमेधो महायज्ञकथा। तद्राज्ञा ब्रह्मचर्यमाचरन्ति। सर्वेषां पूर्वोक्तब्रह्म-यज्ञक्रमं मुक्तिक्रममिति ॥31॥
ब्रह्मपुत्रः प्रोवाच। उदितो हंस ऋषिः। स्वयंभूस्तिरोदधे। रुद्रो ब्रह्मोपनिषदो हंसज्योतिः पशुपतिः प्रणवस्तारकः स एवं वेद ॥32॥

इति पूर्वकाण्डः।

इस महायज्ञ की जानकारी ही अश्वमेध यज्ञ है। ज्ञानी जन इसका आश्रय लेकर ही ब्रह्मज्ञान आचार में लाते हैं। पूर्वकथित सभी ब्रह्मयज्ञों का करना ही मुक्ति देने में समर्थ है। तब ब्रह्मपुत्र ने फिर से कहा कि 'अब हंस ऋषि का मुझमें उदय हो गया है।' उनका यह वचन सुनकर ब्रह्माजी अन्तर्धान

हो गए। इस उपनिषत् में जिस हंस के तेज का वर्णन किया गया है, वही रुद्र है और संसार से उद्धार करने वाला प्रणव ही पशुपति (ब्रह्म) है। उसे उसी तरह जान लेना चाहिए।

यहाँ पूर्वकाण्ड समाप्त होता है।

❋

उत्तरकाण्डः

हंसात्ममालिकावर्णब्रह्मकालप्रचोदिता।
परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसम्पत्तिकारिणी ॥1॥
अध्यात्मब्रह्मकल्पस्याकृतिः कीदृशी कथा।
ब्रह्मज्ञानप्रभासन्ध्या कालो गच्छति धीमताम्।
हंसाख्यो देवमात्माख्यमात्मतत्त्वप्रजाः कथम् ॥2॥

इस अध्यात्ममालिका (हंसमालिका का) जो वर्ण ॐकार है, वही कालेश्वर का स्वरूप प्राप्त करके कर्तव्याकर्तव्य का प्रेरक होता है। वही, ब्रह्म, परमात्मा और पुरुष है। वही संपत्तिकारिणी संविद् है। जो मनुष्य आत्मा के अपने निजी ज्ञान से युक्त हो गया हो, उसके सम्बन्ध में तो क्या कहा जा सकता है ? ज्ञानी जन अपना पूरा समय उपासना और ब्रह्मचिन्तन में बिताते हैं। जब हंस और आत्मा में ऐक्य स्थापित हो जाता है फिर तो विश्व, तैजस आदि प्रजा कैसे हो सकती है ?

अन्तः प्रणवनादाख्यो हंसः प्रत्ययबोधकः।
अन्तर्गतप्रमागूढं ज्ञाननालं विराजितम् ॥3॥
शिवशक्त्यात्मकं रूपं चिन्मयानन्दवेदितम्।
नादबिन्दुकला त्रीणि नेत्रविश्वविचेष्टितम् ॥4॥
त्रियङ्गानि शिखा त्रीणि द्वित्रीणि संख्यमाकृतिः।
अन्तर्गूढप्रमा हंसः प्रमाणान्निर्गतं बहिः ॥5॥

अन्तःकरण से निकलते हुए प्रणव के नाद से जो हंस जाना जा सकता है, वही सम्पूर्ण ज्ञान देने वाला है। उसके भीतर में अनुभव से गम्य रहस्यमय ज्ञान के द्वारा बाह्य जगत् के ज्ञान की प्राप्ति होती है। उस चिन्मय आनन्द के द्वारा ही शिव-शक्त्यात्मक ज्ञात हो सकता है। नाद, बिन्दु और कला—इन तीनों नेत्रों की जाग्रति से ही यह जगत् चेष्टायुक्त होता है। स्थूलसूक्ष्मादि तीन अंग, विश्वादि तीन शिखा और दो-तीन मात्राओं से उसकी संख्या जानी जा सकती। जब इस प्रकार वह अन्तर्धान हो जाता है, तब उस गूढ़ात्मा का इस बाह्य जगत् में भी प्रमाण के रूप में आविर्भाव होता है। (पहले जो केवल श्रुतिप्रमाणित था वह अब बाह्य प्रमाण वाला भी हो जाता है)।

ब्रह्मसूत्रपदं ज्ञेयं ब्राह्मयं विध्युक्तलक्षणम्।
हंसार्कप्रणवध्यानमित्युक्तो ज्ञानसागरे ॥6॥
एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागरपारगः।
स्वतः शिवः पशुपतिः साक्षी सर्वस्य सर्वदा ॥7॥
सर्वेषां तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु।
विषये गच्छति प्राणश्चेष्टते वाग्वदत्यपि ॥8॥

चक्षुः पश्यति रूपाणि श्रोत्रं सर्वं शृणोत्यपि ।
अन्यानि खानि सर्वाणि तेनैव प्रेरितानि तु ॥9॥

जगत् के सूत्ररूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके साधक को अपने आप ही ब्रह्म के लक्षणों से युक्त होना चाहिए। और हमेशा अनवरत हंसरूपी सूर्य का ओंकार के साथ ध्यान करते रहना चाहिए। ऐसा करने वाला ज्ञानसागर रूप ब्रह्म में एक हो जाता है, ऐसा कहा गया है। इस प्रकार के विज्ञानमात्र के द्वारा ज्ञानसागर के पार तक (ब्रह्म तक) पहुँचा जा सकता है। और वह साधक स्वयं शिव, पशुपति और सबका साक्षी बन जाता है। यह भगवान् शिव सबके मन को नियम से प्रेरित करने वाले हैं। उन्हीं की प्रेरणा से इन्द्रिय विषयों की ओर जाती है और प्राण चेष्टा करते हैं, उन्हीं की प्रेरणा से वाणी बोलती है, आँख रूप देखती है और कान सुनते हैं। अन्य सभी इन्द्रियाँ भी उसी के द्वारा प्रेरित होती हैं।

स्वं स्वं विषयमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते निरन्तरम् ।
प्रवर्तकत्वं चाप्यस्य मायया न स्वभावतः ॥10॥
श्रोत्रमात्मनि चाध्यस्तं स्वयं पशुपतिः पुमान् ।
अनुप्रविश्य श्रोत्रस्य ददाति श्रोत्रतां शिवः ॥11॥
मनः स्वात्मनि चाध्यस्तं प्रविश्य परमेश्वरः ।
मनस्त्वं तस्य सत्त्वस्थो ददाति नियमेन तु ॥12॥

वे सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को उद्दिष्ट करके प्रवर्तमान होती हैं। इस विषय में उस परम तत्त्व का माया के साथ जो निरन्तर प्रवर्तकत्व होता है, उस परमतत्त्व का प्रवर्तकत्व (प्रेरकत्व) माया के कारण होता है, स्वाभाविक रूप से नहीं। आत्मा में ही श्रोत्रादि अध्यस्त होता है और स्वयं पशुपति भगवान् उस श्रोत्र में अनुस्यूत होकर श्रोत्र को श्रवणशक्ति देते हैं। उसी प्रकार मन भी आत्मा में ही अध्यस्त है उसमें भी यह परमेश्वर अनुप्रविष्ट (अनुस्यूत) होकर इसे 'मनस्त्व' की शक्ति देते हैं। नियमानुसार सत्त्वगुण में स्थित होकर परमेश्वर ही मन को 'मनस्त्व' की शक्ति देते हैं। (सबका सर्जन करके सबमें अनुप्रविष्ट होकर नियम से सृष्टि संचालन-नियमन करते हैं।)

स एव विदितादन्यस्तथैवाविदितादपि ।
अन्येषामिन्द्रियाणां तु कल्पितानामपीश्वरः ॥13॥
तत्तद्रूपमनुप्राप्य ददाति नियमेन तु ।
ततश्चक्षुश्च वाक्चैव मनश्चान्यानि खानि च ॥14॥
न गच्छन्ति स्वयंज्योतिः स्वभावे परमात्मनि ।
अकर्तृविषयप्रत्यक्प्रकाशं स्वात्मनैव तु ॥15॥
विना तर्कप्रमाणाभ्यां ब्रह्म यो वेद वेद सः ।
प्रत्यगात्मा परंज्योतिर्माया सा तु महत्तमः ॥16॥

वह परमात्मा जानी हुई और अनजानी सभी वस्तुओं से अलग ही है। यह कल्पित अन्य इन्द्रियों का भी ईश्वर है, अर्थात् करणरूप और करणचालक रूप अभिमान न होने से उन सब से विलक्षण (ईश्वर) है, वह संसारी नहीं है। इस तरह वह परमेश्वर उस-उस इन्द्रिय का रूप भी धारण करता है और उसे उस-उस की नियमानुसार शक्ति भी वही देता है (वह करणरूप और करणचालकरूप—दोनों होता

है)। इससे चक्षु, वाणी, मन और अन्य इन्द्रियाँ स्वयं ज्योति:स्वरूप परमात्मा में अपने स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हो सकतीं (भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकती)। इसलिए बाहर के किसी तर्क या प्रमाण के बिना ही जो मनुष्य निजी अनुभूति के द्वारा परमात्मा को जान लेता है, वही सही रूप से उसे जानता है। वह प्रत्यक् आत्मा स्वयं ज्योतिरूप है, और माया तो बड़े ही अन्धकार जैसी है।

तथा सति कथं मायासंभवः प्रत्यगात्मनि।
तस्मात्तर्कप्रमाणाभ्यां स्वानुभूत्या च चिद्घने ॥17॥
स्वप्रकाशैकसंसिद्धे नास्ति माया परात्मनि।
व्यावहारिकदृष्ट्येयं विद्याविद्या न चान्यथा ॥18॥
तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम्।
व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः ॥19॥
प्रकाश एव सततं तस्मादद्वैत एव हि।
अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः ॥20॥

ऐसा होने पर इस स्वयंज्योति प्रत्यगात्मा में तमोरूपी माया का संभव कैसे हो सकता है? इसलिए इस चिद्घन परमात्मा के बारे में तर्क और प्रमाण के साथ अपनी अनुभूति के द्वारा, 'स्वप्रकाशरूप, स्वयंसिद्ध, परमात्मा में माया हो ही नहीं सकती'—ऐसा सिद्ध हो जाता है। ये जो विद्या, अविद्या आदि के भेद किए जाते हैं, वे तो केवल व्यवहार की दृष्टि से ही किए जाते हैं क्योंकि सब जगह आत्मा का प्रकाश है उसका कहीं व्यभिचार (अपवाद) नहीं है। सर्वत्र आत्मा का ही प्रकाश है, इसलिए सर्वत्र अद्वैत ही है। प्रकाश का कहीं भी व्यभिचार (अपवाद) न होने से ही 'अद्वैत' ऐसी उक्ति (सार्थक) है।

प्रकाश एव सततं तस्मान्मौनं हि युज्यते।
अयमर्थो महान्यस्य स्वयमेव प्रकाशितः ॥21॥
न स जीवो न च ब्रह्म न चान्यदपि किञ्चन।
न तस्य वर्णा विद्यन्ते नाश्रमाश्च तथैव च ॥22॥
न तस्य धर्मोऽधर्मश्च न निषेधो विधिर्न च।
यदा ब्रह्मात्मकं सर्वं विभाति तत एव तु ॥23॥
तदा दुःखादिभेदोऽयमाभासोऽपि न भासते।
जगज्जीवादिरूपेण पश्यन्नपि परात्मवित् ॥24॥

सर्वत्र सतत प्रकाश ही है, अत: मौन ही योग्य है, यह स्वयंप्रकाशित होते रहना ही इस परमात्मा की बड़ी अन्वर्थकता है। यह परमात्मा न जीव है, न ब्रह्म है, और भी कोई सापेक्ष नाम उसे दिया नहीं जा सकता। उसको कोई ब्राह्मणादि वर्ण नहीं है और ब्रह्मचर्यादि कोई आश्रम भी नहीं होता। उसके लिए न कोई धर्म है, न कोई अधर्म है, न कोई विधि है, न कोई निषेध ही है। जब सर्वत्र मात्र एक ब्रह्मतत्त्व ही है, तब तो सब कुछ ब्रह्ममय ही दीखता है। जब सब ब्रह्ममय हो जाता है तब तो दुःख आदि भेद भी नहीं होता, यह सारा बाह्य आभास भी उस परमात्मा को जानने वाले को नहीं दिखाई देता, भले ही वह जगत् और जीव आदि रूपों को देखता रहता हो।

न तत्पश्यति चिद्रूपं ब्रह्मवस्त्वेव पश्यति।
धर्मधर्मित्ववार्ता च भेदे सति हि भिद्यते ॥25॥

भेदाभेदस्तथा भेदाभेदः साक्षात्परात्मनः ।
नास्ति स्वात्मातिरेकेण स्वयमेवास्ति सर्वदा ॥26॥
ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च ।
तथैव ब्रह्मविज्ञानी किं गृह्णाति जहाति किम् ॥27॥
अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम् ।
यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम् ॥28॥

उस अद्वैतावस्था में चित् का कोई रूप वह ज्ञानी नहीं देखता—रूप और रूपी का भेद नहीं देखता। वह केवल ब्रह्मपदार्थ को ही देखता (अनुभव करता) है। क्योंकि जब भेद हो तभी धर्म (रूप) और धर्मी (चित्) की बात हो सकती है। जब भेद-अभेद की यही उपर्युक्त स्थिति है, तब तो उस परमात्मा में न कोई भेद हो सकता है, न ही कोई अभेद ही हो सकता है। क्योंकि अपने आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, वह स्वयं एकमात्र अद्वैत ही विद्यमान है। केवल साक्षात् ब्रह्म ही है—पारमार्थिक रूप से भी और अन्य दृष्टि से भी जब वही है, तब भला वह ब्रह्मज्ञानी किसका ग्रहण करेगा और किसका त्याग करेगा ? जो परमतत्त्व अधिष्ठानरूप, उपमारहित, वाणी और मन से अगोचर है, जो अदृश्य, अग्राह्य, गोत्ररहित और रूपहीन है और—

अचक्षुःश्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिपदं तथा ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ॥29॥
ब्रह्मैवेदममृतं तत्पुरस्ताद्ब्रह्मानन्दं परमं चैव पश्चात् ।
ब्रह्मानन्दं परमं दक्षिणे च ब्रह्मानन्दं परमं चोत्तरे च ॥30॥
स्वात्मन्येव स्वयं सर्वं सदा पश्यति निर्भयः ।
तदा मुक्तो न मुक्तश्च बद्धस्यैव विमुक्तता ॥31॥
एवंरूपा परा विद्या सत्येन तपसापि च ।
ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्लभ्या वेदान्तवर्त्मना ॥32॥

—वह चक्षुरहित, श्रोत्ररहित, हाथरहित, पैररहित, वह नित्य, विभु, सर्वगत और अत्यन्त सूक्ष्म तथा बिल्कुल ही अव्यय (व्ययरहित) है। यही अमृतरूप ब्रह्म हमारे आगे भी है, यही परम ब्रह्मानन्द हमारे पीछे भी है, वही परम ब्रह्मानन्द हमारी दाहिनी ओर भी है, वही परम ब्रह्मानन्द हमारी बायीं ओर (उत्तर में) भी है। उसे जब निर्भय योगी अपने आत्मा में ही देख लेता है, तब ज्ञानी मुक्त न होते हुए भी (संसार के सभी कार्य करते हुए भी) मुक्त हो जाता है क्योंकि वह मन से तो मुक्त ही है और मन में बँधे हुए मनुष्य में ही मुक्ति का होना युक्त है, मुक्त की भला क्या मुक्ति ? इस प्रकार की जो परा विद्या है, वह सत्य से या तप से और ब्रह्मचर्यादि के पालन से वेदान्तनिर्दिष्ट मार्ग के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं पारमार्थिकम् ।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययाऽऽवृताः ॥33॥
एवं स्वरूपविज्ञानं यस्य कस्यास्ति योगिनः ।
कुत्रचिद्गमनं नास्ति तस्य सम्पूर्णरूपिणः ॥34॥
आकाशमेकं सम्पूर्णं कुत्रचिन्न हि गच्छति ।
तद्वद्ब्रह्मात्मविच्छ्रेष्ठः कुत्रचिन्नैव गच्छति ॥35॥

अभक्ष्यस्य निवृत्त्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत्।
आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः ॥36॥

जिन लोगों के दोष क्षीण हो चुके हों, वे ही अपने शरीर में पारमार्थिक स्वयंज्योतिःस्वरूप को, देख सकते हैं। माया के द्वारा आवृत अन्य लोग नहीं देख सकते हैं। जिस किसी भी योगी को इस प्रकार का स्वरूपज्ञान हो जाता है, उसके लिए कहीं भी आने-जाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वह संपूर्ण—सभी का स्वरूप हो गया हुआ होता है। जैसे आकाश एक और संपूर्ण है, उसका कहीं भी आना-जाना नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मविदों में श्रेष्ठ यह पुरुष भी गमनागमन-रहित हो जाता है। अभक्ष्य का भक्षण नहीं करने से हृदय विशुद्ध हो जाता है और आहार की शुद्धि से चित्त की शुद्धि तो स्वाभाविक रूप से हो ही जाती है।

चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं त्रुट्यन्ति ग्रन्थयः स्फुटम्।
अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानविहीनस्यैव देहिनः ॥37॥
न सम्यग्ज्ञानिनस्तद्वत्स्वरूपं सकलं खलु।
अहमन्नं सदान्नाद इति हि ब्रह्मवेदनम् ॥38॥
ब्रह्मविद्ग्रसति ज्ञानात्सर्वं ब्रह्मात्मनैव तु।
ब्रह्मक्षत्रादिकं सर्वं यस्य स्यादोदनं सदा ॥39॥
यस्योपसेचनं मृत्युस्तं ज्ञानी तादृशः खलु।
ब्रह्मस्वरूपविज्ञानाज्जगद्भोज्यं भवेत्खलु ॥40॥

चित्त की शुद्धि हो जाने पर क्रम से धीरे-धीरे ज्ञान उदित होता है और हृदय की गाँठें स्पष्ट रूप से टूटने लगती हैं। जो भक्ष्य-अभक्ष्य की बात है, वह तो ब्रह्मविज्ञान से रहित देहधारियों के लिए ही है। ये बातें सम्यग् ज्ञानवाले के लिए नहीं हैं। क्योंकि उसके लिए तो यह सब कुछ स्वरूपमय ही है। 'मैं ही अन्न हूँ, मैं ही सदाचार हूँ'—ऐसी भावना ही ब्रह्मज्ञान कहलाती है। ब्रह्म को जानने वाला अपने ज्ञान से सबमें निवास करता है। सर्व ब्रह्म उसके आत्मा के द्वारा ही उसने जाना है। इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब भावनाओं को वह अपने आत्मा में ही (ओदन की तरह) पचा लेता है। जो ब्रह्म मृत्यु को भी अपना ओदन (उपसेचन=पाच्य) करता है, तो यह ज्ञानी भी तो वैसा ही करता है, क्योंकि वह भी तो वैसा ही है। ब्रह्मस्वरूप के विज्ञान से सारा जगत् उसका पाच्य (भोज्य) ओदन हो जाता है।

जगदात्मतया भाति यदा भोज्यं भवेत्तदा।
ब्रह्मस्वात्मतया नित्यं भक्षितं सकलं तदा ॥41॥
यदाभासेन रूपेण जगद्भोज्यं भवेत्तु तत्।
मानतः स्वात्मना भातं भक्षितं भवति ध्रुवम् ॥42॥
स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः।
अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम् ॥43॥
अस्तितालक्षणा सत्ता सत्ता ब्रह्म न चापरा।
नास्ति सत्तातिरेकेण नास्ति माया च वस्तुतः ॥44॥

जब अपनी आत्मता के द्वारा यह सारा जगत् भोज्य दिखाई देता है, तब यह आत्मा ब्रह्मरूप होकर सकल जगत् का भक्षण करता है। जब यह जगत् आभासित होता है, तब वह भोज्य होता है,

और जब सब ब्रह्ममय ही हो जाता है, तब यह जगत् भक्षित हो गया है, यह निश्चय है। यह ब्रह्म अपने ही स्वरूप को भोज्य करता है, क्योंकि अलग भोज्य तो है ही नहीं। यदि है तो केवल सत्तारूप स्वलक्षण ब्रह्म ही है। यह जो 'होना' रूप सत्ता है, वह वास्तव में ब्रह्म ही है। और कुछ नहीं है। इस सत्ता के सिवा माया कुछ है ही नहीं।

योगिनामात्मनिष्ठानां माया स्वात्मनि कल्पिता।
साक्षिरूपतया भाति ब्रह्मज्ञानेन बाधिता ॥45॥
ब्रह्मविज्ञानसम्पन्नः प्रतीतमखिलं जगत्।
पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक् ॥46॥ इत्युपनिषत्।

इति उत्तरकाण्डः।

इति पाशुपतब्रह्मोपनिषत्समाप्ता।

आत्मनिष्ठ योगियों के लिए माया तो अपने आत्मा में केवल कल्पित ही है। उनके साक्षीभाव से ब्रह्मज्ञान द्वारा वह बाधित हो जाती है। ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न योगी इस दृश्य अखिल जगत् को देखता हुआ भी अपने आत्मा से उसे अलग नहीं देखता। यहाँ उपनिषत् पूरी होती है।

यहाँ उत्तर काण्ड समाप्त होता है।

इस प्रकार पाशुपतब्रह्मोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(41) ब्रह्मविद्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में ब्रह्मप्राप्ति के उपाय और उसके स्वरूप का सुन्दर निरूपण है। प्रणवब्रह्म, उसकी तीन मात्राएँ—तीन वेद, तीन अग्नि, तीन लोक और तीन देवरूप हैं। जीवात्म रातदिन 'हंसः' इस प्रकार प्रणव का जप करता है—स्वयंप्रकाशित चैतन्य ही हंस है। प्राणायाम से प्राण-अपान को समान करके समाधि का अभ्यास करते हुए सिर से टपकते अमृतरस से तृप्त होना चाहिए। प्राणायाम के साथ 'हंस' का जप नियमपूर्वक करने वाला सिद्धि प्राप्त करता है, और बाद में ज्ञानप्राप्ति से ब्रह्मरूप बनता है। जो अपने आपको स्थिर, अचिन्त्य, अजन्मा, देहेन्द्रिय-प्राणादिरहित, अक्षय, निर्लेप, अन्तर्यामी, निर्गुण, अभौतिक, अकर्ता, अभोक्ता, अनादि, अनन्त, चैतन्य, आनंदरूप, अमृतरूप, आत्मरूप, स्वयंप्रकाश, अक्रिय, निर्मल, विचारहीन, पुराणपुरुष परमात्मा मानता है, वह सही रूप में सच्चिदानन्द ज्ञानस्वरूप मुक्त ही हो जाता है—यह उपदेश इसमें दिया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ······मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते—
प्रसादाद् ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः।
रहस्यं ब्रह्मविद्याया ध्रुवाग्निं सम्प्रचक्षते ॥1॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।
शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानं कालत्रयं तथा ॥2॥
तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ताः लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः।
तिस्रो मात्राऽर्धमात्रा च त्र्यक्षरस्य शिवस्य तु ॥3॥
ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च।
अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः ॥4॥

अत्र ब्रह्मविद्योपनिषद् कही जा रही है—भव्य और उत्तम कर्म करने वाले विष्णुरूप परब्रह्म की ध्रुवाग्नि (ध्रुव – अटल ऐसा अग्नि) ज्ञान का स्वरूप धारण करने वाली ब्रह्मविद्या का रहस्य कहते हैं। ब्रह्म को कहने वाले ऋषियों ने ॐकार को 'एकाक्षर ब्रह्म' कहा है। उस ॐकार के शरीर, स्थान तथा तीन कालों के बारे में मैं कहूँगा। इस विषय में तीन देव कहे गए हैं, तीन लोक और तीन अग्नि कहे गए हैं, तीन मात्राएँ भी हैं और एक अर्धमात्रा है, ये तीन मात्राएँ और अर्धमात्रा शिव का स्वरूप हैं।

उनमें 'अ'कार की मात्रा का शरीर ऋग्वेद है, अग्नि गार्हस्पत्य है, पृथ्वी तत्त्व है और ब्रह्मा देवता है— ऐसा बतलाया गया है।

यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च।
विष्णुश्च भगवान्देव उकारः परिकीर्तितः ॥5॥
सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च।
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः ॥6॥
सूर्यमण्डलमध्येऽथ ह्यकारः शङ्खमध्यगः।
उकारश्चन्द्रसङ्काशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः ॥7॥
मकारस्त्वग्निसङ्काशो विधूमो विद्युतोपमः।
तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेया सोमसूर्याग्निरूपिणः ॥8॥

'उ'कार का शरीर यजुर्वेद है, अग्नि दक्षिणाग्नि है, तत्त्व आकाश है, देवता भगवान् विष्णु कहा गया है। 'म'कार का शरीर सामवेद है, अग्नि आहवनीय है, तत्त्व द्युलोक है, देवता ईश्वर परमदेव कहा गया है। मानो शंख के मध्य भाग में रहा हो ऐसा 'अ'कार सूर्यमण्डल के बीच में अवस्थित है। और उसी तरह 'उ'कार भी चन्द्र जैसा होते हुए चन्द्रमण्डल में अवस्थित है। और 'म'कार विद्युत् जैसे तेजवाला होते हुए निर्धूम और अग्नि में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार तीन मात्राओं में ॐकार की तीनों मात्राओं को सूर्य, चन्द्र और अग्नि के रूप में मानना चाहिए।

शिखा तु दीपसङ्काशा तस्मिन्नुपरि विद्यते।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥9॥

जिस तरह दीपक की शिखा ऊपर को ही मुख किए हुए रहती है, उसी तरह प्रणव के ऊपर की अर्धमात्रा भी ऊर्ध्वाभिमुख होती है। (अनुस्वार नासिकामूल में गुंजरित होता है, इसी के कारण (अ-उ-म ऊर्ध्वमुख हो उठते हैं)।

पद्मपत्रनिभा सूक्ष्मा शिखा या दृश्यते शुभा।
सा नाडी सूर्यसङ्काशा सूर्यं भित्त्वा तथापरा ॥10॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीं भित्त्वा तु मूर्धनि।
वरदः सर्वभूतानां सर्वं व्याप्येव तिष्ठति ॥11॥
कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये।
ओंकारस्तु तथा योग्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥12॥
यस्मिन् स लीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते।
धियं हि लीयते ब्रह्म सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥13॥

वह शुभकारी शिखा कमलपत्र की तरह सूक्ष्म दिखाई देती है। सूर्य जैसी वह परा नाडी सूर्य को भेदकर तथा उन बहत्तर हजार नाड़ियों को भेदकर मूर्धा में प्रतिष्ठित होती है। सभी प्राणियों को वह वरदान देने वाली होती है और सबको व्याप्त कर स्थित रहनेवाली होती है। कांस्य धातु से बनाए गए घण्टे की आवाज जैसे शनैः शनैः शान्ति देते हुए लीन हो जाती है, वैसे ही सब कुछ चाहने वाले मनुष्य की शान्ति के लिए यह ओंकार की साधना उत्तम है। अर्थात् मनुष्य की सभी कामनाओं की शान्ति ओंकार की साधना के द्वारा होती है। जिस तत्त्व में वह शब्द विलीन हो जाता है, उसे परब्रह्म कहा गया है। ब्रह्मस्वरूप में लीन होने वाली बुद्धि को अमृतस्वरूप कहा है।

वायुस्तेजस्तथाकाशस्त्रिविधो जीवसंज्ञकः ।
स जीवः प्राण इत्युक्तो बालाग्रशतकल्पितः ॥14॥
नाभिस्थाने स्थितं विश्वं शुद्धतत्त्वं सुनिर्मलम् ।
आदित्यमिव दीप्यन्तं रश्मिभिश्चाखिलं शिवम् ॥15॥

वायु, तेज और आकाश इन तीनों को जीव की उपमा दी गई है। उस जीव को प्राण कहा गया है। उसका प्रमाण (आकार) बाल के अग्र भाग की नोक के भी सौवें भाग जैसा सूक्ष्म है। उस जीव की सत्ता 'विश्व' है, शुद्ध है, निर्मलस्वरूप है, आदित्य की तरह किरणों से प्रकाशित है। वह विश्वप्रकाशक, मंगलकारी तथा नाभिप्रदेश में (न्युक्लिअस में) प्रतिष्ठित है।

सकारं च हकारं च जीवो जपति सर्वदा ।
नाभिरन्ध्राद्विनिष्क्रान्तं विषयव्याप्तिवर्जितम् ॥16॥
तेनेदं निष्फलं विद्यात्क्षीरात्सर्पिर्यथा तथा ।
कारणेनात्मना युक्तः प्राणायामैश्च पञ्चभिः ॥17॥
चतुष्कलासमायुक्तो भ्राम्यते च हृदि स्थितः ।
गोलकस्तु यदा देहे क्षीरदण्डेन वाऽहतः ॥18॥
एतस्मिन्वसते शीघ्रमविश्रान्तं महाखगः ।
यावन्निःश्वसितो जीवस्तावन्निष्कलतां गतः ॥19॥
नभःस्थं निष्कलं ध्यात्वा मुच्यते भवबन्धनात् ।
अनाहतध्वनियुतं हंसं यो वेद हृद्गतम् ॥20॥

यह जीव श्वासोच्छ्वास के रूप में 'स'कार और 'ह'कार (हंसः का जाप) हमेशा (निरन्तर) करता ही रहता है। इसके प्रभाव से वह जीव नाभि के रन्ध्र से ऊपर जाया करता रहता है और सभी विषयों से मुक्त हो जाता है। दूध से निकले गए घी की तरह वह उससे निष्कल हो जाता है। ऐसे सबके कारणरूप आत्मतत्त्व को पाँच प्राणायामों के द्वारा जाना जा सकता है। (ये पाँच प्राणों के आयाम—देह के पाँचों तत्त्वों में प्रवाहित प्राण ही यहाँ पाँच प्राणों के आयाम कहे गए हैं)। जिस तरह मथनदण्ड से दूध मथा जाता है, इसी प्रकार चार कलाओं से युक्त हृदय में स्थित प्राणतत्त्व को (श्वास-प्रश्वास को) भ्रमण कराया जाता है। इस शरीर में वह जीव कभी विश्वास न करता हुआ जैसे कोई बड़ा पक्षी हो, इस तरह रहता है। जब श्वास रुक जाती है, तब जीव निष्कल हो जाता है। (यहाँ हृदय चार कलाओं वाला कहा गया है)। आकाश में स्थित निष्कल ब्रह्मतत्त्व का ध्यान करके संसाररूपी बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है। जो पुरुष इस हृदयस्थ हंस को जो कि चिदानन्द है, जो अनाहतनादयुक्त है, इस प्रकार जानता है वह भवबन्धन से मुक्त हो जाता है।

स्वप्रकाशचिदानन्दं स हंस इति गीयते ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकेन स्थितः सुधीः ॥21॥
नाभिकन्दे समौ कृत्वा प्राणापानौ समाहितः ।
मस्तकस्थामृतास्वादं पीत्वा ध्यानेन सादरम् ॥22॥
दीपाकारं महादेवं ज्वलन्तं नाभिमध्यमे ।
अभिषिच्यामृतेनैव हंस हंसेति यो जपेत् ॥23॥

जरामरणरोगादि न तस्य भुवि विद्यते ।
एवं दिने दिने कुर्यादणिमादिविभूतये ॥24॥

जो ज्ञानी पुरुष रेचक और पूरक का त्याग करके कुंभक में स्थित होकर पूर्व में वर्णित स्वप्रकाशित चिदानन्द को जानता है, वह 'हंस' कहा जाता है। जो पुरुष पूर्व मन्त्रोक्त प्रकार से स्थित होकर प्राण एवं अपान को एक करके मस्तक में प्रतिष्ठित अमृत को ध्यानपूर्वक आदरसहित पीता है, तथा जो नाभि के बीच के प्रदेश में दीपक की भाँति अच्छी तरह प्रकाशित महादेव पर अमृत का सिंचन करते हुए 'हंस हंस' का जाप करता रहता है, उसे पृथ्वी पर रहते हुए भी जरावस्था, मरण, रोग आदि विकार नहीं होता और इस प्रकार सर्वदा करते हुए वह आणिमादि सिद्धियों को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

ईश्वरत्वमवाप्नोति सदाभ्यासरतः पुमान् ।
बहवो नैकमार्गेण प्राप्ता नित्यत्वमागताः ॥25॥
हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम् ।
यो ददाति महाविद्यां हंसाख्यां पारमेश्वरीम् ॥26॥
तस्य दास्यं सदा कुर्यात्प्रज्ञया परया सह ।
शुभं वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि ॥27॥
तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः सन्तोषसंयुतः ।
हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरुशुश्रूषया नरः ॥28॥

जो मनुष्य हमेशा ही इस ब्रह्मविद्या के परिशीलन में लगा रहता है, उसे ईश्वरत्व की प्राप्ति हो जाती है। अनेक पुरुष इस एक ही मार्ग के द्वारा नित्यपद को प्राप्त कर चुके हैं। हंसरूपी विद्यामृत के समान इस जगत् में नित्यत्वप्राप्ति के लिए अन्य कोई भी साधन नहीं है। जो ज्ञानीगुरु इस हंस नाम की परमेश्वरी विद्या का दान करते हैं, उन गुरु की परम प्रज्ञा (निष्ठा) से सेवा करनी चाहिए। इस पृथ्वी पर वह गुरु जो शुभ, अशुभ वा अन्य जो भी आज्ञा करे उसका शिष्य को बिना किसी विचार किए पालन करना चाहिए। इस हंस विद्या को प्राप्त करके गुरु की सेवा करते हुए शिष्य को संतुष्ट होना चाहिए।

आत्मानमात्मना साक्षाद् ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
देहजात्यादिसम्बन्धान्वर्णाश्रमसमन्वितान् ॥29॥
वेदशास्त्राणि चान्यानि पदपांसुमिव त्यजेत् ।
गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः ॥30॥
गुरुरेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥31॥

गुरु के उपदेश से अपने आप से ही अत्यन्त निश्चल ऐसे आत्मा रूप ब्रह्म को जानकर, देह-जाति आदि सम्बन्धों को और वर्ण-आश्रम आदि के धर्मों को भी तथा अन्य वेद-विधि आदि सभी शास्त्रों को पैर में लगी हुई धूल के समान छोड़ देना चाहिए और अपने कल्याण के लिए हमेशा गुरुभक्ति करनी चाहिए। क्योंकि श्रुति ने ऐसा कहा है कि गुरु ही साक्षात् हरि है। इसके सिवा अन्य कोई हरि नहीं।

श्रुतं यदुक्तं परमार्थमेव तत्संशयो नात्र ततः समस्तम् ।
श्रुत्या विरोधे न भवेत्प्रमाणं भवेदनर्थाय विना प्रमाणम् ॥32॥

श्रुति का वचन तो परमार्थरूप ही है, इसमें कोई संशय नहीं है। वह संपूर्णतया प्रमाणभूत इसलिए है क्योंकि श्रुति के विरोध में कोई अन्य प्रमाण हो ही नहीं सकता और प्रमाणहीन वाक्य तो अनर्थ के लिए ही होगा।

देहस्थः सकलो ज्ञेयो निष्कलो देहवर्जितः ।
आप्तोपदेशगम्योऽसौ सर्वतः समवस्थितः ॥33॥
हंसहंसेति यो ब्रूयाद्धंसो ब्रह्मा हरिः शिवः ।
गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतोमुखम् ॥34॥
तिलेषु च यथा तैलं पुष्पं गन्ध इवाश्रितः ।
पुरुषस्य शरीरेऽस्मिन् स बाह्याभ्यन्तरस्तथा ॥35॥
उल्काहस्तो यथालोके द्रव्यमालोक्य तां त्यजेत् ।
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चाज्ज्ञानं परित्यजेत् ॥36॥
पुष्पवत्सकलं विद्याद् गन्धस्तस्य तु निष्कलः ।
वृक्षस्तु सकलं विद्याच्छाया तस्य तु निष्कला ॥37॥

देह में रहा हुआ चैतन्य तो कलायुक्त है, पर देहरहित परमचैतन्य तो कलारहित ही है। आप्त गुरु द्वारा प्राप्त वह परमतत्त्व सर्वत्र समभाव से प्रतिष्ठित है। 'हंस हंस' बोलता हुआ ज्ञानी ब्रह्मा, हरि और शिवस्वरूप ही है। चारों ओर मुखवाले और सर्वव्यापक उस परमतत्त्व का साक्षात्कार गुरु के उपदेशवचन से ही किया जा सकता है। वह परमतत्त्व तिल में तेल की और पुष्प में गन्ध की तरह पुरुष के शरीर में और शरीर के बाहर सर्वत्र समरूप से व्याप्त रहता है। जिस प्रकार मशाल के प्रकाश में द्रव्य (वस्तु) को देख लेने के बाद मशाल को छोड़ दिया जाता है, उसी तरह ज्ञान से ज्ञेय को जान लेने के बाद ज्ञान को छोड़ दिया जाता है। पुष्प तो कलायुक्त (अंशांशि) भाव से युक्त होता है, पर उसमें स्थित गन्ध कलारहित ही है और पुष्प की ही तरह वृक्ष को कलासहित मानना चाहिए और उस वृक्ष की छाया तो कलारहित (निष्कल) ही है।

निष्कलः सकलो भावः सर्वत्रैव व्यवस्थितः ।
उपायः सकलस्तद्वदुपेयश्चैव निष्कलः ॥38॥
सकले सकलो भावो निष्कले निष्कलस्तथा ।
एकमात्रो द्विमात्रश्च त्रिमात्रश्चैव भेदतः ॥39॥
अर्धमात्रा परा ज्ञेया तत ऊर्ध्वं परात्परम् ।
पञ्चधा पञ्चदैवत्वं सकलं परिपठ्यते ॥40॥
ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः ।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रः ललाटस्थो महेश्वरः ॥41॥

पूर्वकथनानुसार निष्कल और सकल का भाव सर्वत्र दिखाई पड़ता है। इनमें जो स-कल यानी कला (अंश-भेद) वाला भाव है वह उपाय अर्थात् साधन है और जो निष्कल यानी कलारहित (अंश रहित) है वह उपेय (प्राप्तव्य) है। स-कल में कलायुक्त भाव रहता है और निष्कल में निष्कल (अखण्ड – विकारहीन) भाव रहता है। वह स-कल भाव एकमात्र, द्विमात्र और त्रिमात्र – इस तरह तीन

भागों वाला होता है। जो अर्ध मात्रा है, वह 'परा' है, और उससे भी जो परे है, उसे परात्पर कहा जाता है। इस प्रकार वह 'स-कल' पाँच प्रकार का (पंचभूतात्मक और पंचप्राणात्मक) कहा गया है। ब्रह्म का स्थान हृदय है, कण्ठ में विष्णु का निवास है, तालु में रुद्र बसते हैं और ललाट में महेश्वर हैं।

नासाग्रे अच्युतं विद्यात् तस्यान्ते च परं पदम्।
परत्वात्तु परं नास्तीत्येवं शास्त्रस्य निर्णयः ॥42॥
देहातीतं तु तं विद्यान्नासाग्रे द्वादशाङ्गुलम्।
तदन्तं तं विजानीयात् तत्रस्थो व्यापयेत्प्रभुः ॥43॥
मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम्।
तथापि योगिनां योगो ह्यविच्छिन्नः प्रवर्तते ॥44॥
एतत्तु परमं गुह्यमेतत्तु परमं शुभम्।
नातः परतरं किञ्चिन्नातः परतरं शुभम् ॥45॥

नासिका के अग्र भाग में अच्युत को जानना चाहिए। (यहाँ अच्युत सदाशिव है) तथा उसके अन्त भाग में (भौंहों के बीच में) परमपद को प्रतिष्ठित मानना चाहिए। इस परमपद से परे कुछ भी नहीं है, ऐसा शास्त्रों का निर्णय है। उस देहातीत परमपद को नासिका के अग्रभाग से ऊपर बारह अँगुलियों में जानना चाहिए तथा उसके अन्तिम भाग में (सहस्त्रारचक्र में) व्यापक प्रभु रहते हैं, ऐसा जानना चाहिए। मन के इधर-उधर चले जाने पर भी और आँख के इधर-उधर देखते रहने पर भी योगियों का योग धारावाहिक गति से चलता ही रहता है। यह सबसे गूढ रहस्य है, यही परमकल्याणकारी है। इससे बढ़कर कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं है, इससे बढ़कर कोई उच्चतर नहीं है।

शुद्धज्ञानामृतं प्राप्य परमाक्षरनिर्णयम्।
गुह्याद् गुह्यतमं गोप्यं ग्रहणीयं प्रयत्नतः ॥46॥
नापुत्राय प्रदातव्यं नाशिष्याय कदाचन।
गुरुदेवाय भक्ताय नित्यं भक्तिपराय च ॥47॥
प्रदातव्यमिदं शास्त्रं नेतरेभ्यः प्रदापयेत्।
दाताऽस्य नरकं याति सिद्ध्यते न कदाचन ॥48॥
गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यत्र यत्र स्थितो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा ॥49॥

शुद्ध ज्ञानामृत को प्राप्त करके परम अक्षरस्वरूप का निश्चय करना चाहिए। यह अक्षरस्वरूप गुह्य से भी गुह्य है, गोपनीय है, संग्रहणीय है। उसे पुत्ररहित पुरुष को या जो शिष्य न बना हो उसको कभी नहीं देना चाहिए। परन्तु, जो गुरु को देव मानता हो, जो भक्त हो और जो हमेशा ही भक्तिपरायण हो, उसे ही यह शास्त्र देना चाहिए, अन्य को नहीं देना चाहिए। ऐसों को देने वाला तो नरक में ही जाता है और उसकी कभी सिद्धि नहीं होती है। परन्तु जो परम अक्षर तत्त्व को जानने वाला होता है, वह चाहे गृहस्थ हो या ब्रह्मचारी हो, चाहे वानप्रस्थी हो या संन्यासी हो, जहाँ कहीं भी हो, और किसी भी स्थिति में हो वह तो हमेशा ज्ञानी ही होता है।

विषयी विषयासक्तो याति देहान्तरे शुभम्।
ज्ञानादेवास्य शास्त्रस्य सर्वावस्थोऽपि मानवः ॥50॥

ब्रह्महत्याश्वमेधाद्यैः पुण्यपापैर्न लिप्यते ।
चोदको बोधकश्चैव मोक्षदश्च परः स्मृतः ॥51॥
इत्येषां त्रिविधो ज्ञेय आचार्यस्तु महीतले ।
चोदको दर्शयेन्मार्गं बोधकः स्थानमाचरेत् ॥52॥
मोक्षदस्तु परं तत्त्वं यज्ज्ञात्वा परमश्नुते ।
प्रत्यक्षयजनं लोके संक्षेपाच्छृणु गौतम ॥53॥

इतना ही नहीं, इस शास्त्र के ज्ञान से ही चाहे वह विषयासक्त हो या कैसी भी अवस्था में हो, वह मनुष्य तब भी देहान्तर में (मरण के बाद) शुभ गति को प्राप्त करता है। ऐसे शास्त्रज्ञानी मनुष्य को न ब्रह्महत्यादि का पाप लगता है, न अश्वमेधादि का पुण्य ही लगता है। इस ज्ञान को देने वाले गुरु इस पृथ्वी में तीन प्रकार के होते हैं—एक प्रेरक, दूसरा बोधक और तीसरा परमगुरु मोक्षदाता। प्रेरक गुरु मार्ग बताते हैं, बोधक गुरु उस ज्ञान का आचरण कर दिखाता है और तीसरा मोक्षदाता गुरु परमतत्त्व को ही प्रदान करता है, जिसे जानकर शिष्य परमतत्त्व का अनुभव करता है। अब हे गौतम ! तुम इस प्रत्यक्ष शरीर के यजन के विषय में संक्षेप में श्रवण करो।

तेनेष्ट्वा स नरो याति शाश्वतं पदमव्ययम् ।
स्वयमेव तु सम्पश्येद्देहे बिन्दुं च निष्कलम् ॥54॥
अयने द्वे च विषुवे सदा पश्यति मार्गवित् ।
कृत्वा यामं पुरा वत्स रेचपूरककुम्भकान् ॥55॥
पूर्वं चोभयमुच्चार्य अर्चयेत्तु यथाक्रमम् ।
नमस्कारेण योगेन मुद्रयारभ्य चार्चयेत् ॥56॥
सूर्यस्य ग्रहणं वत्स प्रत्यक्षयजनं स्मृतम् ।
ज्ञानात्सायुज्यमेवोक्तं तोयं तोयं यथा तथा ॥57॥

इस प्रत्यक्ष यजन के करने से मनुष्य शाश्वत अव्यय पद को पा लेता है और आप ही आप अपने देह के अन्दर ही इस निष्कल और बिन्दु को देख लेता है। दोनों अयनों के समान प्राणमार्ग को जानने वाला मनुष्य मूलाधार और मूर्धा के बीच दो विषुव – दो भाग करके वह सिद्धि प्राप्त करता है। पर इसके पहले उसको एक प्रहर तक पूरक, रेचक और कुंभक का अभ्यास कर लेना चाहिए। सबसे पहले तो 'ओम्' तथा 'हंस'—इन दोनों का स्मरण करके क्रमानुसार पूजन करे। 'हंसः सोऽहम्' इस नमस्कारयोग के द्वारा तथा शाम्भवी, खेचरी आदि मुद्राओं के द्वारा पूजन करना चाहिए। हे वत्स ! यही प्रत्यक्षयजन है। और जब प्राण पिंगला के द्वारा कुण्डलिनीस्थान में प्रवेश करता है, वही सूर्यग्रहण है। जिस प्रकार जल में जल मिल जाता है, वैसे ही इस ज्ञान से सायुज्यपद प्राप्त होता है।

एते गुणाः प्रवर्तन्ते योगाभ्यासकृतश्रमैः ।
तस्माद्योगं समादाय सर्वदुःखबहिष्कृतः ॥58॥
योगध्यानं सदा कृत्वा ज्ञानं तन्मयतां व्रजेत् ।
ज्ञानात्स्वरूपं परमं हंसमन्त्रं समुच्चरेत् ॥59॥
प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः ।
हंस एव परं सत्यं हंस एव तु शक्तिकम् ॥60॥

हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम् ।
हंस एव परो रुद्रो हंस एव परात्परम् ॥61॥

योग के अभ्यास में किए जाने वाले परिश्रम में इतने गुण होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य सभी दुःखों से मुक्त हो सकता है, अतः इसके लिए निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। हमेशा ही इस ब्रह्मविद्या के मन्त्र को जपते हुए, योगचिन्तन से तल्लीनता को प्राप्त करना चाहिए। केवल ज्ञान के द्वारा ही इस परमस्वरूपात्मक हंसमन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। सभी प्राणियों के देह में सर्वदैव अच्युत हंस अवस्थित है ही। वह हंस ही परम सत्य है, हंस ही शक्ति है, हंस ही बड़ा वाक्य है, हंस ही वैदिक वाक्य है। हंस ही परम रुद्र है, और हंस ही परम से भी परम है।

सर्वदेवस्य मध्यस्थो हंस एव महेश्वरः ।
पृथिव्यादिशिवान्तं तु अकाराद्याश्च वर्णकाः ॥62॥
कूटान्ता हंस एव स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः ।
मातृकारहितं मन्त्रमादिशन्ते न कुत्रचित् ॥63॥
हंसज्योतिरनूपम्यं देवमध्ये व्यवस्थितम् ।
दक्षिणामुखमाश्रित्य ज्ञानमुद्रां प्रकल्पयेत् ॥64॥
सदा समाधिं कुर्वीत हंसमन्त्रमनुस्मरन् ।
निर्मलस्फटिकाकारं दिव्यरूपमनुत्तमम् ॥65॥

सभी देवों के बीच हंस ही सबसे बड़ा ईश्वर है। पृथ्वी से लेकर शिवतत्त्व तक तथा अकार से लेकर क्षकार तक के सभी वर्णों में हंस ही वर्ण (मात्राओं) के रूप में विद्यमान है। कहीं भी मात्राओं से रहित कोई मन्त्र तो कहा नहीं गया है। हंस की अनुपम ज्योति देवताओं के बीच में अवस्थित है। दक्षिणामुख (दक्षिणामूर्ति) भगवान् शिव का आश्रय लेकर साधक को ज्ञानमुद्रा करनी चाहिए और सदा समाधि में हंस का चिन्तन करते रहना चाहिए और सदा स्वच्छ स्फटिक जैसे उत्तम दिव्य रूप का ध्यान करना चाहिए।

मध्यदेशे परं हंसं ज्ञानमुद्रात्मरूपकम् ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ॥66॥
पञ्चकर्मेन्द्रियैर्युक्ताः क्रियाशक्तिबलोद्यताः ।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥67॥
पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ता ज्ञानशक्तिबलोद्यताः ।
पावकः शक्तिमध्ये तु नाभिचक्रे रविः स्थितः ॥68॥

मध्य प्रदेश में ज्ञानमुद्रात्मक स्वरूपवाले परमतत्त्व हंस का ध्यान करना चाहिए। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच प्राणवायु पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर क्रियाशक्ति का बल बढ़ा देते हैं। और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये पाँच उपप्राण पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर ज्ञानशक्ति के बल को बढ़ा देते हैं। कुण्डलिनी शक्ति के मध्य में अग्नि और नाभिचक्र में रवि अवस्थित है।

बन्धमुद्रा कृता येन नासाग्रे तु स्वलोचने ।
अकारे वह्निरित्याहुरुकारे हृदि संस्थितः ॥69॥

मकारे च भ्रुवोर्मध्ये प्राणशक्त्या प्रबोधयेत् ।
ब्रह्मग्रन्थिरकारे तु विष्णुग्रन्थिर्हृदि स्थितः ॥70॥
रुद्रग्रन्थिर्भ्रुवोर्मध्ये भिद्यतेऽक्षरवायुना ।
अकारे संस्थितो ब्रह्मा उकारे विष्णुरास्थितः ॥71॥
मकारे संस्थितो रुद्रस्ततोऽस्यान्तः परात्परः ।
कण्ठं संकुच्य नाड्यादौ स्तम्भिते येन शक्तितः ॥72॥
रसना पीड्यमानेयं षोडशी चोर्ध्वगामिनी ।
त्रिकूटं त्रिविधा चैव गोलाखं निखरं तथा ॥73॥
त्रिशङ्खं वज्रमोंकारमूर्ध्वनालं भ्रुवोर्मुखम् ।
कुण्डलीं चालयन्प्राणान् भेदयन् शशिमण्डलम् ॥74॥

पहले तो बन्ध और मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। नासिका के अग्र भाग और दोनों नेत्रों में **'अकार-अग्नि'**, हृदय में **'उकार-अग्नि'** तथा भौहों के बीच **'मकार-अग्नि'** प्रतिष्ठित कही गई है। इन अग्नियों में प्राणशक्ति को संयुक्त करना चाहिए। ब्रह्मग्रन्थि अकार में और विष्णुग्रन्थि हृदय में हैं, तथा रुद्रग्रन्थि दोनों भौहों के बीच विद्यमान है। ये तीनों ग्रन्थियाँ अक्षरवायु से – हंसज्ञान से भेदी जाती हैं। 'अ'कार में ब्रह्म का, 'उ'कार में विष्णु का और 'म'कार में रुद्र का स्थान बताया गया है। और उसके अन्त में परात्पर ब्रह्म है। कण्ठ का संकोचन करके (जालन्धरबन्ध करके) आदिशक्ति (कुण्डलिनी शक्ति) को स्तम्भित करना चाहिए। इसके बाद जिह्वा को दबाकर सुषुम्ना नाडी को, प्राणों को तथा कुण्डलिनी शक्ति को चालित करके शशिमण्डल का भेदन करना चाहिए। वह सुषुम्ना नाडी सोलह आधारवाली है, ऊर्ध्वगामिनी है, त्रिकूट (इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना का मिलन-स्थान) वाली, तीन प्रकार वाली, ब्रह्मरन्ध्र को जानने वाली तथा अतिसूक्ष्म है। और कुण्डलिनी शक्ति ओंकारयुक्त है, ऊर्ध्वनाल है, भ्रूकुटियों को ओर गमन करने वाली है और वह ओंकार त्रिकूट है, अर्थात् सुख, दुःख और सुख-दुःख, तीनों को खा जाने वाला है। वह अयोगी द्वारा दुर्भेद्य वज्र जैसा है। तात्पर्य यह है कि सुषुम्ना नाडी, ओंकार और कुण्डलिनी शक्ति—तीनों को चालित कर शशिमण्डल का भेदन करना चाहिए।

साधयन्वज्रकुम्भानि नव द्वाराणि बन्धयेत् ।
सुमनः पवनारूढः सरागो निर्गुणस्तथा ॥75॥
ब्रह्मस्थाने तु नादः स्याच्छङ्किन्यमृतवर्षिणी ।
षट्चक्रमण्डलोद्धारं ज्ञानदीपं प्रकाशयेत् ॥76॥
सर्वभूतस्थितं देवं सर्वेशं नित्यमर्चयेत् ।
आत्मरूपं तमालोक्य ज्ञानरूपं निरामयम् ॥77॥
दृश्यन्तं दिव्यरूपेण सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
हंस हंस वदेद्वाक्यं प्राणिनां देहमाश्रितः ।
स प्राणापानयोर्ग्रन्थिरजपेत्यभिधीयते ॥78॥

नव द्वारों को बन्द करके वज्रकुम्भक का साधन करना चाहिए। मन को स्वस्थ (प्रसन्न) रखते हुए सहज स्थिति में गुणरहित होकर पवनारूढ (प्राणायामपरायण) रहना चाहिए। ऐसे ध्यान से ब्रह्मस्थान में नाद सुनाई देता है और शंकिनी नामक नाड़ी से अमृत झरने लगता है और षट्चक्रमण्डल का भेदन होने से ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशित हो उठता है। सभी भूत (प्राणियों) में निवास करने वाले परम देव

का सदैव पूजन करना चाहिए। वे देव आत्मस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और दुःखों से रहित हैं। उन सर्वव्यापी निरंजन परमदेव के दिव्यरूप का दर्शन करके 'हंस हंस'—ऐसा जाप निरन्तर करते रहना चाहिए। सभी प्राणियों के शरीर में स्थित प्राण और अपान की ग्रन्थि को अजपा जाप कहा जाता है।

> सहस्रमेकं द्व्ययुक्तं षट्शतं चैव सर्वदा।
> उच्चरन् पठितो हंसः सोऽहमित्यभिधीयते ॥79॥
> पूर्वभागे ह्यधोलिङ्गं शिखिन्यां चैव पश्चिमम्।
> ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत्सदा यतिः ॥80॥

इससे प्रतिदिन इक्कीस हजार और छः सौ बार जप करता हुआ हंस 'सोऽहम्' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। साधक को हमेशा के लिए कुण्डलिनी के पूर्व में अधोलिंग का तथा शिखास्थान में पश्चिम लिंग का और भ्रूकुटियों के बीच में ज्योतिर्लिंग का ध्यान करना चाहिए।

> अच्युतोऽहमचिन्त्योऽहमतर्क्योऽहमजोऽस्म्यहम्।
> अव्रणोऽहमकायोऽहमनङ्गोऽस्म्यभयोऽस्म्यहम् ॥81॥
> अशब्दोऽहमरूपोऽहमस्पर्शोऽस्म्यहमद्वयः।
> अरसोऽहमगन्धोऽहमनादिरमृतोऽस्म्यहम् ॥82॥
> अक्षयोऽहमलिङ्गोऽहमजरोऽस्म्यकलोऽस्म्यहम्।
> अप्राणोऽहममूकोऽहमचिन्त्योऽस्म्यकृतोऽस्म्यहम् ॥83॥
> अन्तर्याम्यहमग्राह्योऽनिर्देश्योऽहमलक्षणः।
> अगोत्रोऽहमगात्रोऽहमचक्षुष्कोऽस्म्यवागहम् ॥84॥

मैं अच्युत, अचिन्त्य, अतर्क्य, अजन्मा हूँ। मैं व्रणरहित, कायारहित, अवयवरहित, अभय हूँ। मैं शब्दरहित, रूपरहित, स्पर्शरहित एवं अद्वय हूँ। मैं रसहीन, गन्धहीन, अनादि और अमृत हूँ। मैं अक्षय, लिंगहीन, अजर और कला-भेदशून्य हूँ। मैं प्राणहीन, अमूक (वाणीयुक्त), अचिन्त्य तथा क्रियारहित हूँ। मैं अन्तर्यामी हूँ, अग्राह्य हूँ, अनिर्देश्य हूँ, लक्षणरहित हूँ। मैं कुल-गोत्र-शरीर आदि से रहित हूँ। मैं नेत्रेन्द्रियरहित हूँ और वागिन्द्रिय से भी रहित ही हूँ।

> अदृश्योऽहमवर्णोऽहमखण्डोऽस्म्यहमद्भुतः।
> अश्रुतोऽहमदृष्टोऽहमन्वेष्टव्योऽमरोस्म्यहम् ॥85॥
> अवायुरप्यनाकाशोऽतेजस्कोऽव्यभिचार्यहम्।
> अमतोऽहमजातोऽहमतिसूक्ष्मोऽविकार्यहम् ॥86॥
> अरजस्कोऽतमस्कोऽहमसत्त्वोऽस्म्यगुणोऽस्म्यहम्।
> अमायोऽनुभवात्माऽहमनन्योऽविषयोऽस्म्यहम् ॥87॥
> अद्वैतोऽहमपूर्णोऽहमबाह्योऽहमनन्तरः।
> अश्रोत्रोऽहमदीर्घोऽहमव्यक्तोऽहमनामयः ॥88॥

मैं अदृश्य, वर्णरहित, अखण्ड और अद्भुत हूँ। मैं अश्रुत, अद्वैत, अन्वेषणीय और अमर हूँ। मैं वायु नहीं हूँ आकाश भी नहीं हूँ, तेज भी नहीं हूँ, मैं नियमभंजक नहीं हूँ। मैं अज्ञेय, अजन्मा, अतिसूक्ष्म और अविकारी हूँ। मैं रजोगुणरहित, तमोगुणरहित, सत्त्वगुणरहित एवं निर्गुण हूँ। मैं मायारहित, अभय, निर्विषय, अद्वैत, जीवभाव में अपूर्ण, अबाह्य, अनन्तर और श्रोत्ररहित हूँ। मैं दीर्घादि परिमाणरहित अव्यक्त और अनामय (व्याधिरहित) हूँ।

अद्वयानन्दविज्ञानघनोऽस्म्यहमविक्रियः ।
अनिच्छोऽहमलेपोऽहमकर्ताऽस्म्यहमद्वयः ॥89॥
अविद्याकार्यहीनोऽहमवाङ्मनसगोचरः ।
अनल्पोऽहमशोकोऽहमविकल्पोऽस्म्यविज्वलन् ॥90॥
आदिमध्यान्तहीनोऽहमाकाशसदृशोऽस्म्यहम् ।
आत्मचैतन्यरूपोऽहमहमानन्दचिद्घनः ॥91॥
आनन्दामृतरूपोऽहमात्मसंस्थोऽहमन्तरः ।
आत्मकामोऽहमाकाशात्परमात्मेश्वरोऽस्म्यहम् ॥92॥

मैं अद्वय, आनन्दरूप, विज्ञानघन, विकाररहित, इच्छारहित, निर्लेप, अकर्ता तथा अद्वैत हूँ। अविद्या का कार्य मैं नहीं हूँ। मैं वाणी और मन से परे हूँ। मैं अनल्प, शोकरहित, विकल्पशून्य, निरग्निरूप हूँ। मैं आदि-मध्य-अन्त हीन हूँ। मैं आकाश जैसा हूँ। मैं आत्मचैतन्यरूप, आनन्दरूप, चिद्घन, आनन्दामृतस्वरूप और आकाश से भी ज्यादा व्यापक हूँ। मैं परमेश्वर हूँ।

ईशानोऽस्म्यहमीड्योऽहमहमुत्तमपूरुषः ।
उत्कृष्टोऽहमुपद्रष्टाऽहमुत्तरोत्तरोऽस्म्यहम् ॥93॥
केवलोऽहं कविः कर्माध्यक्षोऽहं करणाधिपः ।
गुहाशयोऽहं गोप्ताहं चक्षुषश्चक्षुरस्म्यहम् ॥94॥
चिदानन्दोऽस्म्यहं चेता चिद्घनश्चिन्मयोऽस्म्यहम् ।
ज्योतिर्मयोऽस्म्यहं ज्यायाञ्ज्योतिषां ज्योतिरस्म्यहम् ॥95॥
तमसः साक्ष्यहं तुर्यतुर्योऽहं तमसः परः ।
दिव्यो देवोऽस्मि दुर्दर्शो दृष्टाध्यायो ध्रुवोऽस्म्यहम् ॥96॥

मैं ईशान, पूजनीय, परमपुरुष और उत्कृष्ट हूँ। मैं साक्षीस्वरूप हूँ। मैं परे से भी परे हूँ। मैं केवल हूँ, कवि हूँ, कर्माध्यक्ष हूँ। मैं कारणों का भी कारण हूँ। मैं गुप्त रहस्य हूँ। मैं गोप्ता हूँ। और मैं ही नेत्रों का भी नेत्र हूँ। मैं चिदानन्द हूँ, मैं चेतना प्रदान करने वाला हूँ। मैं चिद्घन हूँ, चिन्मय हूँ, ज्योतिर्मय हूँ और ज्योतियों का भी ज्योतिरूप हूँ। मै अन्धकार में साक्ष्यस्वरूप हूँ। तुर्य का भी तुर्य हूँ। अन्धकार से मैं परे हूँ और मैं देवस्वरूप हूँ, मैं दुर्दर्श हूँ और दृष्टि का आधार ध्रुव हूँ (शाश्वत हूँ)।

नित्योऽहं निरवद्योऽहं निष्क्रियोऽस्मि निरञ्जनः ।
निर्मलो निर्विकल्पोऽहं निराख्यातोऽस्मि निश्चलः ॥97॥
निर्विकारो नित्यपूतो निर्गुणो निःस्पृहोऽस्म्यहम् ।
निरिन्द्रियो नियन्ताऽहं निरपेक्षोऽस्मि निष्कलः ॥98॥
पुरुषः परमात्माऽहं पुराणः परमोऽस्म्यहम् ।
परावरोऽस्म्यहं प्राज्ञः प्रपञ्चोपशमोऽस्म्यहम् ॥99॥
परामृतोऽस्म्यहं प्राज्ञः प्रभुरस्मि पुरातनः ।
पूर्णानन्दैकबोधोऽहं प्रत्यगेकरसोऽस्म्यहम् ॥100॥

मैं नित्य हूँ, दोषरहित हूँ, अक्रिय हूँ, निरंजन हूँ, शुद्ध हूँ, विकल्पशून्य हूँ, अनिरुक्त हूँ और निश्चल हूँ। मैं अविकारी हूँ, सदैव पवित्र हूँ, गुणरहित हूँ, ऐषणारहित हूँ। मैं निरिन्द्रिय हूँ, मैं नियन्ता हूँ, मैं निरपेक्ष हूँ और अंशांशिभाव-रहित हूँ। मैं पुरुष हूँ, परमात्मा हूँ शाश्वत और सर्वप्रथम हूँ। मैं ही

परम हूँ, पर से भी पर हूँ, प्राज्ञ हूँ, संसार का शामक मैं ही हूँ। मैं परम अमृतरूप हूँ। मैं प्राज्ञ हूँ, प्रभु हूँ, पुरातन हूँ, पूर्णानन्द हूँ, ज्ञानैकागम्य (बोधस्वरूप) हूँ। मैं अन्तस् में स्थित एकरसमय (समानरूप से रहा) हूँ।

प्रज्ञातोऽहं प्रशान्तोऽहं प्रकाशः परमेश्वरः ।
एकधा चिन्त्यमानोऽहं द्वैताद्वैतविलक्षणः ॥101॥
बुद्धोऽहं भूतपालोऽहं भारूपो भगवानहम् ।
महादेवो महानस्मि महाज्ञेयो महेश्वरः ॥102॥
विमुक्तोऽहं विभुरहं वरेण्यो व्यापकोऽस्म्यहम् ।
वैश्वानरो वासुदेवो विश्वतश्चक्षुरस्म्यहम् ॥103॥
विश्वाधिकोऽहं विशदो विष्णुर्विश्वकृदस्म्यहम् ।
शुद्धोऽस्मि शुक्रः शान्तोऽस्मि शाश्वतोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ॥104॥
सर्वभूतान्तरात्माहमहमस्मि सनातनः ।
अहं सकृद्विभातोऽस्मि स्वे महिम्नि सदा स्थितः ॥105॥

मैं प्रकृष्ट ज्ञाता हूँ, मैं प्रकाश हूँ, मैं परमेश्वर हूँ, मैं एक ही प्रकार से विचारणीय हूँ, मैं द्वैत और अद्वैत से विलक्षण हूँ। मैं बुद्ध (ज्ञानी) हूँ, मैं सभी प्राणियों का पालक हूँ, मैं तेज:स्वरूप हूँ, मैं भगवान् हूँ। मैं महादेव हूँ, मैं बड़ा हूँ, मैं ही सबसे अधिक जानने योग्य हूँ, मैं ही महेश्वर हूँ। मैं विमुक्त हूँ, मैं विभु हूँ, मैं वरणयोग्य हूँ, मैं व्यापक हूँ, मैं वैश्वानर एवं वासुदेव हूँ, मैं ही सम्पूर्ण विश्व का चक्षुरूप हूँ। मैं विश्व से अधिक हूँ, मैं विशद हूँ, मैं विष्णु हूँ, मैं विश्वस्रष्टा हूँ। मैं शुद्ध हूँ, मैं शुक्र हूँ, मैं शान्त हूँ, मैं शाश्वत और शिव हूँ। मैं सभी प्राणियों का अन्तरात्मा हूँ, मैं सनातन हूँ, मैं अपनी महिमा में स्थिर रहकर सदैव निरन्तर प्रकाशित होता रहता हूँ।

सर्वान्तरः सर्वज्योतिः सर्वाधिपतिरस्म्यहम् ।
सर्वभूताधिवासोऽहं सर्वव्यापी स्वराडहम् ॥106॥
समस्तसाक्षी सर्वात्मा सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ॥107॥
स्थानत्रयव्यतीतोऽहं सर्वानुग्राहकोऽस्म्यहम् ।
सच्चिदानन्दपूर्णात्मा सर्वप्रेमास्पदोऽस्म्यहम् ॥108॥
सच्चिदानन्दमात्रोऽहं स्वप्रकाशोऽस्मि चिद्घनः ।
सत्त्वस्वरूपसन्मात्रसिद्धसर्वात्मकोऽस्म्यहम् ॥109॥
सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः सर्वबन्धहरोऽस्म्यहम् ।
सर्वग्रासोऽस्म्यहं सर्वद्रष्टा सर्वानुभूरहम् ॥
एवं यो वेद तत्त्वेन स वै पुरुष उच्यते ॥110॥ इत्युपनिषत् ।

इति ब्रह्मविद्योपनिषत् समाप्ता ।

मैं सबके भीतर हूँ, मैं सर्वप्रकाशक हूँ, मैं सर्वाधिपति हूँ, मैं सभी प्राणियों में और भूतों में रहता हूँ। मैं सर्वव्यापक हूँ, मैं स्वराट् हूँ। मैं सबका साक्षी हूँ, सबका आत्मा हूँ, सभी प्राणियों की हृदय रूपी

गुहा में रहता हूँ। सभी इन्द्रियों में गुणों का मैं प्रकाशक हूँ। सभी इन्द्रियों से मैं रहित हूँ। मैं जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति से परे हूँ। मैं सभी पर कृपा करने वाला हूँ। मैं सच्चिदानन्द हूँ, मैं पूर्णात्मा हूँ। मैं सभी के लिए प्रेम का पात्र हूँ। मैं केवल सच्चिदानन्द ही हूँ। मैं स्वयंप्रकाश चिद्घन हूँ। मैं सत्तास्वरूप और केवल सत्ता ही हूँ। मेरे लिए सब सिद्ध ही है। मैं सबका अधिष्ठान (आधार) और सत्तात्मक ही हूँ। सभी प्रकार के बन्धनों को मैं काटने वाला हूँ। मैं सबका ग्रास करने वाला हूँ। मैं सबका द्रष्टा (साक्षी) हूँ। मैं सबका अनुभव करने वाला हूँ। इस प्रकार से जो तत्त्वरूप को समझता है या ज्ञाता है वही पुरुष है—ऐसा उपदेश है।

यहाँ ब्रह्मविद्योपनिषत् पूर्ण होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ……मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(49) मण्डलब्राह्मणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में पाँच ब्राह्मण हैं। इसमें याज्ञवल्क्य और सूर्यनारायण के प्रश्नोत्तर रूप में आत्मतत्त्व का विशद विवेचन किया गया है। पहले ब्राह्मण में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायामादि) का, देह के पाँच दोषों का, तारकदर्शन, लक्ष्यत्रयदर्शन, तारक और अमनस्क योग के दो भेदों का, आत्मनिष्ठ की ब्रह्मरूपता आदि का निरूपण किया गया है। दूसरे ब्राह्मण में सर्वसाधारण ज्योति का आत्मरूप में वर्णन है। आत्मज्ञान का फल, शांभवी मुद्रा, पूर्णिमादृष्टि, मुद्रासिद्धि, प्रणवरूप आत्मप्रकाशानुभूति, षण्मुखी मुद्रा से प्रणवसिद्धि, कर्मों की प्रणवज्ञ पर अप्रभावकता, उन्मनी अवस्था का परिणाम, ब्रह्मानुसन्धान का फल, ब्रह्मज्ञस्वरूप, सुषुप्ति-समाधि भेद, जाग्रदादि व्यवस्था, संसारातिक्रमण का मार्ग, बन्ध-मोक्ष का कारण, निर्विकल्प समाधि - अभ्यास और फल आदि कई विषयों का विशद वर्णन है। तीसरे ब्राह्मण में परमात्मसाक्षात्कार से उन्मनीभाव की प्राप्ति, संसार के बन्धन से मुक्ति, तारकमार्ग से मनोनाश, उन्मनी योगी का ब्रह्मभाव आदि विषयों का प्रतिपादन है। चौथे ब्राह्मण में व्योम पंचक का ज्ञान, उसका फल तथा राजयोग का सार दिया गया है। और पाँचवें ब्राह्मण में मन का परमात्मा में लय करने का अभ्यास, मनोनाश की अवस्था का परिशीलन करने से ब्रह्मप्राप्ति और ब्रह्मप्राप्त पुरुष की महिमा बताई गई है। इसमें पहले ब्राह्मण में चार खण्ड हैं, दूसरे ब्राह्मण में पाँच खण्ड हैं, तीसरे ब्राह्मण में दो खण्ड हैं तथा चौथे और पाँचवें ब्राह्मणों के एक-एक खण्ड है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ...... पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

याज्ञवल्क्यो ह वै महामुनिरादित्यलोकं जगाम।
तमादित्यं नत्वा भो भगवन्नादित्यात्मतत्त्वमनुब्रूहीति ॥1॥

एक बार [illegible] मुनि याज्ञवल्क्य आदित्यलोक में गए और वहाँ भगवान् आदित्य को प्रणाम करके बोले—'हे भगवन्! हे आदित्य! आप मुझे आत्मतत्त्व का उपदेश दीजिए।'

स होवाच नारायणः। ज्ञानयुक्तयमाद्यष्टाङ्गयोग उच्यते ॥2॥
शीतोष्णाहारनिद्राविजयः सर्वदा शान्तिर्निश्चलत्वं विषयेन्द्रियनिग्रहश्चैते यमाः ॥3॥

गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन। तुष्टिर्निःसङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमाः ॥4॥

तब सूर्यनारायण ने कहा कि अब तत्त्वज्ञान के उपरान्त यम-नियमादि को अष्टांगयोग कहा जा रहा है (अर्थात् तत्त्वज्ञान सहित अष्टांग योग मेरे द्वारा कहा जा रहा है—) शीत-उष्ण आदि पर तथा आहार एवं निद्रा पर विजय प्राप्त करना, सर्वदा शान्त रहना और अविचलित होकर इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना—ये सभी पाँच यम कहलाते हैं। तथा गुरु की भक्ति, सत्यमार्ग पर अनुराग, जो कुछ भी मिले उसमें संतोष, एकान्त में रहना, आसक्ति न रखना, मनोनिवृत्ति, फल की इच्छा न करना और वैराग्यभाव रखना—ये सभी नियम हैं।

सुखासनवृत्तिश्चिरवासश्चैवमासननियमो भवति ॥5॥
पूरककुम्भकरेचकैः षोडशचतुःषष्टिद्वात्रिंशत्संख्यया यथाक्रमं प्राणायामः ॥6॥
विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः ॥7॥
विषयव्यावर्तनपूर्वकं चैतन्ये चेतःस्थापनं धारणं भवति ॥8॥

लम्बे समय तक एक ही वृत्ति में स्थित (स्थिर) रहना और बिना किसी प्रयास से लम्बे समय तक एक ही स्थिति में रहना—ये आसन के नियम हैं। और सोलह मात्राओं के द्वारा पूरक, चौसठ मात्राओं के द्वारा कुम्भक तथा बत्तीस मात्राओं के द्वारा रेचक करने की क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। इन्द्रियों के विषयों से मन को रोकना (निरोध करना) ही प्रत्याहार है। और विषयों से रोके गए मन को चैतन्य की सत्ता में स्थिर (एकाग्र) करना धारणा कही जाती है।

सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम् ॥9॥
ध्यानविस्मृतिः समाधिः ॥10॥
एवं सूक्ष्माङ्गानि। य एवं वेद स मुक्तिभाग् भवति ॥11॥

सभी प्राणियों के शरीरों में एक ही चैतन्यतत्त्व विद्यमान है। इस बात का निरन्तर चिन्तन (सातत्य) को ही ध्यान कहा गया है और ध्यान को भी विस्मृत कर देना समाधि कही जाती है। इस प्रकार ये सभी सूक्ष्म अंग हैं। जो मनुष्य इन्हे भली प्रकार से जान लेता है, वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

द्वितीयः खण्डः

देहस्य पञ्च दोषा भवन्ति कामक्रोधनिःश्वासभयनिद्राः ॥1॥
तन्निरासस्तु निःसङ्कल्पक्षमालघ्वाहाराप्रमादतातत्त्वसेवनम् ॥2॥
निद्राभयसरीसृपं हिंसादितरङ्गं तृष्णावर्तं दारपङ्कं संसारवार्धिं तर्तुं सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सत्त्वादिगुणानतिक्रम्य तारकमवलोकयेत् ॥3॥
भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं तारकं ब्रह्म ॥4॥
तदुपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम् ॥5॥

काम, क्रोध, निःश्वास (हाँफना), भय और निद्रा (अज्ञान)—ये पाँच शरीर के दोष माने गये हैं। इन दोषों को दूर करने के लिए संकल्पों का त्याग, क्षमा, मिताहार, निर्भयता और तत्त्वचिन्तन—ये उपाय हैं। इस संसाररूपी सागर में यह निद्रा दोष (अज्ञान) और भय हैं, वे साँप जैसे हैं। हिंसा उस सागर की

तरंगें हैं, तृष्णा भँवर है, स्त्री कीचड़ है। ऐसे संसाररूपी सागर को पार करने के लिए सूक्ष्ममार्ग का आधार लेकर, सत्त्व आदि गुणों से ऊपर उठकर तारक ब्रह्म का दर्शन करना चाहिए। (अर्थात् उसका ध्यान करना चाहिए)। दोनों भौहों के बीच में सच्चिदानन्दस्वरूप तेजोमय शिखर जैसे तारक ब्रह्म का वास है। उस तारक ब्रह्म की प्राप्ति के उपायों में लक्ष्य-त्रय का अवलोकन करना चाहिए।

मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा। तन्मध्ये तडित्कोटि-समा मृणालतन्तुसूक्ष्मा कुण्डलिनी। तत्र तमोनिवृत्तिः। तद्दर्शनात्सर्व-पापनिवृत्तिः ॥6॥
तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये फूत्कारशब्दो जायते।
तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यनीलज्योतिः पश्यति। एवं हृदयेऽपि ॥7॥

मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक सूर्य के समान तेजस्विनी सुषुम्ना नामक एक नाडी है। इस नाडी के बीच में उससे कोटि गुनी सूक्ष्म मृणालतन्तु जैसी कुण्डलिनी शक्ति अवस्थित है। उसका ज्ञान होने से वहाँ तमोगुण की निवृत्ति हो जाती है। इसके दर्शन से सभी पापों का नाश होता है। तर्जनी अंगुलि के अग्रभाग से दोनों कानों को बन्द करने से साधक के कानों में फुत्कार शब्द उत्पन्न होता है। साधक जब उस शब्द में अपने मन को स्थिर करता है, तब उसकी आँखों के बीच में नीलवर्ण ज्योति के दर्शन होने लगते हैं। इस प्रकार हृदय में भी वही ज्योति दिखाई देने लगती है।

बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्रे चतुःषडष्टदशद्वादशाङ्गुलीभिः क्रमान्नीलद्युति-श्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीस्फुरत्पीतवर्णद्वयोपेतं व्योमत्वं पश्यति स तु योगी ॥8॥
चलनदृष्ट्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते। तद् दृष्टिः स्थिरा भवति ॥9॥
शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलिमानं ज्योतिः पश्यति तदाऽमृतत्वमेति ॥10॥

तीन लक्ष्यों में अन्तर्लक्ष्य की बात कहकर अब बाह्य लक्ष्य बताते हैं। बाह्य लक्ष्य वह है जिसमें साधक को नाक के अग्रभाग में चार, छः, आठ, दस, बारह अंगुल की दूरी पर क्रमशः नीलवर्ण, श्यामवर्ण, रक्तवर्ण, पीलावर्ण और दो रंगों से मिश्रित आकाश दिखाई पड़ता है, वह मनुष्य योगी बन जाता है। चंचल दृष्टि से आकाश के भाग को देखने वाले पुरुष की दृष्टि के आगे के प्रदेश में जो ज्योतियुक्त किरणें दिखाई पड़ती हैं, उससे दृष्टि में स्थिरत्व आ जाता है। मस्तक के ऊपर बारह अंगुल के अन्तर पर ज्योति दिखाई पड़ती है। उसको देखने वाले मनुष्य को अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है।

मध्यलक्ष्यं तु प्रातश्चित्रादिवर्णसूर्यचन्द्रवह्निज्वालावलीवत्तद्विहीनान्त-रिक्षवत्पश्यति ॥11॥
तदाकाराकारी भवति ॥12॥
अभ्यासान्निर्विकारं गुणरहिताकाशं भवति। विस्फुरत्तारकाकारगाढ-तमोपमं पराकाशं भवति। कालानलसमं द्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमाद्वितीयप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाश-संकाशं सूर्याकाशं भवति ॥13॥
एवमभ्यासात्तन्मयो भवति य एवं वेद ॥14॥

अब तीसरा मध्यलक्ष्य इस प्रकार है—प्रातःकाल में सूर्य, चन्द्र और अग्नि की ज्वाला जैसा और से रहित अन्तरिक्ष जैसा दिखलाई देता है। बाद में उसके आकार की तरह ही आकारवाला होता है।

अभ्यास के द्वारा निर्विकार, गुणरहित आकाशरूप होता है। प्रकाशित (चमकते) तारकों जैसा और प्रगाढ अन्धकार के जैसा 'पराकाश' होता है। और 'महाकाश' प्रलयकालीन अग्नि जैसा प्रकाशित होता है। इन दोनों से उत्कृष्ट – परम अद्वितीय स्वरूप से प्रकाशित 'तत्त्वाकाश' होता है। और करोड़ों सूर्य जैसा प्रकाशित सूर्याकाश होता है—ऐसा जो जानता है, वह अभ्यासपूर्वक तन्मय होता है।

तृतीयः खण्डः

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविभागतः। पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति। तारकं द्विविधम्। मूर्तितारकममूर्तितारकमिति। यदिन्द्रि-यान्तं तन्मूर्तितारकम्। यद् भ्रूयुगातीतं तदमूर्तितारकमिति ॥1॥

इस योग के दो विभाग हैं—एक पूर्व और दूसरा उत्तर। पूर्व विभाग को तारकब्रह्म कहा जाता है और उत्तर विभाग को अन्यमनस्क कहते हैं। तारक ब्रह्म के भी दो प्रकार माने गए हैं। एक मूर्ति तारक कहा जाता है, और दूसरे को अमूर्तितारक कहते हैं। मूर्तितारक इन्द्रियों तक सीमित है। जो दोनों भौहों से परे=अतिक्रान्त (ऊपर उठा हुआ) है, वह अमूर्तितारक है।

उभयमपि मनोयुक्तमभ्यसेत्। मनोयुक्तान्तरदृष्टिस्तारकप्रकाशाय भवति ॥2॥

भ्रूयुगमध्यबिले तेजस आविर्भावः। एतत्पूर्वतारकम् ॥3॥

उत्तरं त्वमनस्कम्। तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते। तद्दर्शनादणि-मादिसिद्धिः ॥4॥

इन दोनों का (मूर्तितारक और अमूर्तितारक का) मन लगाकर अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि मनोयोगपूर्वक की गई अन्तर्दृष्टि ही तारक ब्रह्म को प्रकट करने में समर्थ होती है। इसके बाद दोनों भौहों के बीच में अवस्थित छिद्र में तेज प्रकट होता है। वह पूर्वतारक ब्रह्म है। उत्तर विभाग तो अमनस्क (मनोरहित) होता है। तालुमूल के ऊपर के भाग में महाज्योति का निवास है। उसके दर्शन से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

लक्ष्येऽन्तर्बाह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां चेयं शाम्भवी मुद्रा भवति। सर्वतन्त्रेषु गोप्यमहाविद्या भवति। तज्ज्ञानेन संसारनिवृत्तिः। तत्पूजनं मोक्षफलदम् ॥5॥

अन्तर्लक्ष्यं जलज्ज्योतिःस्वरूपं भवति। महर्षिवेद्यं अन्तर्बाह्येन्द्रियैर-दृश्यम् ॥6॥

जब लक्ष्य के ऊपर भीतर और बाहर की दृष्टि अचल (स्थिर) हो जाती है, तब वह शांभवी मुद्रा होती है। सकलतन्त्रों में गोपनीय वह ब्रह्मविद्या है। उसके ज्ञान से संसार से निवृत्ति हो जाती है। इसका पूजन मोक्षरूपी फल को देने वाला है। अन्तर्लक्ष्य जाज्वल्यमान ज्योति के समान है। इसे तो केवल महर्षिगण ही पहचान सकते हैं। वह बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों का विषय बन नहीं सकता।

चतुर्थः खण्डः

सहस्रारे जलज्ज्योतिरन्तर्लक्ष्यम्। बुद्धिगुहायां सर्वाङ्गसुन्दरं पुरुषरूप-मन्तर्लक्ष्यमित्यपरे। शीर्षान्तर्गतमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमुमासहायं

नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति केचित् । अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तर्लक्ष्य-मित्येके ॥1॥

उक्तविकल्पं सर्वमात्मैव । तल्लक्ष्यं शुद्धात्मदृष्ट्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति ॥2॥

सहस्रार पद्म में जाज्वल्यमान ज्योति जैसा अन्तर्लक्ष्य है । कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि बुद्धिरूपी गुफा में सर्वांगसुन्दर पुरुषरूप ही अन्तर्लक्ष्य है । और कई लोग ऐसा भी मानते हैं कि मस्तक के भीतर स्थित मंडल के बीच के प्रदेश में पाँच मुखवाले तथा उमा के साथ स्थित नीलकण्ठ भगवान् शंकर का प्रशान्त स्वरूप ही अन्तर्लक्ष्य है । और कुछ विद्वान् ऐसा भी मानते हैं कि अंगुष्ठमात्र पुरुष ही अन्तर्लक्ष्य है । उपर्युक्त सभी विकल्प आत्मा के ही हैं। जो मनुष्य उस अन्तर्लक्ष्य को शुद्ध बुद्धि से देखता है, वह ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है ।

जीवः पञ्चविंशकः स्वकल्पितचतुर्विंशतितत्त्वं परित्यज्य षड्विंशः परमात्माहमिति निश्चयाज्जीवन्मुक्तो भवति ॥3॥

एवमन्तर्लक्ष्यदर्शनेन जीवन्मुक्तिदशायां स्वयमन्तर्लक्ष्यो भूत्वा परमाकाशाखण्डमण्डलो भवति ॥4॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ।

जीव पच्चीसवाँ तत्त्व है । वह स्वयं के द्वारा कल्पित चौबीस तत्त्वों को छोड़कर 'मैं छब्बीसवाँ परमात्मा हूँ'—ऐसा निश्चय करता है, इसलिए वह जीवन्मुक्त बनता है । इस प्रकार अन्तर्लक्ष्य के दर्शन से जब जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होती है, तब स्वयं अन्तर्लक्ष्य स्वरूप होकर परमाकाशरूप अखण्डमण्डल वाला हो जाता है ।

यहाँ प्रथम ब्राह्मण पूरा हुआ ।

❋

द्वितीयं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

अथ ह याज्ञवल्क्य आदित्यमण्डलपुरुषं पप्रच्छ । भगवन्नन्तर्लक्ष्यादिकं बहुधोक्तम् । मया तन्न ज्ञातम् । तद् ब्रूहि मह्यम् ॥1॥

तदु होवाच पञ्चभूतकारणं तडित्कूटाभं तद्वच्चतुःपीठम् । तन्मध्ये तत्त्वप्रकाशो भवति । सोऽतिगूढ अव्यक्तश्च ॥2॥

इसके बाद, याज्ञवल्क्य ने सूर्यमण्डल मे स्थित पुरुष से पूछा—'हे भगवन् ! आपने अन्तर्लक्ष्य आदि विषय को अनेक प्रकार से कहा । परन्तु, वह मैं समझ नहीं पाया हूँ । अत: वह आप (फिर से) कहिए ।' तब उन नारायण ने कहा—'पाँच भूतों का कारण (मूलस्रोत) विद्युत् के पुंज जैसा है । उनसे युक्त वह चतुष्पीठ है । उसके बीच में तत्त्व का प्रकाश होता है । वह अतिगूढ और अव्यक्त हैं' ।

तज्ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम् । तद्बाह्याभ्यन्तर्लक्ष्यम् ॥3॥

तन्मध्ये जगल्लीनम् । तन्नादबिन्दुकलातीतमखण्डमण्डलम् ।

तत्सगुणनिर्गुणस्वरूपम् । तद्वेत्ता विमुक्तः ॥4॥

उस अव्यक्त को ज्ञानरूपी नौका पर आरूढ़ मनुष्य पहचान सकता है। वह बाहर का और भीतर का लक्ष्य है। उसके बीच जगत् लीन होकर रहता है। वह नाद, बिन्दु, कला से परे अखण्ड मण्डल है। वह सगुण-निर्गुण स्वरूप है। उसको जानने वाला मुक्त हो जाता है।

आदावग्निमण्डलम्। तदुपरि सूर्यमण्डलम्। तन्मध्ये सुधाचन्द्रमण्डलम्। तन्मध्येऽखण्डब्रह्मतेजोमण्डलम्। तद्विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरम्। तदेव शाम्भवीलक्षणम् ॥5॥

तद्दर्शने तिस्रो दृष्टयः अमा प्रतिपत् पूर्णिमा चेति। निमीलितदर्शनममादृष्टिः। अर्धोन्मीलितं प्रतिपत्। सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति। तासु पूर्णिमाभ्यासः कर्तव्यः ॥6॥

तल्लक्ष्यं नासाग्रम्। यदा तालुमूले गाढतमो दृश्यते। तदभ्यासादखण्डमण्डलाकारज्योतिर्दृश्यते। तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति ॥7॥

पहले अग्निमण्डल है, इसके ऊपर सूर्यमण्डल है, इसके बीच में अमृतरूप चन्द्रमण्डल है। उसके बीच में अखंड ब्रह्म का तेजोमण्डल है। वह विद्युत् की रेखा जैसा श्वेत और प्रकाशमान है। वही शांभवी मुद्रा का लक्षण है। उसके दर्शन से तीन मूर्ति रूप दृष्टिगत होते हैं—एक अमावस्या रूप, दूसरी प्रतिपदारूप और तीसरी पूर्णिमारूप। पलक बन्द होने वाली दृष्टि अमावस्या की दृष्टि है, आधी निमीलित दृष्टि प्रतिपदारूप दृष्टि है और पूर्ण रूप से खुली हुई दृष्टि पूर्णिमारूप दृष्टि है। इन दृष्टियों में से पूर्णिमा की दृष्टि का अभ्यास करना चाहिए। उसका लक्ष्य नासा का अग्रभाग है। जब तालु के मूल में गाढ अन्धकार दिखाई देता है, तब इसके अभ्यास से अखण्डमण्डलाकार ज्योति दिखाई देती है। वही सच्चिदानन्द ब्रह्म है।

एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शाम्भवी भवति। तामेव खेचरीमाहुः ॥8॥

तदभ्यासान्मनःस्थैर्यम्। ततो बुद्धिस्थैर्यम् ॥9॥

तच्चिह्नानि। आदौ तारकवद् दृश्यते। ततो वज्रदर्पणम्। तत उपरि पूर्णचन्द्रमण्डलम्। ततो नवरत्नप्रभामण्डलम्। ततो मध्याह्नार्कमण्डलम्। ततो वह्निशिखामण्डलं क्रमाद् दृश्यते ॥10॥

इस प्रकार मन जब सहजानन्द में लीन हो जाता है, तब प्राणी शान्त हो जाता है। इसी को 'खेचरी मुद्रा' कहा जाता है। इसके अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है। इसके बाद वायु स्थिर हो जाता है। इसके चिह्न इस प्रकार हैं—पहले तारा जैसा दिखाई देता है, इसके बाद वज्रदर्पण (हीरे का आयना)-जैसा दिखाई पड़ता है। उसके ऊपर पूर्ण चन्द्रमण्डल दीखता है। इसके बाद नवरत्नों की प्रभा वाला मण्डल दिखाई देता है। इसके बाद मध्याह्न के सूर्य वाला मण्डल दीखता है। इसके बाद क्रमशः अग्नि शिखाओं का मण्डल दीखता है।

द्वितीयः खण्डः

तदा पश्चिमाभिमुखप्रकाशः स्फटिकधूम्रबिन्दुनादकलानक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसवर्णनवरत्नादिप्रभा दृश्यन्ते। तदेव प्रणवस्वरूपम् ॥1॥

प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा घृतकुम्भको नासाग्रदर्शनदृढभावनया द्विकराङ्गुलिभिः षण्मुखीकरणेन प्रणवध्वनिं निशम्य मनस्तत्र लीनं भवति ॥2॥

उस समय पश्चिम की ओर से (आन्तरिक) प्रकाश देखने में आता है। इसकी आभा धूम्र (धूसर) वर्ण की, स्फटिक मणि जैसी तथा बिन्दु (मनस्तत्त्व), नाद (बुद्धितत्त्व), कला (महत्तत्त्व), नक्षत्र, जुगनू, दीपक, नयन, सुवर्ण और नवरत्न जैसी होती है। यही प्रणव का स्वरूप है। प्राण और अपानवायु को एक करके पहले कुम्भक को धारण करना चाहिए। इसके बाद नासा के अग्रभाग पर दृष्टि को एकाग्र करके दृढ भावना से दोनों हाथों की अँगुलियों से षण्मुखी मुद्रा धारण करके प्रणवनाद का (ओम् का) श्रवण करना चाहिए। तब इसमें मन लीन हो जाता है।

तस्य न कर्मलेपः। रवेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्तव्यम्। एवं-विधश्चिदादित्यस्योदयास्तमयाभावात्सर्वकर्माभावः ॥3॥
शब्दकाललयेन दिवारात्र्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञानेनोन्मन्यवस्था-वशेन ब्रह्मैक्यं भवति। उन्मन्या अमनस्कं भवति ॥4॥

इस प्रकार अभ्यास करने वाला कर्म से लिप्त नहीं होता। कर्म तो सूर्य के उदयकाल और अस्तकाल में करने होते हैं, परन्तु चैतन्यरूपी सूर्य का तो कभी उदय या अस्त होता ही नहीं है। इसलिए उसे जानने वाले अर्थात् साक्षात्कार करने वाले के लिए तो कोई कर्म है ही नहीं – कर्माभाव ही है। शब्द और काल के लय हो जाने से मनुष्य दिन और रात्रि से ऊपर उठकर सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसके द्वारा उसको उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है और ब्रह्म के साथ उसका एकत्व हो जाता है। उन्मनी अवस्था से व्यक्ति अमनस्क (मनोरहित) हो जाता है।

तस्य निश्चिन्ता ध्यानम्। सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम्। निश्चयज्ञानमा-सनम्। उन्मनीभावः पाद्यम्। सदाऽमनस्कमर्घ्यम्। सदादीप्तिरपारामृत-वृत्तिः स्नानम्। सर्वत्र भावना गन्धः। दृक्स्वरूपावस्थानमक्षताः। चिदाप्तिः पुष्पम्। चिदग्निस्वरूपं धूपः। चिदादित्यस्वरूपं दीपः। परिपूर्णचन्द्रामृतरसस्यैकीकरणं नैवेद्यम्। निश्चलत्वं प्रदक्षिणम्। सोऽहंभावो नमस्कारः। मौनं स्तुतिः। सर्वसन्तोषो विसर्जनमिति य एवं वेद ॥5॥

निश्चित अवस्था ही उसका ध्यान है। समस्त कर्मों का निरस्तीकरण (दूर करना) ही उसका आवाहन है। निश्चयज्ञान ही उसका आसन है। मनोरहित होना ही पाद्य है। नित्य अमनस्कता ही अर्घ्य है। नित्य का प्रकाश और अपार अमृतमय वृत्ति ही स्नान है। ब्रह्मभावना ही चन्दन है। दर्शनरूप स्थिति ही अक्षत है। चैतन्यप्राप्ति ही पुरुष है। चैतन्यस्वरूप अग्नि का रूप ही धूप है। चैतन्यस्वरूप सूर्य का रूप ही दीपक है। परिपूर्ण चन्द्र के अमृतरस का एकीकरण ही नैवेद्य है। निश्चलता ही प्रदक्षिणा है। 'वह मैं हूँ' ऐसा भाव ही नमस्कार है। मौन ही स्तुति है। सर्व प्रकार से परितोष ही उसका विसर्जन है। ऐसा जो जानता है, वह ब्रह्मरूप हो जाता है।

तृतीयः खण्डः

एवं त्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्गसमुद्रवन्निवातस्थितदीपवदचलसम्पूर्ण-भावाभावविहीनकैवल्यज्योतिर्भवति ॥1॥
जाग्रन्निदान्तःपरिज्ञानेन ब्रह्मविद्भवति ॥2॥
सुषुप्तिसमाध्योर्मनोलयाविशेषेऽपि महदस्त्युभयोर्भेदस्तमसि लीनत्वा-न्मुक्तिहेतुत्वाभावाच्च ॥3॥

समाधौ मृदिततमोविकारस्य तदाकाराकारिताखण्डाकारवृत्त्यात्मक-साक्षिचैतन्ये प्रपञ्चलयः सम्पद्यते प्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात् ॥4॥

इस प्रकार जब ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी निरस्त हो जाती है, तब योगी तरंगविहीन सागर जैसा और वायुरहित दीपक जैसा निश्चल, भावाभावरहित, केवल ज्योतिरूप हो जाता है। जाग्रत् में और निद्रा में भी ज्ञान के रहने से वह ब्रह्मवेत्ता हो जाता है। यद्यपि सुषुप्ति में और समाधि में मन का लय तो समान ही होता है, परन्तु फिर भी दोनों में बड़ा भेद है, क्योंकि सुषुप्ति में तो मन का लय अज्ञान में होता है, इसलिए मुक्ति का कारण नहीं होता, जब कि समाधि में तो तमोगुण के विकार नष्ट हो जाने से तदाकार और अखण्डाकार बनी हुई वृत्ति रूप बने हुए साक्षी चैतन्य में प्रपंच का विलय हो जाता है। क्योंकि प्रपंच तो मन:कल्पित होता है।

ततो भेदाभावात् कदाचिद्बहिर्गतेऽपि मिथ्यात्वभानात्। सकृद्विभात-सदानन्दानुभवैकगोचरो ब्रह्मवित्तदैव भवति ॥5॥

यस्य सङ्कल्पनाशः स्यात्तस्य मुक्तिः करे स्थिता । तस्माद्भावाभावौ परित्यज्य परमात्मध्यानेन मुक्तो भवति ॥6॥

पुनः पुनः सर्वावस्थासु ज्ञानज्ञेयौ ध्यानध्येयौ लक्ष्यालक्ष्ये दृश्यादृश्ये चोहापोहादि परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत्। य एवं वेद ॥7॥

लेकिन उस अवस्था के बाद कोई भेद नहीं रहता। इसलिए योगी कदाचित् समाधि में से बाहर निकला हो, तब भी उसे प्रपंच मिथ्या ही मालूम पड़ता है। जब एक बार सदानन्द प्रकाशित हो गया तब वही एकमात्र विषय बनता है और तभी मनुष्य ब्रह्मवेत्ता होता है। जिसके संकल्पों का नाश हुआ होता है, उसी के हाथ में मुक्ति होती है। इसलिए भाव और अभाव, दोनों का त्याग करके परमात्मा का ध्यान करने से मुक्ति मिलती है। बार-बार, प्रत्येक अवस्था में, ज्ञान-ज्ञेय का, ध्यान-ध्येय का, लक्ष्य-अलक्ष्य का और ऊह-अपोह का त्याग करके मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। जो इस प्रकार जानता है, वह ब्रह्म को पाता है।

चतुर्थः खण्डः

पञ्चावस्थाः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयतुरीयातीताः ॥1॥

जाग्रति प्रवृत्तो जीवः प्रवृत्तिमार्गासक्तः। पापफलनरकादिमांस्तु शुभ-कर्मफलस्वर्गमस्त्विति काङ्क्षते ॥2॥

एवं स एव स्वीकृतवैराग्यात्कर्मफलजन्माऽलं संसारबन्धनमलमिति विमुक्त्यभिमुखो निवृत्तिमार्गप्रवृत्तो भवति ॥3॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत—ऐसी पाँच अवस्थाएँ हैं। उनमें से जाग्रत् अवस्था में रहा हुआ जीव प्रवृत्तिमार्ग में आसक्त होता है। पापों के फलों के रूप में वह नरक आदि को प्राप्त करता है। 'मुझे शुभ कर्मों का फल प्राप्त हो'—ऐसा वह चाहता है। और वही जीव यदि वैराग्य को स्वीकार करता है, तो इससे, 'अब कर्म के फलरूप जन्म एवं संसार के बन्धन से ऊब गया हूँ'—ऐसी वृत्तिवाला होकर मुक्ति की ओर प्रवृत्त है और निवृत्तिमार्ग पर चलने के लिए अग्रसर हो जाता है।

स एव संसारतारणाय गुरुमाश्रित्य कामादि त्यक्त्वा विहितकर्माचर-न्साधनचतुष्टयसम्पन्नो हृदयकमलमध्ये भगवत्सत्तामात्रान्तर्लक्ष्यरूपमा-

साद्य सुषुप्त्यवस्थाया मुक्तब्रह्मानन्दस्मृतिं लब्ध्वा एक एवाहमद्वितीयः कञ्चित्कालमज्ञानवृत्त्या विस्मृतजाग्रद्वासनानुफलेन तैजसोऽस्मीति तदुभयनिवृत्त्या प्राज्ञ इदानीमस्मीत्यहमेक एव स्थानभेदादवस्थाभेदस्य परन्तु नहि मदन्यदिति जातविवेकः शुद्धाद्वैतब्रह्माहमिति भिदागन्धं निरस्य स्वान्तर्विजृम्भितभानुमण्डलध्यानतदाकाराकारितपरंब्रह्मा-कारितमुक्तिमार्गमारूढः परिपक्वो भवति ॥4॥

इसके बाद वही जीव संसार को पार करने के लिए गुरु का आश्रय लेकर काम आदि का त्याग कर देता है और वेदविहित कर्म करते हुए साधन-चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से युक्त होता है। इससे वह हृदयकमल के बीच केवल भगवत्सत्तारूप अन्तर्लक्ष्य को प्राप्त करता है। और सुषुप्ति अवस्था से रहित ब्रह्मानन्द की स्मृति प्राप्त करके, 'मैं एक ही अद्वितीय हूँ', परन्तु कुछ काल तक अज्ञान की वृत्ति की वजह से मैं अपने आत्मस्वरूप को भूल गया था और जाग्रत् अवस्था की वासना के फल के परिणामस्वरूप मैं 'तैजस' हूँ, ऐसा मान रहा था। और भी जाग्रत् और स्वप्न की अवस्थाएँ जब नहीं होती थीं, तब सुषुप्ति अवस्था में मैं 'प्राज्ञ' हूँ ऐसा मान रहा था, परन्तु अब मैं अनुभव कर रहा हूँ कि 'मैं तो एक ही हूँ'। वे पहले के अनुभव तो केवल स्थानभेद से अलग-अलग अवस्थाएँ मात्र थीं पर सही रूप में 'मुझसे अलग कुछ है ही नहीं।' ऐसा उसका विवेक होता है। और 'मैं शुद्ध ब्रह्म ही हूँ'—इस प्रकार के अनुभव से भेदभाव की सभी वासनाएँ दूर करके अपने भीतर प्रकाशित तेजोमण्डल के ध्यान से तद्रूप होकर, परब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त कर मुक्तिमार्ग पर आरूढ हो जाता है और परिपक्व हो जाता है।

सङ्कल्पादिकं मनो बन्धहेतुः। तद्वियुक्तं मनो मोक्षाय भवति ॥5॥ तद्वांश्चक्षुरादिबाह्यप्रपञ्चोपरतो विगतप्रपञ्चगन्धः सर्वजगदात्मत्वेन पश्यं-स्त्यक्ताहङ्कारो ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयन्निदं सर्वं यदयमात्मेति भावयन् कृतकृत्यो भवति ॥6॥

संकल्प आदि को प्राप्त हुआ मन बन्धन का कारण बनता है और संकल्पों से मुक्त मन मोक्ष का कारण बनता है। जीवित अवस्था में मोक्ष प्राप्त किया हुआ मनुष्य (जीवन्मुक्त) चक्षु आदि बाह्य प्रपंच से उपरत हो जाता है, उसमें प्रपंच का गन्धमात्र भी शेष नहीं रहता। वह संपूर्ण जगत् को आत्मस्वरूप ही देखता है। और उसमें अहंकार न होने पर (क्योंकि अहंकार का उसने त्याग किया होता है फिर भी) 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का चिन्तन करता हुआ वह 'यह सब कुछ आत्मा ही है'—ऐसी भावना करता हुआ कृतकृत्य होता है।

पञ्चमः खण्डः

सर्वपरिपूर्णतुरीयातीतब्रह्मभूतो योगी भवति। तं ब्रह्मेति स्तुवन्ति ॥1॥ सर्वलोकस्तुतिपात्रः सर्वदेशसञ्चारशीलः परमात्मगगने बिन्दुं निक्षिप्य शुद्धाद्वैताजाड्यसहजामनस्कयोगनिद्राखण्डानन्दपदानुवृत्त्या जीवन्मुक्तो भवति ॥2॥

सब प्रकार से परिपूर्ण होकर वह तुरीयातीत योगी ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। लोग इसी प्रकार उसकी स्तुति करते हैं कि—'वह ब्रह्म है।' वह सभी लोगों की स्तुति का पात्र बनता है। वह सभी लोकों में संचरण करने वाला हो जाता है, और परमात्मारूपी आकाश में बिन्दु स्थापित करके अर्थात्

चिदाकाश में मन का विलीनीकरण करके शुद्ध, अद्वैत, अजड, सहज और अमनस्क अवस्थारूपी योगनिद्रा में अखण्डानन्द का अनुसरण करते हुए जीवन्मुक्त हो जाता है।

तच्चानन्दसमुद्रमग्ना योगिनो भवन्ति ॥3॥
तदपेक्षया इन्द्रादयः स्वल्पानन्दाः। एवं प्राप्तानन्दः परमयोगी भवतीत्युपनिषत् ॥4॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम्।

उस आनन्दसागर में मग्न रहने वाले योगी को 'सिद्ध' कहा जाता है। उन योगियों की तुलना में इन्द्र आदि देवसमूह भी अत्यल्प आनन्द को प्राप्त करने वाले होते हैं। इस प्रकार परमानन्द को प्राप्त करने वाला तो योगी ही होता है। यह अद्भुत रहस्य है।

यहाँ दूसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।

तृतीयं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

याज्ञवल्क्यो महामुनिर्मण्डलपुरुषं पप्रच्छ स्वामिन्नमनस्कलक्षणमुक्तमपि विस्मृतं पुनस्तल्लक्षणं ब्रूहीति ॥1॥
तथेति मण्डलपुरुषोऽब्रवीत्। इदममनस्कमतिरहस्यम्। यज्ज्ञानेन कृतार्थो भवति तन्नित्यं शाम्भवीमुद्रान्वितम् ॥2॥

महामुनि याज्ञवल्क्य ने सूर्यमण्डलस्थित पुरुष से पूछा—'हे स्वामिन्! आपने अमनस्क अवस्था का लक्षण तो कहा, परन्तु वह तो मैं भूल गया हूँ, तो फिर से आप उसका लक्षण बताइए।' मण्डलस्थ पुरुष ने कहा—'ठीक है।' ऐसा कहकर आगे कहा—यह अमनस्क अवस्था का स्वरूप बड़ा रहस्यमय है। इसके ज्ञान से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। वह सदैव शांभवी मुद्रा से युक्त होता है।

परमात्मदृष्ट्या तत्प्रत्ययलक्ष्याणि दृष्ट्वा तदनु सर्वेशमप्रमेयमजं शिवं परमाकाशं निरालम्बमद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनामेकलक्ष्यं सर्वकारणं परंब्रह्मात्मन्येव पश्यमानो गुहाविहरणमेव निश्चयेन ज्ञात्वा भावाभावादिद्वन्द्वातीतः संविदितमनोन्मन्यनुभवस्तदनन्तरमखिलेन्द्रियक्षयवशादमनस्कसुखब्रह्मानन्दसमुद्रे मनःप्रवाहयोगरूपनिवातस्थितदीपवदचलं परंब्रह्म प्राप्नोति ॥3॥

परमात्म दृष्टि से परमात्मानुभव कराने वाले लक्ष्य को देखने के बाद, वह सर्वेश्वर, सर्वप्रमाणातीत, शिव, परमाकाश, निराश्रय, अद्वैत, ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र आदि के भी एकलक्ष्यरूप, सर्वकारणभूत परब्रह्म को अपने आत्मा में ही देखता है, और ऐसा पुरुष अपनी हृदयरूपी गुफा में ही उनके (परमात्मा के) विहार को निश्चित रूप से जानकर भाव-अभाव आदि द्वन्द्वों से रहित होकर मन की उन्मनी अवस्था का अनुभव करता है। इसके बाद सभी इन्द्रियों के नष्ट हो जाने के कारण अमनस्क

अवस्था के सुखरूप ब्रह्मानन्दसागर में ही उसके मन का प्रवाह बहने लगता है, जिसके योग से वह निर्वात स्थल में स्थित दीपक की तरह अचल ब्रह्म को प्राप्त करता है।

ततः शुष्कवृक्षवन्मूर्च्छानिद्रामयनिःश्वासोच्छ्वासाभावान्नष्टद्वन्द्वः सदाऽचञ्चलगात्रः परमशान्तिं स्वीकृत्य मनःप्रचारशून्यं परमात्मनि लीनं भवति ॥4॥

पयःस्रावानन्तरं धेनुस्तनक्षीरमिव सर्वेन्द्रियवर्गे परिनष्टे मनोनाशो भवति तदेवामनस्कम् ॥5॥

तदनु नित्यशुद्धः परमात्महमेवेति तत्त्वमसीत्युपदेशेन त्वमेवाहमहमेव त्वमिति तारकयोगमार्गेणाखण्डानन्दपूर्णः कृतार्थो भवति ॥6॥

बाद में सूखे पेड़ की तरह मूर्च्छा और निद्रामय स्थिति में उसके श्वासोच्छ्वास भी नहीं रहते। इससे सुख-दुःखादि द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं, और वह सदा स्थिरगात्रवाला हो जाता है। इस तरह परम शान्ति प्राप्त कर मन को प्रचारशून्य बनाकर परमात्मा में लीन हो जाता है। जिस प्रकार दूध दुह लेने के बाद गाय के स्तन में वह दूध नहीं रहता, उसी प्रकार सभी इन्द्रियसमूह के नष्ट हो जाने के बाद मन का भी नाश हो जाता है। वही अमनस्क स्थिति है। तदुपरान्त, 'मैं ही शुद्ध परमात्मा हूँ'—इस प्रकार, 'तत्त्वमसि' का उपदेश प्राप्त हो जाने पर, 'तुम ही मैं हूँ'—'मैं ही तुम हो'—इस तारक योग मार्ग से अखण्डानन्द प्राप्त करके साधक सम्पूर्णतया कृतकृत्य हो जाता है।

द्वितीयः खण्डः

परिपूर्णपराकाशमग्नमनाः प्राप्तोन्मन्यवस्थः संन्यस्तसर्वेन्द्रियवर्गोऽनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपक्वकैवल्यफलोऽखण्डानन्दनिरस्तसर्वक्लेशकश्मलो ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति ॥1॥

त्वमेवाहं न भेदोऽस्ति पूर्णत्वात्परमात्मनः। इत्युच्चरन्त्समालिङ्ग्य शिष्यं ज्ञप्तिमनीनयत् ॥2॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम्।

जिसका मन परमाकाश में पूर्णरूप से मग्न हो गया हो वह उन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है। उससे सारा इन्द्रियसमूह छूट जाता है। जन्मजन्मान्तर से प्राप्त पुण्यपुंज से उसका कैवल्यप्राप्तिरूप फल परिपक्व होता है। और अखण्ड आनन्द के अनुभव से सभी क्लेशरूप पाप विनष्ट हो जाते हैं। बाद में 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस भाव में वह निरन्तर रत होकर कृतकृत्य हो जाता है। परमात्मा पूर्ण है, इसलिए, 'जो तू है वही मैं हूँ'—ऐसा उच्चारण करते हुए गुरु (मण्डलपुरुष) ने शिष्य (याज्ञवल्क्य) का आलिंगन करते हुए यह ज्ञान दिया था।

यहाँ तीसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।

❋

चतुर्थं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

अथ ह याज्ञवल्क्यो मण्डलपुरुषं पप्रच्छ व्योमपञ्चकलक्षणं विस्तरेणानुब्रूहीति ॥1॥

स होवाचाकाशं पराकाशं महाकाशं सूर्याकाशं परमाकाशमिति पञ्च भवन्ति ॥2॥

सबाह्याभ्यन्तरमन्धकारमयमाकाशम्। स बाह्यस्याभ्यन्तरे कालानल-सदृशं पराकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरेऽपरिमितद्युतिनिभं तत्त्वं महाकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिभं सूर्याकाशम्। अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापकं निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशम् ॥3॥

एवं तत्तल्लक्ष्यदर्शनात्तत्तद्रूपो भवति ॥4॥

फिर याज्ञवल्क्य ने सूर्यमण्डल स्थित पुरुष से पूछा—'पाँच आकाश का वर्णन आप विस्तार से कहिए।' तब उसने कहा—'आकाश, पराकाश, महाकाश, सूर्यकाश और परमाकाश—इस तरह पाँच आकाश हैं। उनमें जो आकाश बाहर और भीतर – दोनों ओर से अन्धकारमय है वह 'आकाश' कहलाता है। जो बाहर-भीतर कालाग्नि जैसा है, वह 'पराकाश' कहा जाता है। जो बाहर-भीतर अपरिमित कान्ति जैसा है वह 'महाकाश' तत्त्व है। जो बाहर-भीतर सूर्य जैसा है, वह सूर्याकाश है, और जो अनिर्वचनीय ज्योतियुक्त सर्वव्यापक और अत्यन्त आनन्द के लक्षण से युक्त है, वह परमाकाश है। इस प्रकार मनुष्य जिस-जिस लक्ष्य का दर्शन करता है, वह उसी-उसी की तरह हो जाता है।

नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामतो भवेत् ॥5॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम्।

योगी कहलाने वाला जो मनुष्य नव चक्रों (छः चक्रों के साथ तालु, आकाश और भूचक्र मिलकर नव चक्र माने गए हैं) को, छः आधारों को (मूलाधार आदि आधारों को), तीन लक्ष्यों को (अन्तर, बहिः और मध्य को), उपर्युक्त पाँच आकाशों को अच्छी तरह से नहीं पहचानता है, वह केवल कहने मात्र का ही योगी है। वह वास्तविक योगी नहीं है।

यहाँ चतुर्थ ब्राह्मण पूरा हुआ।

पञ्चमं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

सविषयं मनो बन्धाय निर्विषयं मुक्तये भवति ॥1॥

अतः सर्वं जगच्चित्तगोचरम्। तदेव चित्तं निराश्रयं मनोन्मन्यवस्था-परिपक्वं लययोग्यं भवति ॥2॥

तल्लयं परिपूर्णे मयि समभ्यसेत्। मनोलयकारणमहमेव ॥3॥

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः। ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योति-रन्तर्गत मनः ॥4॥

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत्। तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥5॥

विषययुक्त मन बन्धन का और निर्विषय मन मुक्ति का कारण होता है। अतः समस्त जगत् मन का विषय है। यही चित्त यदि आश्रयरहित हो जाए, तो मन उन्मनी अवस्था में परिपक्व होकर ईश्वर में लय होने योग्य बन जाता है। इस लय का परिपूर्ण 'मैं' में अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि मन के लय का कारण 'मैं' ही है। अनाहतनाद और उस शब्द के भीतर जो ध्वनि होती है, उस ध्वनि के भीतर ज्योति रहती है और ज्योति के भीतर मन रहता है। जो मन तीनों जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कार्य का सम्पादन करता है, वह मन भी जिसमें विलय होता है, वह विष्णु का परमपद है।

तल्लयाच्छुद्धाद्वैतसिद्धिर्भेदाभावात्। एतदेव परमतत्त्वम् ॥6॥
स तज्ज्ञो बालोन्मत्तपिशाचवज्जडवृत्त्या लोकमाचरेत् ॥7॥
एवममनस्काभ्यासेनैव नित्यतृप्तिरल्पमूत्रपुरीषमितभोजनदृढाङ्गाजाड्य-निद्रादृग्वायुचलनाभावब्रह्मदर्शनाज्ज्ञातसुखस्वरूपसिद्धिर्भवति ॥8॥

विष्णु के परमपद में लय होने से शुद्ध (निर्मल) अद्वैततत्त्व की सिद्धि होती है। क्योंकि इसके बाद तो कोई भेद रहता ही नहीं है। वही परमतत्त्व है। उसको जानने वाला मनुष्य बालक, पागल, या पिशाच की तरह लोगों में आचरण करता है। इस प्रकार की अमनस्क अवस्था का अभ्यास करने से नित्यतृप्ति (स्थायी तृप्ति) होती है। मल-मूत्र कम हो जाते हैं, आहार का प्रमाण कम हो जाता है, शरीर दृढ़ हो जाता है, जड़ता समाप्त हो जाती है। निद्रा और नेत्र एवं वायु की गति समाप्त हो जाती है, और ब्रह्मदर्शन होने के कारण अनुभूत्यात्मक सुखमय स्वरूप की सिद्धि होती है।

एवं चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणोऽसौ संन्यासी परमहंस अवधूतो भवति। तद्दर्शनेन सकलं जगत्पवित्रं भवति। तत्सेवा-परोऽज्ञोऽपि मुक्तो भवति। तत्कुलमेकोत्तरशतं तारयति। तन्मातृपितृ-जायापत्यवर्गं च मुक्तं भवतीत्युपनिषत् ॥9॥

इति मण्डलब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता।

इस प्रकार लम्बे समय तक समाधि की स्थिति के बार-बार करते रहने से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मामृत का पान करने में परायण रहने वाला संन्यासी 'अवधूत' हो जाता है। उसके दर्शन से सम्पूर्ण जगत् पावन हो जाता है। उसकी सेवा में तत्पर रहनेवाला अज्ञानी भी मुक्त हो जाता है, और अपनी एक सौ एक पीढ़ियों तक के कुल को संसार के पार उतारता है। उसके माता-पिता-सन्तानें आदि सभी मुक्त हो जाते हैं। ऐसी यह उपनिषद् है। उपनिषद् पूरी हुई।

यहाँ मण्डलब्राह्मणोपनिषद् पूरी होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं......पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(94) महावाक्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् अथर्ववेदीय है। इस बारह मंत्रों वाली उपनिषद में ब्रह्मा ने देवों के समक्ष रहस्यज्ञान प्रकट किया है। यह अत्यन्त गोपनीय रहस्यज्ञान केवल जिज्ञासुओं के ही समक्ष प्रकट करना चाहिए। गुरुसेवक, अन्तर्मुखी और सात्त्विक गुणों से पूर्ण जिज्ञासु ही इसका अधिकारी है। इसमें अपरोक्षानुभव के उपदेश का अधिकारी, विद्या और अविद्या का स्वरूप और कार्य, हंसविद्या के अभ्यास से परमात्मा का आविर्भाव, तत्त्वज्ञान की वृत्ति का स्वरूप, प्रणवहंसज्योति का ध्यान और हंसज्योति विद्या का फल—ये विषय प्रतिपादित हैं।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.....देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ होवाच भगवान्ब्रह्मापरोक्षानुभवपरोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥1॥
गुह्याद्गुह्यतरमेषा न प्राकृतायोपदेष्टव्या। सात्त्विकायान्तर्मुखाय परिशुश्रूषवे ॥2॥

एक बार ब्रह्मा ने देवों से कहा—'अपरोक्ष अनुभव (इन्द्रियातीत अनुभूति) के विषयवाली उपनिषद् की हम विवेचना करेंगे। इस उपनिषद् को जन साधारण के सामने प्रकट नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह गूढ़ से भी अधिक गूढ़ है। किन्तु जो सात्त्विक गुणों से ओतप्रोत है, अन्तर्मुखी है तथा अपने गुरुजनों की सेवा में संलग्न है, ऐसे अधिकारी को ही यह उपनिषत् सुनानी चाहिए।

अथ संसृतिबन्धमोक्षयोर्विद्याविद्ये चक्षुषी उपसंहृत्य विज्ञायाविद्यालोकाण्डस्तमोदृक् ॥3॥
तमो हि शारीरप्रपञ्चमाब्रह्मस्थावरान्तमनन्ताखिलाजाण्डभूतम्।
निखिलनिगमोदितसकामकर्मव्यवहारो लोकः ॥4॥

इसके बाद संसार के बन्धन और मोक्ष की कारणभूता विद्या और अविद्यारूपी दोनों आँखों को बन्द करके ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति करता हुआ साधक अविद्या रूप संसार के प्रति तमोमयी दृष्टि से (अज्ञानमयी दृष्टि से) मुक्त हो जाता है। आत्मा के स्वरूप को आवृत कर देने वाला यह अज्ञानरूपी अन्धकार ही तम है। यही अविद्या है। और यही चराचर (स्थावर-जंगम) समस्त जगत् का, इस देह से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त सकल (अखण्ड) मण्डल का कारण है। इस तम (अन्धकार) से ही सभी वस्तुओं की ब्रह्म से अलग सत्ता का भान होता है। वेदों में जो धर्म कर्तव्य आदि का निर्देश है, उसे प्रकट करने वाला कारण भी यही तमोमयी अविद्या है।

नैषोऽन्धकारोऽयमात्मा । विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डलं ग्राह्यं नापरम् ॥5॥

असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम् । प्राणापानाभ्यां प्रति-लोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभि-ध्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्माविर्भवति ॥6॥

यह अन्धकार आत्मा नहीं है । यह तो अविद्या है, विद्या तो इससे अलग ही है, वह चित् स्वरूप है, आदित्यस्वरूप, स्वप्रकाशित, ज्योतिरूप ही है । उसी को ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि वह केवल ब्रह्म पर ही अवलम्बित है । वह ब्रह्मस्वरूप ही है, और कुछ वह नहीं है । यह आत्मा भी वही आदित्यस्वरूप ब्रह्म है । वही श्वास-प्रश्वास के अजपाजाप से युक्त है । और वही 'हंस' नाम से सभी के देह में प्रतिष्ठित है । इस हंसरूपी परमात्मा का अंश अपने आपको मानकर और प्राण–अपान का ज्ञान प्राप्त करके चिरकाल तक साधना करने से इस विद्या के द्वारा समष्टि–व्यष्टि-तदैक्यरूप ब्रह्म में रत रहने पर ही सच्चिदानन्द ब्रह्म का आविर्भाव होता है ।

सहस्त्रभानुमच्छुरिता पूरितत्वादलिप्या पारावारपूर इव । नैषा समाधिः । नैषा योगसिद्धिः । नैषा मनोलयः । ब्रह्मैक्यं तत् ॥7॥

आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे । सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः । नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते ॥8॥

तत्त्वज्ञान की यह श्रेष्ठ वृत्ति हजारों सूर्यों के प्रकाश से पूर्ण, तरंगरहित सागर की जलराशि जैसी, ब्रह्मभाव के रस से युक्त और सनातन (शाश्वत, स्थायी) रहने वाली है । (लयरहित–अविनाशी है ।) ऐसी यह स्थिति न तो समाधि की है, न तो योगसिद्धि की ही है । वह मनोलय भी नहीं है । वह तो है—जीव और ब्रह्म की एकता ही । वह ब्रह्म (आत्मतत्त्व) अज्ञान से परे आदित्य जैसी कान्तिवाला स्वप्रकाशित है (शुक्ल) है । विद्वान् नाम-रूप की व्यर्थता पर सोचकर परात्पर की अनुभूति करते हैं, वे उस ब्रह्मरूप में ही (तद्रूप ही) हो जाते हैं ।

धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार । शक्रः प्रविद्वान्प्रदिशश्चतस्त्रः तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥9॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्ते । यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥10॥

ब्रह्माजी ने इस स्थिति को पहले पहल कहा है । और ऐसा ही सबसे अग्रणी, देवों में अतुलनीय और श्रेष्ठ देवराज इन्द्र ने भी कहा है । ऐसे ही अविनाशी ब्रह्म को इस प्रकार जानने वाला साधक परमात्मा के ही रूप को (अमृतत्व को) प्राप्त कर लेता है । इसके सिवा तो मुक्ति के लिए और कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं । पुरातन समय में देवों ने ज्ञानरूप यज्ञ से विराट् रूप यज्ञ का यजन किया था । वे ही ब्रह्मात्मैक्य यज्ञ करने वाले प्रथम जीवन्मुक्त हुए । वे स्वर्ग में (महिमामय लोक में) अभी भी 'साध्य' नाम से प्रकाशित हो रहे हैं ।

सोऽहमर्कः परं ज्योतिरर्कज्योतिरहं शिवः ।
आत्मज्योतिरहं शुक्रः सर्वज्योतिरसावदोम् ॥11॥

मैं ही वह चिन्मय आदित्य हूँ। मैं ही वह आदित्यरूप परमज्योति हूँ। मैं ही वह कल्याणकारी शिव हूँ। मैं ही वह श्रेष्ठ आत्मज्योति हूँ। सर्वप्रकाशक शुक्र (ब्रह्म) मैं ही हूँ। मैं उस परम सत्ता से कभी भी अलग नहीं हूँ।

य एतदथर्वशिरोऽधीते। प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। साय-मधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायं प्रातः प्रयुञ्जानः पापो-ऽपापो भवति। मध्यन्दिनमादित्याभिमुखोऽधीयमानः पञ्चमहापातको-पपातकात्प्रमुच्यते। सर्ववेदपारायणपुण्यं लभते। श्रीमहाविष्णु-सायुज्यमवाप्नोतीत्युपनिषत् ॥12॥

इति महावाक्योपनिषत्समाप्ता।

जो इस अथर्वशिरा का अध्ययन करता है, वह प्रातः को अध्ययन (पाठ) करके रात्रि में किए हुए पाप का नाश कर देता है। शाम को पढ़ने वाला दिन में किए गए पाप का नाश कर देता है। सायं-प्रातः—दोनों समय पढ़ने वाला पापी हो, तो निष्पाप हो जाता है। मध्याह्नकाल में सूर्य के सन्मुख होकर पढ़ने वाला पाँच महापातकों से और उपपातकों से मुक्त हो जाता है। इसका पाठ करने वाला सभी वेदों के पारायण का फल प्राप्त करता है, और श्री महाविष्णु का सायुज्य प्राप्त करता है, ऐसा यह उपनिषत् कहती है।

इस प्रकार महावाक्योपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः······देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(88) योगकुण्डलिन्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् कृष्णयजुर्वेदीय है। यह योगपरक उपनिषत् है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में प्राणायाम सिद्धि के तीन उपाय—मिताहार, आसन और शक्तिशालिनी मुद्रा—बताए हैं। इसके अतिरिक्त भी प्राणायाम के भेद, तीन बन्ध, योगाभ्यास में आने वाले विघ्न, उनसे रक्षण, कुण्डलिनी का जागरण, ग्रन्थिभेदन, कुण्डलिनी का सहस्रार में प्रवेश, प्राणादि का विलीनीकरण, समाधि योग आदि का विशद वर्णन है। दूसरे अध्याय में खेचरी मुद्रा का स्वरूप, फल और सिद्धि आदि बताया गया है। तीसरे अध्याय में खेचरी सिद्धि का मंत्र तथा साधक की दृष्टि का उदाहरणसहित निरूपण है। फिर प्राणायामाभ्यास से विराट् रूप की सिद्धि, सद्गुरु के उपदेश का महत्त्व, ब्रह्म के अधिष्ठान, परब्रह्म का स्वरूप, उसकी प्राप्ति का उपाय, जीवन्मुक्ति आदि अनेक विषय इस उपनिषत् में सम्मिलित हैं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ··· मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः॥1॥
तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः॥2॥
एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम्।
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः॥3॥
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते।
आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा॥4॥

चित्त की चंचलता के दो कारण हैं—एक है संस्कार और दूसरा है प्राण। उनमें से किसी एक का विनाश हो जाने पर दोनों का नाश हो जाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह उन दोनों में से पहले प्राण पर विजय कर ले। प्राण पर विजय पाने के लिए तीन मार्ग हैं—मिताहार, आसन और तीसरा शक्तिचाल (शक्तिचालिनी मुद्रा)। हे गौतम! मैं तीनों का लक्षण कह रहा हूँ। तुम आदरपूर्वक सुनो। जो कुछ भी शिव की प्रीति के लिए खाया जाता है, वह 'मिताहार' कहलाता है और आसन दो प्रकार का होता है—एक है पद्मासन और दूसरा है वज्रासन।

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥5॥
वामाङ्घ्रिमूलकन्दाधो ह्यन्यं तदुपरि क्षिपेत् ।
समग्रीवशिरःकायो वज्रासनमितीरितम् ॥6॥
कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्बुधः ।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते ॥7॥
तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम् ।
प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत् ॥8॥

दोनों उरुओं के ऊपर यदि दोनों (उल्टे-सीधे) पादतल रखे जाएँ, तब सर्व पापों का नाश करने वाला पद्मासन बनता है। गर्दन, मस्तक और शरीर को एक ही सीध में रखकर बाँयें पैर की एड़ी को सीवनी के स्थान में और दायें पैर की एड़ी उसके ऊपर लगाकर उसके ऊपर बैठने से वज्रासन होता है। मुख्यशक्ति कुण्डलिनी ही कही गई है। चालनक्रिया के द्वारा बुद्धिमान इसे नीचे से ऊपर भ्रूकुटियों के मध्य तक ले आता है उसे 'शक्तिचालन' कहा जाता है (वही शक्तिचालिनी मुद्रा है।) कुण्डलिनी जगाने (चलाने) के मुख्यतया दो उपाय (दो साधन) कहे गए हैं—एक है सरस्वतीचालन और दूसरा है अभ्यास के द्वारा प्राण का निरोध करना। इस प्रकार से लिपटी हुई कुण्डलिनी सीधी हो जाती है।

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते ।
अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती ॥9॥
यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली ।
इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम् ॥10॥
द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम् ।
विस्तीर्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः ॥11॥
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः ॥12॥

उन दोनों में से पहले मैं तुम्हें 'सरस्वतीचालन' के बारे में बताता हूँ। प्राचीन काल के विद्वानों ने उसको अरुंधती का नाम भी दिया है। इसके संचालन से कुण्डलिनी स्वयं ही चलने लगती है जब कि इड़ा नाडी चल रही हो और उस समय पद्मासन लगाकर उस सरस्वती का अच्छी तरह से संचालन किया जाए। फिर उस नाड़ी को बारह अंगुल लम्बे और चार अंगुल चौड़े वस्त्र के टुकड़े से लपेटना चाहिए। ऐसा करने के बाद नासा के दोनों छिद्रों को अँगूठे और तर्जनी के द्वारा दृढ़ता से (जोर से) पकड़कर अपनी इच्छाशक्ति से पहले बाँये और फिर दाहिने नासिकाछिद्र से चार-चार बार रेचक और पूरक करनी चाहिए।

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः ।
ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किञ्चित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम् ॥13॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥14॥
तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसङ्कोचने कृते ।
सरस्वत्याश्चालनेन वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत् ॥15॥

सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने ।
कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत् ॥16॥

इस तरह निर्मल होकर दो मुहूर्तों तक (करीब सवा चार घण्टों तक) इसको चलाते रखना चाहिए और साथ ही कुण्डलिनी में स्थित सुषुम्ना नाड़ी को भी थोड़ा सा ऊपर खींचना चाहिए। इससे सरस्वतीचालन की क्रिया से कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के मुख में प्रवेश करके ऊपर उठने वाली हो जाती है। इसी के साथ ही साथ प्राण भी अपना स्थान छोड़कर सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है। कण्ठ के संकोचन करने के साथ पेट को ऊपर की ओर खींचकर रखने से इस सरस्वतीचालन के द्वारा वायु ऊर्ध्वगामी होकर छाती के स्थान से भी ऊपर चला जाता है। सरस्वतीचालन करते समय सूर्यनाड़ी (दक्षिण स्वर) के द्वारा रेचक करते हुए कण्ठ का संकोच करने से नीचे रहा हुआ वायु छाती के ऊपर के भाग की ओर चला जाता है।

तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम् ।
यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥17॥
गुल्मं जलोदरः प्लीहा ये चान्ये तुन्दमध्यगाः ।
सर्वे तु शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम् ॥18॥
प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः ।
प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः ॥19॥
स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा ।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥20॥

इसलिए शब्दमयी सरस्वती का चालन सदैव करते रहना चाहिए। इसके संचालन करने से योगी रोगों से मुक्त हो जाता है। इस सरस्वतीचालन से गुल्म, जलोदर, प्लीहा और पेट के अन्य जो रोग हैं, वे नष्ट हो ही जाते हैं। अब दूसरे प्राणरोध की बात संक्षेप में कहता हूँ—देह में स्थित वायु को प्राण कहा जाता है। उस वायु का जब आयाम (स्थिरीकरण) किया जाता है, तब उसे कुंभक कहा जाता है। उस कुंभक के दो प्रकार हैं—एक 'सहित' और दूसरा है 'केवल'। जहाँ तक उनमें से 'केवल' की सिद्धि हो जाए वहाँ तक 'सहित' का अभ्यास करते रहना चाहिए।

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका ।
भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः ॥21॥
पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते ।
धनुः प्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते ॥22॥
पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे ।
बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ॥23॥
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः ।
यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः ॥24॥

सूर्यभेदन, उज्जायी, शीतली और भस्त्रिका—इन चार भेदों के साथ जो कुंभक किया जाता है, उसे 'सहितकुंभक' कहा जाता है। पवित्र, निर्जन, कंकारादि से रहित एक धनुष जितने नाप वाले किसी घास-फूस ठंड-गर्मी-पानी से रहित प्रदेश में जो बहुत ऊँचा भी न हो और बहुत नीचा भी न हो ऐसे सुखकारी सुखासन पर पद्मासन लगाकर सरस्वती का चालन करना चाहिए। श्वास के द्वारा धीरे-धीरे

दाहिनी नासिका से बाहर के वायु को भीतर खीचकर भीतर पूरक करना चाहिए और फिर इड़ा नाड़ी के द्वारा उसे बाहर निकालना चाहिए।

कपालशोधने वापि रेचयेत्पवनं शनैः।
चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ॥25॥
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्।
मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥26॥
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम्।
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥27॥
शीर्षोदितानलहरं गलश्लेष्महरं परम्।
सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम् ॥28॥
नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम्।
गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥29॥

कपालशोधन क्रिया में भी धीरे-धीरे वायु का रेचन करना चाहिए। इस प्रकार करने से चारों तरह के वायुदोष और कृमिदोष दूर हो जाते हैं। इस प्रकार की क्रिया, जो बार-बार की जाती है, उसका नाम ही 'सूर्यभेदन' है। अब मुख को बन्द करके दोनों नासाछिद्रों से वायु को धीरे-धीरे इस प्रकार खींचना चाहिए कि उसके प्रवेश के साथ आवाज निकलती रहे। इस प्रकार हृदय और कण्ठ तक वायु को पहले भरना चाहिए। फिर बाद में पहले की तरह कुंभक करके बाँयें नासिकाछिद्र से रेचन करना चाहिए। इस तरह करने से शिर की गर्मी, गले का कफ आदि दूर हो जाते हैं, जठराग्नि तेज होती है, नाड़ी, जलोदर और धातुरोग भी नष्ट हो जाते हैं, इस कुंभक को उज्जायी कहते हैं। यह 'उज्जायी कुंभक' बैठते-उठते, चलते-फिरते कभी भी किया जा सकता है।

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु।
शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः ॥30॥
गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ॥31॥

(सूर्यभेदन और उज्जायी का वर्णन करके अब तीसरे शीतली प्राणायाम की बात कहते हैं कि—) शीतली प्राणायाम में जीभ के द्वारा वायु को खींचकर पहले की तरह ही कुंभक करके नासिका से वायु को धीरे-धीरे निकालना चाहिए। इसके करने से प्लीहा, गुल्म, पित्त, ज्वर, तृषा आदि रोगों की शान्ति होती है।

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥32॥
यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः।
वेगेन पूरयेत् किञ्चिद्धृत्पद्मावधि मारुतम् ॥33॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥34॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ॥35॥

(अब भस्त्रिका प्राणायाम की बात कही जा रही है—) भस्त्रिका प्राणायाम के लिए पद्मासन लगाकर, शरीर को गर्दनसहित सीधा रखकर, सबसे पहले मुँह बन्द करके नासिका के द्वारा वायु को बाहर निकालना चाहिए। फिर उसी तरह तीव्रता से वायु को भीतर खींचना चाहिए। खींचते समय वायु का स्पर्श, कण्ठ-तालु-सिर और हृदय को मालूम पड़ना चाहिए। फिर उसका रेचन करके फिर से पूरक करना चाहिए। इस तरह बार-बार वेगपूर्वक लोहार की धौंकनी की तरह वायु को खींचते-निकालते रहना चाहिए। इस प्रकार शरीर में रहे हुए वायु को सावधानी के साथ चलाते रहना चाहिए। जब थकान लगे, तब दाहिने स्वर से (सूर्य से) वायु को भीतर खींचना (पूरक करना) चाहिए। और पूरक के बाद—

यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु।
धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥36॥
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्।
कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥37॥
कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम्।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥38॥
गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम्।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥39॥

—फिर तर्जनी को छोड़कर अन्य अँगुलियों से नाक को कसकर पकड़कर वायु का कुंभक करना चाहिए और फिर बाँयीं नासा के छिद्र से (इडा से) उसे बाहर निकाल देना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से गले का दाह मिट जाता है, और जठराग्नि तेज हो जाती है। यह (भस्त्रिका) प्राणायाम कुण्डलिनी को जगाने वाला है। यह सुखद, पुण्यशाली और पापनाशक है। सुषुम्ना नाड़ी के मुखपर जो बाधक कफ आदि होते हैं, वे सभी इसके अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं। तीन गुणों से उत्पन्न हुई ग्रन्थियों को वह भिन्न (नष्ट) कर देता है। इसलिए इस भस्त्रिका प्राणायाम का विशेष अभ्यास करना चाहिए।

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते।
बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः ॥40॥
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः।
जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते ॥41॥
अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥42॥

इन चारों भेदों वाले कुम्भक को करते समय निष्पाप योगियों को मूलबन्ध आदि तीन बन्ध भी करने चाहिए। इन तीन बन्धों में प्रथम बन्ध 'मूलबन्ध' है, दूसरा बन्ध, 'उड्डीयाणबन्ध' है और तीसरा 'जालन्धरबन्ध' है। अब उन बन्धों का लक्षण कहा जा रहा है—जिस बन्ध में नीचे की गति वाले अपानवायु को बलपूर्वक ऊपर खींचा जाता है, गुदा को संकोच करके की जाने वाली उस क्रिया को 'मूलबन्ध' कहा जाता है।

अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥43॥

ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा ॥44॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता सम्प्रबुध्यते ।
दण्डाहतभुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥45॥

अपानवायु ऊँचे जाकर जब वह्निमण्डल के साथ योग करता है, तब उस वायु से आहत होकर (टकराकर) वह अग्नि बहुत ही तेज बन जाती है। बाद में उष्णस्वरूप वाले प्राण में अग्नि और अपान के मिल जाने पर उसके प्रभाव से देह से उत्पन्न हुए सब विकार जल जाते हैं। बाद में अग्नि के ताप से सोती हुई कुण्डलिनी जाग जाती है और फटकारी हुई नागिन की भाँति फुत्कार करती हुई सीधी हो जाती है।

बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥46॥

उस समय वह अग्नियुक्त (तपी हुई) कुण्डलिनी जैसे गुहा में प्रवेश करती हो, इस तरह सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश कर जाती है। इसलिए इस मूलबन्ध का अभ्यास योगियों को सदैव करते रहना चाहिए।

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥47॥
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥48॥
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।
पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्धृदये गले ॥49॥
शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धिं निगच्छन्ति ।
तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः ॥50॥

जब कुंभक करके रेचक किया जाता है, उसके पहले उड्डीयाणबन्ध किया जाता है। इसके करने से यह प्राण सुषुम्ना नाड़ी के भीतर ऊपर चढ़ता जाता है। इसलिए योगी लोग इसे 'उड्डीयाणबन्ध' कहते हैं। इसके लिए वज्रासन में बैठकर पैरों पर दोनों हाथों को बलपूर्वक लगाना चाहिए। जहाँ टखना रखा जाता है, उसके नजदीक कन्द को दबाना चाहिए और पेट को ऊपर की ओर खींचते हुए, गले और हृदय को भी तनाव देते हुए खींचना चाहिए। इस प्रकार प्राण धीरे-धीरे पेट की सन्धियों में प्रविष्ट हो जाता है। इससे पेट के सभी विकार दूर हो जाते हैं। इसलिए इस उड्डीयाणबन्ध की क्रिया को भी सतत करते रहना चाहिए।

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
कण्ठसङ्कोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ॥51॥
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसङ्कोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥52॥
पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः ।
चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत् ॥53॥

पूरक के अन्त में वायु को रोकने के लिए गुदा का संकोच करके कण्ठ का संकोच किया जाता है, तब 'जालन्धर' नाम का बन्ध होता है। मूलबन्ध के द्वारा नीचे के गुदा भाग का संकोचन करके कण्ठसंकोचन करना चाहिए, अर्थात् जालन्धरबन्ध करना चाहिए। फिर बीच के भाग में (पेट में) उड्डियाणबन्ध के द्वारा प्राणवायु को खींचना चाहिए। इसी प्रकार से प्राण को सब तरफ से रोकने से वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी होता है। पूर्वोक्त विधि के अनुसार अच्छी तरह से आसन पर बैठकर 'सरस्वतीचालन' के द्वारा भी प्राणों का निरोध करना चाहिए।

प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम्।
प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा ॥54॥
विंशत्यलं तृतीयेऽह्नि पञ्चवृद्ध्या दिनेदिने।
कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः ॥55॥
दिवा सुप्तिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात्।
बहुसङ्क्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः ॥56॥
विषमासनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात्।
शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्यदि संयमी ॥57॥

चारों प्रकार के कुंभक को पहले दिन चार-चार बार किया जाता है। और दूसरे दिन कुंभक को पंद्रह-पंद्रह बार किया जाता है। तीसरे दिन बीस-बीस बार करने का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह तीनों प्रकार के कुम्भकों का प्रतिदिन पाँच-पाँच की संख्या बढ़ाकर अभ्यास करना चाहिए। दिन में सोना, रात को जागना, अति मैथुन करना, मल-मूत्र के वेग को रोकना, ज्यादा चलना, आसनों का योग्य रीति से अभ्यास न करना, प्राणायामक्रिया में बहुत बल लगाना तथा चिन्तित रहना—इन सब दोषों के कारण साधक जल्दी ही रोगी हो जाता है।

योगाभ्यासेन मे रोग उत्पन्न इति कथ्यते।
ततोऽभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्नमुच्यते ॥58॥
द्वितीयं संशयाख्यं च तृतीयं च प्रमत्तता।
आलस्याख्यं चतुर्थं च निद्रारूपं तु पञ्चमम् ॥59॥
षष्ठं तु विरतिर्भ्रान्तिः सप्तमं परिकीर्तितम्।
विषयं चाष्टमं चैव अनाख्यं नवमं स्मृतम् ॥60॥
अलब्धिर्योगतत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः।
इत्येतद्विघ्नदशकं विचारेण त्यजेद्बुधः ॥61॥

यदि कोई साधक ऐसा कहे कि—'योगाभ्यास से मुझे रोग उत्पन्न हो गया है' और ऐसा कहकर योग को छोड़ दे, तो वह योग का प्रथम विघ्न कहा जाता है। दूसरा विघ्न संशय नाम का है, तीसरा विघ्न प्रमत्तता है, चौथा विघ्न आलस्य है और पाँचवाँ विघ्न निद्रारूप है, छठा विघ्न साधना में प्रेम न होना है, और सातवाँ विघ्न भ्रान्ति (भ्रम) है, आठवाँ विघ्न विषय में आसक्तिरूप है, नवम विघ्न अनाख्य (अप्रसिद्ध) है और दसवाँ विघ्न योगतत्त्व की अलब्धि (अलाभ) है—ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं। ज्ञानी को चाहिए कि वह विचार के द्वारा योग के इन दशों विघ्नों को वह छोड़ दे।

प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो नित्यं सत्त्वस्थया धिया।
सुषुम्ना लीयते चित्तं तथा वायुः प्रधावति ॥62॥

शुष्के मले तु योगी च स्याद्गतिश्चलिता ततः ।
अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥63॥
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति ॥64॥

इसलिए सत्त्वमयी दृष्टि से सोचते हुए साधक को सदैव प्राणायाम का अभ्यास करते ही रहना चाहिए। इससे सुषुम्ना में चित्त लीन हो जाता है और इससे प्राणों का प्रवाह चलने लगता है। जब मल पूर्णरूप से शुष्क (शोधित) हो जाता है, तभी और जब प्राण प्रवाहित होने लगें तभी योगी को अपान को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए, उसके पहले नहीं। प्राण की ऊर्ध्वगति के लिए गुदा के आकुंचन को ही मूलबन्ध कहा जाता है। इसमें अपान वायु ऊँचे चढ़कर अग्नि के साथ में मिलकर ऊपर की ओर जाता है।

प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम् ।
मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः ॥65॥
तेनाग्निना च सन्तप्ता पवनेनैव चालिता ।
प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्ना वदनान्तरे ॥66॥
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम् ।
सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत् ॥67॥
विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता ।
ऊर्ध्वं गच्छति यच्चान्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम् ॥68॥

जब वह अग्नि प्राणस्थान में पहुँचती है और प्राण तथा अपान दोनों मिलकर कुण्डलिनी से मिलते हैं, उस समय उसकी गरमी से तप्त होकर तथा वायु के बार-बार के दबाव से कुण्डलिनी सीधी होकर सुषुम्ना के मुँह पर आ जाती है और उसमें प्रवेश करती है। तब वह कुण्डलिनी शक्ति रजोगुणोत्पादित ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करके बिजली की रेखा की भाँति सुषुम्ना के मुख में ऊर्ध्वगमन करती है अर्थात् प्रवेश करती है। और वहाँ से शीघ्र ही हृदयचक्र में स्थित विष्णुग्रन्थि का भेदन करके और भी आगे ऊपर आज्ञाचक्र में रुद्रग्रन्थि तक पहुँच जाती है।

भ्रुवोर्मध्यं तु सम्भिद्य याति शीतांशुमण्डलम् ।
अनाहताख्यं यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम् ॥69॥
तत्र शीतांशुसञ्जातं द्रवं शोषयति स्वयम् ।
चलिते प्राणवेगेन रक्तं पित्तं रवेर्ग्रहात् ॥70॥
यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धश्लेष्मद्रवात्मकम् ।
तत्र सिक्तं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम् ॥71॥
तथैव रभसा शुक्लं चन्द्ररूपं हि तप्यते ।
ऊर्ध्वं प्रवहति क्षुब्धा तदैवं भ्रमतेतराम् ॥72॥

भ्रूकुटियों के बीच आज्ञाचक्र का भेदन करके वह चन्द्रस्थान में पहुँच जाती है, जहाँ पर सोलह दल वाला अनाहतचक्र अवस्थित है। वह कुण्डलिनी शक्ति वहाँ पर चन्द्र से द्रवित होते हुए द्रव-प्रवाही को सुखाकर प्राणवायु के वेग से गतिशील हो जाती है तथा रक्त और पित्त को सूर्य से मिलकर ग्रहण करती है। फिर चन्द्र चक्र में गई हुई वह जहाँ शुद्ध श्लेष्मा द्रवस्वरूप में (प्रवाही रूप में) होता है,

वहाँ उस रस पदार्थ को—प्रवाहिता को सोख कर उसे गरम कर देती है, और इस तरह वहाँ शीतलता नहीं रह जाती। उसी तरह तब वह उस शुक्लरूप चन्द्रमा को भी तपा देती है तथा क्षुब्ध होकर ऊपर घूमा करती है।

तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्ठं विषयेषु यत्।
तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थः स्वात्मरतो युवा ॥73॥
प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली।
क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते ॥74॥
इत्यधोर्ध्वरजः शुक्लं शिवे तदनु मारुतः।
प्राणापानौ समौ याति सदा जातौ तथैव च ॥75॥
भूतेऽल्पे चाप्यनल्पे वा वाचके त्वतिवर्धते।
धावयत्यखिला वाता अग्निमूषाहिरण्यवत् ॥76॥

उस स्थिति में मन को जो अमृतरसास्वाद मिलता है इससे वह मन, जो कि पहले बाह्य विषयों में भोगलीन था, अब अन्तर्मुखी होकर अपने में ही रहने वाले अपने आत्मा में आनन्द का अनुभव करने लगता है। इस तरह यह कुण्डलिनीशक्ति आठ प्रकृतियों में से व्याप्त होती हुई अन्त में शिव से एकाकार होती है और उन्हीं में विलीन हो जाती है। (आठ प्रकृतियाँ—पाँच तत्त्व और मन, बुद्धि, अहंकार हैं) इस प्रकार अधःस्थित रज और ऊर्ध्वस्थित सत्त्व भी वायुवेग से शिव में मिल जाते हैं। और प्राण तथा अपान भी शिव में मिल जाते हैं, क्योंकि उन्हें समान रूप से उत्पन्न होने वाला कहा गया है। जिस प्रकार सोना अग्नि से गल कर चारों तरफ फैल जाता है, ठीक उसी प्रकार यह पाँचभौतिक देह भी तो, भले छोटा हो या बड़ा, परन्तु कुण्डलिनी की गरमी पाकर वह दिव्यशक्ति पूरे शरीर में फैल जाती है।

आधिभौतिकदेहं तु आधिदैविकविग्रहे।
देहोऽतिविमलं याति चातिवाहिकतामियात् ॥77॥
जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम्।
तस्यातिवाहिकं मुख्यं सर्वेषां तु मदात्मकम् ॥78॥
जायाभवविनिर्मुक्तिः कालरूपस्य विभ्रमः।
इति तं स्वरूपा हि मती रज्जुभुजङ्गवत् ॥79॥
मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते।
रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंसोर्भ्रमतो यथा ॥80॥

इस कुण्डलिनी दिव्यशक्ति के प्रभाव से यह आधिभौतिक देह आधिदैविक देह में रूपान्तरित हो जाता है। यह शरीर अत्यन्त पवित्र होकर सूक्ष्म शरीर की तरह हो जाता है। वह जड़ता के भाव को छोड़कर अत्यन्त चिन्मय स्वरूप हो जाता है। इसके (साधक के) सिवा अन्य शरीर तो (अन्य लोगों के शरीर तो) अज्ञानग्रस्त ही रहते हैं। पर उस साधक को तो अपने 'स्व' की जानकारी हो जाती है। तब वह भवबन्धन (आवागमन) से मुक्त हो जाता है। वह काल के पाश से मुक्त हो जाता है। रस्सी में साँप, सीप में रजत और पुरुष में स्त्री के भ्रम की तरह यह सब कुछ मिथ्या ही उत्पन्न होता है और मिथ्या ही दिखाई देता है।

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि ।
स्वापाव्याकृतयोरैक्यं स्वप्रकाशचिदात्मनोः ॥81॥
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा ।
मूलकन्दं फणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत् ॥82॥
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता ।
पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः ॥83॥
वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन्कुम्भकाविष्टमानसः ।
वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ॥84॥

इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड, सूक्ष्म शरीर और सूत्रात्मा के एकाकार होने से अपनी आत्मा और परम चैतन्य की एकता का ज्ञान हो जाता है। कुण्डलिनी शक्ति कमल के नाल की तरह होती है। वह कमलकन्द जैसे ही मूलकन्द को फणा के अग्रभाग से देखकर अपने पुच्छ को मुँह में डालकर सुषुम्ना नाड़ी के द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) को ढँककर सोयी-सी पड़ी हुई है। इसके जागरण के लिए पद्मासन में बैठकर गुदा को ऊपर की ओर खींचकर, कुंभक करके वायु को ऊपर की ओर ले जाकर वायु के आघात से स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित अग्नि को प्रज्वलित कर देना चाहिए।

ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट् ।
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः ॥85॥
रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥86॥
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारिणी ॥87॥ इति ।

इति प्रथमोऽध्याय ।

ऐसा करने से अग्नि और वायु के आघात से सोई हुई कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र इन तीनों ग्रन्थियों का भेदन करके छहों चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार कमल तक पहुँच जाती है, और वहाँ वह शक्ति शिव के साथ आनन्द प्राप्त करती है। यह अवस्था परमानन्द मुक्तिदायक होती है।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

❈

द्वितीयोऽध्यायः

अथाहं सम्प्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम् ।
यथा विज्ञानवानस्या लोकेऽस्मिन्नजरोऽमरः ॥1॥
मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने ।
बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ॥2॥
जरामृत्युगदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले ।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥3॥
तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत् ।
दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥4॥

मैं अब खेचरी विद्या को कहूँगा। इस विद्या को जानकर मनुष्य अजर और अमर हो सकता है। हे मुनि ! यदि कोई मृत्यु, व्याधि या जरा से पीड़ित मनुष्य हो तो इस विद्या (खेचरी विद्या) को पाकर दृढ़तर बुद्धि से इसका अभ्यास करना चाहिए। जरा, मृत्यु और रोग—इनका नाश करने वाली इस खेचरी विद्या को जो मनुष्य इस भूतल में ग्रन्थों से मर्मसहित जानता है, उसे हे मुनि ! गुरु मानकर उसका आश्रय लेकर यह विद्या सीखनी चाहिए। क्योंकि यह खेचरी विद्या दुर्लभ है और उसका अभ्यास भी दुर्लभ है।

अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिद्ध्यति।
अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम् ॥5॥
अभ्यासं लभते ब्रह्मञ्जन्मजन्मान्तरे क्वचित्।
मेलनं तत्तु जन्मनां शतान्तेऽपि न लभ्यते ॥6॥
अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्भावसाधितम्।
मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित् ॥7॥
यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः।
तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसन्ततौ ॥8॥

इस खेचरी विद्या का अभ्यास और साधना—दोनों एक साथ सिद्ध नहीं होते। इसका केवल अभ्यास करने वाले लोग सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते। हे ब्रह्मन् ! इस विद्या का अभ्यास तो कहीं जन्मजन्मान्तर से प्राप्त हो सकता है, परन्तु इसकी सिद्धि तो सैंकड़ों जन्मों के बाद भी प्राप्त नहीं होती। जब कोई योगी गुरु के मुख से मेलनमंत्र को प्राप्त कर लेता है तो सभी शास्त्रों में कही गई सभी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है। बहुत जन्मों के बाद अभ्यास भावसहित करके योगी बाद में सिद्धि पाता है।

ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा।
तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंसृतेः ॥9॥
शास्त्रं विनापि सम्बोद्धुं गुरवोऽपि न शक्नुयुः।
तस्मात्सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं मुने ॥10॥
यावन्न लभ्यते शास्त्रं तावद्गां पर्यटेद्यतिः।
यदा संलभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिः करे स्थिता ॥11॥
न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्त्रये।
तस्मान्मेलनदातारं शास्त्रदातारमच्युतम् ॥12॥
तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत्।
लब्ध्वा शास्त्रमिदं मह्यमन्येषां न प्रकाशयेत् ॥13॥

जब साधक ग्रन्थों से और रहस्यों से युक्त सिद्धि को प्राप्त करता है, तब वह इस सारे संसार से मुक्ति पाकर शिवत्व को प्राप्त करता है। शास्त्रों के बिना तो गुरुजन भी इसका ज्ञान कराने में अशक्त हैं। इसलिए हे मुनि ! शास्त्र तो बहुत ही दुर्लभ माने गए हैं। (शास्त्रों का प्राप्त करना मुश्किल है।) यह शास्त्र जहाँ तक न मिले वहाँ तक साधक को उसे पाने के लिए पृथ्वी पर भटकते रहना चाहिए। और जब शास्त्र मिल गया होता है, तब तो सिद्धि हाथ ही में आ गई है, ऐसा समझ लेना चाहिए। इन तीनों भुवनों में शास्त्रों के बिना तो सिद्धि कहीं भी नहीं देखी गई है। इसलिए सिद्धि देने वाले शास्त्रों

को देने वाले गुरु को अच्युत और शिव की प्रतिमूर्ति मानकर उनका आश्रय लेना चाहिए। यह महनीय ज्ञान प्राप्त करके अन्य अनधिकारियों के आगे इसे प्रकाशित नहीं कर देना चाहिए।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता।
यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन्दिव्ययोगप्रदायकः ॥14॥
तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम्।
तेनोक्तः सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः ॥15॥
अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत्।
खेचर्या खेचरीं युञ्जन्खेचरीबीजपूरया ॥16॥
खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत्।
खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम् ॥17॥

इसलिए इस विद्या को जानने वाले को प्रयत्नपूर्वक यह ज्ञान गोपनीय रखना चाहिए। और जहाँ पर इस दिव्य ज्ञान को देने वाले गुरु रहते हों, वहाँ जाकर, उनकी दी हुई विद्या को मन में अच्छी तरह से ग्रहण करके (अर्थात् खेचरी का संग्रहण करके) गुरु के द्वारा आदिष्ट किए गए शिष्य को पहले तो अतन्द्रित होकर (आलस्यरहित होकर) अच्छी तरह से अभ्यास करना चाहिए। इस विद्या से योगी खेचरी सिद्धि को प्राप्त करने वाला होता है। इसलिए खेचरी विद्या का अभ्यास खेचरी मंत्र के बीज के साथ करना चाहिए। इस प्रकार से सिद्ध मुनि खेचरों का अर्थात् आकाश में विहार करने वालों का अधिपति होकर आकाश में बसता है। खेचरी के बीजमंत्र में खेचर का बीज 'ह'कार और आवसथ का बीज 'ई'कार, अग्नि का रूप 'र'कार और जल का रूप 'बिन्दु' है। (इन सबका योग 'ह्रीं' होता है।)

आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति।
सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ॥18॥
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम्।
तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेन परं मुने ॥19॥
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी।
इन्द्रोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः ॥20॥

इसी बीजमंत्र से खेचरी योग सिद्ध होता है। इसके आगे चन्द्रबीज—स होता है। इसके उल्टे गिनने पर नवम अक्षर पर 'भ' है। पुनः चन्द्रबीज—सकार है। इसके उल्टे गिनने पर आठवाँ अक्षर पर 'म' है। इससे पाँच अक्षर उल्टा गिनने पर 'प' है। पुनः चन्द्रबीज 'स'कार है और संयुक्त वर्ण 'क्ष' सबसे अन्तिम वर्ण है। (इस तरह ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं—ऐसा खेचरी मंत्र होता है।)

गुरूपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम्।
यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया ॥21॥
स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः।
य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः ॥22॥
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते।
नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः ॥23॥
वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः।
एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः ॥24॥

गुरु के उपदेश के द्वारा प्राप्त किए गए इन सभी योगों की सिद्धि देने वाले ज्ञान से देह में उत्पन्न हुई यह माया अपने आश्रयरूप कारण के साथ रुक जाती है, उस सिद्ध में वह असर नहीं करती। रोज बारह बार इसका जप करने वाले को यह (पूर्वोक्त) फल मिल जाता है। ऐसे पुरुष को स्वप्न में भी माया नहीं लगती। जो मनुष्य इस मंत्र का नियमपूर्वक पाँच लाख बार जप करता है उसको खेचरी आप ही आप सिद्ध हो जाती है। तथा उसके जीवन की सभी आपदाएँ दूर हो जाती हैं। और उसे देवताओं की प्रसन्नता भी मिलती है। उसके शरीर में पड़ी हुई झुर्रियाँ तथा पलित (सफेद) केश भी समाप्त हो जाते हैं (वह फिर से जवान हो जाता है।) इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिए इस महाविद्या का ठीक तरह से अभ्यास करना चाहिए।

अन्यथा क्लिश्यते ब्रह्मन्न सिद्धिः खेचरीपथे।
यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम् ॥25॥
ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदा जपेत्।
नान्यथा रहितो ब्रह्मन्न किंचित्सिद्धिभाग्भवेत् ॥26॥
यदिदं लभ्यते शास्त्रं यदा विद्यां समाश्रयेत्।
ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः ॥27॥
तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित्।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ॥28॥

ऐसा नहीं करने पर तो खेचरी की सिद्धि नहीं होती। हे ब्रह्मन्! उल्टे कष्ट ही उठाने पड़ते हैं। ठीक तरह से अभ्यास कर लेने के बाद भी यदि सिद्धि प्राप्त न हो, तो मार्गदर्शक गुरु के द्वारा बताए गए मार्ग का त्याग नहीं करना चाहिए। निरन्तर उसका जाप करते ही रहना चाहिए। हे ब्रह्मन्! योग्य मार्गदर्शक के बिना तो सिद्धि मिलनी असंभव है। सबसे पहले साधक को गुरु के मार्गदर्शन के अनुसार तालु-स्थान के मूल प्रदेश को सात दिनों तक घिसते रहना चाहिए। इससे उसकी सारी मलिनता चली जाएगी।

स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥29॥
हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत्।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥30॥
एवं क्रमेण षाण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत्।
षाण्मासाद्रसनामूलं सिराबन्धं प्रणश्यति ॥31॥

तालुस्थान को घिसने के बाद थूहर के पत्ते जैसी पैनी धारवाले किसी शस्त्र (साधन) से जीभ के मूल को—नीचे के जबड़े से जीभ को जोड़ने वाले तन्तु को बाल (रोम)—के बराबर स्वयं काटना चाहिए या गुरु से कटवाना चाहिए। और उस कटे हुए भाग पर हरड या सैंधा नमक को सात दिन तक बिखेरते रहना चाहिए। इसके बाद फिर से एक बार बाल के परिमाण में (तनिक-सा) काटना चाहिए। इस प्रकार क्रमशः छः महीनों तक प्रयास करने से जीभ का निचले जबड़े से सम्बन्ध कट जाता है।

अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत्।
शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित् ॥32॥

पुनः षाणमासमात्रेण नित्यं संघर्षणान्मुने ।
भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि ॥33॥
अधश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रमचारिता ।
पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया ॥34॥
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्शाखावधिर्मुने ।
अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु ॥35॥
ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः ।
तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधिः ॥36॥

तब जीभ के आगे वाले भाग में कपड़ा लपेटकर धीरे-धीरे बाहर की ओर उत्कर्षण करना चाहिए। ऐसा नियमित छः मास तक अभ्यास किए जाने पर जीभ बढ़कर भृकुटियों के मध्यभाग तक पहुँच जाएगी, तथा और अधिक अभ्यास किए जाने पर तो वह बगल और कान तक भी पहुँचने लगेगी। बाहर निकलने पर ठोड़ी तक पहुँच जाएगी। इस अभ्यास को लगातार तीन वर्ष तक चालू रखा जाए, तब तो जीभ सिर के बालों तक पहुँचने लगेगी। इस प्रकार और भी अभ्यास किया जाता रहे, तब तो वह बगल में कन्धे तक और नीचे कण्ठकूप तक भी पहुँच जाती है। आगे और ज्यादा तीन वर्षों तक अभ्यास करने से वह गर्दन के पीछे और नीचे कण्ठ के निचले छोर तक पहुँच जाती है। इस प्रकार जीभ ऊपर ब्रह्मरन्ध्र तक जाकर उसे ढँक लेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभित् ।
पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याऽतिदुर्लभा ॥37॥
तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया ।
कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादिहेतवे ॥38॥

इस तरह क्रमानुसार अभ्यास करने पर जीभ ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर जाती है। सभी पूर्व बीजों के साथ यह विद्या बड़ी ही कठिन और दुर्लभ है। पहले कटे हुए छः बीजाक्षरों के साथ करन्यास और षडंगन्यास करने से ही यह विद्या सिद्ध हो सकती है—सिद्धिप्राप्ति के लिए ऐसे न्यास करने चाहिए।

शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि ।
युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ॥39॥
तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं मुनिपुङ्गव ।
यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं व्रजेत् ॥40॥
तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन्दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वामात्रंनिवेशयेत् ॥41॥
एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति ।
ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्मथनमाचरेत् ॥42॥

यह अभ्यास बड़ी ही सावधानी रखकर धीरे-धीरे ही नियमानुसार करना चाहिए। जल्दी-जल्दी से किया गया अभ्यास शरीर को नुकसान पहुँचा सकता है। इसलिए इसके अभ्यास में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। अगर बाहर की स्थूल विधि से जीभ ब्रह्मविवर में प्रवेश कर जाती है, तो अँगुली के अग्र भाग से उसे उठाकर—घसीट कर—ब्रह्मरन्ध्र के भीतर रख देना चाहिए। इस प्रकार तीन वर्ष तक

अभ्यास करने से जीभ का ब्रह्मद्वार में प्रवेश हो जाता है। और इस तरह ब्रह्मद्वार में जीभ का ठीक तौर से प्रवेश हो जाने के बाद उसका विधिपुरःसर मन्थन करना चाहिए।

मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः।
खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिद्ध्यते मथनं विना ॥43॥
जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत्।
स्वर्णजां रौप्यजां वापि लोहजां वा शलाकिकाम् ॥44॥
नियोज्य नासिकारन्ध्रं दुग्धसिक्तेन तन्तुना।
प्राणान्निरुध्य हृदये सुखमासनमात्मनः ॥45॥
शनैः सुमथनं कुर्याद्भ्रूमध्ये न्यस्तचक्षुषी।
षाण्मासं मथनावस्था भावेनैव प्रजायते ॥46॥

जप और मन्थन—दोनों करने से शीघ्र ही लाभ मिल जाता है। मंथन के लिए सोने, चाँदी या लोहे की सलाई के एक सिरे पर दूध लगाया हुआ तन्तु लगाना चाहिए। फिर उसे नाक में डालकर, सुखासन में बैठकर, प्राण का हृदय में निरोध करके नेत्रों से भौहों के बीच के भाग में देखते हुए उसी शलाका से मंथन करना चाहिए। इस तरह छः मास तक मंथन का अभ्यास करने से इसका प्रभाव देखने में आता है।

यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत्।
न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत् ॥47॥
सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत्।
एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति ध्रुवा ॥48॥
शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्मविभेदतः।
ब्रह्माण्डोऽयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली ॥49॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

उस समय साधक की अवस्था सोए हुए बालक जैसी होती है। इस मंथनक्रिया को मास में एक बार ही करना चाहिए, हररोज नहीं करनी चाहिए। जीभ को भी ब्रह्मरन्ध्र में बार-बार प्रवेश नहीं करना चाहिए। योगी को बारह वर्ष तक इस प्रकार की साधना करने पर अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होगी। योगी अभ्यास की इस अवस्था में अपने भीतर (अन्तस्) में पूरे विश्व का दर्शन कर लेता है। क्योंकि जीभ से ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाले मार्ग में ही तो पूरे ब्रह्माण्ड की स्थिति है।

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

❋

तृतीयोऽध्यायः

मेलनमन्त्रः ह्रीं भं सं मं पं सं क्षम्। पद्मज उवाच।
अमावास्या च प्रतिपत्पौर्णमासी च शंकर।
अस्याः का वर्ण्यते संज्ञा एतदाख्याहि तत्त्वतः ॥1॥
प्रतिपद्दिनतोऽकाले अमावास्या तथैव च।
पौर्णमास्यां स्थिरीकुर्यात्स च पन्था हि नान्यथा ॥2॥

कामेन विषयाकाङ्क्षी विषयात्काममोहितः ।
द्वावेव सन्त्यजेन्नित्यं निरञ्जनमुपाश्रयेत् ॥3॥
अपरं सन्त्यजेत्सर्वं यदीच्छेदात्मनो हितम् ।
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम् ॥4॥

ब्रह्माजी ने कहा—"खेचरी का मेलन मंत्र, 'ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं है । हे शंकरजी ! अमावस, प्रतिपदा या पौर्णमासी का साधक के लिए क्या अभिप्राय है ? यह कृपा करके हमें बताइए ।" (तब शंकर ने कहा कि—) आत्मानुसन्धान की साधना के पहले चरण में साधक की दृष्टि तथा स्थिति प्रकाशरहित अमावास्या जैसी होती है । दूसरे चरण में प्रतिपदा जैसी (अल्पप्रकाश वाली) होती है । तथा तीसरे चरण में पूर्णिमा (पूर्ण प्रकाश की) सी होती है और वही कल्याण की स्थिति होती है । जब मनुष्य कामनाओं में फँसकर विषयों की ओर दौड़ता है, तो उस समय विषयों को प्राप्त करके कामनाएँ और भी बढ़ती हैं । इसलिए विषयों को और कामनाओं को—दोनों को छोड़कर आत्मस्थ होकर ही विशुद्ध परमात्मभाव की प्राप्ति की जा सकती है । अपनी भलाई चाहने वाले को चाहिए कि वह सभी मिथ्या विषयों को छोड़ दे और कुण्डलिनी शक्ति के मध्य में अपने मन को स्थिर करके उसी में ही स्थिर रहे ।

मनसा मन आलोक्य तत्त्यजेत्परमं पदम् ।
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम् ॥5॥
मनसोत्पद्यते बिंन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् ।
न च बन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम् ॥6॥
चन्द्रार्कमध्यमा शक्तिर्यत्रस्था तत्र बन्धनम् ।
ज्ञात्वा सुषुम्नां तद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥7॥
स्थित्वासौ बैन्दवस्थाने घ्राणरन्ध्रे निरोधयेत् ।
वायुं बिन्दुं समाख्यातं सत्त्वं प्रकृतिमेव च ॥8॥

मन से ही मन का अवलोकन (निरीक्षण, परीक्षण) करके उसको जो छोड़ते हैं, उस मन के त्याग को ही परमपद कहा गया है । वास्तव में मन ही बिन्दु (ईश्वर) हैं और वही इस जगत् की उत्पत्ति और स्थिति का कारण है । जिस प्रकार दूध में से घी निकलता है उसी प्रकार मन से बिन्दु उत्पन्न होता है । जो भी बन्धन हैं, सब मन में ही हैं, बिन्दु में नहीं । जो शक्ति सूर्य और चन्द्र में है, अर्थात् इडा और पिंगला नाड़ियों में है, वही बन्धनकारक है । यह जानकर उन ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र ग्रन्थियों का भेदन करके प्राणवायु को सुषुम्ना में गति कराना चाहिए, जो इन दोनों के बीच में स्थित है । बिन्दुस्थान में प्राण को रोककर वायु का निरोध नासिका के द्वारा करना चाहिए । बिन्दु, सत्त्व और प्रकृति का विस्तार यही प्राणवायु है ।

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डलम् ।
मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम् ॥9॥
अनाहतं विशुद्धिं च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम् ।
आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैङ्गिकम् ॥10॥
मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम् ।
विशुद्धिः कण्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम् ॥11॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डले ।
प्रविशेद्वायुमाकृष्य तथैवोर्ध्वं नियोजयेत् ॥12॥

छः चक्रों को जानकर (भेदकर) सुखमण्डल (सहस्रार) में प्रवेश करना चाहिए। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा—ये छः चक्र कहे गए हैं। गुदास्थान के समीप मूलाधार होता है, लिंग के समीप स्वाधिष्ठान, नाभिमण्डल में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कण्ठमूल में विशुद्ध तथा मस्तक में आज्ञाचक्र आया हुआ है। इन छः चक्रों की जानकारी प्राप्त करके प्राण को खींचकर सुखमण्डल में अर्थात् सहस्रारचक्र में प्रवेश कराना चाहिए और उसे ऊपर की ओर योजित करना चाहिए।

एवं समभ्यसेद्वायुं स ब्रह्माण्डमयो भवेत् ।
वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत् ॥13॥
समाधिमेकेन सममममृतं यान्ति योगिनः ।
यथाग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना ॥14॥
विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि ।
घटमध्यगतो दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते ॥15॥
भिन्ने तस्मिन्घटे चैव दीपज्वाला च भासते ।
स्वकायं घटमित्युक्तं यथा दीपो हि तत्पदम् ॥16॥
गुरुवाक्यसमाभिन्ने ब्रह्मज्ञानं स्फुटीभवेत् ।
कर्णधारं गुरुं प्राप्य कृत्वा सूक्ष्मं तरन्ति च ॥17॥

प्राण का अभ्यास इस तरह करना चाहिए कि जिससे वायु ब्रह्माण्डमय हो जाए। ठीक ढंग से चित्त, प्राणवायु, बिन्दु और चक्र का अभ्यास हो जाने पर योगीजनों को उनके एकाकार से अमृतमय समाधि प्राप्त हो जाती है। जिस प्रकार काष्ठों के भीतर रहने वाला अग्नि मंथन के बिना बाहर नहीं निकलता, उसी तरह अभ्यासयोग के बिना ज्ञानरूपी दीपक प्रकट नहीं होता। जिस प्रकार घड़े के भीतर स्थित दीपक बाहर से प्रकाशित नहीं होता, परन्तु घड़े के टूट जाने से उस दीपक की ज्वालाएँ बाहर फैलती है। यहाँ अपने शरीर को घड़ा कहा गया है और दीपक को ब्रह्म (परमपद) कहा गया है। जब तक गुरु-वचन के द्वारा शरीरघट का भेदन नहीं किया जाता, तब तक ब्रह्मप्रकाश के दीप का प्रकाश नहीं होता। गुरु कर्णधार (नाविक) है, वही इस रहस्यमय संसाररूपी सागर को पार करने का उपाय है।

अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम् ।
परायामङ्कुरीभूय पश्यन्त्यां द्विदलीकृता ॥18॥
मध्यमायां मुकुलिता वैखर्यां विकसीकृता ।
पूर्वं यथोदिता या वाग्विलोमेनास्तगा भवेत् ॥19॥

निरन्तर अभ्यास से और श्रेष्ठ संस्कारों से ही साधक लोग भवसागर को पार करते हैं। इस शरीर में स्थित जो वाणी है, वह 'परा' के रूप में अंकुरित होती है, 'पश्यन्ती' के रूप में दो दलों वाली होती है, 'मध्यमा' के रूप में मुकुलित होती है और 'वैखरी' के रूप में पूरी विकसित हो जाती है। जिस तरह इस वाणी का प्रकटीकरण होता है उसी तरह वह लीन भी हो जाती है।

तस्या वाचः परो देवः कूटस्थो वाक्प्रबोधकः ।
सोऽहमस्मीति निश्चित्य यः सदा वर्तते पुमान् ॥20॥
शब्दैरुच्चावचैर्नीचैर्भाषितोऽपि न लिप्यते ।
विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयः ॥21॥
विराड्हिरण्यगर्भश्च ईश्वरश्चेति ते त्रयः ।
ब्रह्माण्डं चैव पिण्डाण्डं लोका भूरादयः क्रमात् ॥22॥
स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि ।
अण्डं ज्ञानाग्निना तप्तं लीयते कारणैः सह ॥23॥

'उस वाणी का प्रबोधक कूटस्थ परमदेव मैं ही हूँ'—ऐसा जानकर जो मनुष्य वर्तन करता है वह ऊँचे-नीचे शब्दों के द्वारा जो कुछ भी उसके लिए कहा जाय फिर भी उससे वह लिप्त नहीं होता है। विश्व-तैजस-प्राज्ञ—ये तीन पिण्ड हैं तथा विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर—ये तीन भी ब्रह्माण्ड के पिण्ड हैं। इस प्रकार एक पिण्डाण्ड है और दूसरा ब्रह्माण्ड है। ये दो अण्ड तथा भूः आदि लोक भी अपनी-अपनी उपाधि के लय हो जाने से प्रत्यगात्मा में लीन हो जाते हैं। ज्ञानाग्नि से तपा हुआ अण्ड अपने कारणों के मूलस्वरूप में विलीन हो जाता है।

परमात्मनि लीनं तत्परं ब्रह्मैव जायते ।
ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ॥24॥
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते ।
ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत् ॥25॥
अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम् ।
प्रकाशयन्तमन्तःस्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम् ॥26॥
विज्ञानात्मा तथा देहे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितः ।
मायया मोहितः पश्चाद्बहुजन्मान्तरे पुनः ॥27॥
सत्कर्मपरिपाकात्तु स्वविकारं चिकीर्षति ।
कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः ॥28॥

परमात्मा में लीन होकर जीव ब्रह्मरूप ही हो जाता है। वह स्वरूप 'स्तिमित गंभीर' है, वहाँ न तो तेज फैला है, न अन्धकार। वह अनाख्य (अकथ्य), अनभिव्यक्त है कुछ सत् ही शेष रहता है। घट में रहे हुए दीप जैसे उस मध्यम आत्मा का ध्यान करके निरन्तर आगे भी निर्धूम अग्नि जैसे तेजस्वी अंगुष्ठमात्र, प्रकाशक, कूटस्थ और अव्यय आत्मा का ध्यान करते रहना चाहिए। यह विज्ञानात्मा भी माया से मोहित होकर इस देह में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में तथा इसके बाद फिर जन्मान्तर में भी मोहित होता रहता है। फिर किसी तरह सत्कर्मों के परिपाक से वह अपने मोह का विचार करने की इच्छा करता है कि मैं कौन हूँ और यह संसार नाम का दोष मुझ पर यहाँ कैसे आ पड़ा ?

जाग्रत्स्वप्ने व्यवहरन्त्सुषुप्तौ क्व गतिर्मम ।
इति चिन्तापरो भूत्वा स्वभासा च विशेषतः ॥29॥
अज्ञानात्तु चिदाभासो बहिस्तापेन तापितः ।
दग्धं भवत्येव तदा तूलपिण्डमिवाग्निना ॥30॥
दहरस्थः प्रत्यगात्मा नष्टे ज्ञाने ततः परम् ।

वितततो व्याप्य विज्ञानं दहत्येव क्षणेन तु ॥31॥
मनोमयज्ञानमयान्त्सम्यग्दग्ध्वा क्रमेण तु ।
घटस्थदीपवच्छश्वदन्तरेव प्रकाशते ॥32॥

(वह आगे सोचता है कि—) जाग्रत् और स्वप्नावस्था में तो मैं व्यवहार कर सकता हूँ, पर सुषुप्ति में तो मेरी कोई भी गति नहीं होती।'' इस प्रकार अपने ही प्रकाश से आभासित होकर वह सोचता है। चिदाभासरूपी इस अग्नि से जैसे बाहर रूई का ढेर आग से जल जाता है, वैसे ही अज्ञान जल जाता है। इस तरह सांसारिक ज्ञान के नष्ट हो जाने से प्रत्यगात्मा प्रकाशित हो उठता है और उससे वि-ज्ञान (विशेष ज्ञान) जो संसारविषयक है, वह भी नष्ट हो जाता है। इस तरह क्रम से मनोमय और विज्ञानमय के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर घड़े में रखे गए दीपक की भाँति भीतर का प्रकाशस्वरूप आत्मा ही अंतःकरण में प्रकाशित हो उठता है।

ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैवमासुप्तेरामृतेस्तु यः ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान् ॥33॥
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥34॥
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम् ॥35॥
इत्यपुनिषत् ।

इति तृतीयोऽध्यायः ।

इति योगकुण्डल्युपनिषत्समाप्ता ।

सोने तक और मरण तक जो मुनि इस प्रकार ध्यान करता रहता है, वह जीवन्मुक्त है, वह कृतकृत्य है, वह धन्य है, ऐसा जानना चाहिए। वह जीवन्मुक्त उसके देह के कालग्रस्त हो जाने पर विदेहमुक्त हो जाता है, जैसे वायु स्पन्दरहित होकर आकाश में प्रविष्ट हो जाता है। इसके बाद तो वही शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, अव्यय, रसरहित, नित्य और गन्धरहित तत्त्व अवशिष्ट रह जाता है, वही जो अनादि है, अनन्त है, महत्तत्त्व से परे है, जो निर्मल और निरामय है—वही शेष रह जाता है। यहाँ यह उपनिषत् पूर्ण होती है।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा हुआ।

इस प्रकार योगकुण्डलिन्युपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ......मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(47) योगचूडामण्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस सामवेदीय उपनिषद् में योग-साधना से आत्मशक्ति जगाने की प्रक्रिया बताई गई है। पहले योग के आसनादि छः अंगों को बताकर योगसिद्धि के आवश्यक देहतत्त्वज्ञान, मूलाधारादिचक्रज्ञान, कुण्डलिनी में परमज्योतिदर्शन, नाडीचक्र, नाडीस्थान, नाडीसंचरित प्राणवायु और उसकी क्रियाएँ, प्राणसह जीव की गतिमयता, अजपागायत्री अनुसन्धान, कुण्डलिनी द्वारा मोक्षद्वार-भेदन, तीन बन्ध, खेचरी मुद्रा, वज्रोली आदि के लक्षण, महामुद्रास्वरूप, प्रणवजप की विशेष प्रक्रिया, प्रणव-ब्रह्म का ऐक्य, प्रणवावयवों का अर्थ, तुरीयोंकार से अक्षरब्रह्मसाधना, प्रणव-हंस साधना, आत्मज्ञानबोधक प्रणवजाप, प्राणजय की आवश्यकता और इसी प्रकार से अनेकानेक योगविषय और उनके फल बताए गए हैं। सचमुच ही इसका 'योगचूडामणि' नाम अन्वर्थक है, क्योंकि इसमें योग के अनेक विषय दिए हुए हैं और इसका उपासक योग का चूडामणि (मुकुट) बन सकता है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि......ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (आरुण्युपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया।
कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः ॥1॥
आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥2॥
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्।
षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ॥3॥
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत्।
चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम् ॥4॥
नाभौ दशदलं पद्मं हृदये द्वादशारकम्।
षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ॥5॥

योगियों के कल्याण की कामना से मैं योगचूडामणि नामक उपनिषद् को कहूँगा। यह उपनिषद् कैवल्य की सिद्धि कराने वाली है और श्रेष्ठ योगियों के द्वारा परिशीलन की गई एवं रहस्यमय है। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन छः अंगों से युक्त को '**योग**' कहा गया है। यहाँ आसन के दो प्रकार बताए गए हैं—एक सिद्धासन और दूसरा पद्मासन। जो साधक अपनी देह के भीतर छः चक्रों को, सोलह आधारों को, तीन लक्ष्यों को और पाँच आकाशों को नहीं पहचान पाता, उसे सिद्धि भला कहाँ से मिल सकती है? शरीर में स्थित छः चक्रों में जो आधार चक्र

(मूलाधारचक्र) है, वह चार दलों (पंखुडियों) वाला है, और जो स्वाधिष्ठानचक्र है, उसमें छ: दल हैं। नाभि में स्थित पद्म दश दलों वाला है और हृदय में अवस्थित पद्मचक्र बारह दलों वाला है। जो विशुद्धचक्र है, वह सोलह दल वाला है और भ्रूमध्य में जो आज्ञाचक्र (पद्म) है, वह दो दलों वाला है।

सहस्त्रदलसंख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि।
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥6॥
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते।
कामाख्यं तु गुदस्थाने पङ्कजं तु चतुर्दलम् ॥7॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता।
तस्य मध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ॥8॥

ब्रह्मरन्ध्र के महापथ में आया हुआ पद्मचक्र हजार दलवाला है। मूलाधार प्रथम चक्र है और स्वाधिष्ठान दूसरा चक्र है। उन दोनों के बीच में योनिस्थान (कुण्डलिनी) है। वह जगत् की उत्पत्ति का कारण है, इसलिए उसे 'कामरूप' कहा गया है। गुदा स्थल में चार दलवाला कमल स्थित है, उसे 'काम' कहा गया है। उसी काम नामक कमल के बीच में सिद्ध पुरुषों के द्वारा वन्दित पश्चिम की ओर मुँह किया हुआ महालिंग स्थित है।

नाभौ तु मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्।
तप्तमाचीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥9॥
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम्।
समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ॥10॥

नाभि-स्थल में मणि के आकारवाले मणिपूर नामक चक्र को जानने वाला जो योगी है, वही सही रूप में योग को जानने वाला है। वह तपाए गए स्वर्ण जैसी कान्तिवाला, विद्युत् की तरह चमकने वाला त्रिकोणाकार होता है और वह अग्निरूप मेढ्र में प्रतिष्ठित रहता है। समाधि की अवस्था में इस स्थान पर अनन्त विश्वतोमुख (चारों ओर) परमज्योति के दर्शन होते हैं।

तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातो न विद्यते।
स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ॥11॥
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान् मेढ्रमेवाभिधीयते।
तन्तुना मणिवत्प्रोतो योऽत्र कन्दः सुषुम्नया ॥12॥

यदि महान् योगाभ्यास से इस महाअग्नि को (अग्निमयी ज्वाला को) देख लिया जाए, तो फिर यहाँ आने-जाने से मुक्ति मिल जाएगी। स्वाधिष्ठानचक्र को स्व = प्राण का अधिष्ठान = निवासस्थान कहा जाता है। स्व के अधिष्ठान में रहने के कारण से ही उसे 'मेढ्र' भी कहा जाता है। जिस प्रकार मोती में धागा पिरोया जाता है, वैसे ही कन्द (नाडी समूह) सुषुम्ना से युक्त होता है।

तन्नाभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्।
द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ॥13॥
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति।
ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दे योनिः खगाण्डवत् ॥14॥

तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ।
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता ॥15॥
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयगा ॥16॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ॥17॥

नाभिमण्डल में स्थित बारह दलों वाला मणिपूरचक्र पाप और पुण्य से रहित है। जब तक जीव इस चक्र के रहस्य को नहीं समझता, तब तक वह इस संसार में ही चक्कर लगाया करता है। पक्षी के अण्डे के आकारवाली योनि (कुण्डलिनी) मेढ़ और नाभि के बीच में स्थित है और वहीं से बहत्तर हजार नाडियों का जाल सारे शरीर में फैला हुआ है। इन बहत्तर हजार में बहत्तर नाडियाँ मुख्य हैं। इन बहत्तर में भी दस नाडियाँ मुख्य मानी गई हैं। ये दस प्रमुख नाड़ियाँ हैं—1. इडा, 2. पिंगला, 3. सुषुम्ना, 4. गान्धारी, 5. हस्तिजिह्वा, 6. पूषा, 7. यशस्विनी, 8. अलम्बुसा, 9. कुहू और 10. शंखिनी।

एतन्नाडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ।
इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ॥18॥
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ।
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ॥19॥
यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुसा ।
कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी ॥20॥

योगियों को इस नाड़ीचक्र का ज्ञान होना ही चाहिए। हमारे शरीर में इडा नाडी नासिका की बाँयीं ओर तथा पिंगला नाडी नासिका की दाहिनी ओर होती है। और इन इडा और पिंगला नाड़ियों के बीच सुषुम्ना रहती है। दक्षिण नेत्र में हस्तिजिह्वा तथा वाम नेत्र में गान्धारी का निवास है। इसी तरह पूषा दाहिने कान में और यशस्विनी बाँये कान में वास करती है। मुँह में अलम्बुसा तथा लिंगप्रदेश में कुहू तथा मूलस्थान में शंखिनी नाडी का वास है।

एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ते नाडयः क्रमात् ।
इडापिङ्गलासौषुम्नाः प्राणमार्गे च संस्थिताः ॥21॥
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
प्राणापानसमानाख्या व्यानोदानौ च वायवः ॥22॥
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ।
हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले ॥23॥
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ।
व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः ॥24॥

संपूर्ण शरीर के भीतर एक-एक द्वार पर एक-एक नाडी रहती है और प्राणमार्ग में इडा, पिंगला और सुषुम्ना रहती है। सोम, सूर्य और अग्निदेवता प्राणों के वाहक हैं। प्राण, अपान, उदान, समान

और व्यान—ये पाँच प्राणवायु माने गए हैं। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय—ये पाँचों उपप्राणवायु माने गए हैं। शरीर के भीतर हृदय में मुख्य प्राणवायु रहता है, गुदास्थान में अपान, नाभिस्थान में समान, कण्ठ में उदान तथा संपूर्ण शरीर में व्यानवायु अवस्थित रहता है। ये पाँचों प्रधान प्राणवायु शरीर के पाँच स्थानों में निवास कर रहे हैं।

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा।
कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥25॥
न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः ॥26॥

ऊर्ध्ववायु में (डकार में) नाग नामक उपप्राण की स्थिति है। आँखों की पलक की झपक में कूर्मवायु की तथा छींकने में कृकर की एवं जम्भाई में देवदत्तवायु की स्थिति रहती है। धनंजय उपप्राण तो शरीर में इस तरह व्याप्त है कि वह मरण के बाद भी शरीर को नहीं छोड़ता है। जीव इन्हीं नाडियों में घूमता रहता है।

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥27॥
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति।
वामदक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥28॥
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति ॥29॥
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वाधःसंस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥30॥

हाथ से फेंके गए कन्दुक की भाँति जीव प्राण और अपानादि वायुओं से फेंका गया होने से स्थिर नहीं रहता अर्थात् इधर-उधर उछलता रहता है। यह जीव प्राणापान आदि वायुओं के वश में रहकर ऊपर-नीचे आया-जाया करता है। वह दाहिने-बाँयें मार्ग पर भी आवागमन करता रहता है। उसका वह गमनचक्र तीव्रता से चलता है इसलिए वह दिखाई नहीं पड़ता। रस्सी से बाँधा हुआ बाजपक्षी ऊपर उड़ता हुआ भी जैसे खींच लिया जाता है, वैसे ही गुणों से बँधा हुआ यह जीव भी प्राण और अपान वायु के द्वारा खींचा जाता है। प्राणवायु अपानवायु को खींचता है और अपानवायु प्राणवायु को खींचता रहता है। प्राण-अपान की इस क्रिया के द्वारा जीव भी ऊपर-नीचे आया-जाया ही करता रहता है। प्राण और जीव की इस ऊपर-नीचे आने-जाने की क्रिया को जो जानता है, वही योग को सही रूप से जानता है।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥31॥
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्त्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥32॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥33॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥34॥

हमारी साँस 'हकार' से बाहर निकलती है और 'सकार' से भीतर आती है। इस तरह यह जीव सदैव 'हंस हंस' इस तरह हंसमन्त्र का जाप करता ही रहता है। इस तरह दिन-रात मन्त्र का जाप करते रहने से यह जीव प्रतिदिन इक्कीस हजार छः सौ मन्त्र जपता है। यही अजपा गायत्री योगियों के लिए मुक्ति देने वाली है। इसके संकल्प मात्र से सर्वपापों से मुक्ति मिल जाती है। इसके समान कोई विद्या, कोई जप, कोई ज्ञान अभी तक न हुआ है और भविष्य में होगा भी नहीं।

कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥35॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥36॥
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं मनोमयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥37॥
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ॥38॥
उद्घाटयेत्कवाटं तु यथा कुञ्चिकया गृहम् ।
कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥39॥

यह गायत्री कुण्डलिनी से उत्पन्न हुई है, यह प्राणों को धारण करने वाली है, यह प्राणविद्या और महाविद्या है—इस प्रकार जो जान लेता है, वही वेद को सही रूप से जानता है। कुण्डलिनीशक्ति कन्द के ऊर्ध्वभाग में आठ कुण्डलों के आकार में व्याप्त होकर सुषुम्ना नामक ब्रह्मद्वार के मुख को अपने मुख से ढँककर ही रहती है। जिस मनोमय ब्रह्मद्वार – सुषुम्ना में प्रवेश किया जाता है, उसी द्वार को अपने मुख से ढँककर वह परमेश्वरी शक्ति (कुण्डिलिनी) सोई रहती है। वह्नियोग (अग्नियोग) के द्वारा वह जाग्रत् होती है और फिर प्रकाश के रूप में मन और प्राणवायु के साथ सुषुम्ना नाडी के भीतर सुई की तरह ऊपर की ओर गति करती है। जिस तरह चाभी से घर का किवाड़ (ताला) खोला जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा योगीजन मुक्ति का द्वार खोल लेते हैं।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेष्टितम् ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥40॥

पहले दृढता से पद्मासन लगाकर, हाथों का संपुट करके (ऊपर-नीचे करके) गोदी में रखना चाहिए। बाद में सिर को नीचा करके ठोड़ी को छाती पर लगाना चाहिए। फिर, ब्रह्म में एकाग्रता करनी चाहिए और बार-बार श्वास को भीतर खींचते रहना और बाहर निकालते रहना चाहिए। अर्थात् प्राणवायु को भीतर खींचते रहना चाहिए और अपानवायु को बाहर निकालते रहना चाहिए। इस तरह से प्राणायाम करते रहने से मनुष्य को अतुल शक्ति की अनुभूति होती है।

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥41॥

ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥42॥
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुञ्जते शिवसम्प्रीत्या मिताहारी स उच्यते ॥43॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा ॥44॥

इस विधि के अनुसार प्राणायाम के परिशीलन से शरीर में जो पसीना उत्पन्न होगा, उसको शरीर में ही मर्दन कर लेना चाहिए तथा तीखे, खट्टे तथा नमकीन पदार्थों का त्याग करके दूध का ही आहार करना चाहिए। ब्रह्मचारी और मिताहारी वह योगी यदि योगाभ्यास में सदैव तत्पर रहे, तो उसे एक वर्ष में ही योग की सिद्धि मिल जाती है, इसमें किसी शंका का स्थान नहीं है। योग-साधक को स्निग्ध और मधुर पदार्थ ही खाने चाहिए। उसे (कुक्षि का) एक चतुर्थांश भाग खाली रखकर ही खाना चाहिए (ऊनोदरी रहना चाहिए अर्थात् एक द्वितीयांश अन्न, एक चतुर्थांश जल और एक चतुर्थांश खाली—इस तरह भोजन करना चाहिए)। आठ कुण्डलों वाली कुन्द के ऊपर के भाग में जो कुण्डलिनीशक्ति है, वह योगियों के लिए मोक्ष देने वाली है, तथा अज्ञानियों के लिए बन्धनकारक भी कही गई है।

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम् ॥45॥
पार्ष्णिघातेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥46॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥47॥
ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥48॥

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियाणबन्ध, जालन्धरबन्ध और मूलबन्ध को जो जानता है, वह योगी मोक्ष प्राप्त करता है। एड़ी से योनि (सीवनी स्थल) को दबाकर दृढ़ता से उसे संकुचित करके अपानवायु को ऊपर की ओर खींचने की जो क्रिया होती है उसे मूलबन्ध कहा जाता है। मूलबन्ध में इस प्रकार प्राण और अपान को एक में मिलाया जाता है। इससे मल-मूत्र कम हो जाता है और इस मूलबन्ध का अभ्यास करने से बूढ़ा भी जवान हो जाता है। गिद्ध आदि बड़े पक्षी जैसे बिना थके ही आकाश में ऊँचे उड़ते हैं, उसी प्रकार 'उड्डियाणबन्ध' का अभ्यास किया जाता है। वह बन्ध मृत्युरूपी हाथी को पछाड़ने के लिए सिंह के समान होता है। (कहा जाता है कि बड़े पक्षियों को उड़ने से थकान नहीं, अपितु नयी शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार इस उड्डियाणबन्ध के अभ्यास से थकान नहीं, अपितु साधक में नयी शक्ति का संचार होता है)।

उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते ।
ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥49॥
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कष्टदुःखौघनाशनः ॥50॥
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥51॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥52॥

पेट को नाभि के नीचे सामने खींचने को पश्चिमोत्तान कहा जाता है । और उसी जगह पेट में ही यह उड्डियाणबन्ध भी किया जाता है । जो साधक शरीर में नीचे की ओर बहते हुए खेचरी मुद्रा के द्वारा क्षरित होने वाले आकाशजल को अपने मस्तक में रोकता है, उसकी उस क्रिया को 'जालन्धरबन्ध' कहा जाता है । वह बन्ध कष्टों और दुःखों के समूह को नष्ट कर देता है । इस जालन्धरबन्ध में सामने की ओर मस्तक को झुकाकर, गले से नीचे ठोढ़ी को हृदय से स्पर्श कराना होता है । इससे अमृत वायु की ओर या अग्नि की ओर न जाकर स्थिर रहता है । दृष्टि को दोनों भौहों के बीच स्थिर करके जीभ को गले की ओर पीछे खींचकर गले के मध्य तालु में (कपालकुहर में) प्रवेश कराया जाय, तब वह खेचरी मुद्रा कही जाती है ।

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥53॥
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः ।
बाध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥54॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे यतः ।
तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता ॥55॥
बिन्दुमूलशरीराणि शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ती शरीराणि आपादतलमस्तकम् ॥56॥

जो साधक खेचरी मुद्रा को जान लेता है और साधना करता है, उसे रोग, भय, भूख, प्यास और मूर्च्छा आदि से छुटकारा मिल जाता है । खेचरी मुद्रा जानने वाले को किसी रोग से कोई पीड़ा नहीं होती और कर्मों में भी वह लिप्त नहीं होता और कोई विघ्न भी उसके पास नहीं फटकता । खेचरी मुद्रा की साधना करने से चित्त और जीभ आकाश में विचरण करते हैं । इसलिए ऐसी खेचरी मुद्रा की सभी सिद्ध लोग वन्दना करते हैं । मस्तक से लेकर चरणों तक के शरीर के सभी अंगों का जिन शिराओं के द्वारा पोषण होता है, उन सभी शिराओं का मूलबिन्दु खेचरी मुद्रा ही है ।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥57॥
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥58॥
ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः सम्प्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥59॥
स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ।
पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ॥60॥

जिस साधक ने खेचरी मुद्रा के द्वारा अपनी जीभ के ऊपर कपालकुहर को आच्छादित कर लिया है, उस साधक का किसी कामिनी के आलिंगन करने पर भी बिन्दुस्खलन नहीं होता । जब तक वह साधक खेचरी मुद्रा को बाँधकर रहता है, तब तक बिन्दुपात नहीं होता । और जब तक बिन्दुपात नहीं होता अर्थात् जब तक बिन्दु शरीर में रहता है, तब तक मृत्यु से क्या भय है ? यदि प्रज्वलित अग्नि

में बिन्दुपात हो भी जाए तो उसे योनिमुद्रा के द्वारा बलपूर्वक रोका जा सकता है, और ऊर्ध्वगामी बनाया जा सकता है। वह बिन्दु सफेद और लाल—दो रंग का होता है। श्वेत बिन्दु को शुक्र (वीर्य) नाम दिया गया है और लाल बिन्दु को 'महारज' नाम दिया गया है।

सिन्दूरव्रातसङ्काशं रविस्थानस्थितं रजः।
शशिस्थानस्थितं शुक्लं तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥61॥
बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः।
उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥62॥
वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः।
याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेद्दिव्यवपुस्तदा ॥63॥
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण सङ्गतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥64॥

सिन्दूर के ढेर के समान प्रकाशित रविस्थान में वह रज (महारज) अवस्थित है। तथा चन्द्रस्थान में शुक्ल (शुक्र) स्थित है। शुक्ल और रज का संयोग बड़ा कठिन होता है। बिन्दु ब्रह्मारूप है तथा रज शक्तिस्वरूप है। बिन्दु चन्द्ररूप है और रज सूर्यरूप है। इन दोनों का योग (मिलन) होने से ही परमपद की प्राप्ति होती है। जब वायु से (प्राणायाम से) शक्तिचालिनी मुद्रा के जरिए गतिशील बने हुए 'रज' बिन्दु के साथ एकाकार हो जाता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है। जिस प्रकार रज का संयोग सूर्य में और शुक्ल (शुक्र) का संयोग चन्द्र में होता है, उस विषय को और दोनों के एकाकार होने को जो साधक जानता है, वह योग को जानने वाला है।

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥65॥
वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचये-
त्सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥66॥
चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः।
या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥67॥
नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥68॥

जिस साधना से नाडीसमूह का शोधन किया जा सकता है, जिससे सूर्य-चन्द्र को चलाया जा सकता है तथा जिससे रस का शोषण किया जा सकता है, उस साधना को 'महामुद्रा' कहा जाता है। बाँये पैर से योनिस्थान पर दबाव डालकर ठोढी को छाती पर लगाना चाहिए और फिर दाहिना पैर सीधा फैलाकर दोनों हाथों से अँगुलियों सहित उस दाहिने पैर को पकड़कर दोनों कुक्षियों में अर्थात् पेट में पूरा श्वास भरकर धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। ऐसी यह महामुद्रा की क्रिया है। यह क्रिया सभी प्रकार की व्याधियों को नष्ट कर देती है। अभ्यास के क्रम में सबसे पहले तो बाँयीं नासिका से (चन्द्र अंश से) श्वास को खींचकर बाद में रेचन करते हुए अभ्यास करना चाहिए। फिर उसी तरह दायीं नासिका से (सूर्य अंश से) श्वास को खींचकर बाद में रेचन का अभ्यास करना चाहिए। इस महामुद्रा

के करने से पथ्य या अपथ्य—सभी प्रकार का नीरस भोजन भी सरस हो जाता है। भोजन ज्यादा कर लेने पर या विष खा लेने पर भी वह अमृत के समान पच ही जाता है।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥69॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥70॥
पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥71॥

इस महामुद्रा की साधना करने वाले योगी को इसके प्रभाव से क्षय, कोढ़, भगन्दर, गुल्म, अजीर्ण आदि नहीं होते और भविष्य में भी वह रोगों से मुक्त ही रहता है। यह महामुद्रा साधकों को बड़ी सिद्धियाँ प्रदान करती है। इस मुद्रा को हर किसी को (अनधिकारी) को नहीं बताना चाहिए। इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखना चाहिए। किसी एकान्त स्थल में पद्मासन लगाकर कमर से मस्तक तक शरीर को सीधा रखकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखते हुए अव्यय प्रणवमन्त्र का – ओंकार का जाप करना चाहिए।

ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीयं यद्भूतं भवद्भविष्यत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनवच्छिन्नं परं ब्रह्म। तस्माज्जाता परा शक्तिः स्वयंज्योतिरात्मिका। आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। एतेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्रविष्णुब्रह्माणश्चेति। तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलयकर्तारः। राजसो ब्रह्मा सात्त्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति एते त्रयो गुणयुक्ताः। ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव। धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवुः। एतेषां ब्रह्मणो लोका देवतिर्यङ्नरस्थावराश्च जायन्ते। तेषां मनुष्यादीनां पञ्चभूतसमवायः शरीरम्। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिचित्ताहङ्कारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवेत्युच्यते। गुणत्रययुक्तं कारणम्। सर्वेषामेवं त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाश्चेत्यवस्थाश्चतस्त्रः तासामवस्थानामधिपतयश्चत्वारः पुरुषा विश्वतैजसप्राज्ञात्मानश्चेति।
विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञः सर्वसाक्षीत्यतः परः ॥72॥
प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः।
अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः ॥73॥
अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयो गुणास्त्रीण्यक्षराणि त्रयः स्वरा एवं प्रणवः प्रकाशते।
अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु।
उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुप्तितः ॥74॥

ॐ निरंजन, निर्विकल्प, नामरहित, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, आदि-अन्तरहित, एक, तुरीय, भूत-भविष्य-वर्तमान में एकरस रहने वाले परब्रह्म से स्वयंप्रकाश पराशक्ति उत्पन्न हुई। परमात्मा से पहले आकाश प्रकट हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी प्रकट हुई। सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा—ये पाँच देवता इन पाँच भूतों के पाँच स्वामी हैं। उनमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र क्रमशः इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने वाले हैं। ब्रह्मा राजसी हैं, विष्णु सात्त्विक हैं और रुद्र तामस हैं, ऐसे ये तीन देव तीन गुणों से युक्त हैं। ब्रह्मा सब देवों से पहले उत्पन्न हुए। सृष्टि को उत्पन्न करने के लिए ब्रह्मा, सृष्टि के पालन के लिए विष्णु, सृष्टि का संहार करने के लिए रुद्र, भोग के लिए इन्द्र—ये देव पहले उत्पन्न हुए। लोक, देव, तिर्यक्, मनुष्य और स्थावर—इन सबकी उत्पत्ति ब्रह्मा के द्वारा हुई है। इनमें मनुष्य आदि का शरीर पाँच महाभूतों के संयोग से बनता है। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, ज्ञान के विषय, पाँच वायु, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—अन्यों की तुलना में स्थूल होने से इनके कारण को स्थूल प्रकृति कहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, ज्ञानविषय, पाँच वायु, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को सूक्ष्म शरीर अथवा लिंगशरीर कहा जाता है। कारण-शरीर तीन गुणों से युक्त होता है। सभी प्राणियों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर होते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये चार अवस्थाएँ हैं। इन सभी अवस्थाओं के अधिपति पुरुष क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ और आत्मा होते हैं। 'विश्व' स्थूल का नित्य भोग करने वाला है, 'तैजस' एकान्त का भोग करने वाला है और 'प्राज्ञ' आनन्द का भोगने वाला है। और सबका साक्षी आत्मा इन सबसे परे है। सर्वव्यापी प्रणवरूप परमात्मा जीवों के इन अवस्थाओं के भोगने के समय में स्वयं अधोमुख (विमुख=उदासीन) ही रहता है। प्रणव (ओंकार) में स्थित तीन वर्ग—'अकार', 'उकार' और 'मकार' जो हैं, वे तीन वेद, तीन गुण, तीन लोक, तीन अक्षर और तीन स्वर के रूप में एक प्रणव ही प्रकाशित हो रहा है। 'अकार' सभी प्राणियों की जाग्रत् अवस्था में आँखों में स्थित है। 'उकार' सभी प्राणियों की स्वप्नावस्था में कण्ठ में स्थित है। और 'मकार' सभी प्राणियों की सुषुप्त अवस्था में हृदय में रहता है।

विराड्विश्वः स्थूलश्चाकारः। हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः।
कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः।
अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते।
उकारः सात्त्विकः शुक्लो विष्णुरित्यभिधीयते ॥75॥
मकारस्तामसः कृष्णो रुद्रश्चेति तथोच्यते।
प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ॥76॥
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत्।
अकारे लीयते ब्रह्मा ह्युकारे लीयते हरिः ॥77॥
मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते।
ज्ञानिनामूर्ध्वगो भूयादज्ञाने स्यादधोमुखः ॥78॥
एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित्।
अनाहतस्वरूपेण ज्ञानिनामूर्ध्वगो भवेत् ॥79॥

वह 'अकार' स्थूल विराट् – विश्व ही है। और 'उकार' तेजस्वी सूक्ष्म हिरण्यगर्भ के रूप में कहा जाता है। 'मकार' अव्यक्त (अप्रकट) कारणरूप 'प्राज्ञ' कहा जाता है। 'अकार' राजस प्रकृति का,

लाल वर्ण का चेतन रूप में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा का रूप है। 'उकार' सात्त्विक प्रकृति का, श्वेतवर्णी और विष्णु कहा जाता है। और 'मकार' तामस प्रकृति का कृष्ण वर्ण वाला रुद्र कहा जाता है। प्रणव से ही ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं, प्रणव से ही विष्णु उत्पन्न हुए हैं, प्रणव से ही रुद्र उत्पन्न हुए हैं, प्रणव ही सबसे परे है। प्रणव के अकार में ब्रह्मा का लय होता है, उकार में विष्णु (हरि) का लय होता है और मकार में रुद्र का लय होता है। अन्त में केवल प्रणव ही प्रकाशित रहता है। यह प्रणव ज्ञानियों के लिए ऊर्ध्व-मुख और अज्ञानियों के लिए अधोमुख कहा गया है। इस तरह सर्वत्र समान रूप से प्रणव ही सर्वत्र प्रतिष्ठित है। जो इस प्रणव को इस तरह जानता है, वह वेद को जानने वाला है। ज्ञानी साधकों में यह प्रणव अनाहत रूप से ऊर्ध्वगामी ही होता है।

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
प्रणवस्य ध्वनिस्तद्वत्तदग्रं ब्रह्म चोच्यते ॥80॥
ज्योतिर्मयं तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूक्ष्मतः।
ददृशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित् ॥81॥
जाग्रन्नेत्रद्वयोर्मध्ये हंस एव प्रकाशते।
सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम् ॥82॥
हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम्।
सकारो ध्यायते जन्तुर्हकारो हि भवेद् ध्रुवम् ॥83॥

वह अनाहत तेल की धारा की भाँति अविच्छिन्न और घण्टाध्वनि जैसा मधुर होता है। उस अनाहतनाद (प्रणवध्वनि) का मूल ब्रह्म माना जाता है। प्रणव का वह अग्रभाग – मूलरूप वह ध्वनि महापुरुषों के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य है, और वाणी से परे है। इसको जानने वाला महात्मा ही वेद को जानने वाला है। दोनों नेत्रों के मध्य में जाग्रदवस्था में हंस प्रकाशमान रहता है। 'हंस' का 'स'कार खेचरी के रूप में कहा गया है। वह 'त्वं' का ही स्वरूप है। और 'ह'कार निश्चित रूप से परमात्मा का द्योतक है। वह निश्चित रूप से 'तत्' पद का द्योतक है। जो भी प्राणी 'स'कार का ध्यान करता है, वह अवश्य ही 'ह'काररूप हो जाता है। 'सोऽहम्' और 'तत्त्वमसि' की वही साधना है।

इन्द्रियैर्बध्यते जीव आत्मा चैव न बध्यते।
ममत्वेन भवेज्जीवो निर्ममत्वेन केवलः ॥84॥
भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥85॥
क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा मात्रास्थितिर्यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥86॥
वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत्।
मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥87॥

इन्द्रियाँ जीव को तो बन्धन में डालती हैं, पर आत्मा को वे बन्धन में नहीं डाल सकतीं। जब तक ममता होती है, तब तक वह जीव रहता है, पर ममता का बन्धन छूट जाने से वह कैवल्यरूप ही हो जाता है। जिस ओंकार की तीन मात्राओं में भूः, भुवः और स्वः—ये तीन लोक तथा सूर्य, चन्द्र और अग्नि—ये तीन देव निवास करते हैं, वह त्रिमात्रिक ओंकार परम प्रकाशक है। इसी परम प्रकाशमान तीनों मात्राओं में क्रिया, इच्छा और ज्ञान तथा ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी—ये तीन शक्तियाँ

भी विद्यमान हैं। उस ओंकार का सर्वदा वाणी से जप करना चाहिए और शरीर से उसी के प्रति आचरण करना चाहिए और मन से भी उसी का जप करना चाहिए तथा जाप करते-करते उसी परमप्रकाशरूप ओंकार में स्थिर हो जाना चाहिए।

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥88॥
चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥89॥
यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुञ्चति।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥90॥
यावद्बद्धो मरुद् देहे तावज्जीवो न मुञ्चति।
यावद् दृष्टिभ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥91॥

यद्यपि पवित्र हो या अपवित्र—किसी भी स्थिति में ओंकार का जप करने वाला पाप के कीचड़ में नहीं फँसता। वह जल से अलिप्त पद्मपत्र की भाँति संसार से अलिप्त रहता है। जब तक वायु चलती रहेगी तब तक बिन्दु भी चलित होगा। वायु के स्थिर हो जाने पर योगी अचलता प्राप्त करता है। इसलिए वायु की स्थिरता का (प्राणायाम का) अभ्यास करना चाहिए। शरीर में जबतक वायु का अस्तित्व है, तब तक ही शरीर में जीव स्थिर रहता है। शरीर से वायु का निकल जाना ही मृत्यु है। इसलिए वायु का निरोध (वायु को रोकना – प्राणायाम) करना चाहिए। जीव शरीर से तब तक नहीं निकल सकता, जब तक कि शरीर में वायु टिका हुआ रहता है। जो मनुष्य दोनों भौहों के मध्य में अपनी दृष्टि को स्थिर करता है, वह काल को जीत लेता है। फिर उसको काल का भय कैसा ?

अल्पकालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरो भवेत्।
योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणान्निरोधयेत् ॥92॥
षड्विंशदङ्गुलिर्हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
वामदक्षिणमार्गेण प्राणायामो विधीयते ॥93॥
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणक्षमः ॥94॥
बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
धारयेद्वा यथाशक्त्या भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥95॥

ब्रह्मा भी अल्प काल के (अल्प आयुष्य के) भय से प्राणायाम करते हैं। इसलिए योगियों को और मुनियों को भी प्राण का निरोध करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। यह प्राण हंसरूप है। वह श्वास के द्वारा छब्बीस अंगुल बाहर निकलता है। प्राणायाम नासिका के दोनों नथुनों से परिवर्तित क्रम से (दाहिने-बाँयें दोनों मार्ग से) करते रहना चाहिए। जब नाडीचक्र सभी प्रकार के मलों से शुद्ध हो जाए, तब योगी प्राणों का निरोध करने में अर्थात् प्राणायाम को सिद्ध करने में समर्थ होता है। पहले बद्धपद्मासन लगाकर योगी को चन्द्रनाडी के द्वारा (बाँये नासिकाछिद्र द्वारा) वायु को भीतर खींचना चाहिए (पूरक करना चाहिए)। और बाद में कुछ समय तक उसे भीतर ही रोकना चाहिए (कुम्भक करना चाहिए)। फिर सूर्यनाड़ी से (दाहिने नासिकाछिद्र से) रेचन करना चाहिए (अर्थात् बाहर निकालना चाहिए)।

अमृतोदधिसङ्काशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत् ॥96॥
स्फुरत्प्रज्वलसञ्ज्वालापूज्यमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा हृदि स्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ॥97॥

प्राणायाम काल में सुधासागर से निकले हुए, गाय के दूध के समान धवलवर्ण चन्द्रबिम्ब का ध्यान करने से साधक सुखी होता है । और हृदयकमलस्थित प्रज्वलित ज्वाला समान सूर्य भगवान् के ध्यान के साथ प्राणायाम करने से योगी को सुख मिलता है ।

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिन्दुद्वयं ध्यायतः
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मासद्वयादूर्ध्वतः ॥98॥
यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥99॥

प्राणायाम में सबसे पहले इडा नाडी (बाँयें नासिकाछिद्र) से श्वास खींचकर पूरक करना चाहिए । फिर पिंगला नाडी (दाहिने नासिका छिद्र) से श्वास का रेचन करना चाहिए । पुन: इसे विपरीत क्रम से करना चाहिए । इस प्रकार परिवर्तित क्रम में प्राणायाम करते समय चन्द्र और सूर्य का पहले कहे गए अनुसार ध्यान का परिशीलन करने पर केवल दो महीनों में नाडीशोधन हो जाता है । ऐसे 'नाडीशोधन प्राणायाम' करने से जब नाडी शुद्ध हो जाती है, तब वायु को इच्छानुसार धारण करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है, तथा आरोग्य और जठराग्नि की प्रबलता भी बढ़ती है, और दिव्य नाद भी सुनाई पड़ता है ।

प्राणो देहस्थितो यावदपानं तु निरुन्धयेत् ।
एकश्वासमयी मात्रा ऊर्ध्वाधो गगने गतिः ॥100॥
रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः ॥101॥
मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ ।
दोषजालमबध्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा ॥102॥
पूरकं द्वादशं कुर्यात्कुम्भकं षोडशं भवेत् ।
रेचकं दश चोङ्कारः प्राणायामः स उच्यते ॥103॥

प्राणायाम में कुम्भक में जब तक वायु भीतर रहे, तब तक अपानवायु को भी रोके रहना चाहिए । इस प्रकार हृदयरूपी आकाश में एक श्वास की मात्रा ऊपर-नीचे गतिशील रहती है । 'प्राणायाम की पूरक, रेचक और कुम्भक ये तीनों क्रियाएँ साक्षात् प्रणव का ही स्वरूप हैं ।'—ऐसे चिन्तन-मनन के साथ बारह मात्राओं से युक्त प्राणायाम करना चाहिए । सूर्य और चन्द्र का यह द्वादशमात्रावाला प्राणायाम साधक के सभी दोषों को समाप्त कर देता है, ऐसा योगियों को जानना चाहिए । पूरक में बारह मात्रा, कुंभक में सोलह मात्रा तथा रेचक में दस मात्रा के प्राणायाम को 'ओंकार प्राणायाम'—ऐसा नाम दिया गया है ।

अधमे द्वादश मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥104॥

अधमे स्वेदजननं कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥105॥
बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥106॥
द्वाराणां नव सन्निरुध्य मरुतं बध्वा दृढां धारणां
नीत्वा कालमपानवह्निसहितं शक्त्या समं चालितम् ।
आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि स्थिरं
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां सङ्गो न संस्तूयते ॥107॥

यह पूर्वोक्त 'ओंकार प्राणायाम' जब बारहमात्रा वाला किया जाता है, तब वह सामान्य कोटि का माना जाता है, जब वह दुगुनी अर्थात् चौबीस मात्रा वाला किया जाता है, तब वह मध्यम कोटि का माना जाता है, जब वह तिगुनी अर्थात् छत्तीस मात्रा वाला किया जाता है, तब वह उत्तम कोटि का माना जाता है। सामान्य (अधम) प्राणायाम पसीना लाने वाला होता है, मध्यम प्राणायाम में शरीर में कँपकँपी उत्पन्न होती है और उत्तम कोटि के प्राणायाम में शरीर आसन से ऊपर उठने लगता है। इसलिए प्राणायाम इसी तरह करना चाहिए। योग के अभ्यास के लिए एकान्त में 'बद्धपद्मासन' नामक आसन लगाकर बैठना चाहिए और शिवस्वरूप गुरुदेव को नमस्कार करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करके प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। जिन नवद्वारों से वायु का आवागमन हुआ करता है, उनका निरोध करके वायु को रोकना चाहिए और अपानवायु को अग्नि से संयुक्त कर, ऊर्ध्वगामी बनाकर, शक्तिचालिनी मुद्रा से कुण्डलिनी के मार्ग से दृढ़तापूर्वक मस्तिष्क में आत्मा के ध्यान के साथ स्थापित करना चाहिए। जब तक वह स्थिर रहे, तब तक वह महापुरुष की संगति नहीं चाहता, अर्थात् वह स्वयं सर्वश्रेष्ठ हो जाता है।

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥108॥
आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥109॥
धारणाभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥110॥

संसारसागर से मुक्ति पाने के लिए यह प्राणायाम सेतु के समान है, और पापरूपी ईधन को जलाने के लिए अग्नि के समान है। योगी लोग बहुधा ऐसा ही कहते आए हैं। योगासनों से शारीरिक रोगों का नाश होता है, और प्राणायाम से पापों का नाश होता है तथा प्रत्याहार से मनोविकारों (मनोरोगों) का नाश होता है। धारणा से योगी का मन धैर्यवान होता है और समाधि से जीव के शुभाशुभ कर्मों का नाश हो जाता है तथा उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥111॥
धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥112॥
यत्समाधौ परंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन्दृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते ॥113॥

बारह बार प्राणायाम करने से प्रत्याहार की सिद्धि होती है, इसी तरह बारह बार प्रत्याहार करने से धारणा की सिद्धि होती है, जब धारणा का आवर्तन बारह बार किया जाता है, तब ध्यान बनता है, और बारह बार ध्यान करने से समाधि बन जाती है, ऐसा योग के विशारदों का अभिप्राय है। समाधि की स्थिति में साधक परमज्योतिस्वरूप और अनन्त, विश्वतोमुख सर्वतो समभाव प्राप्त करने वाला हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद कुछ भी कर्म करना शेष नहीं रहता। पूर्वकृत कर्म भी उसे बन्धन में नहीं डालते। इससे संसार में आवागमन से मुक्ति मिल जाती है।

सम्बद्धासनमेढ्रमङ्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुट-
द्वाराद्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम्।
बध्वा वक्षसि बह्वपानसहितं मूर्ध्नि स्थिरं धारये-
देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरास्तन्मनाः ॥114॥
गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता ॥115॥
प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः ॥116॥
हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनव्यत्ययक्रमात् ॥117॥

दोनों पैरों की एडियों को मेढ्र (सीवन स्थान) में लगाकर दृढ़तापूर्वक आसन में बैठना चाहिए। इसके बाद आँखों, कानों और नाक को अँगुलियों से बन्द कर मुँह से वायु को खींचना चाहिए। फिर नीचे से अपानवायु को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए। और दोनों वायुओं को हृदयप्रदेश में रोकना चाहिए। और फिर ऊपर ले जाकर मस्तिष्क में स्थिर करके उसमें मन लगाना चाहिए। ऐसी क्रिया से योगियों को विशेष समत्वभाव प्राप्त होता है। ऊपर-नीचे दोनों ओर गतिशील वायु जब हृदयप्रदेशरूपी आकाशमण्डल में स्थिर हो जाता है, तब साधक को महान् ध्वनि सुनाई पड़ती है जो कि घण्टा आदि वाद्यों जैसी होती है। उस समय 'नादयोग' की सिद्धि होती है। विधि अनुसार प्राणायाम की साधना करने से सभी तरह के रोगों से छुटकारा हो जाता है और प्राणायाम न करने से यह शरीर सभी रोगों का जन्मस्थान बन जाता है। वायु के विकृत होने से ही तो खाँसी, श्वास, हिचकी और सिर-कान-आँख आदि की पीड़ा होती है और तरह-तरह के रोग पैदा होते रहते हैं।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥118॥
युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं प्रपूरयेत्।
युक्तंयुक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥119॥
चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥120॥
यथा तृतीयकाले तु रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम्।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं हरेत् ॥ इत्युपनिषत् ॥121॥

इति योगचूडामण्युपनिषत्समाप्ता।

हाथी, बाघ, सिंह जैसे हिंसक और जंगली पशु जिस प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास से वश में आ जाते हैं, ठीक इसी तरह से प्राणवायु भी धीरे अभ्यास के द्वारा वश में आ जाता है। योगी को इस तरह उसे वश में लाना चाहिए। यदि साधक ऐसा कर नहीं सकता, तो उसका विनाश ही हो जाता है। सुयोग्य रीति से प्राणवायु को भीतर खींचना चाहिए और सुयोग्य रीति से ही प्राणवायु को बाहर निकालना चाहिए। सुयोग्य रीति से प्राणवायु को रोकने पर ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है। नेत्र आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर भागती-दौड़ती हैं। इनको वहाँ से (ऐसा करने से) रोकना और इष्ट की साधना में लगाना 'प्रत्याहार' कहा जाता है। जैसे-जैसे तीसरा प्रहर अर्थात् सायंकाल होता जाता है, वैसे-वैसे सूर्य अपने प्रकाश को समेटता जाता है और पूर्ण सायंकाल के आ जाने पर वह अपने प्रकाश को पूरी तरह से समेट लेता है, वैसे ही योगीजन अपनी साधना का स्तर बढ़ाते हुए अर्थात् जीव अवस्था, तीन अवस्था, तीन गुण, तीन शरीर आदि से आगे बढ़ते हुए जब अपने तृतीयांश में – उच्च योग के तृतीयांश समाधि में – स्थित हो जाता है, तब वह अपने मन के सभी विकारों का शमन कर लेता है। यही उपनिषद् का रहस्य (विद्या) है।

यहाँ उपनिषद् पूरी होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि.......ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

❋

(42) योगतत्त्वोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेद के साथ सम्बद्ध इस उपनिषद् में विविध प्रकार के योगों के उपादानों का विशद विवरण दिया गया है। एक बार पितामह ब्रह्मा ने भगवान् विष्णु से आठ अंगों वाले योगतत्त्व के बारे में पूछा था और उसके उत्तर में विष्णु ने यह उपदेश दिया था। इसमें कैवल्यपद की प्राप्ति के लिए योगमार्ग को श्रेष्ठ बताया गया है। इसमें मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग—ये चार प्रकार योग के बताए हैं। और क्रमशः उनकी ये चार अवस्थाएँ—आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति भी बताई गई हैं। योग के साधकों और सिद्धों के आहार, विहार, दिनचर्या के बारे में भी बताया गया है। यौगिक सिद्धियों और साधनाकालीन सावधानियों का भी निर्देश किया गया है। योगलभ्य अणिमादि आठ सिद्धियों की निःसंदिग्धता बताते हुए भी अन्ततोगत्वा जीवन के लिए आत्मतत्त्व का साक्षात्कार ही परम लक्ष्य है—यह सूचित करते हुए कहा गया है कि निर्वात दीपशिखा की तरह अन्तःकरण में आत्मतत्व का साक्षात्कार करके संसार-चक्र से मुक्त हो जाना ही परम लक्ष्य है। इस उपनिषद् की सभी उपनिषदों की तरह फलश्रुति तो यही है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि योगिनां हितकाम्यया।
यच्छ्रुत्वा च पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते॥1॥
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः॥2॥
तमाराध्य जगन्नाथं प्रणिपत्य पितामहः।
पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टाङ्गसंयुतम्॥3॥
तमुवाच हृषीकेशो वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः।
सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः॥4॥

योगियों के हित की कामना से मैं योगतत्त्व के बारे में कह रहा हूँ, जिसे सुनकर या पढ़कर मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है। विष्णु नाम के महायोगी ही सभी प्राणियों में महान् हैं और महातपस्वी हैं। और वही दीप की तरह तत्त्वमार्ग में पुरुषोत्तम हैं। इन जगन्नाथ (भगवान् विष्णु) की आराधना करके और उन्हें प्रणाम करके पितामह ब्रह्मा ने उनसे पूछा—'मुझे आठ अंगों के साथ योगतत्त्व कहिए'। उनके पूछने पर हृषीकेश भगवान् विष्णु ने उनसे कहा—'मैं आपको उस तत्त्व का वर्णन करता हूँ, आप ध्यान पूर्वक उसे सुनिए। ये सभी जीव माया के जाल से सुखों और दुःखों से घिरे हुए हैं।

तेषां मुक्तिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं मृत्युतारकम् ॥5॥
नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम् ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥6॥
अनिर्वाच्यं पदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि ।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ॥7॥
निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम् ।
तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम् ॥8॥

उन लोगों की मुक्ति करने वाला, माया के जाल को काटने वाला, जन्म-मरण-जरावस्था और रोगों का नाश करने वाला मार्ग तो यही है (जो कि आपने पूछा है)। इसके अतिरिक्त दूसरे मार्गों का अनुसरण करने से तो कैवल्य का पद बड़ी कठिनता से मिलता है और शास्त्रों में बताए गए मतमतान्तर वाले अन्यान्य मार्गों पर चलने वाले लोगों की बुद्धि में मोह उत्पन्न हो जाता है। उस अनिर्वचनीय पद का उल्लेख देवगण भी नहीं कर पाते, तब उस स्वयंप्रकाश आत्मा के स्वरूप को शास्त्रों के द्वारा किस तरह प्रकाशित किया जा सकता है ? यह आत्मा अंशरहित, मलरहित, शान्त और सर्वातीत एवं दोषरहित है। वही आत्मा पुण्य और पाप से आवृत होकर जीवरूप में हो जाता है।

परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम् ।
सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम् ॥9॥
वारिवत्स्फुरितं तस्मिंस्तत्राहङ्कृतिरुत्थिता ।
पञ्चात्मकमभूत्पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम् ॥10॥
सुखदुःखैः समायुक्तं जीवभावनया कुरु ।
तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धे परमात्मनि ॥11॥

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि परमात्मा का पद तो नित्य ही है, और जब वह परमात्मा सभी प्रकार के भावों और पदों से परे है, ज्ञानरूप हैं और निर्लेप है, तब भला वह जीवभाव को कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि जैसे पानी में तरंगें उठती हैं, वैसे ही उस परमतत्त्व में एक स्फुरण हुआ और उसमें से 'अहंकार' उत्पन्न हुआ। इसमें से पंचभूतात्मक पिण्ड पैदा हुआ। वह पिण्ड सात धातुओं और तीन गुणों से युक्त था। वही पिण्ड सुख-दुःख से युक्त होने से जीव भाव को प्राप्त होता है। इसीलिए विशुद्ध परमात्मा को ही जीव का नाम दिया गया।

कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमदो रजः ।
जन्म मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा ॥12॥
तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च ।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः केवलो मतः ॥13॥
तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ॥14॥
योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ॥15॥

काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, मद, रजोगुण, जन्म, मृत्यु, कृपणता, शोक, तन्द्रा, भूख, प्यास, तृष्णा, लज्जा, भय, दु:ख, विषाद, हर्ष—इन दोषों से विमुक्त वह जीव (मूलत: तो) केवल चैतन्य ही है। अत: इन दोषों के विनाश के लिए मैं आपको उपाय बतला रहा हूँ। योग के बिना केवल ज्ञान ही मोक्षकारक कैसे हो सकता है ? और इसी प्रकार ज्ञान से हीन (रहित) केवल योग भी मोक्ष देने के लिए समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए मुमुक्षु को ज्ञान और योग—दोनों का दृढ अभ्यास करना चाहिए।

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं ज्ञेयैकसाधनम् ॥16॥

यह संसार ही अज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है, और ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है। आदि में ज्ञान का ही स्वरूप होता है और ज्ञान के द्वारा ही ज्ञेय को प्राप्त किया जा सकता है।

ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं पदम्।
निष्कलं निर्मलं साक्षात् सच्चिदानन्दरूपकम् ॥17॥
उत्पत्तिस्थितिसंहारस्फूर्तिज्ञानविवर्जितम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमथ योगं ब्रवीमि ते ॥18॥
योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः ॥19॥
आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः स्मृतः।
निष्पत्तिश्चेत्यवस्था च सर्वत्र परिकीर्तिता ॥20॥

जिस मनुष्य ने अपने चैतन्यरूप परम पद को जान लिया है, जो पद अंशरहित, विशुद्ध, साक्षात् सच्चिदानन्दस्वरूप, उत्पत्ति-स्थिति-नाश के स्फुरण से जो रहित है, वही सच्चा ज्ञान है (अर्थात् सर्जन-पालन-विसर्जन शून्य, अंशरहित शुद्ध चैतन्य ही ज्ञान है)। वह ज्ञान मैंने आपको बताया। हे ब्रह्माजी ! अब मैं आपको योग के बारे में बताता हूँ। वह योग व्यवहार में अनेक प्रकार के होते हैं जैसे मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। उस योग की चार अवस्थाएँ कही गयी हैं—आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति।

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन्वक्ष्ये शृणु समासतः।
मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ॥21॥
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्।
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः ॥22॥
लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ॥23॥
स एष लययोगः स्याद्धठयोगमतः शृणु।
यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः ॥24॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम्।
समाधिः समतावस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते ॥25॥

हे ब्रह्मन् ! इन चारों योगों के लक्षण मैं संक्षेप में कहूँगा, उसे सुनिए। जब कोई साधक बारह वर्ष तक मात्रासहित मन्त्र का जप करता है, तो यह मन्त्रयोग कहा जाता है। इसका साधक धीरे-धीरे

अणिमा आदि सिद्धियों के गुण से युक्त ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु इस मन्त्रयोग की कम बुद्धि वाले ही उपासना करते हैं, वह साधक अधम माना जाता है। अब दूसरा लययोग है—यह तो करोड़ों प्रकार का कहा गया है। चलते-फिरते, बैठते-उठते, सोते, खाते-पीते, निष्कल ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। इसी को लययोग कहा जाता है। अब तीसरे हठयोग को सुनो—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, दोनों भौंहों के बीच हरि का ध्यान और समाधि—यह आठ अंगों वाला योग है।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरोड्डियाणश्च मूलबन्धस्तथैव च ॥26॥
दीर्घप्रणवसन्धानं सिद्धान्तश्रवणं परम्।
वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिधा मता ॥27॥
एतेषां लक्षणं ब्रह्मन्प्रत्येकं शृणु तत्त्वतः।
लघ्वाराहो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः ॥28॥
अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन।
सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥29॥

हठयोग में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्ध, उड्डियाणबन्ध, मूलबन्ध, दीर्घप्रणव-अनुसन्धान, परम सिद्धान्त-श्रवण तथा वज्रोली, अमरोली और सहजोली, ऐसी तीन मुद्राएँ आती हैं। हे ब्रह्मन्! इनमें से हर एक के लक्षण आप सुनिए। यमों में एकमात्र मिताहार (अल्पाहार) ही मुख्य है और नियमों में अहिंसा को मुख्य माना गया है। आसनों में सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन—इन चार आसनों को मुख्य माना गया है।

प्रथमाभ्यासकाले तु विघ्नाः स्युश्चतुरानन।
आलस्यं कत्थनं धूर्तगोष्ठी मन्त्रादिसाधनम् ॥30॥
धातुस्त्रीलौल्यकादीनि मृगतृष्णामयानि वै।
ज्ञात्वा सुधीस्त्यजेत्सर्वान् विघ्नान्पुण्यप्रभावतः ॥31॥
प्राणायामं ततः कुर्यात्पद्मासनगतः स्वयम्।
सुशोभनं मठं कुर्यात्सूक्ष्मद्वारं तु निर्व्रणम् ॥32॥
सुष्ठु लिप्तं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नतः।
मत्कुणैर्मशकैर्लूतैर्वर्जितं च प्रयत्नतः ॥33॥

हे चतुरानन! योग के अभ्यास के प्रारंभ में विघ्न तो आते हैं। जैसे आलस्य, अपनी बड़ाई, धूर्तपने की बातें और मन्त्रादि का साधन आदि होते हैं। श्रेष्ठ साधक को धातु (धनादि), स्त्री, लोलुपता आदि को मृगजल समझकर छोड़ देना चाहिए और अपने पुण्य के प्रभाव से सभी विघ्नों को हटा देना चाहिए। बाद में प्राणायाम करना चाहिए। उसके लिए स्वयं पहले पद्मासन लगाकर बैठना चाहिए। ऐसा करने के लिए तो सबसे पहले एक छोटी-सी सुन्दर कुटिया बनानी चाहिए। उसका द्वार छोटा होना चाहिए, उसमें छिद्र नहीं होने चाहिए, वह गोमय से प्रयत्नपूर्वक लीपा होना चाहिए। खटमल, मच्छर, मकड़ी आदि जन्तुओं से उसे प्रयत्नपूर्वक रहित कर देना चाहिए।

दिने दिने च सम्मृष्टं सम्मार्जन्या विशेषतः।
वासितं च सुगन्धेन धूपितं गुग्गुलादिभिः ॥34॥

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।
तत्रोपविश्य मेधावी पद्मासनसमन्वितः ॥35॥
ऋजुकायः प्राञ्जलिश्च प्रणमेदिष्टदेवताम् ।
ततो दक्षिणहस्तस्य अङ्गुष्ठेनैव पिङ्गलाम् ॥36॥
निरुध्य पूरयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः ।
यथाशक्त्यविरोधेन ततः कुर्याच्च कुम्भकम् ॥37॥

फिर, उस कुटिया को प्रतिदिन संमार्जनी से प्रयत्नपूर्वक झाड़कर स्वच्छ रखना चाहिए और गुग्गुल आदि की धूप से उसे सुगन्धित रखना चाहिए। बाद में जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो, ऐसे वस्त्र, मृगचर्म या कुश के आसन पर पद्मासन में बैठकर शरीर को सीधा रखकर हाथ जोड़कर इष्ट देवता को प्रणाम करना चाहिए। और इसके बाद, दाहिने हाथ के अँगूठे से पिंगला का निरोध करके (उसे दबाकर) धीरे-धीरे वायु को भीतर की ओर खींचना चाहिए और उसे यथाशक्ति रोककर कुम्भक करना चाहिए।

पुनस्त्यजेत्पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः ।
पुनः पिङ्गलमापूर्य पूरयेदुदरं शनैः ॥38॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदिडया शनैः ।
यया त्यजेत्तयापूर्य धारयेदविरोधतः ॥39॥
जानु प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रा परिगीयते ॥40॥

इसके बाद पिंगला द्वारा उस वायु को धीरे-धीरे, वेगरहित बाहर निकालना चाहिए। फिर इसके बाद पिंगला से वायु को पेट में फिर से भरकर, शक्ति के अनुसार ग्रहण करके इडा के माध्यम से धीरे-धीरे रेचन करना चाहिए। इस प्रकार जिस ओर के नथुने से वायु बाहर निकाला हो उसी के जरिए फिर से वायु को भरकर दूसरी ओर के नथुने से बाहर निकालते रहना चाहिए। मात्रा का काल प्रमाण यह है कि जानु को हाथ से शीघ्र भी नहीं और धीरे-धीरे भी नहीं—ऐसे सामान्य-मध्यम रूप से चारों ओर घुमाकर बाद में चुटकी बजाने में जितना समय लगता है, उस समय को 'मात्रा' कहा जाता है।

इडया वायुमारोप्य शनैः षोडशमात्रया ।
कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥41॥
रेचयेत्पिङ्गलानाड्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।
पुनः पिङ्गलयापूर्य पूर्ववत्सुसमाहितः ॥42॥
प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥43॥
एवं मासत्रयाभ्यासान्नाडीशुद्धिस्ततो भवेत् ।
यदा तु नाडी शुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि बाह्यतः ॥44॥

इडा नाडी से धीरे-धीरे सोलह मात्रा तक वायु का पूरक करना चाहिए। फिर उस पूरित वायु का चौसठ मात्रा तक कुंभक करना चाहिए। फिर पिंगला नाडी के जरिए उस कुंभित वायु का बत्तीस मात्रा तक के काल में रेचन करना चाहिए। फिर से उस पिंगला नाडी से वायु का पूर्वोक्त रीति से ही पूरक करना चाहिए, और पूर्वोक्त प्रकार से ही कुंभक तथा रेचक करना चाहिए। इस प्रकार प्रातः में, मध्याह्न

में, सायंकाल में तथा आधी रात को धीरे-धीरे अस्सी कुंभकों का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार तीन मास तक अभ्यास करने से नाडीशुद्धि हो जाती है। और ऐसा होने पर अर्थात् नाडीशुद्धि होने पर परिणामत: उसके बाह्य चिह्न दिखाई देने लग जाते हैं।

जायन्ते योगिनो देहे तानि वक्ष्याम्यशेषतः।
शरीरलघुता दीप्तिर्जाठराग्निविवर्धनम् ॥45॥
कृशत्वं च शरीरस्य सदा जायेत निश्चितम्।
योगविघ्नकराहारं वर्जयेद् योगवित्तमः ॥46॥
लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम्।
शाकजातं रामठादि वह्निस्त्रीपथसेवनम् ॥47॥
प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशांश्च वर्जयेत्।
अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥48॥

ऐसे बाह्य चिह्न किस प्रकार से दिखाई देते हैं, वह मैं पूर्णत: कहूँगा। शरीर में हल्कापन आ जाता है, जठराग्नि तेज हो जाती है, शरीर में कान्ति बढ़ती है, शरीर में पतलापन आता है। ऐसे समय में योग में बाधा पहुँचाने वाले आहार का त्याग कर देना चाहिए। नमक, तेल, खटाई, गरम-सूखा-तीखा भोजन, हरे साग-तरकारी, हींग आदि मसाले, आग में तपना, स्त्री का सहवास, अति चलना, सुबह का स्नान, उपवास और शरीर को कष्ट पहुँचाने वाले अन्य कार्य छोड़ देने चाहिए। योगाभ्यास के आरंभ के दिनों में दूध और घी का भोजन प्रशस्त माना गया है।

गोधूममुद्गशाल्यन्नं योगवृद्धिकरं विदुः।
ततः परं यथेष्टं तु शक्तः स्याद्वायुधारणे ॥49॥
यथेष्टधारणाद्वायोः सिद्ध्येत्केवलकुम्भकः।
केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरविवर्जिते ॥50॥
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत् ॥51॥
ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः।
कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः ॥52॥

गेहूँ, मूँग और चावल का आहार योग की वृद्धि करने वाला माना जाता है। इसको लेने के बाद मनुष्य अपनी इच्छानुसार प्राण का संयम (निरोध) कर सकता है। जब इस तरह प्राणवायु का यथेष्ट धारण सिद्ध हो जाता है, तब केवल-कुम्भक सिद्ध हो जाता है। जब केवल-कुंभक सिद्ध हो जाता है तो रेचक एवं पूरक चले ही जाते हैं। तब ऐसे मनुष्य के लिए तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। केवल-कुंभक सिद्ध होने पर शरीर में जो पसीना उत्पन्न होता है, उसे शरीर में ही मल लेना चाहिए। तदनन्तर प्राणवायु की धारणशक्ति धीरे-धीरे क्रमशः बढ़ती रहने से आसन पर बैठे हुए साधक की देह में कंप उत्पन्न होने लगता है।

ततोऽधिकतराभ्यासाद् दार्दुरी स्वेन जायते।
यथा च दर्दुरो भाव उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छति ॥53॥
पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले।
ततोऽधिकतराभ्यासाद् भूमित्यागश्च जायते ॥54॥

पद्मासनस्थ एवाऽसौ भूमिमुत्सृज्य वर्तते ।
अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्यमुद्भवेत् ॥55॥
न दर्शयेच्च सामर्थ्यं दर्शनं वीर्यवत्तरम् ।
स्वल्पं वा बहुधा दुःखं योगी न व्यथते सदा ॥56॥

इससे भी आगे और अधिक अभ्यास करने से मेंढक की तरह चेष्टाएँ होने लगती हैं। जैसे मेढक जमीन से उछल-उछल कर वापिस जमीन में और पुनः ऊपर आया-जाया करता है, वैसे ही वह पद्मासनस्थ योगी आसन से ऊपर उठकर फिर जमीन पर आया-जाया करता है। और भी अधिक अभ्यास किए जाने पर जमीन को बिल्कुल छोड़ ही देता है। पद्मासन में ही स्थित वह योगी भूमि से ऊपर उठकर रहता है। उस समय उस योगी में मानवेतर चेष्टाएँ करने की सामर्थ्य आ जाती है ! लेकिन वह सामर्थ्य उसे किसी को नहीं बताना चाहिए अपितु उस सामर्थ्य का स्वयं दर्शन करके अपने उत्साह को बढ़ाना चाहिए। अर्थात् उस सामर्थ्य का अपने-आप में किया हुआ दर्शन ही वीर्यवत्तर (बलवत्तर) होता है। ऐसे समय में वह योगी थोड़े या बहुत दुःख से भी व्यथित नहीं होता।

अल्पमूत्रपुरीषश्च स्वल्पनिद्रश्च जायते ।
कीलवो दूषिका लाला स्वेददुर्गन्धतानने ॥57॥
एतानि सर्वथा तस्य न जायन्ते ततः परम् ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद् बलमुत्पद्यते बहु ॥58॥
येन भूचरसिद्धिः स्याद् भूचराणां जये क्षमः ।
व्याघ्रो वा शरभो वापि गजो गवय एव वा ॥59॥
सिंहो वा योगिना तेन म्रियन्ते हस्तताडिताः ।
कन्दर्पस्य यथा रूपं तथा स्यादपि योगिनः ॥60॥

उस योगी के मूत्र और मल में कमी हो जाती है, उसकी निद्रा कम हो जाती है। इसके बाद उस योगी को कीचड़, नाक का मैल, थूक, पसीना, मुँह में गन्ध—ये सब कभी नहीं होते। इससे भी अधिक अभ्यास किए जाने पर योगी में बहुत बल आ जाता है, जिस बल से वह भूचरसिद्धि प्राप्त करता है। भूचरसिद्धि का अर्थ पृथ्वी पर विचरते हुए प्राणियों पर काबू पा लेने का सामर्थ्य होता है। बाघ हो या शरभ हो, हाथी हो या नील गाय हो, सिंह हो या और कोई हो, पर वे सब इस योगी के मात्र हाथ से ही मारने पर मर जाते हैं। और इस योगी का रूप कामदेव जैसा हो जाता है।

तद्रूपवशगा नार्यः कांक्षन्ते तस्य सङ्गमम् ।
यदि सङ्गं करोत्येष तस्य बिन्दुक्षयो भवेत् ॥61॥
वर्जयित्वा स्त्रियाः सङ्गं कुर्यादभ्यासमादरात् ।
योगिनोऽङ्गे सुगन्धश्च जायते बिन्दुधारणात् ॥62॥
ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया ।
जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे ॥63॥
सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा ।
एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसम्भवा ॥64॥

उस योगी के ऐसे रूप के वशीभूत होकर नारियाँ उसके साथ समागम करना चाहती हैं। यदि वह योगी समांगम कर लेता है, तो उसका बिन्दुक्षय (वीर्य का नाश) हो जाता है। इसलिए स्त्रियों का

संग छोड़कर आदरपूर्वक योग का अभ्यास ही करते रहना चाहिए। क्योंकि बिन्दु के धारण करते रहने से ही (ऊर्ध्वरेता बने रहने से ही) योगी के शरीर में सुगन्ध पैदा होती है। बाद में पूर्वार्जित पापों के क्षय के लिए एकान्त में बैठकर योगी को प्लुतमात्रा से प्रणव का जाप करना चाहिए। क्योंकि वह प्रणवमन्त्र तो सर्व विघ्नों को और सभी दोषों (बाधाओं) को दूर करने वाला है। ऐसे अभ्यासयोग से सिद्धियों का संभव (उत्पत्ति) शुरू हो जाता है।

ततो भवेद्घटावस्था पवनाभ्याससतत्परा।
प्राणोऽपानो मनो बुद्धिर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥65॥
अन्योऽन्यस्याविरोधेन एकता घटते यदा।
घटावस्थेति सा प्रोक्ता तच्चिह्नानि ब्रवीम्यहम् ॥66॥
पूर्वं यः कथितोऽभ्यासश्चतुर्थांशं परिग्रहेत्।
दिवा वा यदि वा सायं याममात्रं समभ्यसेत् ॥67॥
एकवारं प्रतिदिनं कुर्यात्केवलकुम्भकम्।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम् ॥68॥

इसके बाद एक घटावस्था होती है, वह प्राणायाम से होती है। पूर्वोक्त प्रणवजाप के साथ प्राणायाम करने से वह सहजरूप से होती हैं। जिस अवस्था में प्राण, अपान, मन, बुद्धि, जीव तथा परमात्मा में निर्विरोध एकता स्थापित होती है, उसे 'घटावस्था' कहा जाता है। उसके चिह्नों का आगे वर्णन किया जाता है। यथा—पहले जितना अभ्यास योगी करता था, उसका चतुर्थांश ही अब करना चाहिए। दिन में अथवा रात में केवल एक प्रहर ही योगाभ्यास करना चाहिए। 'केवल कुंभक' तो दिन में एक बार ही करना चाहिए। कुम्भक में स्थिर होकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर लाए, यही प्रत्याहार है।

योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते।
यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ॥69॥
यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्।
लभते नासया यद्यत् तत्तदात्मेति भावयेत् ॥70॥
जिह्वया यद्रसं ह्यत्ति तत्तदात्मेति भावयेत्।
त्वचा यद्यत्स्पृशेद्योगी तत्तदात्मेति भावयेत् ॥71॥
एवं ज्ञानेन्द्रियाणां तु तत्तदात्मनि धारयेत्।
याममात्रं प्रतिदिनं योगी यत्नादतन्द्रितः ॥72॥

पूर्वोक्त प्रकार से योगी जब कुंभक करता है, तब उसे प्रत्याहार कहा जाता है। ऐसे प्रत्याहार के समय में योगी अपनी आँखों से जो कुछ देखता है, उसे आत्मवत् ही समझे। अपने कानों से जो कुछ भी सुनता है, उसे आत्मवत् ही समझे। अपनी नासिका से जो कुछ सूँघता है, उसे आत्मरूप ही समझे। जीभ से जो कुछ भी आस्वाद करे, उसे आत्मवत् ही समझे। त्वगिन्द्रिय से जिस किसी का स्पर्श करे, उसे आत्मवत् ही समझे। इस प्रकार सभी ज्ञानेन्द्रियों को – उनके विषयों को – योगी अपने आत्मा में ही धारण करे। इस प्रकार का प्रत्याहार प्रतिदिन एकबार योगी को आलस्यरहित होकर एक प्रहर तक करना चाहिए।

यथा वा चित्तसामर्थ्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद् दूरागमस्तथा ॥73॥
वाक्सिद्धिः कामरूपत्वमदृश्यकरणी तथा ।
मलमूत्रप्रलेपेन लोहादेः स्वर्णता भवेत् ॥74॥
खे गतिस्तस्य जायेत सन्तताभ्यासयोगतः ।
सदा बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगसिद्धये ॥75॥
एते विघ्ना महासिद्धेर्न रमेत्तेषु बुद्धिमान् ।
न दर्शयेत्स्वसामर्थ्यं यस्य कस्यापि योगिराट् ॥76॥

इस प्रकार योगी के चित्त का सामर्थ्य योगाभ्यास करते-करते बढ़ता जाता है, जैसे कि दूर से सुनाई पड़ना, दूर से दिखाई पड़ना, एक क्षण में बहुत दूर चले जाना, वाणी की सिद्धि, इच्छानुसार रूप धारण करना, अदृश्य हो जाना, अपने मल-मूत्र के लेप से लोहे को सोना बना देना, आकाश में गमन करना—आदि सामर्थ्य सतत योगाभ्यास से आ जाते हैं। परन्तु बुद्धिमान योगी को यह सोच लेना चाहिए कि उसकी योग की परम सिद्धि के लिए ये सभी सामर्थ्य विघ्नरूप (अवरोधक) ही हैं। बुद्धिमान योगी को इन सामर्थ्यों में मग्न नहीं होना चाहिए। और जहाँ-तहाँ अपने सामर्थ्यों का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। (तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान योगी को ऐसी सिद्धियों के प्रदर्शन से बचना चाहिए)।

यथा मूढो यथा मूर्खो यथा बधिर एव च ।
तथा वर्तेत लोकस्य स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये ॥77॥
शिष्याश्च स्वस्वकार्येषु प्रार्थयन्ति न संशयः ।
तत्तत्कर्मकरव्यग्रः स्वाभ्यासे विस्मृतो भवेत् ॥78॥
सर्वव्यापारमुत्सृज्य योगनिष्ठो भवेद्यतिः ।
अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमभ्यसेत्तदहर्निशम् ॥79॥
एवं भवेद्धटावस्था सन्तताभ्यासयोगतः ।
अनभ्यासवतश्चैव वृथागोष्ठ्या न सिद्ध्यति ॥80॥

इसीलिए श्रेष्ठ योगी को जनसाधारण के सामने अज्ञानी, मूर्ख, बहरा होने जैसा वर्ताव अपने सामर्थ्यों को छिपाने के लिए करना चाहिए। शिष्यलोग तो अपने-अपने कर्मों की सिद्धि के लिए उस योगी के पास निश्चित ही विज्ञप्तियाँ किया करेंगे, फलस्वरूप उनके उन कार्यों में फँसकर योगी अपने योगाभ्यास को भूल जाता है। इसलिए उस योगी को तो ऐसे सभी प्रकार के व्यापारों को छोड़कर केवल योगनिष्ठ ही बने रहना चाहिए। गुरु के वाक्य को बिना भूले हमेशा ही योगाभ्यास चालू रखना चाहिए। इस प्रकार के योग के अविरत किए गए अभ्यास से घटावस्था उत्पन्न होती है। जो मनुष्य अभ्यास नहीं करता और केवल वृथा बातें करता है, उसके द्वारा यह घटावस्था सिद्ध नहीं होती।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाभ्यसेत् ।
ततः परिचयावस्था जायतेऽभ्यासयोगतः ॥81॥
वायुः परिचितो यत्नादग्निना सह कुण्डलीम् ।
भावयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥82॥

वायुना सह चित्तं च प्रविशेच्च महापथम् ।
यस्य चित्तं स्वपवनं सुषुम्नां प्रविशेदिह ॥83॥
भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पञ्चकः ।
येषु पञ्चसु देवानां धारणा पञ्चधोच्यते ॥84॥

इसलिए सभी प्रयत्न करते हुए निरन्तर योग का ही अभ्यास करना चाहिए। इसके बाद (घटावस्था के बाद) एक और 'परिचय' नाम की अवस्था भी होती है । अग्नि के साथ कुण्डलिनी की भावना करके, निरोधरहित होकर सुषुम्ना में जब प्राणवायु का प्रवेश होता है, तब यह 'परिचय' की अवस्था होती है । इस महापथ में वायु के साथ जब चित्त का भी वहाँ प्रवेश होता है और जिस योगी का चित्त भी इस तरह सुषुम्ना में वायुसहित प्रविष्ट हो जाता है, उसको पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश में – अपने अवयवों में विभक्त पंचभूतों में – ब्रह्म से लेकर सदाशिवपर्यन्त पाँच देवों की धारणा होती है ।

पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवी स्थानमुच्यते ।
पृथिवी चतुरस्रं च पीतवर्णं लवर्णकम् ॥85॥
पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम् ।
ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम् ॥86॥
धारयेत्पञ्च घटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात् ।
पृथिवीयोगतो मृत्युर्न भवेदस्य योगिनः ॥87॥

पैरों से घुटनों तक का स्थान पृथ्वीतत्त्व का स्थान माना गया है । चार अन्तों (कोनों) से युक्त यह पृथ्वी पीले वर्ण और लकार से युक्त कही गई है । पृथ्वीतत्त्व में वायु को आरोपित करके उसमें लकार को जोड़ कर उस स्थान में सुनहरे रंगवाले चतुर्मुख और चतुर्भुज ब्रह्माजी का ध्यान करना चाहिए । इस तरह से पाँच घटिका (दो घण्टे) तक ध्यान करने से योगी पृथ्वीतत्त्व को जीत लेता है । ऐसे योगी की पृथ्वी के संयोग (आघात) से मृत्यु नहीं होती ।

आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ।
आपोऽर्धचन्द्रं शुक्लं च वंबीजं परिकीर्तितम् ॥88॥
वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम् ।
स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥89॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं पीतवाससमच्युतम् ।
धारयेत्पञ्च घटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥90॥
ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते ।

घुटने से लेकर पायु (गुदा) तक का स्थान जल का स्थान माना गया है । वह जलतत्त्व, अर्ध-चन्द्र रूप में और 'वं' बीज वाला माना गया है । इस जलतत्त्व में वायु का आरोपण करके, उसे 'वं'कार के साथ बीज को जोड़कर चार हाथ वाले मुकुटधर, शुद्ध स्फटिक-से वर्ण वाले, पीले वस्त्र पहने हुए भगवान् अच्युत (नारायण देव) का पाँच घटिका तक ध्यान करके योगी (जलतत्त्व को जीत लेता है और) सभी पापों से छुटकारा पा लेता है । इस तरह जलतत्त्व को जीत लेने के बाद जल से उसे कोई भय नहीं रहता । जल में उसकी मृत्यु नहीं होती ।

आपायोर्हृदयान्तं च वह्निस्थानं प्रकीर्तितम् ॥91॥
वह्निस्त्रिकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्भवम् ।
वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमुज्ज्वलम् ॥92॥
त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसन्निभम् ।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन् ॥93॥
धारयेत्पञ्च घटिका वह्निनाऽसौ न दाह्यते ।
न दह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्निमण्डले ॥94॥

पायु (गुदा) से लेकर हृदयपर्यन्त के स्थान को वह्निस्थान कहा जाता है। वह अग्नित्रिकोण रूप में और रक्तवर्ण तथा 'र'कार बीज वाला माना गया है। उस वह्नि में वायु का आरोपण करके उसे 'इ'काररूप बीज से जोड़कर तीन आँखों वाले, वरदान देने वाले, तरुण आदित्य के समान कान्तिवाले, सभी अंगों में भस्म का लेप किए हुए अति प्रसन्न ऐसे रुद्र का स्मरण करते हुए पाँच घटिका तक ध्यान करना चाहिए। ऐसा साधक वह्नि से नहीं जलाया जा सकता। उसका शरीर जलता नहीं है, भले ही वह अग्नि के घेरे के बीच हो।

आहृदयाद्भ्रुवोर्मध्ये वायुस्थानं प्रकीर्तितम् ।
वायुः षट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षरभासुरम् ॥95॥
मारुतं मरुतां स्थाने यकाराक्षरभासुरम् ।
धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम् ॥96॥
धारयेत्पञ्च घटिका वायुवद् व्योमगो भवेत् ।
मरणं न तु वायोश्च भयं भवति योगिनः ॥97॥

हृदय से लेकर भौहों तक का स्थान वायु का क्षेत्र कहा गया है। वह छः कोनों के आकार का, काले रंग का और भास्वर 'य' अक्षरवाला होता है। इस प्रकार मरुत्स्थान पर (वायुस्थान पर) यकार होता है। यहाँ भास्वर 'य' अक्षर के साथ विश्वतोमुख सर्वज्ञ ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। इस तरह पाँच घटिका (दो घण्टे) तक ध्यान करते रहने से साधक वायु की तरह आकाशविहारी होता है। वायु से उसकी मृत्यु नहीं होती और वायु से उसको भय नहीं होता।

आभ्रूमध्याच्च मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते ।
व्योम वृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षरभासुरम् ॥98॥
आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शङ्करम् ।
बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम् ॥99॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं धृतबालेन्दुमौलिनम् ।
पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम् ॥100॥
सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम् ।
उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम् ॥101॥
आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद् ध्रुवम् ।
यत्र कुत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते ॥102॥

भौंहों के बीच के भाग से लेकर मूर्धा के अन्त तक का क्षेत्र आकाशस्थान कहा गया है। वह व्योम (आकाश) व्योमवृत्त जैसे आकारवाला तथा धुएँ के-से रंगवाला तथा 'ह'कार अक्षर से युक्त होता

है। ऐसे उस आकाश-तत्त्व में वायु का आरोपण करके, उसके साथ हकार को जोड़कर भगवान् शंकर का ध्यान करना चाहिए। वह भगवान् शंकर बिन्दुरूप हैं, महादेव हैं, व्योम जैसे आकार वाले हैं, सदाशिव हैं, शुद्ध स्फटिक जैसे वर्णवाले हैं, मस्तक पर बालचन्द्र को धारण किए हुए हैं, पाँच मुख वाले हैं, सौम्यमुद्रा वाले हैं, दश हाथवाले हैं, तीन आँखों वाले हैं, सभी शस्त्रास्त्रों को धारण किए हुए हैं, सभी आभूषणों से सुशोभित हैं, उमासहित – उमारूपी अर्धदेह वाले हैं। वह सभी कारणों के भी कारणस्वरूप हैं। आकाशतत्त्व में उनका ध्यान करते रहने से अवश्य ही आकाश-विचरण की शक्ति आ जाती है। ऐसा योगी कहीं भी रहता हो, फिर भी वह अत्यन्त सुख भोगता रहता है।

एवं च धारणाः पञ्च कुर्याद्योगी विचक्षणः ।
ततो दृढशरीरः स्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥103॥
ब्रह्मणः प्रलयेनापि न सीदति महामतिः ।
समभ्यसेत्तथा ध्यानं घटिकाषष्ठिमेव च ॥104॥
वायुं निरुध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति ।
सगुणं ध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम् ।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत् ॥105॥

विचक्षण योगी को इस प्रकार की पाँच धारणाएँ करनी चाहिए। इसमें उस योगी का शरीर दृढ़ हो जाता है और उसको मृत्यु का कोई भय नहीं रहता। ऐसा महाबुद्धिशाली योगी ब्रह्मा के प्रलय के समय में भी – सर्वसृष्टि के प्रलय में भी दुःखी नहीं होता। छः घटिका तक वायु को रोककर आकाशतत्त्व में इष्ट सिद्धि देने वाले देव का निरन्तर ध्यान करते रहना चाहिए। इस प्रकार के सगुण ईश्वर का ध्यान करने से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस सगुण ध्यान के बाद जब योगी निर्गुणध्यानयुक्त हो जाता है, तब समाधि प्राप्त हो जाती है।

दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ।
वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम् ॥106॥
समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
यदि स्वदेहमुत्स्त्रष्टुमिच्छा चेदुत्सृजेत्स्वयम् ॥107॥
परब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्क्रान्तिरिष्यते ।
अथ नो चेत्समुत्स्त्रष्टुं स्वशरीरं प्रियं यदि ॥108॥
सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः ।
कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते ॥109॥

इस प्रकार अनवरत साधना से योगी बारह दिवसों में समाधि को प्राप्त कर सकता है। प्राणवायु के पूर्वोक्त प्रकार से निरोध करने पर यह योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवात्मा और परमात्मा की समान अवस्था को ही समाधि कहा जाता है। ऐसा समाधि-प्राप्त जीवन्मुक्त योगी अपनी देह को स्वयं अपनी इच्छा से छोड़ सकता है। वह देह छोड़कर परब्रह्म में ही लीन हो जाता है, उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। यदि उसको अपना शरीर प्रिय हो, और उसे वह छोड़ना न चाहता हो, तो वह अणिमादि सिद्धियों से युक्त होकर सभी लोकों में यथेष्ट विहार कर सकता है। कभी-कभी अपनी इच्छा से देव होकर स्वर्ग में आनन्द भी कर सकता है।

मनुष्यो वापि यक्षो वा स्वेच्छयापि क्षणाद्भवेत् ।
सिंहो व्याघ्रो गजो चाश्वः स्वेच्छया बहुतामियात् ॥110॥
यथेष्टमेव वर्तेत यद्वा योगी महेश्वरः ।
अभ्यासभेदतो भेदः फलं तु सममेव हि ॥111॥

योगी अपनी इच्छा से एक क्षण में ही मनुष्य, यक्ष, सिंह, बाघ, हाथी, घोड़ा, आदि अनेक रूपों को धारण कर सकता है। वह अपनी इच्छानुसार व्यवहार कर सकता है। वह योगी महासमर्थ होता है। योगियों में भेद तो अभ्यास के भेद से होता है, पर फल तो समान ही होता है।

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद् दृढम् ॥112॥
चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्तिं धारयित्वा तु रेचयेत् ॥113॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन ततोऽभ्यसेत् ।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत् ॥114॥ (अयमेव महाबन्धः ।)

अब **महाबन्ध** के विषय में कहा जा रहा है—बाँये पैर की एड़ी के द्वारा पहले योनि स्थान को दबाना चाहिए तथा दाहिने पैर को फैलाना चाहिए। फिर उसको अँगूठे से दोनों हाथों से जोर से पकड़ना चाहिए। इसके बाद ठोड़ी को छाती से लगाना चाहिए। तब फिर वायु को धीरे-धीरे भीतर धारण करके यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिए और बाद में उसे रेचक के द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए। इस प्रकार की क्रिया को निरन्तर बाँयें और दायें, पुनः दाँयें और बायें—इस प्रकार अभ्यास करना चाहिए। अर्थात् पहले बाँये पैर की एड़ी से जिस तरह शुरू किया था, उसी तरह दक्षिण पैर की एड़ी से शुरू करके (अदल-बदलकर) अभ्यास करना चाहिए। पहले प्रसारित किए गए पैर को अब पूर्ववत् जंघा पर नवाना चाहिए। (इसे ही महाबन्ध कहा जाता है)।

अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत् ।
महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥115॥
वायुना गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ॥116॥

ऊपर बताए अनुसार यही महाबन्ध कहलाता है। इस बन्ध का दोनों तरीकों से (अदल-बदलकर अर्थात् परिवर्तित क्रम से) अभ्यास किया जा सकता है। जब महाबन्ध में सतत संलग्न वह योगी एकाग्र होकर कण्ठ की मुद्रा के जरिए वायु की गति को आवृत्त करके दोनों नथुनों को संकुचित करके तत्परतापूर्वक वायु को भर लेता है, तब—

अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।
अन्तःकपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत् ॥117॥
भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी ।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढया धिया ॥118॥
बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥119॥
उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।

—इसी को महाबन्ध कहा जाता है। सिद्ध पुरुष सदैव इसका अभ्यास करते रहते हैं। जीभ को भीतर के कपाल में लौटाकर, दोनों भृकुटियों के बीच दृष्टि रखी जाने पर **खेचरी मुद्रा** होती है। कण्ठ को संकुचित करके ठोड़ी को मजबूती से जब स्थापित किया जाता है, तब **जालन्धरबन्ध** होता है। यह बन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंह समान (कालरूप) है। और जिस बन्ध से प्राण सुषुम्ना से उठ जाता है, उसे योगी लोग उड्डयन (उड्डयाण) नामक बन्ध कहते हैं।

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् दृढम् ॥120॥
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥121॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।

एड़ी से योनिस्थान को यत्नपूर्वक दबाकर भीतर की तरफ खींचना चाहिए। इस तरह अपान को ऊँचे उठाकर जो बन्ध किया जाता है, वह **योनिबन्ध** कहा जाता है। इस योनिबन्ध की क्रिया से प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता स्थापित की जाती है, और यह बन्ध निःसंदिग्ध रूप में योग की सिद्धि प्राप्त कराता है।

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ॥122॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥123॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात्।
अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥124॥
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने।
वली च पलितं चैव षण्मासार्धन्न दृश्यते ॥125॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालवित्।
वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम् ॥126॥

अब **विपरीतकरणी** नामक मुद्रा के बारे में कहा जाता है। यह मुद्रा सभी प्रकार की व्याधियों (पीड़ाओं) का नाश करने वाली है। इस 'विपरीतकरणी' मुद्रा का नित्य अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि तीव्र हो जाती है फलस्वरूप साधक बहुत अन्न पचाने में समर्थ हो जाता है। इस समय में यदि साधक कम आहार लेगा तो उसकी जठराग्नि उसके शरीर का ही नाश कर देगी। इस मुद्रा के लिए प्रथम दिन एक क्षण के लिए सिर नीचे और दोनों पैर ऊपर की ओर रखने चाहिए। बाद में प्रत्येक दिन एक-एक क्षण इस अभ्यास को बढ़ाते रहना चाहिए। ऐसा करने से छः मास के भीतर ही साधक के शरीर की झुरियाँ, और बालों की सफेदी नष्ट हो जाएगी। जो साधक हर रोज एक प्रहर तक छः महीनों पर्यन्त इस विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास करता है, वह काल को अपने वश में कर लेता है। और जो योगी वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करता है, वह सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।

लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥127॥
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते ॥128॥

ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम् ।
यदा तु राजयोगेन निष्पन्ना योगिभिः क्रियाः ॥129॥
तदा विवेकवैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः ॥130॥

उस **वज्रोली** मुद्रा के साधक की सिद्धि तो उसके हाथ में ही रहती है। ऐसा योगी भूत और भविष्य को जान लेता है और वह आकाश में विचरण करने वाला हो जाता है। जो योगी अपने मूत्र को हर रोज पीता है और प्रतिदिन उसे सूँघता भी है और साथ-साथ पूर्वोक्त प्रकार से वज्रोली का अभ्यास करता है, उस क्रिया को **अमरोली** कहा जाता है। अब इसके बाद **राजयोग** होता है। अर्थात् वह योगी बाद में तुरन्त राजयोग का अधिकारी बनता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं। राजयोग में सम्पन्न हो जाने के बाद उस योगी को फिर हठयोगादि की अन्य विधियाँ करने की आवश्यकता नहीं रहती। तब उस योगी को विवेक और वैराग्य उत्पन्न होता है। ऐसे योगियों में विष्णु नाम के महातपस्वी और महाभूतस्वरूप भगवान् हैं।

तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ।
यः स्तनः पूर्वपीतस्तं निष्पीड्य मुदमश्नुते ॥131॥
यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन् ।
या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मातरेव हि ॥132॥
यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता ।
एवं संसारचक्रेण कूपचक्रे घटा इव ॥133॥
भ्रमन्तो योनिजन्मानि श्रुत्वा लोकान्समश्नुते ।
त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्त्रः सन्ध्यास्त्रयः स्वराः ॥134॥
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे ।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेप्यर्धमक्षरम् ॥135॥

यह भगवान् पुरुषोत्तम तत्त्वमार्ग पर चलने वाले के लिए दीपक के समान दिखाई पड़ते हैं। अब यह जीवन विविध योनियों में भटकता हुआ जब मानवयोनि में आता है, तब विचित्र बात यह होती है कि बचपन में जिस स्तन को उसने पीया है, उसी स्तन को वह युवावस्था में दबा करके आनन्द लेता है, और उसने जिस योनि से जन्म लिया था, वैसी ही योनि में बार-बार रमण किया करता है। एक जन्म में जो माता होती है, दूसरे जन्म में वही स्त्री हो जाती है। जो पिता है, वह पुत्र बन जाता है, तथा जो पुत्र होता है वही फिर पिता भी बन जाता है। इसी प्रकार यह संसारचक्र कूपचक्र (रहट) के ही समान है जिसमें प्राणी तरह-तरह की योनियों में गमनागमन किया ही करता है। तीन ही लोक हैं, तीन ही वेद हैं, तीन ही सन्ध्याएँ हैं, तीन ही स्वर हैं, तीन ही अग्नि हैं, तीन गुण कहे गए हैं, तथा तीन अक्षरों में सब कुछ विद्यमान है। अतः इन तीन अक्षरों का और अर्धाक्षर का भी योगी को अध्ययन करना चाहिए।

तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम् ।
पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम् ॥136॥
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव कांचनम् ।
हृदि स्थाने स्थितं पद्मं तस्य वक्त्रमधोमुखम् ॥137॥

ऊर्ध्वनालमधोबिन्दुस्तस्य मध्ये स्थितं मनः ।
अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते ॥138॥
मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं निष्कलं पापनाशनम् ॥139॥

सब कुछ इन्हीं तीन अक्षरों में पिरोया गया है। वही सत्य है, वही परमपद है। जिस तरह पुष्प में गन्ध, दूध में घी, तिल में तेल, और पत्थरों में सोना निगूढ रूप से रहता है वैसे ही वह सबमें व्याप्त है। हृदयस्थल में जो कमलपुष्प है उसका मुख नीचे की ओर है और उसकी दण्डी ऊपर की ओर है। नीचे बिन्दु है, उसी के बीच में मन प्रतिष्ठित है। 'अ'कार के द्वारा रेचित किया हुआ वह पद्म 'उ'कार के द्वारा भेदा जाता है और बाद में 'म'कार के द्वारा नाद को प्राप्त करता है। अर्धमात्रा तो निश्चल ही रहती है। वह अर्धमात्रा शुद्ध स्फटिक जैसी, अंशरहित और पापनाशक है।

लभते योगयुक्तात्मा पुरुषस्तत्परं पदम् ।
कूर्मः स्वपाणिपादादि शिरश्चात्मनि धारयेत् ॥140॥
एवं द्वारेषु सर्वेषु वायुपूरितरेचितः ।
निषिद्धं तु नवद्वारे ऊर्ध्वं प्राङ्निःश्वसस्तदा ॥141॥
घटमध्ये यथा दीपो निवासं कुम्भकं विदुः ।
निषिद्धैर्नवभिर्द्वारैर्निर्जने निरुपद्रवे ।
निश्चितं त्वात्ममात्रेणावशिष्टं योगसेवयेत् ॥142॥ इत्युपनिषत् ।

इति योगतत्त्वोपनिषत् समाप्ता ।

ऐसे योगसाधक योगी मुक्तावस्था पा लेता है। जैसे कछुआ अपने हाथ-पैर-सिर को अपने भीतर स्थापित कर लेता है, वैसे सभी द्वारों में भरकर दबाया गया वायु नौ द्वारों के बन्द होने से ऊपर जाता है। जैसे वायुरहित घड़े के बीच रखा गया दीपक होता है, वैसे ही कुंभक को जानना चाहिए। इस योग-साधना में नौ द्वारों के अवरुद्ध किए जाने पर निर्जन निरुपद्रव स्थान में केवल आत्मतत्त्व ही शेष रह जाता है। ऐसा ही यह योगतत्त्व उपनिषद् है।

यहाँ योगतत्त्वोपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❄

(65) योगशिखोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषत् में हिरण्यगर्भ तथा महादेव के संवाद के रूप में तत्त्वज्ञान और योग की बहुत-सी बातें बताई गई हैं। छः अध्यायवाली इस लम्बी उपनिषद् में मोक्ष के साधनरूप ज्ञान और योग—इन दो मार्गों की, विशेषतः योग की विस्तृत चर्चा की गई है। जीव जो कि सुख-दुःख, काम-क्रोध, जन्म-मृत्यु आदि दोषयुक्त है, उसे 'शिव' बनाने के ये दो मार्ग हैं। इन दो मार्गों के अनुसरण से जीव के उपर्युक्त सभी दोष दूर हो जाते हैं और वह शिव बन जाता है। इस पूरी उपनिषद् में आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा, आदि योग की सभी क्रियाओं का तथा चक्रों, नाड़ियों आदि का अत्यन्त सविस्तार एवं विशद वर्णन किया गया है, जोकि उपनिषद् का पूर्ण ध्यान से अभ्यास करने पर ही मालूम हो सकता है। उपनिषत् साधक को उपदेश देते हुए पहले यह कहती है कि साधक को पद्मासन करके, नासाग्र दृष्टि करके, हाथ-पैरों को स्थिर रख कर, बैठना चाहिए और बाद में मन को एकाग्र करके प्रणव का चिन्तन करना चाहिए, तथा हृदय में दीपशिखा जैसे ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए। हमारे इस शरीर में मेरुदण्डरूप एक स्तम्भ है, नौ दरवाजे हैं, तीन मुख्य नाड़ीरूप तीन खूँटे हैं तथा पाँच प्राण रूप पाँच देव हैं। जब साधक पापरहित हो जाता है, तब इस योग के द्वारा संसार को काटता है और परब्रह्म का अनुभव प्राप्त करता है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ.......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्तिः कथं देव कृपया वद शंकर ॥1॥
सर्वसिद्धिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं सुखदं वद ॥2॥ इति ॥

हे शंकर! सभी जीव माया के जाल के द्वारा सुखों और दुःखों में फँसे (घिरे) हुए हैं। उनकी मुक्ति कैसे हो सकती है, वह कृपा करके आप मुझे बताइए। जो मार्ग सर्व की सिद्धि करने वाला हो, जो मार्ग माया के जाल को काटने वाला हो, जो जन्म, मृत्यु, जरा और पीड़ाओं का नाश करने वाला हो, जो सुखकारी हो, उसे आप मुझे कृपा करके बताइए।

हिरण्यगर्भः पप्रच्छ स होवाच महेश्वरः।
नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम् ॥3॥

सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥4॥
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ।
निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम् ॥5॥

इस प्रकार का प्रश्न हिरण्यगर्भ (ब्रह्माजी) ने जब शंकर जी से पूछा, तब वे महेश्वर बोले कि हे पद्मज ! यह कैवल्य का परमपद तरह-तरह के मार्गों के द्वारा तो नहीं प्राप्त किया जा सकता है । इसके लिए तो एक जो श्रुतिसिद्ध मार्ग है, इसी के द्वारा वह परमपद प्राप्त किया जा सकता है, अन्य मार्गों से नहीं । फिर भी लोग ऐसे हैं कि अपनी बुद्धि से साधन-चतुष्टय भूलकर ही शास्त्रों के जाल में पड़े (फँसे) हैं और उससे मोहित होते रहते हैं । किन्तु शास्त्र द्वारा सही रूप में जो प्रकाशित होता है, वह तो अंशरहित, निष्कलंक, शान्त, सबसे परे, निर्दोष तत्त्व है ।

तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम् ।
परमात्मपदं नित्यं तत् कथं जीवतां गतम् ॥6॥
तत्त्वातीतं महादेव प्रसादात् कथयेश्वर ।
सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम् ॥7॥

वही परमतत्त्व पुण्यों और पापों के फलों से आवृत होकर जीवदशा को प्राप्त हुआ है । तब ब्रह्माजी ने पूछा कि—हे महादेव ! परन्तु वह सभी तत्त्वों से परे रहने वाला नित्य तत्त्व भला जीव दशा को प्राप्त ही कैसे हो गया ? हे ईश्वर ! कृपा करके आप मुझे यह बताइए । वह तत्त्व तो सर्वस्वभाव से रहित ही कहा गया है ।

वायुवत् स्फुरितं स्वस्मिंस्तत्राहंकृतिरुत्थिता ।
पञ्चात्मकमभूत् पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम् ॥8॥
सुखदुःखैः समायुक्तं जीवभावनया कुरु ।
तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धे परमात्मनि ॥9॥

तब महादेव ने उत्तर दिया—यद्यपि वह सर्वस्वभाव से रहित है, निरंजन (मलिनतारहित) है । तथापि आकाश में जैसे यों ही स्वभावतः वायु स्फुरित होता है, उसी प्रकार उसमें अहंकार उत्पन्न हो गया और उसी से एक पंचात्मक पिण्ड उत्पन्न हुआ । वह पिण्ड धातुओं (पदार्थों) से बद्ध था और त्रिगुणात्मक था अथवा वह पंच धातुओं से युक्त पिण्ड उन-उन धातुओं के गुण वाला था और सुखों तथा दुःखों से भरा हुआ था । उसमें जीव की भावना से प्रवेश करने से उस विशुद्ध परमात्मा का भी 'जीव' नाम पड़ गया ।

कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमथो रजः ।
जन्म मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा ॥10॥
तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च ।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः शिव उच्यते ॥11॥

यह जो जीव है, वह काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ और मलिनता, जन्म, मृत्यु, कृपणता, शोक, तन्द्रा, भूख, प्यास, तृष्णा, लज्जा, भय, दुःख, खिन्नता, हर्ष—इत्यादि ये जो दोष हैं, उनसे विनिर्मुक्त हो जाए तो वही जीव शिव ही कहा जाता है ।

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
ज्ञानं केचिद्वदन्त्यत्र केवलं तन्न सिद्धये ॥12॥
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भो ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥13॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञेयं ज्ञानैकसाधनम् ॥14॥

इसलिए उन दोषों के निवारण के लिए मैं तुम्हें उपाय बतला रहा हूँ। कुछ लोग कहते हैं कि उन दोषों को दूर करने के लिए ज्ञान ही एक उपाय है। पर वह योग से विहीन केवल ज्ञान तो उपाय नहीं है। अरे ! योग के बिना ज्ञान भला कैसे मोक्षदायक हो सकता है ? और ज्ञान के बिना अकेला योग भी तो मोक्षरूप कार्यसिद्धि के लिए समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए मुमुक्षु को ज्ञान और योग—दोनों का दृढ अभ्यास करना चाहिए। पहले ज्ञान का स्वरूप मुमुक्षु को जान लेना चाहिए क्योंकि जो ज्ञेय है, वह केवल ज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है।

अज्ञानं कीदृशं चेति प्रविचार्यं मुमुक्षुणा ।
ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं पदम् ॥15॥
असौ दोषैर्विनिर्मुक्तः कामक्रोधभयादिभिः ।
सर्वदोषैर्वृतो जीवः कथं ज्ञानेन मुच्यते ॥16॥
स्वात्मरूपं यथा ज्ञानं पूर्णं तद्व्यापकं तथा ।
कामक्रोधादिदोषाणां स्वरूपान्नास्ति भिन्नता ॥17॥
पश्चात् तस्य विधिः किं नु निषेधोऽपि कथं भवेत् ।
विवेकी सर्वदा मुक्तः संसारभ्रमवर्जितः ॥18॥
परिपूर्णस्वरूपं तत् सत्यं कमलसम्भव ।
सकलं निष्कलं चैव पूर्णत्वाच्च तदेव हि ॥19॥

और साथ ही अज्ञान भी कैसा होता है, इस तरह अज्ञान के स्वरूप का भी अच्छी तरह विचार करके ही जिस मुमुक्षु ने अपने कैवल्यरूप परमपद को जान लिया है, वह मुक्त हो जाता है। परन्तु ब्रह्माजी फिर पूछते हैं कि—'यह काम, क्रोध, भय आदि से घिरा हुआ जीव मुक्त कैसे हो सकता है ?' तब महादेव ने उत्तर देते हुए कहा कि—'मुक्त होता है क्योंकि स्वरूप ज्ञान तो पूर्ण और सर्वव्यापक ही है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि काम, क्रोध आदि दोष भी उस सर्वव्यापक तत्त्व (स्वात्मरूप) से भिन्न तो हैं ही नहीं।' (उस व्यापक में ही तो वे हैं।) तब ब्रह्मा ने पूछा कि—यदि उस सर्वव्यापक से ये दोष अभिन्न ही हैं अर्थात् हैं ही नहीं, तो फिर उनके निषेध और विधि का प्रश्न ही कहाँ उठ सकता है ?' तब शंकर बोले—'ठीक है (उसका विधि-निषेध न होने पर भी) जो विवेकी मनुष्य है, उसके लिए तो ऐसा विधिनिषेध का प्रश्न नहीं है, क्योंकि वह तो सदैव मुक्त होता है और उसको तो स्वात्मा में संसार के भ्रम का अभाव ही रहता है। हे कमलसंभव ब्रह्मा जी ! क्योंकि वह जो सत्य, परिपूर्ण स्वरूप, निरवयव और सकल ब्रह्म है वही अपनी पूर्णता से ही युक्त होता है।

कलिना स्फूर्तिरूपेण संसारभ्रमतां गतम् ।
निष्कलं निर्मलं साक्षात् सकलं गगनोपमम् ॥20॥

उत्पत्तिस्थितिसंहारस्फूर्तिज्ञानविवर्जितम् ।
एतद्रूपं समायातः स कथं मोहसागरे ॥21॥
निमज्जति महाबाहो त्यक्त्वा विद्यां पुनःपुनः ।
सुखदुःखादिमोहेषु यथा संसारिणां स्थितिः ॥22॥
तथा ज्ञानी यदा तिष्ठेद्वासनावासितस्तदा ।
तयोर्नास्ति विशेषोऽत्र समा संसारभावना ॥23॥
ज्ञानं चेदीदृशं ज्ञातमज्ञानं कीदृशं पुनः ।
ज्ञाननिष्ठोऽविरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽविजितेन्द्रियः ॥24॥

वह आकाश जैसा व्यापक निरवयव अपरोक्ष ब्रह्म गतिशील, स्फुरणशील कलि-मोह से संसाररूपी भ्रम को प्राप्त हुआ है। तब ब्रह्माजी ने फिर पूछा कि—"पारमार्थिक रूप से तो यह ब्रह्म उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, गतिशीलता आदि के ज्ञान से रहित है, तो फिर वह ऐसे स्वरूपवाला ब्रह्म मोहरूपी सागर में कैसे पड़ गया ? हे महाबाहो ! विद्या को (अपने निज रूप को) भूलकर बार-बार सुख-दुःखादि स्थितियों में पड़ जाना तो संसारियों की ही स्थिति है। ब्रह्म में ऐसा क्यों होता है ?" तब महादेवजी ने उत्तर दिया कि—"ठीक है, यह जैसे सुख-दु:ख की स्थितियों में बार-बार आ पड़ना संसारियों की स्थिति है, वैसे ही ज्ञानी (ब्रह्मज्ञानी) भी वासनाओं से वासित होकर सुख-दु:ख में आ पड़ता है। वासना के बारे में ज्ञानी-संसारी का कोई भेद नहीं है। (यहाँ ज्ञानी का अर्थ आभासज्ञानी मानना चाहिए) इस आभासज्ञानी की और संसारी मनुष्य की सांसारिक भावना तो समान ही होती है। इस आभासज्ञानी का ज्ञान ऐसा है तो फिर अज्ञान कैसा होता है ? (वह भी तो ऐसा ही है) वह योगविहीन तथाकथित ज्ञानी तो वैराग्यहीन, धर्मज्ञ होते हुए भी असंयमी इन्द्रियों वाला ही होता है।"

विना देहेऽपि योगेन न मोक्षं लभते विधे ।
अपक्वाः परिपक्वाश्च देहिनो द्विविधाः स्मृताः ॥25॥
अपक्वा योगहीनास्तु पक्वा योगेन देहिनः ।
सर्वो योगाग्निना देहो ह्यजडः शोकवर्जितः ॥26॥
जडस्तु पार्थिवो ज्ञेयो ह्यपक्वो दुःखदो भवेत् ।
ध्यानस्थोऽसौ तथाप्येवमिन्द्रियैर्विवशो भवेत् ॥27॥

"हे विधि ! इस देह में योग के बिना केवल ज्ञानमात्र से तो मोक्ष नहीं मिल सकता। देहधारी प्राणी दो प्रकार के होते हैं—एक पक्व हैं, दूसरे अपक्व हैं। उनमें जो योग से रहित (केवल ज्ञानमात्र से युक्त) हैं वे अपक्व हैं और जो देहधारी योग से युक्त होते हैं वे पक्व माने गए हैं। योगरूपी अग्नि से यह पूरा देह अजड अर्थात् चैतन्यमय और शोक से रहित हो जाता है और जो जड (योगरहित) पार्थिव देह अपक्व होता है, वह तो दुःखकारक ही होता है। वह ध्यान करने के लिए बैठा हो तो भी इन्द्रियों के द्वारा विवश (पराधीन) हो जाता है (यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि योग के बिना ध्यानादि संभव नहीं है। केवल विनियोगविहीन जानकारी मात्र का कोई अर्थ नहीं)।

तानि गाढं नियम्यापि तथाप्यन्यैः प्रबाध्यते ।
शीतोष्णसुखदुःखाद्यैर्व्याधिभिर्मानसैस्तथा ॥28॥
अन्यैर्नानाविधैर्जीवैः शस्त्राग्निजलमारुतैः ।
शरीरं पीड्यते तैस्तैश्चित्तं संक्षुभ्यते ततः ॥29॥

तथा प्राणविपत्तौ तु क्षोभमायाति मारुतः ।
ततो दुःखशतैर्व्याप्तं चित्तं क्षुब्धं भवेन्नृणाम् ॥30॥
देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् ।
तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम् ॥31॥

उन इन्द्रियों को यथासंभव दृढ़तापूर्वक वश में लाना चाहिए। और भी, मनुष्य इन्द्रियों के अतिरिक्त शीतता, उष्णता तथा मानसिक सुखों और दु:खों से पीड़ित रहा करता है। तरह-तरह के अन्यान्य जीवों के द्वारा तथा शस्त्रों से, जल से, वायु से और ऐसे-ऐसे अनेकों से पीड़ित रहा करता है और इससे उसका चित्त संक्षुब्ध हुआ करता है। इस प्रकार के सैंकड़ों दु:खों से अज्ञानी जनों का चित्त क्षुब्ध हो जाता है और प्राणों की विपत्ति में प्राणवायु (दम) घुँट जाता है। देह के अवसान के समय में मनुष्य चित्त में जो-जो भावनाएँ करता है, उन-उन भावनाओं के अनुसार जीव जन्म लेता है। वे अन्तिम भावनाएँ ही उसके जन्म के कारणभूत होती हैं।

देहान्ते किं भवेज्जन्म तन्न जानन्ति मानवाः ।
तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जीवस्य केवलं श्रमः ॥32॥
पिपीलिका यथा[दा] लग्ना देहे ध्यानाद्विमुच्यते ।
असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहान्ते वा कथं सुखी ॥33॥

इस देह के अन्त के बाद कौन-सा जन्म मिलेगा, यह आभास ज्ञानी मनुष्य जानते नहीं है। इसलिए योग से रहित केवल जानकारी का ज्ञान और वैराग्य तो अर्थविहीन परिश्रम ही है। ध्यान में बैठे हुए जिस मनुष्य का ध्यान एक चींटी के काटने से भी छूट जाता है, वह पुरुष के मृत्यु के समय में बिच्छुओं के डंक मारने की-सी पीड़ा होने पर किस तरह सुखी हो सकता है भला ?

तस्मान्मूढा न जानन्ति मिथ्यातर्केण वेष्टिताः ।
अहंकृतिर्यदा यस्य नष्टा भवति तस्य वै ॥34॥
देहस्त्वपि भवेन्नष्टो व्याधयश्चास्य किं पुनः ।
जलाग्निशस्त्रखातादिबाधा कस्य भविष्यति ॥35॥
यदा यदा परिक्षीणा पुष्टा चाहंकृतिर्भवेत् ।
तमनेनास्य नश्यन्ति प्रवर्तन्ते रुगादयः ॥36॥
कारणेन विना कार्यं न कदाचन विद्यते ।
अहंकारं विना तद्वद्देहे दुःखं कथं भवेत् ॥37॥

इस बात को मिथ्या तर्क से घिरे हुए लोग समझ नहीं सकते कि जब अहंकार (मैं-मेरा) ही नष्ट हो जाता है, तब देह भी वास्तव में नष्ट ही हो जाता है। (भले ही वह बाहर से दिखाई दे रहा हो।) और तब तो फिर पीड़ाएँ होंगी किसको ? तब तो फिर जल, अग्नि, शस्त्र और खाई आदि की बाधाएँ भला किसको होंगी ? (किसी को नहीं होंगी। ज्ञानी अर्थात् वास्तविक योगयुक्त ज्ञानी का तो पारमार्थिक देह ही नहीं है) जब-जब पहले का परिक्षीण अहंकार बढ़ जाता है, तब इस देहाभिमान के दोष से मनुष्य के शरीर के रोग प्रवर्तित हो जाते हैं। क्योंकि कारण के बिना तो कार्य की उत्पत्ति बिल्कुल ही संभव नहीं है। तो फिर अहंकाररूप कारण के बिना तो देह में दु:ख कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

**शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम् ।
तत् कथं कुरुते तेषां सुखदुःखादिकं फलम् ॥38॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः कामक्रोधादिकं जितम् ।
तेनैव विजितं सर्वं नासौ केनापि बाध्यते ॥39॥
महाभूतानि तत्त्वानि संहृतानि क्रमेण च ।
सप्तधातुमयो देहो दग्धो योगाग्निना शनैः ॥40॥
देवैरपि न लक्ष्येत योगिदेहो महाबलः ।
भेदबन्धविनिर्मुक्तो नानाशक्तिधरः परः ॥41॥**

इस शरीर के द्वारा सब जीते जा सकते हैं और उस शरीर को ही ब्रह्मात्मैक्य जानने वाले योगियों ने जीत लिया है । तो फिर वह शरीर सुख-दुःखादि फल कैसे उत्पन्न कर सकता है ? ऐसे योगी ने तो इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, काम, क्रोध आदि सब कुछ जीत ही लिया है, तो फिर सब कुछ उसी ने जीत लिया है । अतः वह तो किसी से जीता नहीं जा सकता । उस योगी ने अपने योगाग्नि से क्रमशः पाँच महाभूत और अन्य सब तत्त्व एकत्रित किए और यह सप्त धातु से बना देह, यह सब कुछ धीरे-धीरे जला ही दिया है । ऐसा वह योगियों का महाबलशाली देह सूक्ष्मता के कारण देवों के द्वारा भी नहीं देखा जा सकता, क्योंकि वह भेदों के सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो चुका है और सबसे परे है, वह विविध शक्तियों को धारण किए हुए है ।

**यथाकाशस्तथा देह आकाशादपि निर्मलः ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरो दृश्यः स्थूलात्स्थूलो जडाजडः ॥42॥
इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतन्त्रस्त्वजरामरः ।
क्रीडते त्रिषु लोकेषु लीलया यत्रकुत्रचित् ॥43॥
अचिन्त्यशक्तिमान् योगी नानारूपाणि धारयेत् ।
संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः ॥44॥
नासौ मरणमाप्नोति पुनर्योगबलेन तु ।
हठेन मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः ॥45॥**

इस योगी का देह तो जैसा आकाश होता है, वैसा ही होता है । वह तो आकाश से भी निर्मल होता है । वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है । वह स्थूल-अस्थूल, जड़-अजड़, दृश्य-अदृश्य—दोनों अनेक दृष्टिभेद से हो सकता है । (अर्थात् सर्वसापेक्षताओं से परे और अनिर्वचनीय है ।) क्योंकि वह योगीन्द्र तो अपनी इच्छानुसार रूप धारण कर सकता है । वह स्वतंत्र है, वह अजर है, अमर है । तीनों लोकों में वह अपनी इच्छानुसार जहाँ कहीं भी सिर्फ लीला के लिए ही क्रीड़ा करता हुआ घूमता है । वह योगी अचिन्त्य (अकल्पनीय) शक्तियों से सम्पन्न होता है और भाँति-भाँति के रूप धारण कर सकता है । और उन्हीं रूपों को फिर अपनी इच्छानुसार समेट भी सकता है । वह जितेन्द्रिय होता है । वह कभी मरण को प्राप्त नहीं होता । फिर भी अपने हठयोग से वह मर ही जाता है, तो मरे हुए का मरण कैसे हो सकता है ?

**मरणं यत्र सर्वेषां तत्रासौ परिजीवति ।
यत्र जीवन्ति मूढास्तु तत्रासौ मृत एव वै ॥46॥**

कर्तव्यं नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते ।
जीवन्मुक्तः सदा स्वच्छः सर्वदोषविवर्जितः ॥47॥
विरक्ता ज्ञानिनश्चान्ये देहेन विजिताः सदा ।
ते कथं योगिभिस्तुल्या मांसपिण्डाः कुदेहिनः ॥48॥
देहान्ते ज्ञानिभिः पुण्यात् पापाञ्च फलमाप्यते ।
ईदृशं तु भवेत् तत्तद् भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥49॥

जहाँ पर सभी प्राणियों का मरण होता है, वहाँ यह योगीन्द्र जीवित ही रहता है और जहाँ पर सभी प्राणी (सभी मूढ़ लोग) जीवित होते हैं, वहाँ यह मरा हुआ ही है। ऐसे योगी के लिए कोई कर्तव्य नहीं होता और कर्मों से वह लिप्त भी नहीं होता। वह तो जीवन्मुक्त होता है, सदा विशुद्ध ही होता है और सभी दोषों से रहित ही होता है। लेकिन कुछ लोग वैराग्यवान् तो हैं, और जानकारी भी रखते हैं फिर भी योगरहित होने से सदैव अपने देह के द्वारा जीते जाते हैं (वे देह के वश में ही आ जाते हैं)। ऐसे वे लोग भला इन योगियों के समान कैसे हो सकते हैं। वे तो केवल मांस के पिण्ड ही हैं और वे मलिन देहवाले ही हैं। ऐसे आभासज्ञानियों के द्वारा देह के अन्त के बाद, उनके किए गए पुण्य और पाप के द्वारा फल प्राप्त किए जाते ही हैं, और ऐसे उस-उस फल को भोगने के लिए उनको फिर जन्म लेना पड़ता ही है।

पश्चात् पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम् ।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ॥50॥
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ।
योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेद्विधे ॥51॥
ज्ञानेनैव विना योगो न सिध्यति कदाचन ।
जन्मान्तरैश्च बहुभिर्योगो ज्ञानेन लभ्यते ॥52॥

बाद में, उस आभासज्ञानी को किसी पुण्य से जीवन्मुक्त का संग हो जाने से, उस सिद्ध योगी की कृपा से वह आभासज्ञानी भी योगी बन सकता है, इसके अतिरिक्त तो उसके लिए कोई अन्य उपाय नहीं है। ऐसा योगी हो जाने पर उस आभासज्ञानी का संसार नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त तो कोई चारा नहीं है, ऐसा शिवजी ने कहा है। हे विधि! (ब्रह्माजी!) योग से रहित ज्ञान मोक्षदायक हो ही नहीं सकता और ज्ञान के बिना योग भी सिद्ध नहीं हो सकता। (दोनों की आवश्यकता अनिवार्य है) और बहुत जन्म-जन्मान्तरों से ज्ञान के बाद योग की प्राप्ति हो सकती है।

ज्ञानं तु जन्मनैकेन योगादेव प्रजायते ।
तस्माद्योगात् परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः ॥53॥
प्रविचार्य चिरं ज्ञानं मुक्तोऽहमिति मन्यते ।
किमसौ मननादेव मुक्तो भवति तत्क्षणात् ॥54॥
पश्चाज्जन्मान्तरशतैर्योगादेव विमुच्यते ।
न तथा भवतो योगाज्जन्ममृत्यू पुनःपुनः ॥55॥

योग से ज्ञान तो एक ही जन्म द्वारा उत्पन्न हो सकता है। इसलिए योग से अधिक उत्तम मार्ग तो मोक्षदायक कोई है ही नहीं। ठीक है, लम्बे समय तक ज्ञान का अच्छी तरह से मनुष्य मनन करता

रहता है, परन्तु क्या मननरूप लक्षण ही से मनुष्य मुक्त हो जाता है ? (नहीं हो जाता) किन्तु मनन के बाद, सैंकड़ों जन्मों के ऐसे परिश्रम से जब योग की प्राप्ति होती है, तब उस योग से ही मनुष्य मुक्ति को प्राप्त कर सकता है । इसलिए उस योग की साधना से (हे ब्रह्मा !) आपके जन्म-मरण बार-बार नहीं होंगे ।

प्राणापानसमायोगाच्चन्द्रसूर्यैकता भवेत् ।
सप्तधातुमयं देहमग्निना रञ्जयेद् ध्रुवम् ॥56॥
व्याधयस्तस्य नश्यन्ति छेदखातादि का कथा ।
तदासौ परमाकाशरूपो देह्यवतिष्ठति ॥57॥
किं पुनर्बहुनोक्तेन मरणं नास्ति तस्य वै ।
देहिवद् दृश्यते लोके दग्धकर्पूरवत् स्वयम् ॥58॥

यह प्राण और अपान को समान (संयत) करने का योग है । इससे सूर्य और चन्द्र (दोनों नाड़ियों) की एकता की जाती है । इस योग के अनुष्ठाता की सभी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं तब काटने या खात (खाई) आदि की तो बात ही क्या है ? (ऐसी व्याधियाँ तो अवश्य ही नष्ट हो जाएँगी ।) तब तो वह योगी परमाकाश जैसा व्यापक और शुद्ध होकर रहता है । और अधिक तो क्या कहा जाए ? ऐसे योगी का मरण होता ही नहीं है । ऐसा योगी लोक में तो सामान्य देहधारी जैसा मालूम होता है, परन्तु वास्तव में तो वह स्वयं केवल जले हुए कर्पूर जैसा ही (जागतिक अस्तित्वहीन) होता है ।

चित्तं प्राणेन सम्बद्धं सर्वजीवेषु संस्थितम् ।
रज्ज्वा यद्वत् सुसम्बद्धः पक्षी तद्वदिदं मनः ॥59॥
नानाविधैर्विचारैस्तु न बाध्यं जायते मनः ।
तस्मात् तस्य जयोपायः प्राण एव हि नान्यथा ॥60॥
तर्कैर्जल्पैः शास्त्रजालैर्युक्तिभिर्मन्त्रभेषजैः ।
न वशो जायते प्राणः सिद्धोपायं विना विधे ॥61॥

सभी प्राणियों में जो चित्त है, वह प्राण के साथ सम्बद्ध (जुड़ा हुआ) है । जिस प्रकार रस्सी से पक्षी बाँधा गया हो, उसी प्रकार से चित्त प्राणों से बँधा हुआ ही है । तरह-तरह के विचारमात्र करने से कहीं यह मन साध्य (वश में आने वाला) नहीं होता अथवा तो उन विचारों से मन बाध्य (प्रभावित) नहीं होता । इसीलिए इस मन के जय का उपाय प्राण के ऊपर जय प्राप्त करना ही है । प्राणजय के बिना मनोजय का अन्य कोई उपाय नहीं है । तर्कों से, बकवास करने से, शास्त्रों के जालों से या अन्य किन्हीं युक्तियों से, मंत्रों से या औषधियों से हे ब्रह्माजी ! यह प्राण सिद्ध (योग) के उपाय के बिना वश में आ ही नहीं सकता ।

उपायं तमविज्ञाय योगमार्गे प्रवर्तते ।
खण्डज्ञानेन सहसा जायते क्लेशवत्तरः ॥62॥
योऽजित्वा पवनं मोहाद्योगमिच्छति योगिनाम् ।
सोऽपक्वं कुम्भमारुह्य सागरं तर्तुमिच्छति ॥63॥
यस्य प्राणो विलीनोऽन्तः साधके जीविते सति ।
पिण्डो न पतितस्तस्य चित्तं दोषैः प्रबाधते ॥64॥

इस सिद्धमार्ग की अच्छी तरह से जानकारी प्राप्त किए बिना ही जो मनुष्य केवल छिछलेपन से ही योग का यदि अनुष्ठान करने लगता है, तब तो ऐसे खण्डित (अधूरे) ज्ञान से वह अधिक क्लेश प्राप्त करने वाला होता है। जो मनुष्य प्राण पर विजय प्राप्त किए बिना ही मोहवशात् इन बड़े योगियों के मार्ग पर चलने का साहस करता है, वह तो कच्चे घड़े पर बैठकर सागर को पार करना चाहता हो, ऐसा होता है। जब साधक जीवित है, फिर भी जिसका प्राण भीतर में विलीन हो गया हो, उसका देहपिण्ड तो अभी गिरा नहीं है, ऐसे साधक का मन दोषों से दूषित हो जाता है। (अर्थात् प्राण पर जिसने विजय प्राप्त न की हो और प्राण और अन्तस् दोनों जुड़े हुए ही हों, प्राणों से मनरूपी पक्षी बँधा ही हो उसका चित्त दोषपूर्ण ही होता है।)

शुद्धे चेतसि तस्यैव स्वात्मज्ञानं प्रकाशते।
तस्माज्ज्ञानं भवेद्योगाज्जन्मनैकेन पद्मज ॥65॥
तस्माद्योगं तमेवादौ साधको नित्यमभ्यसेत्।
मुमुक्षुभिः प्राणजयः कर्तव्यो मोक्षहेतवे ॥66॥
योगात् परतरं पुण्यं योगात् परतरं शिवम्।
योगात् परतरं सूक्ष्मं योगात् परतरं न हि ॥67॥

हे पद्मज ब्रह्माजी ! उसी दोषयुक्त चित्तवाले पुरुष का चित्त जब शुद्ध हो जाता है, तब उसके अपने आत्मा का ज्ञान प्रकाशित हो जाता है। इस तरह योग से एक ही जन्म में ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह उस योग का ही पहले अभ्यास करे। मुमुक्षुओं को तो मोक्ष की प्राप्ति के लिए पहले प्राणजय ही कर लेना चाहिए। योग से अधिक श्रेष्ठ कोई पुण्य नहीं है, योग से अधिक श्रेष्ठ कोई कल्याण नहीं है, योग से अधिक श्रेष्ठ कोई सूक्ष्म तत्त्व नहीं है, योग से श्रेष्ठ कुछ नहीं है।

योऽपानप्राणयोरैक्यं रजसो रेतसस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः ॥68॥
एवं हि द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।
अथ योगशिखां वक्ष्ये सर्वज्ञानेषु चोत्तमाम् ॥69॥

जो प्राण और अपान का ऐक्य है, जो रजस् और वीर्य का ऐक्य है, जो सूर्य और चन्द्र का (दोनों नाड़ियों का) योग है, इसी तरह जो जीवात्मा और परमात्मा का योग होता है, अर्थात् जो इस द्वन्द्व जाल का योग (मिलन) ऐक्य होता है, वही योग कहलाता है। अब मैं तुम्हें सब ज्ञानों में उत्तम ऐसी योगशिखा का ज्ञान कहूँगा।

यदानुध्यायते मन्त्रं गात्रकम्पोऽथ जायते।
आसनं पद्मकं बद्ध्वा यच्चान्यदपि रोचते ॥70॥
नासाग्रे दृष्टिमारोप्य हस्तपादौ च संयतौ।
मनः सर्वत्र संगृह्य ॐकारं तत्र चिन्तयेत् ॥71॥
ध्यायते सततं प्राज्ञो हृत्कृत्वा परमेश्वरम्।
एकस्तम्भे नवद्वारे त्रिस्थूणे पञ्चदैवते ॥72॥
ईदृशे तु शरीरे वा मतिमान्नोपलक्षयेत्।
आदित्यमण्डलाकारं रश्मिज्वालासमाकुलम् ॥73॥

पद्मासन या अन्य कोई मनपसन्द आसन लगाकर, नाक के अग्र भाग में दृष्टि को स्थिर करके हाथों और पैरों को समुचित रखते हुए, चारों ओर से मन का निरोध करके ॐकार का चिन्तन और ध्यान करना चाहिए। जब पहली बार मंत्र का ध्यान किया जाता है, तब शरीर में कँपकँपी पैदा हो जाती है। ध्यान करते समय वह ध्यानी (ज्ञानी) को नवद्वार वाले, एक स्तंभवाले, ब्रह्माशिवादि देवतावाले और तीन स्थूण (खम्भों की नींव) वाले (कर्म) ऐसे इस शरीर के बारे में बुद्धिमान को किसी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए। किरणों की ज्वालाओं से भरा हुआ जो आदित्य (सूर्य) के मंडल का आकार है—

तस्य मध्यगतं वह्निं प्रज्वलेद्दीपवर्तिवत्।
दीपशिखा तु या मात्रा सा मात्रा परमेश्वरे ॥74॥

—उस सूर्यमण्डल में एक वह्निमण्डल है (आदित्यमण्डल के बीच वह्निमण्डल है) और उसके मध्य में दीपशिखा है। उस दीपशिखा की जो मात्रा है, जो उसका स्वरूप है, परमेश्वर में भी वही मात्रा है (कहने का तात्पर्य यह है कि उस दीपशिखा में साधक को परमेश्वर की भावना करनी चाहिए। यहाँ पर परमेश्वर की सूक्ष्मता बताई है और पिण्ड की मूलाधारस्थ दीपशिखा का साम्य बताया है।)

भिन्दन्ति योगिनः सूर्यं योगाभ्यासेन वै पुनः।
द्वितीयं सुषुम्नाद्वारं परिशुभ्रं समर्पितम् ॥75॥
कपालसम्पुटं पीत्वा ततः पश्यति तत्पदम्।
अथ तद् ध्यायते जन्तुरालस्याच्च प्रमादतः ॥76॥
यदि त्रिकालमागच्छेत् स गच्छेत् पुण्यसम्पदम्।
पुण्यमेतत् समासाद्य संक्षिप्य कथितं मया ॥77॥

उस दीपशिखा की कृपा से योगी लोग अपने योगाभ्यास के बल से सूर्यमण्डल को भेद करके उस पद को (परमेश्वर के पद को) प्राप्त करते हैं। यह संन्यासयोगी की बात है। जो केवल योगी होते हैं, वे विशुद्ध दूसरे द्वार को (सुषुम्ना के द्वार को) कुण्डलिनी के द्वारा भेदकर उस मार्ग से वहाँ अवस्थित कपालसम्पुट में (सहस्रार चक्र में) प्रवेश करके वहाँ सूर्य-चन्द्र-अग्नि से उत्पन्न अमृत को पीकर, तब बाद में उस पद को (तुरीय को अथवा तुरीयातीत को) 'वह मैं ही हूँ'—इस प्रकार देखते हैं। ऐसा करने में अशक्त मनुष्य यदि आलस्य से या प्रमाद से अथवा भेदबुद्धि से भी इस ब्रह्म का ध्यान करे, ऐसा ध्यान करने वाला प्राणी (मुनि) हर रोज तीन काल ऐसा ध्यान करता है तो वह इस पुण्य से महेन्द्र आदि के ऐश्वर्य की पुण्यसम्पत्ति को प्राप्त करता है। यह बात मैंने तुम्हें संक्षेप में कही।

लब्धयोगोऽथ बुध्येत प्रसन्नं परमेश्वरम्।
जन्मान्तरसहस्रेषु यदा क्षीणं तु किल्बिषम् ॥78॥
तदा पश्यति योगेन संसारोच्छेदनं महत्।
अधुना संप्रवक्ष्यामि योगाभ्यासस्य लक्षणम् ॥79॥
मरुज्जयो यस्य सिद्धः सेवयेत् तं गुरुं सदा।
गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात् प्राणजयं बुधः ॥80॥

जिस मनुष्य ने (कही जाने वाली विधि के अनुसार—) इस योग की सिद्धि प्राप्त कर ली है, वह प्रसन्न परमेश्वर को जान लेता है। लेकिन वह तो तभी हो सकता है कि जब जन्म-जन्मान्तर के पाप क्षीण हो जाएँ और इस संसार का बिल्कुल विच्छेद ही हो जाए। अस्तु, अब मैं तुम्हें योगाभ्यास का

पहले लक्षण बता रहा हूँ। जिस मनुष्य ने पहले अपने आप प्राण जय कर लिया हो, उसे सर्वप्रथम तो गुरु के पास ही जाना चाहिए और उनकी सेवासंगति करनी चाहिए। तब गुरुमुख की कृपा से ही उपदेश लेकर प्राणजय करना चाहिए।

वितस्तिप्रमितं दैर्घ्यं चतुरङ्गुलविस्तृतम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥81॥

एक बेत (बारह अंगुल) लम्बा और चार अंगुल चौड़ा कोमल और सफेद ऐसा वस्त्र लेकर सरस्वती नाड़ी के मस्तक को आवेष्टित करके ब्राह्म मुहूर्त में उठकर एक मुहूर्त के समय तक निर्भयता से उसे चलाना चाहिए। (इस मंत्र में वेष्टन वस्त्र का वर्णन ही है, बाकी का अर्थ अध्याहार है।)

निरुध्य मारुतं गाढं शक्तिचालनयुक्तितः।
अष्टधा कुण्डलीभूतामृज्वीं कुर्यात्तु कुण्डलीम् ॥82॥
पायोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् तदा।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥83॥
एतदेव परं गुह्यं कथितं तु मया तव।
वज्रासनगतो नित्यमूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ॥84॥

उस सरस्वती नाड़ी के चालन के बाद, शक्ति के चालन की युक्ति से वायु का गाढ निरोध करके आठ गोल घुमाव (ऐंठन) करके अवस्थित उस कुण्डलिनी को सीधा करना चाहिए। और फिर गुदा का संकोच करके उस कुण्डली का चालन करना चाहिए अर्थात् उसे हिलाना चाहिए। ऐसा करने वाले साधक को मौत के मुँह में जाकर भी भला भय कहाँ से हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। हे ब्रह्माजी ! यही परम गोपनीय बात मैंने आपको बताई है। ऐसे आकुंचन के बाद वज्रासन में स्थित होकर साधक को इसका प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए।

वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।
सन्तप्ता साग्निना जीवा शक्तिस्त्रैलोक्यमोहिनी ॥85॥
प्रविशेच्चन्द्रदण्डे तु सुषुम्नावदनान्तरे।
वायुना वह्निना सार्धं ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्ति सा ॥86॥
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थौ च तिष्ठति।
ततस्तु कुम्भकैर्गाढं पूरयित्वा पुनः पुनः ॥87॥

फिर उस आकुंचन से उत्पन्न वायु से अग्नि प्रज्वलित होता है। जो हमेशा ही कुण्डलिनी को जलाता (तपाता) रहता है। तब उस अग्नि से जीव संतप्त हो उठते हैं। इसके बाद वह नाड़ी चन्द्रदण्ड में प्रवेश करती है। और वह (ताप की शान्ति के लिए चन्द्र जैसे शीतल) सुषुम्ना के मुख तक जाती है। वहाँ जाकर वह प्राणवायु के साथ वह्नि से ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करती है। (यह ब्रह्मग्रन्थि मूलाधार के प्रवेश मार्ग में कपाटरूप = अवरोधरूप है) और इसके बाद (अनाहत के कपाटरूप) विष्णुग्रन्थि को भी भेदकर आज्ञा कपाट में रुद्रग्रन्थि में रहती है। इसके बाद इस रुद्रग्रन्थि के भेदन के लिए गाँठरूप से वायु को बार-बार भीतर खींचकर कुंभकों का अभ्यास करना चाहिए।

अथाभ्यसेत् सूर्यभेदमुज्जायीं चापि शीतलीम्।
भस्त्रां च सहितो नाम स्याच्चतुष्टयकुम्भकः ॥88॥

बन्धत्रयेण संयुक्तः केवलप्राप्तिकारकः ।
अथास्य लक्षणं सम्यक् कथयामि समासतः ॥89॥

अब उन कुम्भकों का भेद बताते हुए प्रथम कुंभकचतुष्टय के बारे में बताते हैं कि कुंभक के चार भेद होते हैं—सूर्य, उज्जायी, शीतला और भास्त्रिक । उन चारों कुम्भकों का अभ्यास करना चाहिए । ऐसा अभ्यास करने वाला साधक तीनों बन्धों से (मूलबन्ध आदि बन्ध जो पहले कहे जा चुके हैं) युक्त होना चाहिए । ऐसा होने पर ही वह परमपद की प्राप्ति कराने वाला होता है । अब मैं कुम्भक के इन चारों भेदों के लक्षण संक्षेप में और स्पष्टता से बताता हूँ ।

एकाकिना समुपगम्य विविक्तदेशं
प्राणादिरूपममृतं परमार्थतत्त्वम् ।
लघ्वाशिना धृतिमता परिभावितव्यं
संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम् ॥90॥

(उससे पहले यह सर्वसामान्य लक्षण सुन लो कि—) अकेले ही किसी एकान्त प्रदेश में जाकर मिताहारी तथा धैर्यशील साधक को उस संसाररूपी रोगों को दूर करने वाले औषध के समान प्राणादिरूप अद्वितीय परमार्थ तत्त्व की भावना करनी चाहिए ।

सूर्यनाड्या समाकृष्य वायुमभ्यासयोगिना ।
विधिवत् कुम्भकं कृत्वा रेचयेच्छीतरश्मिना ॥91॥
उदरे बहुरोगघ्नं क्रिमिदोषं निहन्ति च ।
मुहुर्मुहुरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम् ॥92॥

सर्वयोगों के सर्वसामान्य लक्षण को सुनकर अब सूर्यकुम्भक का लक्षण सुनो । उस अभ्यासयोगी को चाहिए कि वह पहले सूर्यनाड़ी के द्वारा वायु को खींचे । (पूरक करे ।) बाद में विधिपुर (सर कुंभक) करके चन्द्रनाड़ी से उसका रेचन करे । ऐसा यह सूर्यकुम्भक पेट के बहुत से रोगों को दूर करने वाला होता है । यह कृमि के दोष (रोग) को भी दूर कर देता है । इस कुम्भक को बार-बार करते ही रहना चाहिए । इस प्रकार के कुंभक को सूर्यकुंभक कहा जाता है ।

नाडीभ्यां वायुमाकृष्य कुण्डल्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
धारयेदुदरे पश्चाद्रेचयेदिडया सुधीः ॥93॥
कण्ठे कफादिदोषघ्नं शरीराग्निविवर्धनम् ।
नाडीजलापहं धातुगतदोषविनाशनम् ॥94॥

अब उज्जयीकुंभक का लक्षण इस प्रकार है—दोनों सूर्य-चन्द्र नाड़ियों से वायु को भीतर खींचकर कुण्डलिनी के दोनों पार्श्वों में उसको फेंकना चाहिए । और बाद में उस वायु को पेट में रखना चाहिए । फिर इडा नाड़ी के द्वारा बुद्धिमान साधक को रेचन करना चाहिए । यह उज्जयीकुंभक कण्ठ में कफ आदि दोषों को दूर करने वाला होता है । यह शरीर में अग्नि (उष्णता) को बढ़ाने वाला होता है तथा नाड़ी जल को तथा धातुगत दोष आदि का निवारण करने वाला होता है ।

गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ।
मुखेन वायुं संगृह्य घ्राणरन्ध्रेण रेचयेत् ॥95॥

शीतलीकरणं चेदं हन्ति पित्तं क्षुधां तृषम् ।
स्तनयोरथ भस्त्रेव लोहकारस्य वेगतः ॥96॥
रेचयेत् पूरयेद्वायुमाश्रमं देहगं धिया ।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ॥97॥

यह उपर्युक्त उज्जयीकुम्भक उठते-बैठते भी करते रहना चाहिए। अब शीतलींकुंभक का लक्षण यह है कि मुख से वायु को खींचकर नथुने से उसका रेचन करना चाहिए। इसको शीतलीकरण कहा जाता है। यह कुंभक पित्त का, क्षुधा का और तृषा का नाश कर देता है। (अब भस्त्रिकाकुंभक का लक्षण यह है कि—) जैसे लोहार की कोठ में भस्त्र (धमनी) वेग से चलती है उसी प्रकार दोनों स्तनों में देहस्थित वायु का पूरक और रेचन वेगपूर्वक करना चाहिए। ऐसा श्रमपूर्वक करना चाहिए। ऐसा करने में देह में श्रम होगा तब सूर्यनाड़ी से पूरक करना चाहिए। तथा—

कण्ठसंकोचनं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥98॥
कुण्डलीबोधकं वक्त्रदोषघ्नं शुभदं सुखम् ।
ब्रह्मनाडीमुखान्तःस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥99॥
सम्यग्बन्धसमुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥100॥

—कण्ठ का संकोच करके बाद में चन्द्रनाड़ी से रेचन करना चाहिए। यह भस्त्रिका कुंभक वात, पित्त और कफ को दूर करने वाला है, यह शरीर की उष्णता को बढ़ाने वाला है, यह कुण्डलिनी को जगाने वाला है, मुख के दुर्गन्धादि दोषों को दूर करने वाला है, कल्याणकारी और सुखकारी है। वह ब्रह्मनाड़ी के मुख के आगे इकट्ठे हुए कफ आदि अवरोधों को नाश करने वाला है। सम्यग्बन्ध से उत्पन्न हुए इस भस्त्रिकाकुंभक से तीनों ग्रन्थियों का (ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि का) भी भेदन हो जाता है। यह भस्त्रकुंभक विशेष ध्यान देकर करना चाहिए।

बन्धत्रयमथेदानीं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ।
नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात् ॥101॥
चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।
बन्धत्रयमिदं कार्यं वक्ष्यमाणं मया हि तत् ॥102॥
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः ।
जालंधरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम् ॥103॥

(अब उन चार कुंभकों के अंगरूप में जो तीन बन्ध हैं, उनके बारे में कहते हैं—) मैं उन तीन बन्धों के लक्षण क्रमशः कहता हूँ—इन बन्धों के सदैव करते रहने से साधक प्राण पर विजय पा लेता है। कुंभक के उपर्युक्त चारों भेदों को करते समय यह बन्धत्रय (तीन बन्ध) करने चाहिए। मैं अभी उनके विषय में कह रहा हूं। तीन बन्धों में पहले को 'मूलबन्ध' कहते हैं, दूसरे बन्ध को 'उड्डीयाणबन्ध' कहते हैं, और तीसरे बन्ध को 'जालन्धरबन्ध' कहते हैं। अब मैं उनके लक्षण कह रहा हूँ—

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य पायुमाकुञ्चयेद् बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥104॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥105॥

लिंगस्थान और गुदा के रन्ध्र को एड़ी के द्वारा दबाकर हठपूर्वक वायु को रोकना चाहिए। जिस प्रकार वह वायु ऊपर ही ऊपर आता हो, ऐसा करना चाहिए (ऐसी भावना करनी चाहिए)। प्राण और अपान—दोनों तथा 'नाद-बिन्दू' अर्थात् बुद्धि और मन मूलबन्ध के साथ एकता को प्राप्त कर लें, तब वे योगसिद्धि को प्राप्त करते हैं, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए।

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥106॥
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
उड्डियाणं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥107॥
अभ्यसेत् तदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि ताणं कुर्यात् प्रयत्नतः ॥108॥

कुंभक के अन्त में और रेचक के प्रारंभ में यह उड्डीयाणबन्ध करना चाहिए। इस बन्ध में सुषुम्णा में प्राण उड्डयन करता है, इसलिए उसे 'उड्डीयाण' ऐसा योगियों के द्वारा नाम दिया गया है। इस उड्डीयाणबन्ध को तो गुरु ने सहज रूप से कह दिया है। साधक को अतन्द्रित रहकर इस बन्ध का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से वृद्ध व्यक्ति भी युवा हो जाता है। इसमें नाभि को ऊपर के भाग में और नीचे के भाग में बलपूर्वक खींचना चाहिए।

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ।
पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराभिधः ॥109॥
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढमिच्छया ॥110॥
बन्धो जालंधराख्योऽयममृताप्यायकारकः ।
अधस्तात् कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ॥111॥

इस उड्डीयाणबन्ध को जो छः मास तक करेगा, वह मृत्यु को जीत लेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। अब पूरक के अन्त में करने लायक बन्ध को 'जालन्धरबन्ध' कहते हैं। यह कंठ का संकोचन करके किया जाता है और वायुमार्ग का निरोध किया जाता है। यह जालन्धरबन्ध अमृत को भर देने वाला है। वह कण्ठ का आकुंचन करके ठोडी को कण्ठकूप में दृढ़तापूर्वक लगाने से होता है।

मध्ये पश्चिमताणेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः ।
वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम् ॥112॥
कुर्यादनन्तरं भस्त्रीं कुण्डलीमाशु बोधयेत् ।
भिद्यन्ते ग्रन्थयो वंशे तप्तलोहशलाकया ॥113॥
तथैव पृष्ठवंशे स्याद् ग्रन्थिभेदस्तु वायुना ।
पिपीलिकायां लग्नायां कण्डूस्तत्र प्रवर्तते ॥114॥

मध्य में पश्चिम की ओर खींचने से वह वायु ब्रह्मनाड़ी में जाता है। अब तीन बन्धों से प्रयुक्त उस योगी को वज्रासन में बैठकर कुण्डली को घुमाकर बाद में उसे जगाना चाहिए। इससे तपे हुए लोहे

की सलाई से जैसे बाँस की ग्रन्थियाँ भेदी जाती हैं, वैसे ही वायु से पृष्ठवंश की ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं। और तब जैसे चींटी ने डंक मारा हो इस तरह की खुजली होने लगती है।

सुषुम्नायां तथाभ्यासात् सततं वायुना भवेत्।
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा ततो याति शिवात्मकम् ॥115॥
चन्द्रसूर्यौ समौ कृत्वा तयोर्योगः प्रवर्तते।
गुणत्रयमतीतं स्याद् ग्रन्थित्रयविभेदनात् ॥116॥
शिवशक्तिसमायोगे जायते परमा स्थितिः।
यथा करी करेणैव पानीयं प्रपिबेत् सदा ॥117॥

इस प्रकार सुषुम्ना में अभ्यास करते-करते प्राणवायु से रुद्रग्रन्थि को भेदकर शिवात्मकत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार तीन ग्रन्थियों के भेदन से त्रिगुणों से अतीत हुआ जा सकता है। इसमें सूर्यचन्द्र समान होकर उनका मिलन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ ब्रह्मरन्ध्रगत तुरीय ही शिव है, शक्ति कुण्डलिनी है। उन दोनों के योग से ही परमस्थिति सहज निर्विकल्पावस्था होती है। शिव-शक्ति के योग से परम स्थिति उत्पन्न होती है। अब सुषुम्ना से प्राणोदक पीने की जो बात है, उसका दृष्टान्त दिया जाता है कि जैसे हाथी अपनी सूँड़ से ही पानी पीता है वैसे ही—

सुषुम्नावज्रनालेन पवमानं ग्रसेत् तथा।
वज्रदण्डसमुद्भूता मणयश्चैकविंशतिः ॥118॥
सुषुम्नायां स्थिताः सर्वे सूत्रे मणिगणा इव।
मोक्षमार्गे प्रतिष्ठानात्सुषुम्ना विश्वरूपिणी ॥119॥
यथैव निश्चितः कालश्चन्द्रसूर्यनिबन्धनात्।
आपूर्य कुम्भितो वायुर्बहिर्नो याति साधके ॥120॥
पुनःपुनस्तद्वदेव पश्चिमद्वारलक्षणम्।
पूरितस्तु स तद्द्वारैरीषत्कुम्भकतां गतः ॥121॥
प्रविशेत् सर्वगात्रेषु वायुः पश्चिममार्गतः।
रेचितः क्षीणतां याति पूरितः पोषयेत् ततः ॥122॥

—सुषुम्नारूपी वज्रनाल से सुषुम्ना प्राणरूपी पानी को पीती है। सुषुम्नाश्रित वज्रदण्ड (वीणादण्ड) में इक्कीस मणि (चने जैसे मांसपिण्ड) हैं। वे सूत्र में मणियों के समूह की भाँति सुषुम्ना में अवस्थित हैं। इन मणियों का मोक्षमार्ग में प्रतिष्ठान होने से (मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक प्रतिष्ठित होने से) यह सुषुम्ना विश्वरूपिणी हो जाती है। सूर्य और चन्द्र के निबन्धन से (परिमाण से) जैसे काल का निश्चय (निर्णय) किया जाता है, यह काल सुषुम्ना में विलीन हो जाता है। (सुषुम्ना काल को खा जाती है, क्योंकि) साधक इस सुषुम्ना में वायु को भरता है (पूरक करता है) और वह जब सुषुम्ना में कुंभित हो जाता है, फिर वह वायु बाहर निकलता ही नहीं (कि जिससे श्वासोच्छ्वास के द्वारा कालगणना हो सके)। (यदि प्रमाद से वह कुंभित वायु बाहर निकल भी जाए तो) फिर-फिर से उसी प्रकार सुषुम्ना से प्राण को भरकर (पूरक करके) फिर कुंभक करना चाहिए। इसे 'पश्चिमद्वारलक्षण' कहा गया है। इस प्रकार फिर से पूरित वायु (पश्चिमद्वार से पूरितवायु) प्रारंभ में ईषत्कुंभकता (थोड़ी कुंभकता) को प्राप्त होता है। बाद में वह प्राणवायु पश्चिममार्ग से सभी गात्रों में प्रविष्ट हो जाता है। और यदि काल-कर्म

के संयोग से सुषुम्ना के द्वारा रेचित वायु क्षीणता को प्राप्त करे, तो वह पूरित वायु शरीर का पोषण करता है।

यत्रैव जातं सकलेवरं मनस्तत्रैव लीनं कुरुते स योगात्।
स एव मुक्तो निरहंकृतिः सुखी मूढा न जानन्ति हि पिण्डपातिनः ॥123॥
चित्तं विनष्टं यदि भासितं स्यात् तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः।
न चेद्यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः ॥124॥
जम्बुको रुधिरं यद्वद्बलादाकृष्यति स्वयम्।
ब्रह्मनाडी तथा धातून् सन्तताभ्यासयोगतः ॥125॥
अनेनाभ्यासयोगेन नित्यमासनबन्धतः।
चित्तं विलीनतामेति बिन्दुर्नो यात्यधस्तथा ॥126॥

वह योगी का मन जहाँ से (अधिष्ठानरूप ब्रह्म से) इस शरीर के साथ जन्मा है, उसे वहीं (ब्रह्म में ही) अपने योग के द्वारा लीन कर देता है। वही मुक्त है, वही निरहंकारी है, वही सुखी है। यह बात जो नहीं जानते, वे तो मूढ़ ही हैं और शरीरों में (स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूपों में) हो पड़े हुए हैं। जब चित्त अपने अधिष्ठान में लीन हो जाता है, तब प्रतीत होते हुए प्राणवायु का भी विलय हो जाता है। ऐसा यदि नहीं हुआ तो उसके लिए शास्त्र भी व्यर्थ हैं, गुरु भी व्यर्थ है, मोक्ष भी व्यर्थ है। उसको अपने आत्मा की सही प्रतीति नहीं हो सकती। (ऐसे मूढ़ को प्रबोधित करने के लिए आगे कहते हैं कि—) जिस प्रकार सियार बलपूर्वक खींचकर लहू को ले लेता है, उसी तरह सुषुम्ना नाड़ी शरीर के धातुओं को बलपूर्वक खींचकर खा जाती है (बाद में इसीलिए ब्रह्मज्ञान होता है)। सतत अभ्यास से वह ब्रह्मनाड़ी बाहर के पदार्थों अर्थात् उनके प्रबोधक धातुओं को ग्रास कर ही लेती है। आसनबन्ध के साथ इस प्रकार के योग के नित्य अभ्यास से चित्त विलीन हो जाता है और बिन्दु का अध:पात भी नहीं होता।

रेचकं पूरकं मुक्त्वा वायुना स्थीयते स्थिरम्।
नाना नादाः प्रवर्तन्ते संस्रवेच्चन्द्रमण्डलम् ॥127॥
नश्यन्ति क्षुत्पिपासाद्याः सर्वदोषास्ततस्तदा।
स्वरूपे सच्चिदानन्दे स्थितिमाप्नोति केवलम् ॥128॥

जब रेचक और पूरक—दोनों को छोड़कर वायु कुंभक में ही स्थिर हो जाता है, तब तरह-तरह के नाद उत्पन्न होने लगते हैं, एवं चन्द्रमण्डल से स्राव होने लगता है। तब भूख और प्यास नष्ट हो जाती हैं, सभी दोष नष्ट हो जाते हैं। वह योगी तब केवल अपने स्वरूप में ही (सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व में ही) अपनी स्थिति को पा लेता है।

कथितं तु तव प्रीत्या ह्येतदभ्यासलक्षणम्।
मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्तोऽभूमिकाः क्रमात् ॥129॥
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥130॥

हंसहंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते ।
गुरुवाक्यात् सुषुम्नायं विपरीतो भवेज्जपः ॥131॥
सोऽहं सोऽहमिति यः स्यान्मन्त्रयोगः स उच्यते ।
प्रतीतिमन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि ॥132॥
हकारेण तु सूर्यः स्यात् सकारेणेन्दुरुच्यते ।
सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते ॥133॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें प्रेम से इस अभ्यास का लक्षण सुनाया। अब मैं तुम्हें महायोग सुना रहा हूँ कि यह महायोग वास्तव में तो एक ही है, परन्तु इसकी भूमिकाएँ क्रमशः मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग—ऐसी हैं। (इनमें पहला मंत्रयोग बताते हैं कि—) पहले हकार से श्वास बाहर जाता है और सकार से वह फिर से भीतर आता है। इस तरह सभी जीवों के द्वारा, 'हंस हंस'—इस प्रकार का मंत्र तो जपा ही जा रहा होता है। फिर यदि गुरु के वाक्य द्वारा सुषुम्ना में 'सोऽहं' 'सोऽहं'—ऐसा विपरीत क्रम से जब यह जप होता है, तब उसे 'मंत्रयोग' कहा जाता है। (अब पूर्वोक्त योगभूमिका में दूसरे लययोग को बाद में रखकर पहले हठयोग बताते हैं—) उपर्युक्त प्रतीति-युक्त मंत्र के योग से पश्चिम मार्ग में हकार से सूर्य लिया जाता है, और सकार से चन्द्र लिया जाता है। उन सूर्य और चन्द्र का ऐक्य (एकीभूतता) ही हठ कहा जाता है। (ऐक्ययोग ही हठयोग है।)

हठेन गृह्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम् ।
क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत् ॥134॥
तदैक्ये साधिते ब्रह्मंश्चित्तं याति विलीनताम् ।
पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति ॥135॥
लयात् सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दं परं पदम् ।
योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसन्निभम् ॥136॥
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृत्तम् ।
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः ॥137॥

परन्तु हठयोग से जड़ता आ जाती है और उससे सभी दोष उत्पन्न हो जाते हैं। वास्तव में तो नाड़ियों के ऐक्य के बदले क्षेत्रज्ञ (जीव) और परमात्मा का ऐक्य ही जब हो, तब चित्त का विलय हो जाता है। जब ऐसे 'लययोग' का उदय होता है, तब प्राणवायु स्थिर हो जाता है। इस लययोग से अपनी आत्मा में परमानन्द की प्राप्ति का परमसुख प्राप्त किया जाता है। (अब राजयोग का लक्षण कहा जाता है—) महाक्षेत्ररूप योनि में जपाकुसुम जैसी कान्तिवाला देवी का तत्त्वरूप (शक्तिस्वरूप) 'रजस्' विद्यमान होता है। उसके साथ (रजस् के साथ) जब रेतस् (वीर्य) का योग (जो शिश्न स्थान में रहता है) होता है तब उसे 'राजयोग' कहा जाता है। (अर्थात् शिवशक्तियोग से राजयोग होता है।)

अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः ।
प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम् ॥138॥
संक्षेपात् कथितं ब्रह्मन् नान्यथा शिवभाषितम् ।
क्रमेण प्राप्यते प्राप्यमभ्यासादेव नान्यथा ॥139॥
एकेनैव शरीरेण योगाभ्यासाच्छनैः शनैः ।
चिरात् सम्प्राप्यते मुक्तिर्मर्कटक्रम एव सः ॥140॥

इस राजयोग से अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त करके योगी शोभायमान हो जाता है। मंत्रादि चार योगों का एक समान तत्त्व तो प्राण और अपान का योग कर देना ही है। (एक ही बात में चारों का पर्यवसान हो जाता है) हे ब्रह्मन्! यह मैंने तुम्हें सब संक्षेप में बता दिया। शिव का कथन कभी अन्यथा (विपरीत = असत्य) नहीं हो सकता परन्तु इसकी सिद्धि तो अभ्यास करते रहने से ही धीरे-धीरे प्राप्त की जा सकती है, नहीं तो यह योग सिद्धिदायक नहीं हो सकता। योग के अभ्यास से इस एक ही शरीर के द्वारा धीरे-धीरे लम्बे समय के बाद ही सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। यहाँ जल्दबाजी नहीं चलती। यह बन्दरों को वश करने जैसा है।

योगसिद्धिं विना देहः प्रमादाद्यदि नश्यति।
पूर्ववासनया युक्तः शरीरं चान्यदाप्नुयात् ॥141॥
ततः पुण्यवशात् सिद्धो गुरुणा सह सङ्गतः।
पश्चिमद्वारमार्गेण जायते त्वरितं फलम् ॥142॥
पूर्वजन्मकृताभ्यासात् सत्वरं फलमश्नुते।
एतदेव हि विज्ञेयं तत् काकमतमुच्यते ॥143॥
नास्ति काकमतादन्यदभ्यासाख्यमतः परम्।
तेनैव प्राप्यते मुक्तिर्नान्यथा शिवभाषितम् ॥144॥

इस योगी की योगफल को प्राप्त करने से पहले ही यदि प्रमाद से देह नष्ट हो जाए तो यह योगी पूर्व की वासना से युक्त होने से दूसरे शरीर को प्राप्त करता है और वहाँ पुण्यों के फलस्वरूप गुरु की संगति प्राप्त करके पश्चिम द्वार के मार्ग से सिद्ध होता है और योग का (पूर्वकृत योग का) यहाँ नए शरीर में त्वरित फल पा लेता है। पूर्वजन्म में कृत अभ्यास का फल ऐसा ही है—यह महेश्वर का मत है। (काक = महेश्वर) इस काकमत से (महेश्वर के मत से) दूसरा कोई अभ्यास नाम का उत्तम फल नहीं है और उसी से मुक्ति मिल सकती है। शिव का कथन अन्यथा (असत्य) हो ही नहीं सकता।

हठयोगक्रमात् काष्ठा सह जीवलयादिकम्।
नाकृतं मोक्षमार्गं स्यात् प्रसिद्धं पश्चिमं विना ॥145॥
आदौ रोगाः प्रणश्यन्ति पश्चाज्जाड्यं शरीरजम्।
ततः समरसो भूत्वा चन्द्रो वर्षत्यनारतम् ॥146॥
धातूंश्च संग्रहेद्वह्निः पवनेन समं ततः।
नाना नादाः प्रवर्तन्ते मार्दवं स्यात् कलेवरम् ॥147॥

हठयोग के अनुष्ठान से सिद्ध पश्चिमद्वार का महापथ जो मोक्षमार्ग होता है, उसके बिना तो योगी के सामने कोई विकल्प ही नहीं होता। (अर्थात् उस महापथ मोक्षमार्ग के लिए तो हठयोग आवश्यक है ही) पहले (इस योग की अभ्यास दशा में ही) सभी रोग नष्ट हो जाते हैं, बाद में शरीर में उत्पन्न हुआ आलस्यादि जाड्य (जड़ता) का नाश हो जाता है। इसके बाद चन्द्र निरन्तर अमृत-धाराएँ बरसाता रहता है। इसके बाद मूलाधारस्थ अग्नि प्राणवायु के साथ होकर धातुओं का संग्रह करता है (अर्थात् बलवृद्धि और वीर्यस्तंभन करता है। तब तरह-तरह के नाद उठने लगते हैं और शरीर बालक की तरह कोमल हो जाता है।

जित्वा वृष्ट्यादिकं जाड्यं खेचरः स भवेन्नरः।
सर्वज्ञोऽसौ भवेत् कामरूपः पवनवेगवान् ॥148॥

क्रीडते त्रिषु लोकेषु जायन्ते सिद्धयोऽखिलाः ।
कर्पूरे लीयमाने किं काठिन्यं तत्र विद्यते ॥149॥
अहंकारक्षये तद्वद्देहे कठिनता कुतः ।
सर्वकर्ता च योगीन्द्रः स्वतन्त्रोऽनन्तरूपवान् ॥150॥

तदनन्तर जैसे बादल जड़ता को छोड़कर इच्छा रूपधारी बन जाता है, वैसे वह योगी जड़ता को छोड़कर आकाशविहारी बन जाता है, सर्वज्ञ बन जाता है, इच्छानुसार रूप धारण करने वाला बन जाता है, पवन जैसे वेग वाला बन जाता है, वह तीनों लोकों में यथेष्ट लीला करता है, वह सभी सिद्धियों से युक्त हो जाता है। उसका अहंकार क्षीण हो जाता है, अत: उसमें कठिनता कैसे रह सकती है? कर्पूर का जब लय हो जाता है, तब उसमें कठिनता रह सकती है क्या ? (अर्थात्, नहीं रह सकती) तब वह योगीन्द्र (सिद्धयोगी) सर्वकर्ता होता है, स्वतंत्र होता है और अनन्त रूपों को धारण करने वाला हो जाता है।

जीवन्मुक्तो महायोगी जायते नात्र संशयः ।
द्विविधाः सिद्धयो लोके कल्पिताकल्पितास्तथा ॥151॥
रसौषधिक्रियाजालमन्त्राभ्यासादिसाधनात् ।
सिध्यन्ति सिद्धयो यास्तु कल्पितास्ताः प्रकीर्तिताः ॥152॥
अनित्या अल्पवीर्यास्ताः सिद्धयः साधनोद्भवाः ।
साधनेन विनाप्येवं जायन्ते स्वत एव हि ॥153॥

ऐसा महायोगी तब जीवन्मुक्त हो जाता है, इसमें किसी प्रकार सन्देह नहीं है। इस लोक में दो प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं—एक कल्पित तथा दूसरी अकल्पित। इनमें जो सिद्धियाँ रस, औषधि, क्रियाकाण्ड, मंत्रजप या अभ्यास से प्राप्त की जा सकती हैं, वे कल्पित नाम से कही गई हैं। ये सब कल्पित सिद्धियाँ अनित्य, कम शक्तिवाली होती हैं क्योंकि वे किसी न किसी साधन से उत्पन्न की गई होती हैं। परन्तु कुछ सिद्धियाँ ऐसी भी हैं, जो साधन के बिना ही स्वयं उत्पन्न होती हैं।

स्वात्मयोगैकनिष्ठेषु स्वातन्त्र्यादीश्वरप्रियाः ।
प्रभूताः सिद्धयो यास्ताः कल्पनारहिताः स्मृताः ॥154॥
सिद्धा नित्या महावीर्या इच्छारूपाः स्वयोगजाः ।
चिरकालात् प्रजायन्ते वासनारहितेषु च ॥155॥
तास्तु गोप्या महायोगात् परमात्मपदेऽव्यये ।
विना कार्यं सदा गुप्तं योगसिद्धस्य लक्षणम् ॥156॥

परन्तु स्वात्मनिष्ठ योगियों में स्वातन्त्र्य से (स्वयं ही) जो ईश्वरप्रिय सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, वे अकल्पनीय और कारणरहित होती हैं। ऐसी सिद्धियाँ नित्य हैं और बहुत बलवती होती हैं और इच्छा के अनुरूप उपयोग की जाने वाली होती हैं। ये सिद्धियाँ योग से जन्म लेती हैं। और वे लम्बे समय के बाद ही उत्पन्न होती हैं और वासना से रहित साधकों (सिद्धों) में ही उत्पन्न होती हैं। ऐसे अव्यय परमात्मपद में स्थित सिद्ध योगी को चाहिए कि वह इन सिद्धियों को गोपनीय ही रखे। कारण के बिना उन सिद्धियों का वह उपयोग न करे। यही योगसिद्ध पुरुष का लक्षण है।

यथाकाशं समुद्दिश्य गच्छद्भिः पथिकैः पथि ।
नाना तीर्थानि दृश्यन्ते नाना मार्गास्तु सिद्धयः ॥157॥

स्वयमेव प्रजायन्ते लाभालाभविवर्जिते ।
योगमार्गे तथैवेदं सिद्धिजालं प्रवर्तते ॥158॥
परीक्षकैः स्वर्णकारैर्हेम संप्रोच्यते यथा ।
सिद्धिभिर्लक्षयेत् सिद्धं जीवन्मुक्तं तथैव च ॥159॥
अलौकिकगुणस्तस्य कदाचिद् दृश्यते ध्रुवम् ।
सिद्धिभिः परिहीनं तु नरं बद्धं तु लक्षयेत् ॥160॥

जिस तरह आकाश को लक्ष्य करके चलने वाले पथिकों को मार्ग में भाँति-भाँति के तीर्थस्थान दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार योगी को ये सिद्धियाँ विविध मार्ग वाली यदृच्छया दिखाई देती हैं। लाभ-अलाभ से रहित इस योगमार्ग में स्वयमेव यह सिद्धियों का समूह उत्पन्न होता है। जिस प्रकार परीक्षक सुनारों के द्वारा सोने की कसौटी करके उसे खरा प्रमाणित किया जाता है, वैसे ही किसी भी सिद्ध पुरुष की कसौटी सिद्धियों के द्वारा ही की जानी चाहिए। जीवन्मुक्त की भी वैसे ही कसौटी करनी चाहिए। यदि वह सिद्ध और जीवन्मुक्त है तो कभी न कभी तो उसमें अलौकिक गुण अवश्य ही दिखाई पड़ेगा। जो ऐसी सिद्धियों से रहित है, उसे तो बद्ध ही समझ लेना चाहिए।

अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एव हि ।
पशुकुक्कुटकीटाद्या मृतिं सम्प्राप्नुवन्ति वै ॥161॥
तेषां किं पिण्डपातेन मुक्तिर्भवति पद्मज ।
न बहिः प्राण आयाति पिण्डस्य पतनं कुतः ॥162॥
पिण्डपातेन या मुक्तिः सा मुक्तिर्न तु हन्यते ।
देहे ब्रह्मत्वमायाते जलानां सैन्धवं यथा ॥163॥

उस जीवन्मुक्त का शरीर तो अजर और अमर (जरावस्था और मरण से रहित) होता है। (जन्म और) मरण तो पशुओं, कुक्कुटों और कीड़ों आदि का होता है। हे ब्रह्माजी ! उन जीवन्मुक्तों की क्या शरीर के पतन से ही मुक्ति होती है ? जब उनके प्राण शरीर से बाहर निकलते ही नहीं, तब शरीर का मरण ही कैसे हो सकता है ? जब पानी में नमक डालने से वह पानीमय ही हो जाता है, इसी तरह योगी का पूरा देह ही ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है। तब पिण्डदान करने से तो उसके द्वारा प्राप्त मुक्ति का ही घात नहीं हो जाता क्या ? (अर्थात् हो ही जाता है)।

अनन्यतां यदा याति तदा मुक्तः स उच्यते ।
विमतानि शरीराणि इन्द्रियाणि तथैव च ॥164॥
ब्रह्म देहत्वमापन्नं वारि बुद्बुदतामिव ।
दशद्वारपुरं देहं दशनाडीमहापथम् ॥165॥

इस तरह वह योगी (जीवन्मुक्त) जब अनन्यता को प्राप्त हो जाता है, तब वह मुक्त ही कहा जाता है। अन्यों की दृष्टि से विमत (हैं या नहीं) ऐसी जो इन्द्रियाँ हैं और तरह-तरह के जो शरीर हैं, वह तो देहत्व को प्राप्त ब्रह्म हैं, जैसे पानी बुद्बुदों को प्राप्त करता रहता है। इस देह को दस द्वारों वाला नगर कहा गया है। इस नगर में दस नाड़ियों के रूप में दस बड़े मार्ग भी हैं। और—

दशभिर्वायुभिर्व्याप्तं दशेन्द्रियपरिच्छदम् ।
षडाधारापवरकं षडन्वयमहावनम् ॥166॥

चतुःपीठसमाकीर्णं चतुराम्नायदीपकम् ।
बिन्दुनादमहालिङ्गं शिवशक्तिनिकेतनम् ॥167॥

—ऐसा यह देह दस वायुओं से घिरा हुआ है । इसमें दश इन्द्रियों का ढक्कन है, छः आधाररूप चक्रों के पर्दों वाला और षडन्वयरूप (पाँच महाभूत और मन) से सम्बद्ध है । इसमें चार पीठ हैं और चार वेदोंरूपी दीपक प्रकाशित हैं और इसी शरीर में बिन्दु (मन), नाद (बुद्धि) और उसकी (बुद्धि की) हजारों वृत्तियों के भावों और अभावों का प्रकाशक महालिंग (प्रत्यक् चैतन्य) भी इस शरीर में है । और यही शरीर शिव-शक्ति का निवासस्थान भी है । (यहाँ सामान्य शरीर पिण्ड और सिद्ध का अपिण्ड—दोनों का शिवालयत्व कहा गया है ।)

देहं शिवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम् ।
गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम् ॥168॥
शिवस्य जीवरूपस्य स्थानं तद्धि प्रचक्षते ।
यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता ॥169॥
यस्मादुत्पद्यते वायुर्यस्माद्वह्निः प्रवर्तते ।
यस्मादुत्पद्यते बिन्दुर्यस्मान्नादः प्रवर्तते ॥170॥

इस प्रकार यह देह सभी प्राणियों के लिए सिद्धिदायक कहा गया है । अब जो इस देह को छः चक्रों के आधाररूप पर्दों वाला कहा गया है इसके विषय में कहते हैं कि गुदा और शिश्न के बीच के भाग में जो त्रिकोणाकार चक्र है, वह मूलाधार चक्र कहलाता है । वह जीवरूप बने हुए शिव का स्थान कहा जाता है । वहाँ कुण्डलिनी नाम की पराशक्ति प्रतिष्ठित हुई है । उसमें से वायु (प्राण) उत्पन्न होता है और उसमें से ही अग्नि (तेज) उत्पन्न होता है, उसमें से बिन्दु उत्पन्न होता है और उसमें से ही नाद उत्पन्न होता है ।

यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः ।
तदेतत् कामरूपाख्यं पीठं कामफलप्रदम् ॥171॥
स्वाधिष्ठानाह्वयं चक्रं लिङ्गमूले षडस्रके ।
नाभिदेशे स्थितं चक्रं दशारं मणिपूरकम् ॥172॥
द्वादशारं महाचक्रं हृदये चाप्यनाहतम् ।
तदेतत् पूर्णगिर्याख्यं पीठं कमलसम्भव ॥173॥
कण्ठकूपे विशुद्ध्याख्यं यच्चक्रं षोडशास्रकम् ।
पीठं जालन्धरं नाम तिष्ठत्यत्र सुरेश्वरः ॥174॥

(पहले जो चतुष्पीठ—चार पीठों की बात कही है उसके बारे में कहते हैं कि—) जिसमें 'हंस' उत्पन्न होता है, जिससे मन उत्पन्न होता है, वह इच्छित फल देने वाला 'कामरूप' नाम का जो पीठ है, वहाँ पर, लिंग के मूल में, छः दल वाला 'स्वाधिष्ठान चक्र' स्थित है । इसके बाद नाभि के प्रदेश में दश अरों वाला 'मणिपूरक' नाम का चक्र अवस्थित है । इसके बाद हृदय प्रदेश में बारह अरों वाला जो चक्र है, वह अनाहत चक्र है, वह महीचक्र है और हे कमलोद्भव ब्रह्माजी ! उसके स्थान को 'पूर्णगिरि' नामक पीठ कहा जाता है । कण्ठकूप में (कण्ठ के स्थान में) जो चक्र है, उसे 'विशुद्धचक्र' नाम दिया गया है और उस पीठ (स्थान) का नाम 'जालन्धरपीठ' है, वहाँ सुरेश्वर (इन्द्र) का निवास है ।

आज्ञा नाम भ्रुवोर्मध्ये द्विदलं चक्रमुत्तमम् ।
उड्याणाख्यं महापीठमुपरिष्टात् प्रतिष्ठितम् ॥175॥
चतुरस्त्रं धरण्यादौ ब्रह्मा तत्राधिदेवता ।
अर्धचन्द्राकृतिजलं विष्णुस्तस्याधिदेवता ॥176॥
त्रिकोणमण्डलं वह्नी रुद्रस्तस्याधिदेवता ।
वायोर्बिम्बं तु षट्कोणमीश्वरोऽस्याधिदेवता ॥177॥
आकाशमण्डलं वृत्तं देवतास्य सदाशिवः ।
नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः ॥178॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

दो भौंहों के बीच एक उत्तम दो दलों वाला 'आज्ञाचक्र' नाम का चक्र स्थित है। उसके पीठ को उड्याण महापीठ कहा जाता है, उस पर वह चक्र प्रतिष्ठित है। धरणि आदि में चार कोने हैं, उसके अधिदेवता ब्रह्मा हैं। जल जो अर्धचन्द्राकृति है, उसके अधिदेवता विष्णु हैं। जो त्रिकोणमण्डल वह्नि है, उसके अधिदेवता रुद्र हैं। जो वायु का षट्कोण बिम्बाकार है, उसके अधिदेवता ईश्वर हैं। जो गोल आकाशमण्डल है, उसके अधिदेवता सदाशिव हैं और जो दोनों भौहों के बीच नादमण्डल है, वह मन का मण्डल है।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

पुनर्योगस्य माहात्म्यं श्रोतुमिच्छामि शंकर ।
येन विज्ञानमात्रेण खेचरीसमतां व्रजेत् ॥1॥
शृणु ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि गोपनीयं प्रयत्नतः ।
द्वादशाब्दं तु शुश्रूषां यः कुर्यादप्रमादतः ॥2॥
तस्मै वाच्यं यथातथ्यं दान्ताय ब्रह्मचारिणे ।
पाण्डित्यादर्थलोभाद्वा प्रमादाद्यः प्रयच्छति ॥3॥
तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।
मूलमन्त्रं विजानाति यो विद्वान् गुरुदर्शितम् ॥4॥

तब फिर से ब्रह्मा जी ने शिव जी से कहा—"हे शंकर ! मैं फिर से योग का माहात्म्य सुनना चाहता हूँ कि जिसके ज्ञानमात्र से मनुष्य सूर्य के समान तेजस्विता को प्राप्त करता है।" तब शिवजी ने कहा—"हे ब्रह्माजी ! सुनो ! मैं बता रहा हूँ। परन्तु यह अत्यन्त गोपनीय ज्ञान है। जो जिज्ञासु शिष्य बारह साल तक प्रमादरहित होकर गुरु की सेवा-शुश्रूषा करे और दमनशील ब्रह्मचारी रहे उसी को यह ज्ञान देना चाहिए। पाण्डित्य-प्रदर्शन से, प्रमाद से, धन के लोभ से जो यदि किसी अनधिकारी को देता है, तो वह क्षीण ही हो जाता है। परन्तु यदि अधिकारी गुरुमुख से यथाविधि यह ज्ञान प्राप्त करता है तो वह विद्वान् गुरु के द्वारा बताए गए मूलमंत्र को (मर्म को) जान लेता है।

शिवशक्तिमयं मन्त्रं मूलाधारात् समुत्थितम् ।
तस्य मन्त्रस्य वै ब्रह्मन् श्रोता वक्ता च दुर्लभः ॥5॥
एतत् पीठमिति प्रोक्तं नादलिङ्गं मदात्मकम् ।
तस्य विज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेज्जनः ॥6॥

यह मंत्र शिवशक्तिमय है (यह मंत्र प्रणवमंत्र या नादमंत्र होना चाहिए)। इस मंत्र का वक्ता (मैं स्वयं) और श्रोता भी दुर्लभ है। यह मंत्र मूलाधार से उत्पन्न हुआ है। इस मंत्र के स्वरूप को पीठ कहा गया है। (क्योंकि मंत्रार्थ जो ब्रह्म है, वह तो सबका अधिकरण [पीठ] है।) वह नादलिंग है, वह मदात्मक है (मेरा स्वरूप ही है)। इसको अच्छी तरह से जान लेने से मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। (प्रणव नादब्रह्म है और ब्रह्म का ही स्वरूप है)।

अणिमादिकमैश्वर्यमचिरादेव जायते ।
मननात् प्राणनाच्चैव मद्रूपस्यावबोधनात् ॥7॥
मन्त्रमित्युच्यते ब्रह्मन् मदधिष्ठानतोऽपि वा ।
मूलत्वात् सर्वमन्त्राणां मूलाधारात् समुद्भवात् ॥8॥

और इस मंत्र के रहस्य को जान लेने से अणिमादि सिद्धियाँ (ऐश्वर्य) थोड़े ही समय में मिल जाते हैं। इस मंत्र के मनन से और जप-साधन से ही मेरा (ब्रह्म का) स्वरूप जाना जा सकता है, इसीलिए इसे 'मंत्र' (मूलमंत्र) कहा गया है। हे ब्रह्माजी ! इसे मन्त्र इसलिए भी कहा जाता है कि मेरा यह अधिष्ठान है, अथवा इसका मैं अधिष्ठान हूँ। अथवा यह सभी मंत्रों का मूलमंत्र है। यह मूलाधार से उत्पन्न हुआ है। (ऐसे कई कारणों से इसे 'मंत्र' या 'मूलमंत्र' कहा गया है।)

मूलस्वरूपलिङ्गत्वान्मूलमन्त्र इति स्मृतः ।
सूक्ष्मत्वात् कारणत्वाच्च लयनाद्गमनादपि ॥9॥

इस मंत्र को मूलमंत्र कहने के और भी कारण हैं—यह मूलस्वरूप है और लिङ्गस्वरूप है, यह सूक्ष्म है, सबका कारण है, सबका लय-स्थान है, सबकी गति यहीं से होती है, यही नादलिंग है।

लक्षणात् परमेशस्य लिङ्गमित्यभिधीयते ।
सन्निधानात् समस्तेषु जन्तुष्वपि च सन्ततम् ॥10॥
सूचकत्वाच्च रूपस्य सूत्रमित्यभिधीयते ।
महामाया महालक्ष्मीर्महादेवी सरस्वती ॥11॥
आधारशक्तिरव्यक्ता यया विश्वं प्रवर्तते ।
सूक्ष्माभा बिन्दुरूपेण पीठरूपेण वर्तते ॥12॥

इस महामंत्र प्रणव में परमेश्वर के ही लक्षण दिए जाते हैं इसलिए यह 'लिंग' भी कहा जाता है। और समस्त प्राणियों में भी उसका सतत सान्निध्य होने के कारण और स्वरूप का सूचक होने के कारण इसे 'सूत्र' भी कहते हैं। प्रणव ही सबकी प्रकृति है। उसे ही महामाया, महालक्ष्मी, महादेवी और सरस्वती कहा जाता है। यही अव्यक्त सर्वाधाररूप शक्ति है, इसी से सारे विश्व का प्रवर्तन होता है। वही बिन्दु के (मन के) रूप में सूक्ष्म कान्तिवाली होते हुए भी कामाख्यादि चारों पीठों के रूप में होती है।

बिन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिङ्गमुपस्थितम् ।
प्राणेनोच्चार्यते ब्रह्मन् षण्मुखीकरणेन च ॥13॥

गुरूपदेशमार्गेण सहसैव प्रकाशते ।
स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः ॥14॥
पञ्चब्रह्ममयं रूपं स्थूलं वैराजमुच्यते ।
हिरण्यगर्भं सूक्ष्मं तु नादं बीजत्रयात्मकम् ॥15॥

हे ब्रह्माजी ! प्राणापानादि व्यापार से जो 'सोऽहम्' का उच्चारण होता है, उसमें विद्यमान त्याज्य अंश को अर्थात् बिन्दुपीठ को, जो कि व्यक्ताव्यक्तात्मक है, उसको गुरु के उपदेश द्वारा षण्मुखीकरण (भेदन) करके योगी को स्पष्टरूप से ब्रह्म के स्थूल, सूक्ष्म और परम—ये तीनों प्रकार के रूप स्पष्ट हो जाते हैं। इन रूपों में जो स्थूल रूप है वह तो पंच ब्रह्ममय (भूतमय ?) रूप है। उसे 'वैराज' कहा जाता है। और जो सूक्ष्म रूप है, वह हिरण्यगर्भरूप है, उसमें बीजचैतन्य का भी समावेश हो जाता है। और वह अकारादि तीन बीजों वाला भी होता है।

परं ब्रह्म परं सत्यं सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
अप्रमेयमनिर्देश्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥16॥
शुद्धं सूक्ष्मं निराकारं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
अनन्तमपरिच्छेद्यमनूपममनामयम् ॥17॥
आत्ममन्त्रसदाभ्यासात् परतत्त्वं प्रकाशते ।
तदभिव्यक्तिचिह्नानि सिद्धिद्वाराणि मे शृणु ॥18॥

उस सूक्ष्मरूप के बाद अब परमरूप का वर्णन किया जाता है। वह परंब्रह्म ही परम सत् तत्त्व है। उसका लक्षण सत्, चित् और आनन्द है। वह प्रमाणों का विषय नहीं है, वह किसी को बताया नहीं जा सकता, वह वाणी और मन से परे है (जो न कहा जा सकता है, न सोचा जा सकता है) वह शुद्ध है, सूक्ष्म है, आकाररहित है, विकाररहित है, निष्कलंक है। उसकी कोई सीमा नहीं है, इसका विभागीकरण नहीं हो सकता, उसकी किसी से समानता नहीं हो सकती। वह दोषरहित है। वह आत्ममंत्र के (प्रणवमंत्र के और महावाक्यों के) सदैव अभ्यास करने से प्रकाशित होता है (स्वतः नहीं)। (प्रणवमंत्र के श्रवण-मनन-निदिध्यासन के साथ अनुसन्धानपूर्वक अभ्यास से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है)। अब उस ब्रह्मसाक्षात्कार के चिह्नों को मैं बता रहा हूँ उन्हें सुनो। ये चिह्न ॐ के द्वाररूप हैं।

दीपज्वालेन्दुखद्योतविद्युन्नक्षत्रभास्वराः ।
दृश्यन्ते सूक्ष्मरूपेण सदा युक्तस्य योगिनः ॥19॥
अणिमादिकमैश्वर्यमचिरात् तस्य जायते ।
नास्ति नादात् परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः ॥20॥
नानुसंधेः परा पूजा न हि तृप्तेः परं सुखम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन सर्वदा सिद्धिमिच्छता ॥21॥
मद्भक्त एतद्विज्ञाय कृतकृत्यः सुखी भवेत् ।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥22॥ इति ।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

सतत योगपरायण योगी को दीपक, ज्वाला, चन्द्र, खद्योत, विद्युत् या नक्षत्र जैसी कान्तियाँ (तेज रेखाएँ) सदैव सूक्ष्मरूप से दिखाई देती हैं और उसको अणिमा आदि सिद्धियों का ऐश्वर्य शीघ्र ही

प्राप्त हो जाता है। (ये परतत्त्वसाक्षात्कारी के चिह्न हैं।) इसलिए नादानुसन्धान से उत्तम कोई मंत्र नहीं है और अपने आत्मा के अतिरिक्त उत्तम कोई देव नहीं है। उसके आत्मानुसन्धान के अतिरिक्त अन्य कोई उत्तम पूजा नहीं है और उससे मिलती हुई तृप्ति के समान कोई उत्तम सुख भी नहीं है। इसलिए सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा वाले साधक को यह मंत्र बहुत प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखना चाहिए। मेरे कहे हुए इस ज्ञान को जानकर मेरा भक्त कृतकृत्य और सुखी होगा। जिस साधक को देव में परम श्रद्धाभक्ति हो और जैसी श्रद्धाभक्ति देव में हो वैसी ही गुरु में भी हो, उसी महात्मा को ये सब कही गई बातें स्पष्ट रूप में प्रकाशित होती हैं।

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

❋

तृतीयोऽध्यायः

यन्नमस्य चिदाख्यातं यत् सिद्धीनां च कारणम्।
येन विज्ञातमात्रेण जन्मबन्धात् प्रमुच्यते ॥1॥
अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।
मूलाधारगता शक्तिः स्वाधारा बिन्दुरूपिणी ॥2॥
तस्यामुत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादिवाङ्कुरः।
तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः ॥3॥
हृदये व्यज्यते घोषो गर्जत्पर्जन्यसन्निभः।
तत्र स्थिता सुरेशान मध्यमेत्यभिधीयते ॥4॥

जो 'यन्नमस्य चित्' (यत् = जो, नमस्य = ऐक्य) कहा गया है, उसका अनुभव करके योगियों के द्वारा अपने शिष्यों को कहा गया है अर्थात् योगी अपने शिष्यों के चिदतिरिक्त कुछ नहीं है—ऐसा जो ऐक्य का उपदेश देते हैं, और जो सभी सिद्धियों का कारण (मूल स्रोत) है और जिसके केवल ज्ञान प्राप्त करने से ही जन्म-बन्धन से छुटकारा मिल जाता है, वह अक्षर है, वह परमनाद-स्वरूप है, उसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। ऐसा अपररूप बना हुआ यह नादब्रह्म मूलाधार में अवस्थित जो पराशक्ति है (चित्सामान्यात्मक जो बिन्दु नामक अव्यक्तरूप जो नादधारा रूप कोई शक्ति है) उसमें नाद उत्पन्न होता है, जैसे सूक्ष्म बीज में से अंकुर फूटता हो; उसे 'पश्यन्ती' कहा जाता है। योगी लोग उसी के द्वारा जगत् को देखते हैं। जब गरजते बादलों जैसा उसका घोष हृदय में अभिव्यक्त होता है तब हे देवों के शासक ब्रह्माजी! उसको 'मध्यमा' ऐसा नाम दिया जाता है।

प्राणेन च त्वराख्येन प्रथिता वैखरी पुनः।
शाखापल्ल्वरूपेण ताल्वादिस्थानघट्टनात् ॥5॥
अकारादिक्षकारान्तान्यक्षराणि समीरयेत्।
अक्षरेभ्यः पदानि स्युः पदेभ्यो वाक्यसम्भवः ॥6॥
सर्वे वाक्यात्मका मन्त्रा वेदशास्त्राणि कृत्स्नशः।
पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि ॥7॥
सप्तस्वराश्च गाथाश्च सर्वे नादसमुद्भवाः।
एषा सरस्वती देवी सर्वभूतगुहाश्रया ॥8॥

वायुना वह्नियुक्तेन प्रेर्यमाणा शनैः शनैः ।
[1]द्वित्रिवर्णपदैर्वाक्यैरित्येवं वर्तते सदा ॥9॥

वही पश्यन्ती जब स्वराख्य प्राण के साथ शाखा-पल्लवादि रूप तालु-कण्ठ-दन्तादि स्थानों के साथ टकराती है, तब अकार से लेकर क्षकार तक के अक्षरों का उच्चारण होता है। उन अक्षरों से पद बनते हैं और पदों से वाक्यों की उत्पत्ति होती है। ये जो मन्त्र, वेद, शास्त्र, पुराण, काव्य और सभी तरह-तरह की भाषाएँ हैं, वे सभी वाक्यात्मक ही हैं। ये सात स्वर और गाथाएँ नाद से उत्पन्न हुई हैं। यह सरस्वती देवी सभी प्राणियों के भीतर हृदय में निवास कर रही हैं। वह अग्निसहित वायु के द्वारा जब प्रेरित होती है, तब धीरे-धीरे दो-तीन अक्षरों वाले वाक्यों से इस प्रकार सदा प्रकट हुआ करती है। [अथवा पाठान्तर के अनुसार—विशिष्ट वर्णों से (वाक्यों से) प्रकट हुआ करती है।]

य इमां वैखरीं शक्तिं योगी स्वात्मनि पश्यति ।
स वाक्सिद्धिमवाप्नोति सरस्वत्याः प्रसादतः ॥10॥

देवी सरस्वती के अनुग्रह से जो योगी इस वैखरी शक्ति को अपने आत्मा में देख लेता है, वह वाणी की सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

वेदशास्त्रपुराणानां स्वयं कर्ता भविष्यति ।
यत्र बिन्दुश्च नादश्च सोमसूर्याग्निवायवः ॥11॥
इन्द्रियाणि च सर्वाणि लयं गच्छन्ति सुव्रत ।
वायवो यत्र लीयन्ते मनो यत्र विलीयते ॥12॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥13॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥14॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
एतत् क्षराक्षरातीतमनक्षरमितीर्यते ॥15॥

वह मनुष्य वेद-शास्त्रों और पुराणों का कर्ता होगा। 'परम अक्षर' का स्वरूप तो यह है कि, हे सुव्रत ! वहाँ तो बिन्दु, नाद, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु एवं सभी इन्द्रियों का लय हो जाता है। जहाँ सभी वायु विलीन हो जाते हैं, मन का भी जहाँ विलय हो जाता है। जिसे प्राप्त करके और उससे अधिक लाभ को साधक ज्यादा नहीं समझता, जिसमें अवस्थित योगी को बड़े से बड़े दुःख से भी विचलित नहीं किया जा सकता, जहाँ योग के सेवन से निरुद्ध किया हुआ चित्त शान्त हो जाता है, जहाँ आत्मा ही आत्मा को देखकर आत्मा में ही परितुष्ट हो जाता है, जो आत्यन्तिक सुखरूप है, जिसे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया नहीं जा सकता, जिसे बुद्धि ही सिर्फ ग्रहण कर सकती है, जो क्षर और अक्षर दोनों से परे हैं, उसे (परमाक्षर को) 'अनक्षर' कहा जाता है।

क्षरः सर्वाणि भूतानि सूत्रात्माक्षर उच्यते ।
अक्षरं परमं ब्रह्म निर्विशेषं निरञ्जनम् ॥16॥
अलक्षणमलक्ष्यं तदप्रतर्क्यमनूपमम् ।
अपारपारमच्छेद्यमचिन्त्यमतिनिर्मलम् ॥17॥

1. 'तद्विवर्तपदैः' इति पाठान्तरम्।

आधारं सर्वभूतानामनाधारमनामयम् ।
अप्रमाणमनिर्देश्यमप्रमेयमतीन्द्रियम् ॥18॥
अस्थूलमनणुह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम् ।
अशब्दस्पर्शरूपं तदचक्षुःश्रोत्रनामकम् ॥19॥
सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं सर्वेषां हृदये स्थितम् ।
सुसंवेद्यं गुरुमतात् सुदुर्बोधमचेतसाम् ॥20॥

वह अनक्षर अथवा परमाक्षर तत्त्व निर्विशेष और निष्कलंक है । जो क्षरतत्त्व है वह तो सभी भूत हैं और जो अक्षरतत्त्व है वह सूत्रात्मा है (इस तरह क्षर, अक्षर और परमाक्षर [या अनक्षर] की बात हुई) । क्षर और अक्षर दोनों से परे जो परम अक्षर रूप ब्रह्म है वह तो विशेषतारहित और निष्कलंक है । वह परमाक्षर किसी लक्षण से रहित है और इसलिए वह लक्ष्य भी नहीं बन सकता । कोई तर्क उसके विषय में किया नहीं जा सकता, वह अनुपम है, असीम है, अविभाज्य है, अचिन्त्य है, अतिनिर्मल है, वह सभी प्राणियों का आधाररूप है, पर उसका कोई आधार नहीं है, वह दोषरहित है, किसी प्रमाण के द्वारा वह सिद्ध नहीं किया जा सकता, वह किसी को बताया नहीं जा सकता, वह नापा नहीं जा सकता, वह इन्द्रियों से परे है, वह स्थूल नहीं है, अणु भी नहीं है, ह्रस्व भी नहीं है, दीर्घ भी नहीं है, वह जन्मरहित है, वह अव्यय (अक्षय) है, वह शब्द-स्पर्श-रूप से रहित है, वह चक्षु-श्रोत्र से रहित है, उसका कोई नाम नहीं है, वह सर्वज्ञ है, सर्वगामी है, शान्त है, सभी के हृदयों में अवस्थित है, गुरु के द्वारा उपदेश दिए जाने से बहुत अज्ञानी मनवालों को भी उसकी स्पष्ट अनुभूति हो सकती है ।

निष्कलं निर्गुणं शान्तं निर्विकारं निराश्रयम् ।
निर्लेपकं निरापायं कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥21॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमःपारे प्रतिष्ठितम् ।
भावाभावविनिर्मुक्तं भावनामात्रगोचरम् ॥22॥
भक्तिगम्यं परं तत्त्वमन्तर्लीनेन चेतसा ।
भावनामात्रमेवात्र कारणं पद्मसम्भव ॥23॥
यथा देहान्तरप्राप्तिकारणं भावना नृणाम् ।
विषयं ध्यायतः पुंसो विषये रमते मनः ॥24॥

वह निरंश (अंशरहित) है, निर्गुण है, शान्त है, विकाररहित है, उसका कोई आश्रय (आधार) नहीं है, वह सबसे अलिप्त है, उसका कभी नाश नहीं होता, वह कूटस्थ (साक्षीमात्र) है, वह अचल है, वह शाश्वत (स्थायी) है, वह ज्योतियों की भी ज्योति है, वह अन्धकार से परे प्रतिष्ठित हुआ (तमोतीत) है, वह भाव और अभाव—दोनों से परे है, वह केवल भावना से ही जाना जा सकता है । हे कमलोद्भव ब्रह्मा ! वह अन्तर्लीन चित्त से भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकने वाला परमतत्त्व है । इसको प्राप्त करने का कारण (हेतु) केवल भावना ही है । जैसे मनुष्यों के लिए अन्य देह की प्राप्ति का कारण केवल भावना ही होती है और विषयों का ध्यान करते रहने वाले पुरुषों का मन तो विषयों में ही घूमता रहता है न ?

मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येवात्र विलीयते ।
सर्वज्ञत्वं परेशत्वं सर्वसम्पूर्णशक्तिता ।
अनन्तशक्तिमत्त्वं च ममानुस्मरणाद्भवेत् ॥25॥ इति ।

इति तृतीयोऽध्यायः ।

उसी प्रकार मेरा स्मरण करते रहने वाले का चित्त तो मुझमें ही विलीन होगा। अतः मेरा अनुस्मरण करने वाले को सर्वज्ञता, परमेश्वरता, सर्वसंपूर्णशक्तिमत्ता और अनन्तशक्तिमत्ता आदि होंगे ही।

यहाँ इस प्रकार तृतीय अध्याय पूरा होता है।

❈

चतुर्थोऽध्यायः

चैतन्यस्यैकरूपत्वाद्भेदो युक्तो न कर्हिचित्।
जीवत्वं च तथा ज्ञेयं रज्ज्वां सर्पग्रहो यथा ॥1॥
रज्ज्वज्ञानात् क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी।
भाति तद्वच्चितिः साक्षाद्विश्वाकारेण केवला ॥2॥

चैतन्य तो एकरूप ही है, उसमें भेद करना तो किसी भी रीति से योग्य है ही नहीं। जिस प्रकार किसी रस्सी में भ्रम से माने गए सर्प के ख्याल को छोड़ ही देना चाहिए, उसी प्रकार चैतन्य में जो जीवभाव हो गया है, उसे छोड़ ही देना चाहिए। जिस प्रकार रज्जु के अज्ञान से ही रज्जु क्षण में नागिन हो जाती है ठीक उसी प्रकार केवल चैतन्य ही विश्व के आकार से भासित होता है।

उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते।
तस्मात् सर्वप्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥3॥
व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वमात्मेति शासनात्।
इति ज्ञाते परे तत्त्वे भेदस्यावसरः कुतः ॥4॥
ब्रह्मणः सर्वभूतानि जायन्ते परमात्मनः।
तस्मादेतानि ब्रह्मैव भवन्तीति विचिन्तय ॥5॥
ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च।
कर्माण्यपि समग्राणि बिभर्तीति विभावय ॥6॥
सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं च शाश्वतम्।
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च तथा भवेत् ॥7॥

इस प्रपंच (जगत्) का उपादान कारण ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नहीं है। इसलिए यह सारा प्रपंच (पूरा जगत्) ब्रह्मरूप ही है, कोई दूसरा है ही नहीं। यहाँ जो व्याप्य और व्यापक का विचार प्रवर्तमान है, वह तो मिथ्या ही है, क्योंकि शास्त्र तो ऐसा ही कहता है कि सब कुछ आत्मा ही है (कोई अन्य है ही नहीं कि जिससे व्याप्यव्यापक भाव हो सके)। इस परमतत्त्व को सर्वव्यापक और एकमात्र रूप से जब जान लिया जाय, तो फिर व्याप्यव्यापकता के लिए कोई स्थान ही कैसे रहेगा ? परमात्मा स्वरूप ब्रह्म से इन सर्वभूतों की उत्पत्ति होती है। इसलिए ये सभी ब्रह्मरूप ही हैं, ऐसा विचार करो। ये सब जो नाम हैं, रूप हैं, ये तरह-तरह के कार्य हैं, इन सबको ब्रह्म ही धारण करता है, ऐसा तुम चिन्तन करो। ऐसी विभावना (अवधारणा) करो। जो वस्तु सोने से निर्मित होती है उसका स्वर्णत्व तो स्थायी रहता ही है, इसी तरह ब्रह्म से उत्पन्न हुए इस सारे जगत् में ब्रह्मत्व तो स्थायी है ही।

स्वल्पमप्यन्तरं कृत्वा जीवात्मपरमात्मनोः।
यस्तिष्ठति विमूढात्मा भयं तस्यापि भाषितम् ॥8॥

यदज्ञानाद् भवेद् द्वैतमितरत् तत् प्रपश्यति ।
आत्मत्वेन तदा सर्वं नेतरत् तत्र चाण्वपि ॥9॥

जो विमूढ अन्तःकरण वाला पुरुष जीव और परमात्मा में थोड़ा-सा भी अन्तर (भेद) करके देखता है, उसको भय होता ही है, ऐसा कहा गया है। जिस अज्ञान से द्वैत पैदा होता है और जो मनुष्य एक-दूसरे को अलग-अलग देखता है, उसी को जब ज्ञान हो जाता है, तब वह सबको आत्मरूप से ही देखता है। तब तो एक अणु भी उसके लिए आत्मा से अलग नहीं होता (सब आत्मा ही होता है)।

अनुभूतोऽप्ययं लोको व्यवहारक्षमोऽपि सन् ।
असद्रूपो यथा स्वप्न उत्तरक्षणबाधितः ॥10॥
स्वप्ने जागरितं नास्ति जागरे स्वप्नता न हि ।
द्वयमेव लये नास्ति लयोऽपि ह्यनयोर्न च ॥11॥
त्रयमेव भवेन्मिथ्या गुणत्रयविनिर्मितम् ।
अस्य द्रष्टा गुणातीतो नित्यो ह्येष चिदात्मकः ॥12॥
यद्वन्मृदि घटभ्रान्तिः शुक्तौ हि रजतस्थितिः ।
तद्वद्ब्रह्मणि जीवत्वं वीक्षमाणे विनश्यति ॥13॥

यद्यपि यह लोक (संसार) अनुभव में आता है, व्यवहार के लिए भी वह सत्य-सा लगता है फिर भी वह स्वप्न जैसा ही है क्योंकि एक अनुभव के बाद दूसरे अनुभव से वह पूर्वानुभव बाधित हो जाता है इसलिए यह असत् रूप ही है। स्वप्नावस्था में जाग्रदवस्था नहीं होती और जाग्रदवस्था में स्वप्नावस्था नहीं होती और लयावस्था में (अथवा सुषुप्ति में) वे दोनों नहीं होतीं। और इन दोनों के अस्तित्व का लय भी तो नहीं होता। वास्तव में ये तीनों अवस्थाएँ मिथ्या ही हैं, तीनों सत्त्वादि गुणों के द्वारा ये बनाई गई हैं। इस अवस्थात्रय का द्रष्टा तो तीनों गुणों से परे है, वह नित्य है और चैतन्यस्वरूप है। जिस तरह मिट्टी में घड़े की भ्रान्ति होती है और सीप में रजत का भ्रम होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में जीवत्व को देखने वाला मनुष्य विनष्ट हो जाता है।

यथा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा ।
शुक्तौ हि रजतख्यातिर्जीवशब्दार्थता परे ॥14॥
यथैव व्योम्नि नीलत्वं यथा नीरं मरुस्थले ।
पुरुषत्वं यथा स्थाणौ तद्वद्विश्वं चिदात्मनि ॥15॥
यथैव शून्यो वेतालो गन्धर्वाणां पुरं यथा ।
यथाकाशे द्विचन्द्रत्वं तद्वत् सत्ये जगत्स्थितिः ॥16॥
यथा तरङ्गकल्लोलैर्जलमेव स्फुरत्यलम् ।
घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्ना हि तन्तवः ॥17॥

जिस प्रकार मिट्टी में ही घड़े का और कनक में ही कुण्डल का नाम दिया जाता है और जैसे सीप में ही रजत का नाम लिया जाता है, वैसे ही परमात्मा में जीवत्व शब्द का व्यवहार किया जाता है। जिस प्रकार आकाश में नीलत्व होता है, जिस प्रकार मरुमरीचिका में पानी होता है, जिस प्रकार खम्भे में पुरुषत्व होता है, ठीक इसी प्रकार चिदात्मा में जगत् की स्थिति है। (अर्थात् वास्तव में है ही नहीं।) जिस प्रकार वेताल शून्यरूप ही होता है, जिस प्रकार आकाश में गन्धर्वनगरी होती है, जिस तरह आकाश में दो चन्द्र होते हैं, इसी प्रकार सत्यरूप ब्रह्म में जगत् की स्थिति है। (अर्थात् जगत् का कोई

अस्तित्व ही नहीं है ।) जिस प्रकार तरंगों के कल्लोल से केवल जल ही स्फुरित होता है, जैसे घट के नाम से पृथ्वी ही कही जाती है, जैसे वस्त्र के नाम से तन्तु ही कहे जाते हैं, उसी तरह—

जगन्नाम्ना चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।
यथा वन्ध्यासुतो नास्ति यथा नास्ति मरौ जलम् ॥18॥
यथा नास्ति नभोवृक्षस्तथा नास्ति जगत्स्थितिः ।
गृह्यमाणे घटे यद्वन्मृत्तिका भाति वै बलात् ॥19॥
वीक्ष्यमाणे प्रपञ्चे तु ब्रह्मैवाभाति भासुरम् ।
सदैवात्मा विशुद्धोऽस्मि ह्यशुद्धो भाति वै सदा ॥20॥

—जगत् के नाम से चिदात्मा ही प्रकाशित हो रहा है । सब जगह यह चिदात्मा ब्रह्म ही तो है । जिस प्रकार बन्ध्यापुत्र का कोई अस्तित्व नहीं होता, जिस प्रकार मरुभूमि में कोई जल का अस्तित्व नहीं होता, जिस प्रकार आकाश में वृक्ष का अस्तित्व नहीं होता, इसी तरह जगत् का कोई अस्तित्व ही नहीं है । जिस प्रकार घट को देखने पर मिट्टी बलपूर्वक दिखाई ही पड़ती है, उसी प्रकार जब जगत् देखा जाता है तो बलात् तेजोमय ब्रह्म दिखाई ही पड़ता है । वास्तव में तो अस्मि का वाचक (अहम्) आत्मा सत् और विशुद्ध ही है जो सदा अशुद्ध (जगत्) रूप में प्रतीत होता है ।

यथैव द्विविधा रज्जुर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनोऽनिशम् ।
यथैव मृन्मयः कुम्भस्तद्वद्देहोऽपि चिन्मयः ॥21॥
आत्मानात्मविवेकोऽयं मुधैव क्रियते बुधैः ।
सर्पत्वेन यथा रज्जू रजतत्वेन शुक्तिका ॥22॥
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता ।
घटत्वेन यथा पृथ्वी जलत्वेन मरीचिका ॥23॥
गृहत्वेन हि काष्ठानि खड्गत्वेनैव लोहता ।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥24॥ इति ।

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

जिस प्रकार ज्ञानी की और अज्ञानी की दृष्टि से रस्सी दो प्रकार की हो जाती है और जिस प्रकार मिट्टी से बना घड़ा भी दो प्रकार का हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में चित्स्वरूप यह देह भी दो प्रकार का हो जाता है । ज्ञानियों के द्वारा आत्मा और अनात्मा का जो विवेक (भेद) किया जाता है, वह तो गलत ही किया जाता है, क्योंकि रस्सी में सर्प की तरह और सीप में रजत की तरह वह तो मिथ्या ही है । उसमें सत्य का निर्णय तो मूढ़ों के द्वारा ही किया जाता है । मूढ़ ही आत्मा को देहरूप में और पृथ्वी को घटरूप में या मरीचिका को जलरूप में मानता है । जैसे वह लकड़ियों को गृहरूप में, लोहे को खड्ग के रूप में मानता है, वैसे ही अज्ञान के योग से वह देह में आत्मत्व को मानता है ।

इस तरह यहाँ चौथा अध्याय पूरा होता है ।

❋

पञ्चमोऽध्यायः

पुनर्योगं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्मस्वरूपकम् ।
समाहितमना भूत्वा शृणु ब्रह्मन् यथाक्रमम् ॥1॥

दशद्वारपुरं देहं दशनाडीमहापथम् ।
दशभिर्वायुभिर्व्याप्तं दशेन्द्रियपरिच्छदम् ॥2॥
षडाधारापवरकं षडन्वयमहावनम् ।
चतुष्पीठसमाकीर्णं चतुराम्नायदीपकम् ॥3॥
बिन्दुनादमहालिङ्गविष्णुलक्ष्मीनिकेतनम् ।
देह विष्ण्वालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम् ॥4॥

शिवजी ने आगे कहा कि—हे ब्रह्माजी ! मैं और भी क्रमानुसार गोपनीय ब्रह्मस्वरूप के विषय में कह रहा हूँ। उसे सावधान मन से सुनो। यह देह दस द्वारों (दश इन्द्रियों) वाला नगर है, इसमें दस नाड़ीरूप बड़े-बड़े मार्ग बने हैं। इसमें दश वायु व्याप्त है और यह दश इन्द्रियों से व्याप्त है। छः (चक्रोंरूपी) आधारों से वह घिरा हुआ है। इसमें छः अन्वय रूप बड़े वन (मन्त्र-लय-हठ-राज-भावना-सहज—इन योग सम्प्रदाय रूप वन) बनाये गये हैं। इसमें कामरूपादि पूर्व वर्णित चार पीठ हैं, इसमें वेदरूपी दीपक जगमगा रहे हैं। बिन्दु, नाद, महालिंग, विष्णु और लक्ष्मी का यह निवासस्थान है। इस देह को विष्णु का घर कहा जाता है। यह सभी देहधारियों के लिए सिद्धिदायक बताया गया है।

गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम् ।
शिवस्य जीवरूपस्य स्थानं तद्धि प्रचक्षते ॥5॥
यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता ।
यस्मादुत्पद्यते वायुर्यस्माद्वह्निः प्रवर्तते ॥6॥
यस्मादुत्पद्यते बिन्दुर्यस्मान्नादः प्रवर्तते ।
यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः ॥7॥
तदेतत् कामरूपाख्यं पीठं कामफलप्रदम् ।
स्वाधिष्ठानाह्वयं चक्रं लिङ्गमूलं षडस्रकम् ॥8॥

गुदा और मेढ़ (लिंग) के बीच के प्रदेश में तीन कोनों वाला मूलाधार चक्र स्थापित है। उसको जीवरूप बने हुए शिव का स्थान कहा जाता है। वहाँ पर कुण्डलिनी नाम की पराशक्ति प्रतिष्ठित है। इसमें से पहले वायु (प्राण) उत्पन्न होता है, वायु से अग्नि पैदा होता है। फिर उस अग्नि से बिन्दु उत्पन्न होता है और बिन्दु से नाद उत्पन्न होता है। उस नाद से हंस उत्पन्न होता है और हंस से मन उत्पन्न होता है। इसे 'कामरूप' नाम का पीठ कहा जाता है। क्योंकि वह हमारी कामनाओं का फल देने वाला है। फिर जरा ऊपर लिंग के मूल में स्वाधिष्ठान नाम का चक्र है। वह छः दलों वाला है।

नाभिदेशे स्थितं चक्रं दशास्त्रं मणिपूरकम् ।
द्वादशारं महाचक्रं हृदये चाप्यनाहतम् ॥9॥
तदेतत् पूर्णगिर्याख्यं पीठं कमलसम्भव ।
कण्ठकूपे विशुद्धाख्यं यच्चक्रं षोडशास्रकम् ॥10॥
पीठं जालन्धरं नाम तिष्ठत्यत्र चतुर्मुख ।
आज्ञा नाम भ्रुवोर्मध्ये द्विदलं चक्रमुत्तमम् ॥11॥
उड्याणाख्यं महापीठमुपरिष्टात् प्रतिष्ठितम् ।
स्थानान्येतानि देहेऽस्मिञ्छक्तिरूपं प्रकाशते ॥12॥

नाभि के प्रदेश में रहा हुआ दश दल वाला चक्र मणिपूरक कहा जाता है। और बारह दलों वाला अनाहत नाम का महाचक्र हृदय में स्थापित है। हे कमलसंभव ब्रह्मा जी ! वह यह पूर्णगिरि नाम का पीठ है। कण्ठकूप में विशुद्ध चक्र नाम का चक्र है। वह चक्र सोलह दलवाला है। हे चतुर्मुख ब्रह्माजी ! यहाँ पर जालन्धर नामक पीठ अवस्थित है। दो भौंहों के बीच आज्ञाचक्र है, वह दो दल वाला है। वह उत्तम चक्र है, यहाँ उड्याण नाम का महापीठ ऊपर के भाग में स्थित है। ये सब इस देह में बने हुए स्थान हैं, इनमें शक्तिरूप प्रकाशित होता है।

स चतस्रधरण्यादौ ब्रह्मा तत्राधिदेवता।
अर्धचन्द्राकृति जलं विष्णुस्तस्याधिदेवता ॥13॥
त्रिकोणमण्डलं वह्नी रुद्रस्तस्याधिदेवता।
वायोर्बिम्बं तु षट्कोणं सङ्कर्षोऽत्राधिदेवता ॥14॥
आकाशमण्डलं वृत्तं श्रीमन्नारायणोऽत्राधिदेवता।
नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः ॥15॥
शाम्भवस्थानमेतत्ते वर्णितं पद्मसम्भव।
अतः परं प्रवक्ष्यामि नाडीचक्रस्य निर्णयम् ॥16॥

चार कोने वाली धरणी आदि में ब्रह्मा अधिदेवता हैं, जो अर्धचन्द्राकृति जल है, उसके अधिदेवता विष्णु हैं, त्रिकोण मण्डलाकार वह्नि है और उसके अधिदेवता रुद्र हैं। जो षट्कोण बिम्बाकार वायु है, उसके अधिदेवता संकर्षण हैं। गोलाकार आकाशमण्डल के अधिदेवता श्रीमन्-नारायण हैं। और दोनों भौहों के बीच नादरूप मन का मण्डल कहा गया है। यह जो शांभव स्थान है उसका वर्णन तो हे पद्मसंभव ब्रह्मा जी ! मैं पहले ही (प्रथम अध्याय में ही) आपके समक्ष कह चुका हूँ। अब आगे मैं नाड़ीचक्र का निर्णय कहूँगा।

मूलाधारत्रिकोणस्था सुषुम्ना द्वादशाङ्गुला।
मूलार्धच्छिन्नवंशाभा ब्रह्मनाडीति सा स्मृता ॥17॥
इडा च पिङ्गला चैव तस्याः पार्श्वद्वये गते।
विलम्बिन्यामनुस्यूते नासिकान्तमुपागते ॥18॥
इडायां हेमरूपेण वायुर्वामेन गच्छति।
पिङ्गलायां तु सूर्यात्मा याति दक्षिणपार्श्वतः ॥19॥
विलम्बिनीति या नाडी व्यक्ता नाभौ प्रतिष्ठिता।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नास्तिर्यगूर्ध्वमधोमुखाः ॥20॥

मूलाधार में आधा बाँस काटा गया हो ऐसे आकार (आभा) वाली, मूलाधार के त्रिकोणाकार प्रदेश में अवस्थित, बारह अंगुल के परिमाणवाली सुषुम्ना नाम की नाड़ी है, उसे ब्रह्मनाड़ी भी कहा जाता है। उस सुषुम्ना के दोनों पार्श्वों में इडा और पिंगला नाम की दो नाड़ियाँ हैं। वे दोनों नाड़ियाँ विलम्बिनी नाम की नाड़ी में अनुस्यूत (पिरोयी हुई) हैं और वे दोनों नाड़ियाँ नासिका के अन्तभाग—नथुने तक पहुँची हुई हैं। वाम नथुने से इडा में हेमरूप से (सूर्य नाड़ी से) प्राणवायु पहले आता है। और नासिका के दक्षिण भाग से (दाहिने नथुने से) सूर्यस्वरूप वह वायु जाता है। अब जो विलम्बिनी नाम की नाड़ी है, वह व्यक्त होकर नाभि प्रदेश में प्रतिष्ठित हुई है, उसके थोड़े ऊपर के भाग में नीचे मुख किए हुए नाड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं।

तन्नाभिचक्रमित्युक्तं कुक्कुटाण्डमिव स्थितम् ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च तस्मान्नेत्रद्वयं गते ॥21॥
पूषा चालम्बुसा चैव श्रोत्रद्वयमुपागते ।
शूरा नाम महानाडी तस्माद्भ्रूमध्यमाश्रिता ॥22॥
विश्वोदरी तु या नाडी सा भुङ्क्तेऽन्नं चतुर्विधम् ।
सरस्वती तु या नाडी सा जिह्वान्तं प्रसर्पते ॥23॥
राकाह्वया तु या नाडी पीत्वा च सलिलं क्षणात् ।
क्षुतमुत्पादयेद् घ्राणे श्लेष्माणं संचिनोति च ॥24॥

उस स्थान को नाभिचक्र कहा जाता है। कुक्कुट (मुर्गी) के अण्डे की तरह उसका आकार है। वहाँ से गान्धारी और हस्तिजिह्वा नाम की दो नाड़ियाँ दोनों आँखों तक पहुँची हुई हैं और पूषा तथा अलम्बुसा नाम की दो नाड़ियाँ दोनों कानों तक पहुँची हुई हैं। शूरा नाम की एक महानाड़ी उससे उत्पन्न होकर दोनों भौहों के बीच में पहुँची हुई है। जो विश्वोदरी नाम की नाड़ी है, वह चारों प्रकार के अन्न—लेह्य, चोष्य, पेय और खाद्य को ग्रहण करती है। जो सरस्वती नाम की नाड़ी है, वह जीभ के अन्त तक फैली हुई है और जो राका नाम की नाड़ी है, वह पानी पीकर एक क्षण में छींक को पैदा कर देती है और कफ को एकत्रित करती है।

कण्ठकूपोद्भवा नाडी शङ्खिन्याख्या त्वधोमुखी ।
अन्नसारं समादाय मूर्ध्नि सञ्चिनुते सदा ॥25॥
नाभेरधोगतास्तिस्रो नाडयः स्युरधोमुखाः ।
मलं त्यजेत् कुहूर्नाडी मूत्रं मुञ्चति वारुणी ॥26॥
चित्राख्या सीविनी नाडी शुक्लमोचनकारिणी ।
नाडीचक्रमिति प्रोक्तं बिन्दुरूपमतः शृणु ॥27॥

शंखिनी नाम की नाड़ी कण्ठकूप से उत्पन्न होती है, वह नीचे मुख किए हुए है। वह अन्न के सारतत्त्व को इकट्ठा करके सदा मस्तक में रख देती है। नाभि के नीचे के भाग में तीन नाड़ियाँ हैं, ये सब अधोमुखी हैं। इनमें से जो कुहू नाम की नाड़ी है, वह मल का त्याग करती है और जो वारुणी नाम की नाड़ी है, वह मूत्र का त्याग करती है। सीवनी के स्थान में जो चित्रा नाम की नाडी है, वह शुक्ल (शुक्र) का मोचन करने वाली है। इसको नाड़ीचक्र कहा गया है। अब मैं तुम्हें बिन्दुरूप सुनाऊँगा, इसे सुनो।

स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः ।
स्थूलं शुक्लात्मकं बिन्दुः सूक्ष्मं पञ्चाग्निरूपकम् ॥28॥
सोमात्मकः परः प्रोक्तः सदा साक्षी सदाच्युतः ।
पातालानामधोभागे कालाग्निर्यः प्रतिष्ठितः ॥29॥
स मूलाग्निः शरीरेऽग्निर्यस्मान्नादः प्रजायते ।
बडवाग्निः शरीरस्थो ह्यस्थिमध्ये प्रवर्तते ॥30॥

स्थूल, सूक्ष्म और पर—इस प्रकार के ब्रह्म के तीन रूप होते हैं। इनमें जो स्थूलरूप है, वह शुक्लस्वरूप (शुक्रस्वरूप) बिन्दु के रूप में होता है और जो सूक्ष्म रूप है वह पंचाग्निरूप है, जो पररूप है, वह सोमात्मक है, वह सदा साक्षीस्वरूप है, वह अच्युत (शाश्वत) है। जो पंचाग्नि रूप कहा

गया है, वह पातालों के नीचे जो कालाग्नि प्रतिष्ठित है, वही मूलाग्नि इस शरीर में भी है। इससे नाद उत्पन्न होता है। शरीर में अवस्थित यह वडवाग्नि अस्थियों के बीच रहकर फैलता है। (अर्थात् कालाग्नि ही नादाधार अग्नि होकर शरीर में रहता है।)

काष्ठपाषाणयोर्वह्निर्ह्यस्थिमध्ये प्रवर्तते।
काष्ठपाषाणजो वह्निः पार्थिवो ग्रहणीगतः ॥31॥
अन्तरिक्षगतो वह्निर्वैद्युतः स्वान्तरात्मकः।
नभःस्थः सूर्यरूपोऽग्निर्नाभिमण्डलमाश्रितः ॥32॥
विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्रवत्यमृतमुन्मुखः।
तालुमूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधोमुखः ॥33॥
भ्रूमध्यनिलयो बिन्दुः शुद्धस्फटिकसंनिभः।
महाविष्णोश्च देवस्य तत् सूक्ष्मं रूपमुच्यते ॥34॥

काष्ठ और पाषाण से जन्मा हुआ अग्नि अस्थियों में प्रवर्तित होता है। काष्ठ और पाषाण से उत्पन्न वह पार्थिव अग्नि ही ग्रहणीगत (योषागत) स्त्री में स्थित होता है। और जो अन्तरिक्ष में रहने वाला वैद्युत अग्नि है, वही अपने अन्तर का स्वरूप लिए हुए है। आकाश में रहने वाला जो सूर्यरूप अग्नि है, वही नाभिमंडल में स्थित है। यह सूर्य विष बरसाता है, पर उन्मुख (अभिमुख) होकर वह अमृत का स्राव करता है। तालुप्रदेश में रहने वाला चन्द्र नीचे मुख करके सुधा बरसाता है। दोनों भौहों के बीच में रहने वाला बिन्दु शुद्ध स्फटिक जैसी कान्तिवाला होता है, और वह महाविष्णु देव का रूप समझा जाता है।

एतत् पञ्चाग्निरूपं यो भावयेद् बुद्धिमान् धिया।
तेन भुक्तं च पीतं च हुतमेव न संशयः ॥35॥
सुखसंसेवितं स्वप्नं सुजीर्णमितभोजनम्।
शरीरशुद्धिं कृत्वादौ सुखमासनमास्थितः ॥36॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं रेचपूरककुम्भकैः।
गुदमाकुञ्च्य यत्नेन मूलशक्तिं प्रपूजयेत् ॥37॥

जो बुद्धिमान मनुष्य अपनी बुद्धि से इस पंचाग्निरूप की भावना करता है, उसका खाया-पिया सब हवन किया हुआ ही हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। इस प्रकार जो सुख से निद्रा लेता है, जो पाचक और कम आहार लेता है, ऐसे आहारादि से शरीरशुद्धि करने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह रेचक, पूरक और कुंभक के द्वारा पहले प्राणशक्ति के मार्ग को शुद्ध कर ले और फिर गुदा का संकोच करते हुए प्रयत्नपूर्वक मूलशक्ति को पूजे (जगाए)।

नाभौ लिङ्गस्य मध्ये तु उड्याणाख्यं च बन्धयेत्।
उड्डीय याति तेनैव शक्तितोड्याणपीठकम् ॥38॥
कण्ठं सङ्कोचयेत् किञ्चिद्बन्धो जालन्धरो ह्ययम्।
बन्धयेत् खेचरीमुद्रां दृढचित्तः समाहितः ॥39॥
कपालविवरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥40॥

नाभि और लिंग के बीच के प्रदेश में उड्याणबन्ध करना चाहिए। इसी से प्राण उड़कर शक्ति से उड्याणपीठ तक जाता है। जब थोड़ा-सा कण्ठ का संकोच किया जाता है, तब जालन्धरबन्ध बनता है। दृढ मन वाले (स्थिर बुद्धि वाले) साधक को उसके बाद खेचरी मुद्रा करनी चाहिए। इसमें जीभ को उल्टा करके कपाल की गुहा में (कपाल के छिद्र में) उसको प्रवेश कराना चाहिए और दृष्टि दोनों भौहों के बीच स्थिर रखनी चाहिए। इस तरह खेचरी मुद्रा होती है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥41॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते।
न च मृत्युर्भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥42॥

जिसने खेचरी से अपने कण्ठविवर को ऊँचे लम्बी जीभ करके मुद्रित कर दिया है (बन्द कर दिया है), ऐसे उसका अमृत अग्नि में नहीं गिरता (नष्ट नहीं होता) और वायु दौड़ता नहीं है (प्राणवायु असंयत नहीं रहता)। उसे क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, आलस्य आदि कुछ उत्पन्न नहीं होता। जो इस खेचरी मुद्रा को जानता है, उसकी कभी मृत्यु नहीं होती।

ततः पूर्वापरे व्योम्नि द्वादशान्तेऽच्युतात्मके।
उड्याणपीठे निर्द्वन्द्वे निरालम्बे निरञ्जने ॥43॥
ततः पङ्कजमध्यस्थं चन्द्रमण्डलमध्यगम्।
नारायणमनुध्यायेत् स्रवन्तममृतं सदा ॥44॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥45॥

इसके बाद खेचरी मुद्रा के बारह (वर्ष) के अन्त में उड्याण पीठ में, द्वन्द्वरहित, अवलम्बन रहित, अच्युतात्मक—शाश्वत (सहस्राराकाश में) पर और अपर आकाश में, कमल पर विराजमान, चन्द्रमण्डल के मध्य में स्थित, सर्वदा अमृत का स्राव करने वाले नारायण का ही ध्यान करते रहना चाहिए। इससे हृदय की ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं। जब उन परात्पर नारायण का ही दर्शन हो गया तब सभी संशय भी मिट जाएँगे। ऐसे नारायण के साक्षात्कारी के सभी कर्म भी क्षीण हो जाते हैं।

अथ सिद्धिं प्रवक्ष्यामि सुखोपायं सुरेश्वर।
जितेन्द्रियाणां शान्तानां जितश्वासविचेतसाम् ॥46॥
नादे मनोलयं ब्रह्मन् दूरश्रवणकारणम्।
बिन्दौ मनोलयं कृत्वा दूरदर्शनमाप्नुयात् ॥47॥
कालात्मनि मनो लीनं त्रिकालज्ञानकारणम्।
परकायमनोयोगः परकायप्रवेशकृत् ॥48॥
अमृतं चिन्तयेन्मूर्ध्नि क्षुत्तृषाविषशान्तये।
पृथिव्यां धारयेच्चित्तं पातालगमनं भवेत् ॥49॥

अब हे सुरेश्वर ! उन जितेन्द्रिय, शान्त, प्राणों को जीतने वाले और मन को वश में रखने वाले योगियों के सुख के उपाय को और उनकी सिद्धि को मैं तुम्हें कहूँगा। हे ब्रह्माजी ! नाद में जब मन का लय हो जाता है, तब वह दूरश्रवण की सिद्धि का कारण बनता है। इसके बाद बिन्दु में मन का लय

करके योगी दूरश्रवण की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मन जब कालात्मा में लीन हो जाता है, तब वह त्रिकाल ज्ञान का कारण होता है। और अन्य के शरीर में मन का योग करने से वह अन्य के शरीर में प्रवेश (परकायप्रवेश) कर सकता है। भूख, प्यास और विष की शान्ति के लिए मस्तिष्क में अमृत की भावना करनी चाहिए और पृथ्वी में चित्त की धारणा करने से पाताल में गमन हो सकता है।

सलिले धारयेच्चितं नाम्भसा परिभूयते।
अग्नौ संधारयेच्चित्तमग्निना दह्यते न सः ॥50॥
वायौ मनोलयं कुर्यादाकाशगमनं भवेत्।
आकाशे धारयेच्चित्तमणिमादिकमाप्नुयात् ॥51॥
विराड्रूपे मनो युञ्जन् महिमानमवाप्नुयात्।
चतुर्मुखे मनो युञ्जन् जगत्सृष्टिकरो भवेत् ॥52॥

वह यदि जल में चित्त की अवधारणा (लय) करता है, तो जल से कभी पराभव प्राप्त नहीं करता और अगर वह अग्नि में चित्त की अवधारणा (लय) करता है, तो अग्नि से वह कभी जलता नहीं है। यदि वह वायु में चित्त की अवधारणा करता है (लय कर देता है), तो वह आकाश में गमन कर सकता है और यदि वह आकाश में चित्त की अवधारणा करता है, तो उसे अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यदि वह अपने मन को विराट्रूप में जोड़ (एकाकार कर) देता है, तब तो वह महिमा महत्तत्त्व को पाता है और यदि चतुर्मुख ब्रह्मा के साथ अपने चित्त की एकात्मता करता है, तब तो वह सृष्टि का कर्ता ही हो जाता है।

इन्द्ररूपिणमात्मानं भावयन् मर्त्यभोगवान्।
विष्णुरूपे महायोगी पालयेदखिलं जगत् ॥53॥
रुद्ररूपे महायोगी संहरत्येव तेजसा।
नारायणे मनो युञ्जन् नारायणमयो भवेत्।
वासुदेवे मनो युञ्जन् सर्वसिद्धिमवाप्नुयात् ॥54॥
यथा संकल्पयेद्योगी योगयुक्तो जितेन्द्रियः।
तथा तत्तदवाप्नोति भाव एवात्र कारणम् ॥55॥

अपने आपको इन्द्ररूप में भावना करने वाला सभी मर्त्य भोगों का भोगने वाला होता है और अपने को विष्णु के रूप में भावना करने वाला महायोगी बन जाता है और अखिल जगत् का पालन करने वाला बन जाता है। अपने आत्मा की रुद्र रूप में भावना करने वाला महायोगी बनता है और वह अपने तेज से जगत् का संहार करता है। अपने मन को नारायण में जोड़ने वाला नारायणमय ही बनता है। और वासुदेव में मन को जोड़ने वाला सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करता है। योगयुक्त जितेन्द्रिय योगी तो अपने संकल्पों के अनुसार जो-जो भाव जिस-जिस सिद्धि को प्राप्त कराता है उस-उस को प्राप्त कर ही लेता है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥56॥
दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्।
पूजयेत् परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत् ॥57॥

यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः ।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः ॥58॥
नाद्वैतवादं कुर्वीत गुरुणा सह कुत्रचित् ।
अद्वैतं भावयेद्भक्त्या गुरोर्देवस्य चात्मनः ॥59॥

गुरु ही ब्रह्मा है, गुरु ही विष्णु है, गुरु ही सदाशिव देव हैं। (अच्युत है ?) गुरु से बढ़कर तीनों लोकों में कोई है ही नहीं। दिव्य परमज्ञान का उपदेश करने वाले परम मार्गदर्शक, परमेश्वरस्वरूप, गुरु को सदैव परमभक्ति के साथ पूजना चाहिए, तभी ज्ञान का फल प्राप्त किया जा सकता है। जैसे गुरु हैं वैसे ही ईश्वर हैं और जैसे ईश्वर हैं, वैसे ही गुरु हैं। बड़ी भक्ति से वे पूजनीय हैं। उन दोनों के बीच हम तो कोई भेद नहीं जानते। ईश्वर और गुरु की अद्वैतता की बात कभी गुरु के आगे नहीं करनी चाहिए, किन्तु उस अद्वैत की भावना मन में तो नित्य रखनी ही चाहिए। गुरु, देव और स्वयं का अद्वैत भाव मन में हमेशा रखना चाहिए।

योगशिखां महागुह्यं यो जानाति महामतिः ।
न तस्य किञ्चिदज्ञातं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥60॥
न पुण्यपापे नास्वस्थो न दुःखं न पराजयः ।
न चास्ति पुनरावृत्तिरस्मिन् संसारमण्डले ॥61॥

जो महाबुद्धिशाली मनुष्य योगशिखा के इस परमगुह्य ज्ञान को जानता है, उसके लिए तीनों लोकों में कोई भी बात अनजानी नहीं रह जाती। उस पर पुण्य-पाप का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह कभी अस्वस्थ नहीं होता। उसको कभी न दुःख होता है, न कभी उसकी पराजय ही होती है। इस संसार मण्डल में उसे फिर कभी आना नहीं पड़ता।

सिद्धौ चित्तं न कुर्वीत चञ्चलत्वेन चेतसः ।
तथा विज्ञाततत्त्वोऽसौ मुक्त एव न संशयः ॥62॥ इत्युपनिषत् ।

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

चित्त की चंचलता से प्रेरित होकर कभी भी सिद्धि प्राप्त करने की बुद्धि नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार जिसने तत्त्व को जान लिया है वह मुक्त ही है, इसमें कोई संशय नहीं है। ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

यहाँ पर पाँचवाँ अध्याय पूरा होता है।

❈

षष्ठोऽध्यायः

उपासनाप्रकारं मे ब्रूहि त्वं परमेश्वर ।
येन विज्ञानमात्रेण मुक्तो भवति संसृतेः ॥1॥
उपासनाप्रकारं ते रहस्यं श्रुतिसारकम् ।
हिरण्यगर्भ वक्ष्यामि श्रुत्वा सम्यगुपासय ॥2॥
सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रमण्डलात् ।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥3॥

ब्रह्माजी ने कहा—"हे परमेश्वर ! अब आप मुझे उपासना का प्रकार बताइए, कि जिसके ज्ञानमात्र से मनुष्य संसार से छुटकारा पा सकता है।" तब शंकर ने कहा—"हे हिरण्यगर्भ ! सभी वेदों के साररूप उपासना प्रकार को मैं तुम्हें बता रहा हूँ, उस परम रहस्य को सुनकर तुम उसकी अच्छी तरह से उपासना करो। उपासना का मंत्र यह है—"चिदात्मरूप, महाशक्तिरूप, चन्द्रमण्डल से निकली सुधारूप, मनोन्मनी कुण्डलिनी सुषुम्नारूप तुमको मैं नमस्कार करता हूँ।"

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥4॥
एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्मृता ।
सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी ॥5॥
इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन तु ।
तयोर्मध्ये परं स्थानं यस्तद्वेद स वेदवित् ॥6॥

हृदयप्रदेश में एक सौ एक नाड़ियाँ स्थित हैं। उनमें से एक मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) तक पहुँची हुई है। उस नाड़ी के द्वारा ऊपर चढ़ते हुए मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त करता है। अन्य जो नाड़ियाँ हैं, वे वहाँ से निकलकर शरीर में सर्वत्र फैल गई हैं। इस शरीर में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें से यह मुख्य नाड़ी (परा नाड़ी) है, वह सुषुम्ना है, वह परतत्त्व में लीन, ब्रह्मरूपिणी और विरजा है। इस सुषुम्ना के बाँयें भाग में इडा नाडी है और दाहिने भाग में पिंगला नाड़ी स्थित है। इन दोनों के बीच में सुषुम्ना का परम स्थान है। उसे जो जानता है वह वेदों का जानकार माना जाता है।

प्राणान् संधारयेत् तस्मिन् नासाभ्यन्तरचारिणः ।
भूत्वा तत्रायतप्राणः शनैरेव समभ्यसेत् ॥7॥
गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन् वीणादण्डः स देहभृत् ।
दीर्घास्थिदेहपर्यन्तं ब्रह्मनाडीति कथ्यते ॥8॥
तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं ब्रह्मनाडीति सूरिभिः ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना सूर्यरूपिणी ॥9॥

इडा-पिंगला के बीच के उस स्थान में, नाक के भीतर संचार करते हुए प्राणवायुओं को धारण करना चाहिए। इसमें साधक को वहाँ प्राणों को धीरे-धीरे आयत बढ़ाते-बढ़ाते आगे गति करानी चाहिए। इस शरीर में गुदा के पीछे के भाग में देह को धारण करने वाला पूरे देहपर्यन्त एक लम्बी अस्थि स्थित है, वह वीणादण्ड है। उसे ब्रह्मनाड़ी कहते हैं। उसके अन्त में बहुत छिद्रों वाला जो सूक्ष्म स्थान है, उसे ही विद्वान् लोग ब्रह्मनाड़ी कहते हैं। इडा और पिंगला के बीच में सूर्यरूपिणी सुषुम्ना नाड़ी है।

सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मिन् सर्वगं सर्वतोमुखम् ।
तस्य मध्यगताः सूर्यसोमाग्निपरमेश्वराः ॥10॥
भूतलोका दिशः क्षेत्राः समुद्राः पर्वताः शिलाः ।
दीपाश्च निम्नगा वेदाः शास्त्रविद्याकलाक्षराः ॥11॥
स्वरमन्त्रपुराणानि गुणाश्चैते च सर्वशः ।
बीजं बीजात्मकस्तेषां क्षेत्रज्ञः प्राणवायवः ॥12॥

इस पूर्वोक्त सुषिर (सूक्ष्म छिद्रयुक्त स्थान) में चारों ओर मुखवाला सर्वत्र गतिशील यह सब कुछ प्रतिष्ठित हुआ है। इसके बीच के प्रदेश में सूर्य, सोम, अग्नि और परमेश्वर स्थित हैं। सभी भूतों के लोक, सभी दिशाएँ, सभी क्षेत्र, समुद्र, पर्वत, शिलाएँ, द्वीप, नदियाँ, शास्त्र, विद्या, कला, अक्षर, स्वर, मंत्र, पुराण और सभी गुण—इन सबके बीज इसमें हैं, वह क्षेत्रज्ञ सबका बीजरूप है। इसमें सभी प्राणवायु विद्यमान हैं।

सुषुम्नान्तर्गतं विश्वं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।
नानानाडीप्रसवगं सर्वभूतान्तरात्मनि ॥13॥
ऊर्ध्वमूलमधःशाखं वायुमार्गेण सर्वगम्।
द्विसप्ततिसहस्राणि नाड्यः स्युर्वायुगोचराः ॥14॥
सर्वमार्गेण सुषिरास्तिर्यञ्चः सुषिरात्मकाः।
अधश्चोर्ध्वं च कुण्डल्याः सर्वद्वारनिरोधनात् ॥15॥

सारा विश्व इस सुषुम्ना के अन्तर्गत है। इसी में सब कुछ प्रतिष्ठित है। इसी में से तरह-तरह की नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं और अन्य सभी भूत उत्पन्न होते हैं। इसका मूल ऊपर की ओर है और शाखाएँ निम्न भाग में हैं। वायु के मार्ग से वह सभी जगह गति करता है। बहत्तर हजार नाड़ियाँ वायु की गोचर (विषय) बनी हुई हैं। ये नाड़ियाँ सभी मार्गों में छिद्र वाली हैं, तिरछी हैं, छिद्रात्मक हैं, कुण्डलिनी के ऊपर-नीचे के सभी द्वारों का निरोध होने से वे इसी प्रकार की हुई हैं।

वायुना सह जीवोर्ध्वज्ञानान्मोक्षमवाप्नुयात्।
ज्ञात्वा सुषुम्नां तद्भेदं कृत्वा पायुं च मध्यगम् ॥16॥
कृत्वा तु चैन्दवस्थाने घ्राणरन्ध्रे निरोधयेत्।
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे ॥17॥
सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वन्ये निरर्थकाः।
हृल्लेखे परमानन्दे तालुमूले व्यवस्थिते ॥18॥
अत ऊर्ध्वं निरोधे तु मध्यमं मध्यमध्यमम्।
उच्चारयेत् परां शक्तिं ब्रह्मरन्ध्रनिवासिनीम्।
यदि भ्रमरसृष्टिः स्यात् संसारभ्रमणं त्यजेत् ॥19॥

जीव शक्तिरूप (कुण्डलिनीरूप) प्राणवायु के सहारे ऊर्ध्व का ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करता है। योगी को सुषुम्ना को और उसके भेद को जानकर, पायु को मध्य में रखकर, प्राणवायु का मध्य में निरोध करने से यह फल होता है। इस शरीररूपी पंजर में बहत्तर हजार नाड़ी द्वार हैं। उनमें सुषुम्ना ही शांभवी शक्ति है। शेष सब तो निरर्थक हैं। उन नाड़ियों के भ्रूमध्य में आए हुए ऐन्दव स्थान में, घ्राण के छेद में, हृल्लेख में, तालुमूल में व्यवस्थित परमात्मा में निरोध कर देना चाहिए और फिर उसके भी आगे निरोध करते-करते मध्यम का (अर्थात् तुरीय का) और मध्यमध्यम को (अर्थात् तुर्यतुरीय को) लक्ष्य करके पराशक्ति का उच्चारण करना चाहिए। (षोडशमात्रा के समय तक प्रणवप्रकृति का उच्चारण करना चाहिए)। वह पराशक्ति ब्रह्मरन्ध्र में रहती है (क्योंकि सोलह संख्यापूरक मात्रा पराभूमि है अतः उसका आसन ब्रह्मरन्ध्र है)। वहाँ पर भी यदि भ्रमर दृष्टि हो (कामसंकल्पादि सृष्टि हो), तो आज्ञाचक्र को ही पकड़े रहकर संसारभ्रमण को धैर्य से छोड़ देना चाहिए।

गमागमस्थं गमनादिशून्यं चिद्रूपदीपं तिमिरान्धकारम् ।
पश्यामि ते सर्वजनान्तरस्थं नमामि हंसं परमात्मरूपम् ॥20॥
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिषोऽन्तर्गतं मनः ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥21॥

इसके बाद, अन्त:करणवृत्तियों के आने-जाने को प्रकाशित करने वाले और स्वयं वास्तव में गमनादि से रहित और गाढ़ अन्धकार के सामने चिद्रूप दीपशिखा जैसे, सभी मनुष्यों के अन्तस् में स्थित परमात्मरूप हंस का मैं ध्यान करता हूँ। जो अनाहत शब्द की ध्वनि है, उसकी भी जो ध्वनि है, उस ध्वनि के भीतर ज्योति है, उस ज्योति के भीतर मन है। वह मन भी जहाँ विलय होता है, वही विष्णु का परमपद है (यह परमात्म ध्यान है)।

केचिद्वदन्ति चाधारं सुषुम्ना च सरस्वती ।
आधाराज्जायते विश्वं विश्वं तत्रैव लीयते ॥22॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुपादं समाश्रयेत् ।
आधारशक्तिनिद्रायां विश्वं भवति निद्रया ॥23॥
तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रतिबुध्यते ।
आधारं यो विजानाति तमसः परमश्नुते ॥24॥
तस्य विज्ञानमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ॥25॥

कुछ लोग सरस्वती और सुषुम्ना को विश्व का आधार मानते हैं। उस आधार से ही विश्व उत्पन्न होता है और आधार में ही लय हो जाता है। इसलिए सभी प्रयत्नों से गुरुचरणों का आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि उस आधारशक्ति की निद्रा में यह विश्व भी निद्रा से युक्त हो गया है। (गुरुकृपा द्वारा) उस शक्ति का जागरण हो जाने से तीनों लोक जाग्रत् हो जाते हैं। जो मनुष्य इस आधार को जान लेता है, वह तमस् के परे जो तत्त्व है, उसे प्राप्त कर लेता है। उसके विज्ञान मात्र से ही मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है।

आधारचक्रमहसा विद्युत्पुञ्जसमप्रभा ।
तदा मुक्तिर्न सन्देहो यदि तुष्टः स्वयं गुरुः ॥26॥
आधारचक्रमहसा पुण्यपापे निकृन्तयेत् ।
आधारवातरोधेन लीयते गगनान्तरे ॥27॥
आधारवातरोधेन शरीरं कम्पते यदा ।
आधारवातरोधेन योगी नृत्यति सर्वदा ।
आधारवातरोधेन विश्वं तत्रैव दृश्यते ॥28॥

यदि गुरु स्वयं परितुष्ट हो जाए तब तो उस आधारचक्र के तेज से विद्युत्पुंज के समान आभावाली मुक्ति हो ही जाती है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। आधारचक्र के तेज से वह पुण्य और पाप को नष्ट कर देता है। आधारवात के रोध से (आधारब्रह्म में प्राणादि का विलय कर देने से) सब कुछ आकाश में लय हो जाता है, उससे मानो शरीर काँपने लगता है, उससे योगी सदैव नाचने लगता है, उसी आधारंवात के रोध से सारा विश्व उस आधार में ही दिखाई देता है।

सृष्टिराधारमाधारमाधारे सर्वदेवताः ।
आधारे सर्ववेदाश्च तस्मादाधारमाश्रयेत् ॥29॥
आधारे पश्चिमे भागे त्रिवेणीसंगमो भवेत् ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च नरः पापात् प्रमुच्यते ॥30॥
आधारे पश्चिमं लिङ्गं कवाटं तत्र विद्यते ।
तस्योद्घाटनमात्रेण मुच्यते भवबन्धनात् ॥31॥
आधारपश्चिमे भागे चन्द्रसूर्यौ स्थिरौ यदि ।
तत्र तिष्ठति विश्वेशो ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥32॥

यह सृष्टि अपने आधार को (परमतत्त्व को) अवलम्बित करके ही आधाररूप बनी है । इसी मूल आधार में सभी देवता हैं, इसी आधार पर सब वेद भी अवलम्बित हैं। इसलिए इस मूल आधार का ही आश्रय लेना चाहिए। इस मूलाधार के पश्चिम भाग में इडा, पिंगला और सुषुम्ना का त्रिवेणी संगम होता है। वहाँ स्नान करके, पानी पीकर मनुष्य पाप से मुक्त हो जाता है । उस आधार के पश्चिमलिंग (प्रत्यक्चैतन्य) और उसका कवाट (आवरक ग्रन्थित्रय) आया हुआ है। उस आवरण का उद्घाटन करने मात्र से मनुष्य भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। उस मूलाधार के पश्चिम भाग में (सुषुम्ना में) यदि चन्द्र और सूर्य अवस्थित रहे हों (स्थिर रहें) तो वहाँ विश्वेश्वर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। उस विश्वेश का ध्यान करने से योगी ब्रह्ममय हो जाता है।

आधारपश्चिमे भागे मूर्तिस्तिष्ठति संज्ञया ।
षट् चक्राणि च निर्भिद्य ब्रह्मरन्ध्राद्बहिर्गतम् ॥33॥
वामदक्षे निरुद्धन्ति प्रविशन्ति सुषुम्नया ।
ब्रह्मरन्ध्रं प्रविश्यन्ति ते यान्ति परमां गतिम् ॥34॥

आधार के पश्चिम भाग में ब्रह्मादि की (उस-उस चक्र के अलंकारभूत) जो मूर्तियाँ हैं, उनका ध्यान करते हुए साधक छः चक्रों को भेदकर ब्रह्मरन्ध्र से (सुषुम्नारन्ध्र से) पहले जो बाहर था, ऐसे प्राण को वाम-दक्ष में (इडा और पिंगला में) सर्वप्रथम तो रोकता है (प्राण का निरोध करता है) और बाद में सुषुम्ना के द्वारा क्रमशः वे प्राणादि ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रारचक्र से उज्ज्वल तुरीय को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वे लोग परमगति को प्राप्त करते हैं।

सुषुम्नायां यदा हंसः अध ऊर्ध्वं प्रधावति ।
सुषुम्नायां यदा प्राणं भ्रामयेद्यो निरन्तरम् ॥35॥
सुषुम्नायां यदा प्राणः स्थिरो भवति धीमताम् ।
सुषुम्नायां प्रवेशेन चन्द्रसूर्यौ लयं गतौ ॥36॥
तदा समरसं भावं यो जानाति स योगवित् ।
सुषुम्नायां यदा यस्य म्रियते मनसो रयः ॥37॥

जब सुषुम्ना में यह प्राण ऊपर-नीचे दौड़ता रहता है और सुषुम्ना में जब मनुष्य प्राण को निरन्तर घुमाता ही रहता है, इसके विपरीत जिन बुद्धिमानों का प्राण सुषुम्ना में स्थिर रहता है और जब सुषुम्ना में प्रवेश करके सूर्य और चन्द्र विलीन हो गए हों। तब जो मनुष्य समरस (चिद्घन) भाव को जान लेता है, वह यथार्थ योग को जानने वाला है। तब ऐसे मनुष्य के मन का वेग सुषुम्ना में मर जाता है।

सुषुम्नायां यदा योगी क्षणैकमपि तिष्ठति ।
सुषुम्नायां यदा योगी क्षणार्धमधितिष्ठति ॥38॥
सुषुम्नायां यदा योगी सुलग्नो लवणाम्बुवत् ।
सुषुम्नायां यदा योगी लीयते क्षीरनीरवत् ॥39॥
भिद्यते च तदा ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते परमाकाशे ते यान्ति परमां गतिम् ॥40॥

योगी सुषुम्ना में एक क्षणभर भी रहता है, योगी सुषुम्ना में आधा क्षण भी यदि रहता है और योगी सुषुम्ना में पानी में नमक की तरह अच्छी तरह से संलग्न होकर रहे, तो उन सभी कालों में वह दूध में पानी की तरह मिला ही रहता है । उस समय उसकी जीव (इसके भेद) की ग्रन्थि टूट जाती है, उसके सभी संशय कट जाते हैं, परमाकाश में वे सब क्षीण हो जाते हैं । ऐसे योगी परमगति को प्राप्त करते हैं ।

गङ्गायां सागरे स्नात्वा नत्वा च मणिकर्णिकाम् ।
मध्यनाडीविचारस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥41॥
श्रीशैलदर्शनान्मुक्तिर्वाराणस्यां मृतस्य च ।
केदारोदकपानेन मध्यनाडीप्रदर्शनात् ॥42॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
सुषुम्नाध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥43॥
सुषुम्नायां यदा गोष्ठीं यः कश्चित् कुरुते नरः ।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात् ॥44॥

गंगा में और सागर में स्नान किया जाए, और मणिकर्णिका पर स्नान और नमन किया जाए, तो भी वह इस मध्यमनाड़ी सुषुम्ना के चिन्तन की सोलहवीं कला जितना भी पुण्यप्रद नहीं होता । श्रीशैल के दर्शन से मुक्ति मिलती है, काशी में मरण से मुक्ति मिलती है, केदार के जल के पीने से भी मुक्ति मिलती है और मध्यमनाड़ी (सुषुम्ना) के दर्शन से भी वैसी ही मुक्ति मिल जाती है । हजारों अश्वमेध यज्ञ किए जाएँ, सैंकड़ों वाजपेय यज्ञ किए जाएँ, लेकिन वे सब सुषुम्ना के ध्यान की सोलहवीं कला जैसे भी स्वल्पांश में भी योग्य नहीं ठहर सकते । जो कोई भी मनुष्य सदैव सुषुम्ना के विषय में विचार-विमर्श करता रहता है, वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है और निःश्रेयस की प्राप्ति कर लेता है ।

सुषुम्नैव परं तीर्थं सुषुम्नैव परो जपः ।
सुषुम्नैव परं ध्यानं सुषुम्नैव परा गतिः ॥45॥
अनेकयज्ञदानानि व्रतानि नियमानि च ।
सुषुम्नाध्यानलेशस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥46॥

सुषुम्ना ही परम तीर्थ है, सुषुम्ना ही परम जप है, सुषुम्ना ही परम ध्यान है, सुषुम्ना ही परम गति है । अनेक यज्ञ, दान, व्रत, नियम, ये सब सुषुम्ना के थोड़े से ध्यान की भी सोलहवीं कला (सोलहवें भाग) के बराबर नहीं हो सकते ।

ब्रह्मरन्ध्रे महास्थाने वर्तते सततं शिवा ।
चिच्छक्तिः परमा देवी मध्यमे सुप्रतिष्ठिता ॥47॥

मायाशक्तिर्ललाटाग्रभागे व्योमाम्बुजे तथा।
नादरूपा परा शक्तिर्ललाटस्य तु मध्यमे ॥48॥
भागे बिन्दुमयी शक्तिर्ललाटस्यापरांशके।
बिन्दुमध्ये च जीवात्मा सूक्ष्मरूपेण वर्तते ॥49॥
हृदये स्थूलरूपेण मध्यमे न तु मध्यमे ॥50॥

ब्रह्मरन्ध्र के बड़े स्थान में सदैव चिति शक्ति रहती है। वह मंगलकारिणी देवी मध्यनाड़ी में सुषुम्ना में सुप्रतिष्ठित होती है। जो माया शक्ति है, वह ललाट के आगे के भाग में है। और आकाश (हृदयाकाश) के कमल में नादरूप पराशक्ति है, तथा ललाट के बीच के भाग में बिन्दुमयी शक्ति अवस्थित हैं और ललाट के ऊपर भाग में बिन्दु के बीच स्थूल रूप में जीवात्मा रहता है। वह जीव मध्यम हृदय में रहता है पर वह भौंहों के मध्य में सरकता नहीं है।

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥51॥
आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न विश्रमेत् ॥52॥
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः ॥53॥
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।
तद्विद्वानक्षरं नित्यं यो जानाति स योगवित् ॥54॥

जीव प्राण और अपान के वश में आकर ऊपर और नीचे बाँए और दाँयें मार्ग पर दौड़ता ही रहता है, पर वह चंचल होने से देखा नहीं जा सकता। जिस तरह हाथ से उछाली गई गेंद एकदम उछलती है, उसी प्रकार प्राण और अपान से फेंका गया यह जीव कभी भी आराम प्राप्त नहीं करता। अपान प्राण को खींचता रहता है और प्राण अपान को खींचता रहता है। हकार से प्राण बाहर निकलता है और सकार से फिर भीतर प्रवेश करता है। इस प्रकार जीव 'हंस हंस'—ऐसा मंत्र जपता रहता है। इस अक्षर को जो विद्वान् जानता है, वह नित्य योगविद् ही है।

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिर्मुक्तिरूपाथ योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥55॥

जब यह कुण्डली अपने स्थान (कन्द) से ऊपर जाती है, तब यह कुण्डलिनी शक्ति योगियों के लिए मुक्तिरूप होती है। और अपने स्थान को नहीं छोड़ने वाली यह मूढ़ों की कुण्डलिनी बन्धन-कारक ही होती है, ऐसा जो जानता है, वह योगवित् कहा जाता है।

भूर्भुवःस्वरिमे लोकाश्चन्द्रसूर्याग्निदेवताः।
यासु मात्रासु तिष्ठन्ति तत् परं ज्योतिरोमिति ॥56॥
त्रयः कालास्त्रयोः देवास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः।
त्रयो वेदाः स्थिता यत्र तत् परं ज्योतिरोमिति ॥57॥

भूः, भुवः और स्वः—ये तीन लोक हैं और चन्द्र, सूर्य और अग्नि उनके देवता हैं। और ये सब जिन मात्राओं में रहते हैं, उन मात्राओं से युक्त परम ज्योति 'ओम्' है। तीन काल हैं, तीन देव

हैं, तीन लोक हैं, तीन स्वर हैं, तीन वेद हैं—ये सब जिसमें रहते हैं, वह परम ज्योतिस्वरूप 'ओम्' है।

चित्ते चलति संसारो निश्चलं मोक्ष उच्यते।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यात् प्रज्ञया परया विधे ॥58॥
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम्।
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥59॥

जब चित्त चलता रहता है, तभी संसार होता है, और जब चित्त निश्चल हो जाता है, तब मोक्ष होता है। हे विधि ! इसलिए बड़ी तीक्ष्ण (परम) बुद्धि से चित्त को वश में लाना चाहिए। सभी विषयों का कारण चित्त ही है। यह चित्त है इसीलिए तो ये तीन लोक (जगत्) हैं। चित्त के क्षीण हो जाने से सारा जगत् क्षीण हो जाता है, इस बात का प्रयत्नपूर्वक विचार करते रहना चाहिए।

मनोऽहं गगनाकारं मनोऽहं सर्वतोमुखम्।
मनोऽहं सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः ॥60॥
मनः कर्माणि जायन्ते मनो लिप्यति पातकैः।
मनश्चेदुन्मनीभूयान्न पुण्यं न च पातकम् ॥61॥
मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदा भवेत्।
ततः परं परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम् ॥62॥
मनसा मन आलोक्य मुक्तो भवति योगवित्।
मनसा मन आलोक्य उन्मन्यन्तं सदा स्मरेत् ॥63॥

मैं तो गगनाकार व्यापक मन हूँ, मैं तो चारों ओर मुखवाला मन हूँ, मैं तो सर्वरूप मन हूँ, यह मन नहीं, केवल एक परम पुरुष ही है, वह मैं हूँ। जो कर्म उत्पन्न होते हैं, वह मन ही है, जो पापों से लिप्त होता है, वह मन ही है। वह मन यदि 'उन्मन' हो जाए (मनरहित हो जाए) तो फिर न कोई पुण्य है, न कोई पाप ही है। जब मनुष्य मन से ही मन को देखकर मन को वृत्तियों से शून्य बना देता है, तब वह परम दुर्लभ परब्रह्म दिखाई देता है। योग को जानने वाला साधक मन को मन से ही देखकर मुक्त हो जाता है। मन से मन को जहाँ तक उन्मनीभाव हो वहाँ तक हमेशा देखते रहना चाहिए, स्मरण (चिन्तन) करते रहना चाहिए।

मनसा मन आलोक्य योगनिष्ठः सदा भवेत्।
मनसा मन आलोक्य दृश्यन्ते प्रत्यया दश ॥64॥
यदा प्रत्यया दृश्यन्ते तदा योगीश्वरो भवेत् ॥65॥
बिन्दुनादकलाज्योतिरबिन्दुर्ध्रुवतारकम्।
शान्तं च तदतीतं च परं ब्रह्म तदुच्यते ॥66॥

मन से मन का अवलोकन करते हुए हमेशा योगनिष्ठ रहना चाहिए। मन को मन से देखते हुए दश प्रत्यय जब एक दिखाई देते हैं, जब ऐसा प्रत्यय दीख पड़ता है, तब साधक योगीश्वर हो जाता है। बिन्दु, नाद, कला, ज्योति, रवि, इन्दु, ध्रुव, तारक और शान्ततत्त्व—जो उन सबसे अतीत है वह परब्रह्म कहा जाता है। अपने अज्ञान की दृष्टि में जो ये दस प्रत्यय पहले थे वह परब्रह्म ही है, ऐसा प्रत्यय जब होता है, तब ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, यह यहाँ तात्पर्य है।

हसत्युल्लसति प्रीत्या क्रीडते मोदते तदा ।
तनोति जीवनं बुद्ध्या बिभेति सर्वतो भयात् ॥67॥
रोधते बुध्यते शोके मुह्यते नवसम्पदा ।
कम्पते शत्रुकार्येषु कामेन रमते हसन् ॥68॥
स्मृत्वा कामरतं चित्तं विजानीयात् कलेवरे ।
यत्र देशे वसेद्वायुश्चित्तं तद्वसते ध्रुवम् ॥69॥
मनश्चन्द्रो रविर्वायुर्दृष्टिरग्निरुदाहृतः ।
बिन्दुनादकला ब्रह्मन् विष्णुब्रह्मेशदेवताः ॥70॥

प्राण और चित्त के अनिवार्य साहचर्य से मनुष्य हँसता है, उल्लसित होता है, प्रेम से खेलता है, आनन्द करता है, बुद्धि से जीवन को आगे बढ़ाता है, चारों ओर भय से डरता रहता है, शोक से रुकता है, नवीन संपदा से और शोक से मोहित होता है, शत्रुओं के कार्यों में काँपता है, कामना में हँसता हुआ रमण करता है, शरीर में कामना में रत इस चित्त को स्मृति से जान लेना चाहिए, कि जिस प्रदेश में वायु बसता है, उसी प्रदेश में चित्त भी अवश्य ही बसता है। मन चन्द्र है, वायु सूर्य है, और दृष्टि अग्नि है, ऐसा कहा गया है। हे ब्रह्माजी ! इसी प्रकार बिन्दु, नाद और कला भी क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश देवता ही हैं।

सदा नादानुसन्धानात् संक्षीणा वासना भवेत् ।
निरञ्जने विलीयेत मरुन्मनसि पद्मज ॥71॥
यो वै नादः स वै बिन्दुस्तद्वै चित्तं प्रकीर्तितम् ।
नादो बिन्दुश्च चित्तं च त्रिभिरैक्यं प्रसाधयेत् ॥72॥
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम् ।
मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् ॥73॥

सदैव नादानुसन्धान करते रहने से वासना एकदम क्षीण हो जाती है। हे ब्रह्माजी ! तब निरंजन (निष्कलंक) मन में वायु विलीन हो जाता है। जो नाद है वही बिन्दु है और वही चित्त है। नाद, बिन्दु और चित्त—इन तीनों का ऐक्य साधना चाहिए। और मन ही बिन्दु है, वह उत्पत्ति और स्थिति का कारण है। मन से ही बिन्दु की उत्पत्ति होती है। जैसे दूध घृतमय (घृत का कारण) है, वैसे ही मन बिन्दु का कारण है।

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत् सुखमण्डलम् ।
प्रविशेद्वायुमाकृष्य तथैवोर्ध्वं नियोजयेत् ॥74॥
वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत् ।
समाधिनैकेन सममृतं यान्ति योगिनः ॥75॥

छः चक्रों को जानकर (भेदकर) सुख मण्डल में (मनोविलय) में प्रवेश करना चाहिए। इसके लिए वायु को भीतर खींचकर उसका ऊपर के प्रदेश में विनियोजन करना चाहिए। वायु, बिन्दु, चक्र और चित्त का अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करके योगी लोग एक ही समाधि के द्वारा समरूप अमृत को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं।

यथाग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना ।
विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि ॥76॥

घटमध्ये यथा दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते ।
भिन्ने तस्मिन् घटे चैव दीपज्वालावभासते ॥77॥
स्वकायं घटमित्युक्तं यथा जीवो हि तत्पदम् ।
गुरुवाक्यसमं भिन्ने ब्रह्मज्ञानं प्रकाशते ॥78॥
कर्णधारं गुरुं प्राप्य तद्वाक्यं प्लववद्दृढम् ।
अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम् ॥79॥ इत्युपनिषत् ।

इति षष्ठोऽध्यायः ।

इति योगशिखोपनिषत्समाप्ता ।

जिस तरह काष्ठ में रहने वाला अग्नि मन्थन के बिना प्रकट नहीं होता, इसी प्रकार अभ्यासरूपी योग के बिना ज्ञानरूपी दीपक प्रज्वलित नहीं हो सकता। जिस तरह घड़े के बीच में रखा गया दीपक घट से बाहर प्रकाश नहीं देता और उसी घड़े को फोड़ देने से दीप की ज्वाला दिखाई पड़ती है उसी प्रकार हमारा शरीर घड़े जैसा कहा गया है और जीव ही तत्पद है और गुरुवाक्य के समान भेदन से ही वह ब्रह्म (जो जीवरूप में पहले प्रकाशित नहीं था वही) प्रकाशित हो उठता है। इसलिए कर्णधार-रूप गुरु के पास जाकर उनके वाक्यरूपी नाव में अभ्यास के संस्कारों से युक्त होकर शिष्य लोग इस भवसागर को पार कर जाते हैं।

यहाँ छठा अध्याय पूरा हुआ होता है ।

इस प्रकार योगाशिखोपनिषत् समाप्त होती है ।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ——मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(101) वराहोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषत् है । इसमें वराह भगवान् ने ऋभु को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है । इसके पाँच बड़े अध्याय हैं । पहले अध्याय में तत्त्वों की संख्या के बारे में मतवैविध्य बताकर तत्त्वातीत भगवद्बुद्धि ही करणीय है, ऐसा बताकर उस बुद्धि का फल बताया है । दूसरे में साधनचतुष्टय, आत्मा का स्वरूप, आत्मज्ञानी की स्थिति, अज्ञानी और ज्ञानी का स्थिति वैलक्षण्य, आत्मानुसन्धान, जीवन्मुक्ति आदि विषय दिए गए हैं । तीसरे में चिन्मात्रभाव की प्राप्ति, भगवद्भक्ति का मोक्ष साधनत्व आदि विषय दिए हैं । चौथे में सात भूमिकाएँ प्रणव की अकारादि की विकृति के चार प्रकार, चार प्रकार के जीवन्मुक्त बताए गए हैं । पाँचवें में योग की बातें—अष्टांग योग, बन्ध, नाड़ी आदि की बहुत सी बातों का संग्रह किया है ।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ····मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषद् में) द्रष्टव्य है ।

प्रथमोऽध्यायः

हरिः ॐ। अथ ऋभुर्वै महामुनिर्देवमानेन द्वादशवत्सरं तपश्चचार । तदवसाने वराहरूपी भगवान्प्रादुरभूत् । स होवाचोत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति । सोदतिष्ठत् । तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन्कामिभिर्यद्यत्कामितं तत्तत्त्वत्सकाशात्स्वप्नेऽपि न याचे । समस्तवेदशास्त्रेतिहासपुराणानि समस्तविद्याजालानि ब्रह्मादयः सुराः सर्वे त्वद्रूपज्ञानान्मुक्तिमाहुः । अतस्त्वद्रूपप्रतिपादिकां ब्रह्मविद्यां ब्रूहीति होवाच । तथेति स होवाच वराहरूपी भगवान् । चतुर्विंशतितत्त्वानि केचिदिच्छन्ति वादिनः । केचित्षट्त्रिंशत्तत्त्वानि केचित्षण्णवतीनि च ॥1॥

हरिः ॐ । महामुनि ऋभु ने देवों की काल गणना के अनुसार, बारह वर्ष तक तपश्चर्या की । तपश्चर्या के अन्त में भगवान् वाराह स्वरूप में प्रकट हुए, और कहने लगे कि "उठो, उठो वरदान माँग लो ।" तब ऋभु उठे । उन्होंने वराह भगवान् को नमस्कार करके कहा—"हे भगवन् ! कामना वाले लोग जो-जो इच्छाएँ करते हैं, उनमें से कोई भी इच्छापूर्ति मैं आपके पास स्वप्न में भी नहीं माँगता । समस्त वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास और समग्र विद्याओं के समूह तथा ब्रह्मादि सभी देव भी कहते हैं कि आपके स्वरूपज्ञान से मुक्ति मिलती है । इसलिए आपके स्वरूपज्ञान का प्रतिपादन करने वाली ब्रह्मविद्या का मुझे उपदेश दीजिए ।" जब ऋभु ने ऐसा कहा तब वराहरूपी भगवान्, 'बहुत अच्छा' ऐसा कह कर कहने लगे कि कुछ मतवादी चौबीस तत्त्व, कुछ छत्तीस तत्त्व और कुछ तो छियानबे तत्त्व मानते हैं ।

तेषां क्रमं प्रवक्ष्यामि सावधानमनाः शृणु ।
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रत्वग्लोचनादयः ॥2॥
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव वाक्पाण्यङ्घ्र्यादयः क्रमात् ।
प्राणादयस्तु पञ्चैव पञ्च शब्दादयस्तथा ॥3॥
मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ।
चतुर्विंशतितत्त्वानि तानि ब्रह्मविदो विदुः ॥4॥

उनका क्रम मैं कह रहा हूँ। तुम सावधान होकर सुनो। श्रोत्र-त्वचा-नेत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी-हाथ-पैर आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, प्राणापानादि पाँच प्राण, शब्द-स्पर्शादि पाँच तन्मात्राएँ तथा मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार ये चार मिलकर चौबीस तत्त्व ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।

एतैस्तत्त्वैः समं पञ्चीकृतभूतानि पञ्च च ।
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ॥5॥
देहत्रयं स्थूलसूक्ष्मकारणानि विदुर्बुधाः ।
अवस्थात्रितयं चैव जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः ॥6॥
आहत्य तत्त्वजातानां षट्त्रिंशन्मुनयो विदुः ।
पूर्वोक्तैस्तत्त्वजातैस्तु समं तत्त्वानि योजयेत् ॥7॥

इन चौबीस तत्त्वों के साथ पंचीकृत पाँच भूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन देह, और जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ, और एक आत्मा—इन तत्त्वों को कुछ बुद्धिमान लोग मिलाकर जानते हैं। उन सबको मिलाकर वे छत्तीस तत्त्व कहते हैं। और आगे भी उन छत्तीस तत्त्वों के साथ कुछ तत्त्व जोड़े जाते हैं। (कुछ लोग और भी तत्त्व जोड़ते हैं।)

षड्भावविकृतिश्चास्ति जायते वर्धतेऽपि च ।
परिणामं क्षयं नाशं षड्भावविकृतिं विदुः ॥8॥
अशना च पिपासा च शोकमोहौ जरा मृतिः ।
एते षडूर्मयः प्रोक्ताः षट्कोशानथ वच्मि ते ॥9॥
त्वक्च रक्तं मांसमेदोमज्जास्थीनि निबोधत ।
कामक्रोधौ लोभमोहौ मदो मात्सर्यमेव च ॥10॥
एतेऽरिषड्वा विश्वश्च तैजसः प्राज्ञ एव च ।
जीवत्रयं सत्त्वरजस्तमांसि च गुणत्रयम् ॥11॥

जन्मता है, बढ़ता है, परिणत होता है, क्षय होता है, नष्ट होता है—आदि छः भावविकार हैं। भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मरण—ये छः ऊर्मियाँ हैं। अब मैं तुम्हें छः कोशों के बारे में कहता हूँ—त्वचा, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और अस्थि—ये कोश जानने चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—ये छः शत्रु हैं। विश्व, तैजस और प्राज्ञ—ये तीन जीव हैं। सत्त्व, रजस और तमस्—ये तीन गुण हैं।

प्रारब्धागाम्यर्जितानि कर्मत्रयमितीरितम् ।
वचनादानगमनविसर्गानन्दपञ्चकम् ॥12॥

सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च अभिमानोऽवधारणा ।
मुदिता करुणा मैत्री उपेक्षा च चतुष्टयम् ॥13॥
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः ।
तथा चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वरः ॥14॥
आहत्य तत्त्वजातानां षण्णवत्यस्तु कीर्तिताः ।
पूर्वोक्ततत्त्वजातानां वैलक्षण्यमनामयम् ॥15॥

प्रारब्ध, आगामी और संचित—ये तीन कर्म कहे जाते हैं। वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनंद—ये पाँच और, तथा संकल्प, अध्यवसाय, अभिमान और अवधारणा—ये और अधिक चार तत्त्व तथा मुदिता, करुणा, मैत्री, उपेक्षा—ये और चार, एवं दिशा, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनी कुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु, चन्द्र, ब्रह्मा, रुद्र, क्षेत्रज्ञ और ईश्वर—ये सब मिलकर छियानबें तत्त्व होते हैं। परन्तु इन पूर्वोक्त तत्त्वों से विलक्षण और निर्दोष तत्त्व भी एक है।

वराहरूपिणं मां ये भजन्ति मयि भक्तितः ।
विमुक्ताज्ञानतत्कार्या जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥16॥
ये षण्णवतितत्त्वज्ञा यत्र कुत्राश्रमे रताः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥17॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

ऐसे विलक्षण निर्दोष तत्त्वरूप वराहरूपी मुझे जो लोग भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे लोग अज्ञान और उसके कार्य से मुक्त होकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं। जो लोग इन छियानबे तत्त्वें को जानते हैं, वे लोग चाहे किसी भी आश्रम में रहते हों, चाहे जटाधारी हों, चाहे मुण्डित हों, चाहे शिखाधारी हो फिर भी वे मुक्त हो ही जाते हैं, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

ऋभुर्नाम महायोगी क्रोडरूपं रमापतिम् ।
वरिष्ठां ब्रह्मविद्यां त्वमधीहि भगवन्मम ।
एवं स पृष्टो भगवान्प्राह भक्तार्तिभञ्जनः ॥1॥
स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा गुरुतोषणात् ।
साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥2॥
नित्यानित्यविवेकश्च इहामुत्र विरागता ।
शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षा तां समभ्यसेत् ॥3॥
एवं जितेन्द्रियो भूत्वा सर्वत्र ममतामतिम् ।
विहाय साक्षिचैतन्ये मयि कुर्यादहंमतिम् ॥4॥

ऋभु नाम के महायोगी ने वराहरूपी लक्ष्मीपति भगवान् ने कहा—'हे भगवन्! आप मुझे श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या पढ़ाइए।'' जब उन्होंने ऐसा कहा तब भक्तों की पीड़ाओं के भंजक भगवान् बोले—अपने

वर्णाश्रमधर्म के पालन से, तप से और गुरु को प्रसन्न करने से मनुष्य को वैराग्य आदि चार साधन प्राप्त होते हैं। जैसे—नित्य-अनित्य वस्तु विवेक, इहलोक तथा परलोक के प्रति वैराग्य, शमदमादि षट्क सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन चार साधनों का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अभ्यास करते-करते जितेन्द्रिय होकर सर्वत्र ममताबुद्धि को छोड़कर, साक्षीरूप चैतन्य के ऊपर ही (मेरे ऊपर ही) 'मैं'—ऐसी बुद्धि करनी चाहिए।

दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं तत्रापि नरविग्रहम्।
ब्राह्मण्यं च महाविष्णोर्वेदान्तश्रवणादिना ॥5॥
अतिवर्णाश्रमं रूपं सच्चिदानन्दलक्षणम्।
यो न जानाति सोऽविद्वान्कदा मुक्तो भविष्यति ॥6॥
अहमेव सुखं नान्यदन्यच्चेन्नैव तत्सुखम्।
अमदर्थं न हि प्रेयो मदर्थं न स्वतःप्रियम् ॥7॥
परप्रेमास्पदतया मा न भूवमहं सदा।
भूयासमिति यो द्रष्टा सोऽहं विष्णुर्मुनीश्वर ॥8॥

मनुष्यत्व दुर्लभ है, और उसमें भी पुरुष का शरीर और ब्राह्मणत्व तो और भी दुर्लभ है। उसको प्राप्त करने के बाद वेदान्त का श्रवण आदि करना चाहिए। परन्तु बाद में वर्णाश्रम से परे जो सच्चिदानन्दस्वरूप विष्णु को मनुष्य नहीं जानता, वह मूर्ख भला कब मुक्त हो सकेगा ? हे मुनीश्वर ! मैं ही सुखरूप हूँ, दूसरा कोई नहीं है। और अगर कोई दूसरा है, तो वह सुख है ही नहीं। जो वस्तु मेरे लिए नहीं है, वह किसी को प्रिय नहीं हो सकती, और जो मेरे लिए है, वह किसी मनुष्य को अपने लिए प्रिय नहीं होती (मेरे—आत्मा के लिए ही प्रिय होती है)। इस प्रकार परमप्रेम का स्थान मैं कभी न था ऐसा नहीं है 'मैं सदाकाल ही परमप्रेमास्पद हूँ एवं रहूँगा भी'—ऐसा जो जानता है, वह स्वयं विष्णुरूप (मेरा ही स्वरूप) होता है।

न प्रकाशोऽहमित्युक्तिर्यत्प्रकाशैकबन्धना।
स्वप्रकाशं तमात्मानमप्रकाशः कथं स्पृशेत् ॥9॥
स्वयं भातं निराधारं ये जानन्ति सुनिश्चितम्।
ते हि विज्ञानसम्पन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥10॥
स्वपूर्णात्मातिरेकेण जगज्जीवेश्वरादयः।
न सन्ति नास्ति माया च तेभ्यश्चाहं विलक्षणः ॥11॥
अज्ञानान्धतमोरूपं कर्मधर्मादिलक्षणम्।
स्वयंप्रकाशमात्मानं नैव मां स्प्रष्टुमर्हति ॥12॥

'मैं प्रकाशरूप नहीं हूँ'—ऐसा (नकारात्मक) कथन भी प्रकाश के ही एक कारण से किया जा सकता है (प्रकाश के अभाव में ऐसा कथन भी कैसे किया जा सकता है ?) तो उस स्वयंप्रकाश आत्मा को प्रकाशहीन किस प्रकार मनुष्य के द्वारा अनुभूत किया जा सकता है ? जो लोग स्वयंप्रकाशित, निराधार और अतिनिश्चित ऐसे आत्मास्वरूप को जानते हैं, वे ही विज्ञानसम्पन्न हैं, ऐसा मेरा निश्चित मत है। अपने पूर्ण आत्मा के अतिरिक्त जगत्, जीव और ईश्वर आदि नहीं हैं, और माया भी नहीं है, और 'मैं उनसे विलक्षण हूँ'—ऐसा समझना ही ज्ञान है। कर्म-धर्मादि लक्षणयुक्त और अज्ञानरूप अंधकारमय तमस् का रूप स्वयंप्रकाश आत्मा को (मुझको) स्पर्श करने के लिए योग्य नहीं है।

सर्वसाक्षिणमात्मानं वर्णाश्रमविवर्जितम् ।
ब्रह्मरूपतया पश्यन्ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥13॥
भासमानमिदं सर्वं मानरूपं परं पदम् ।
पश्यन्वेदान्तमानेन सद्य एव विमुच्यते ॥14॥
देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥15॥
सत्यज्ञानानन्दपूर्णलक्षणं तमसःपरम् ।
ब्रह्मानन्दं सदा पश्यन्कथं बध्येत् कर्मणा ॥16॥

सबके साक्षीरूप आत्मा को वर्णाश्रम से परे ब्रह्मस्वरूप में ही देखने वाला मनुष्य स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। 'यह सब जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह प्रमाणरूप (पारमार्थिक रूप) से परमपद ही है'—ऐसा वेदान्त के प्रमाण से देखने वाला मनुष्य तुरन्त ही मुक्त हो जाता है। 'देहात्मज्ञान' के बदले 'देहात्माभाव का ज्ञान' (देहात्मभाव का बाधक ज्ञान) जिस पुरुष को हो जाता है, वह पुरुष न चाहते हुए भी मुक्त हो जाता है। जो मनुष्य सत्य, ज्ञान और आनन्दरूप पूर्ण लक्षणयुक्त और अज्ञानान्धकार से सदैव परे रहने वाले ब्रह्मानन्द को सदा देखता है, वह कर्मों से कैसे बँधेगा ?

त्रिधामसाक्षिणं सत्यज्ञानानन्दादिलक्षणम् ।
त्वमहंशब्दलक्ष्यार्थमसक्तं सर्वदोषतः ॥17॥
सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥18॥
प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म सत्यप्रज्ञानलक्षणम् ।
एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत् ॥19॥
तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम् ।
विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कुतश्चन ॥20॥

तीन धामों (अवस्थाओं) का साक्षी, सत्य-ज्ञान-अनन्त आदि लक्षणवाला 'तू', 'मैं'—आदि शब्दों का लक्ष्यार्थरूप, सर्वदोषों से रहित, सर्वव्यापक और सच्चिदानन्दरूप आत्मा है। उसे ज्ञान दृष्टिवाला देख सकता है, पर अज्ञान दृष्टि वाला मनुष्य तो जैसे अन्धा प्रकाशित सूर्य को नहीं देख सकता, वैसे ही आत्मा को नहीं देख सकता। वह ब्रह्म उत्कृष्ट ज्ञानरूप ही है, एवं सत्य-श्रेष्ठ ज्ञान उसका लक्षण है। ऐसे ब्रह्म के ज्ञान से मनुष्य अमर हो जाता है। वह ब्रह्म आनन्दरूप, अद्वैत, निर्गुण, सत्य और चैतन्यमय आत्मा का स्वरूप है। उसे जान लेने के बाद मनुष्य किसी से भी नहीं डरता है।

चिन्मात्रं सर्वगं नित्यं सम्पूर्णं सुखमद्वयम् ।
साक्षाद्ब्रह्मैव नान्योऽस्तीत्येवं ब्रह्मविदां स्थितिः ॥21॥
अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत् ।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषाम् ॥22॥
अनन्ते सच्चिदानन्दे मयि वाराहरूपिणि ।
स्थितेऽद्वितीयभावः स्यात्को बन्धः कश्च मुच्यते ॥23॥
स्वस्वरूपं तु चिन्मात्रं सर्वदा सर्वदेहिनाम् ।
नैव देहादिसंघातो घटवद्दृशिगोचरः ॥24॥

केवल चैतन्यरूप, सर्वव्यापक, नित्य, संपूर्ण, सुखमय, अद्वैत साक्षात् ब्रह्म ही है और दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं, ऐसी ब्रह्मवेत्ताओं की स्थिति है। जैसे अन्धे के लिए जगत् अन्धकारमय ही है, और अच्छी आँखों वालों के लिए प्रकाशमय होता है, वैसे ही अज्ञानी के लिए जगत् दु:खों के समूह रूप है, परन्तु ज्ञानी के लिए आनन्दमय है। अनन्त और सच्चिदानन्दमय मैं (वराहरूपी भगवान्) ही सर्वत्र अवस्थित हूँ—ऐसी अद्वितीय भावना जब होती है, तब तो क्या बन्धन है और कौन मुक्त होता है ? (कोई नहीं।) सभी प्राणियों का जो चैतन्य है, वही सही आत्मस्वरूप है, परन्तु घड़े की तरह दृष्टिगोचर होता हुआ यह देहादि समुदाय तो आत्मस्वरूप है ही नहीं।

स्वात्मनोऽन्यदिवाभातं चराचरमिदं जगत्।
स्वात्ममात्रतया बुद्ध्वा तदस्मीति विभावय ॥25॥
स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः।
अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम् ॥26॥
ब्रह्मविज्ञानसम्पन्नः प्रतीतमखिलं जगत्।
पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक् ॥27॥
मत्स्वरूपपरिज्ञानात्कर्मभिर्न स बध्यते ॥28॥

आत्मा से अलग-सा ही दिखाई देने वाला यह सचराचर (जडचेतनमय जगत्) पारमार्थिक रूप से तो केवल अपनी आत्मा ही है, ऐसा जानकर तुम्हें 'मैं ही जगत् रूप हूँ' ऐसा मानना चाहिए। आत्मा अपने स्वरूप को ही भोगता है (अपने स्वरूप को ही खाता है), अपने से अलग कोई भोग्य पदार्थ ही नहीं है। फिर भी अगर कोई 'है' तो वह अस्तित्व के रूप में ब्रह्म ही है। अस्तित्व (सत्ता) ही ब्रह्म का लक्षण है। ब्रह्मानुभव से युक्त हुआ मनुष्य दिखाई देने वाले इस सारे जगत् को देखता हुआ भी उसे अपने आत्मा से अलग तो देखता ही नहीं है। ऐसे मेरे स्वरूप का ज्ञान होने से मनुष्य कर्मों से बँधता नहीं है।

यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम्।
परमार्थैकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम् ॥29॥
स्वस्वरूपतया सर्वं वेद स्वानुभवेन यः।
स धीरः स तु विज्ञेयः सोऽहं तत्त्वं ऋभो भव ॥30॥
अतः प्रपञ्चानुभव. सदा न हि स्वरूपबोधानुभवः सदा खलु।
इति प्रपश्यन्परिपूर्णवेदनो न बन्धमुक्तो न च बद्ध एव तु ॥31॥
स्वस्वरूपानुसन्धानान्नृत्यन्तं सर्वसाक्षिणम्।
मुहूर्तं चिन्तयेन्मां यः सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥32॥

जो मनुष्य अपने आत्मा को शरीर-इन्द्रियादि से अलग, सर्वसाक्षी, पारमार्थिक, एकमात्र, विज्ञानस्वरूप, सुखमय और स्वयंप्रकाश मानता है, तथा सबको अपने अनुभव से आत्मरूप से जानता है, वह धीर है इसी को सहीरूप में 'मैं' जानना चाहिए। और हे ऋभु ! तुम भी वही हो। इसी कारण से प्रपंच का अनुभव कभी है ही नहीं, पर स्वरूप ज्ञान का अनुभव तो सदैव है। इस प्रकार देखता हुआ मनुष्य परिपूर्ण ज्ञानी है, और इसलिए वह कभी बन्धन में नहीं पड़ता और बँधा हुआ भी नहीं रहता। स्वरूपानुसन्धान से नृत्य करते हुए जो मनुष्य मेरा एक क्षण भी (एक मुहूर्तकाल तक भी) चिन्तन करता है, वह सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है.।

सर्वभूतान्तरस्थाय नित्यमुक्तचिदात्मने ।
प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥33॥
त्वं वाहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि ।
तुभ्यं मह्यमनन्ताय मह्यं तुभ्यं चिदात्मने ॥34॥
नमो मह्यं परेशाय नमस्तुभ्यं शिवाय च ।
किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम् ॥35॥
यन्मया पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा ।
अन्तःसङ्गं बहिःसङ्गमात्मसङ्गं च यस्त्यजेत् ।
सर्वसङ्गनिवृत्तात्मा स मामेति न संशयः ॥36॥

सभी भूतों के अन्तस् में स्थित, नित्य मुक्त, चिदात्मा और प्रत्यक् चैतन्यरूप ऐसे मुझे ही मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। हे भगवन्! हे देवता! तुम हीं मैं हूँ और मैं ही तुम हो। अनन्त ऐसे मुझे और तुझे तथा चिदात्मक ऐसे मुझे और तुझे नमस्कार हो। परमात्मा ऐसे मुझे और शिवस्वरूप ऐसे तुझे नमस्कार हो। मैं कहाँ जाऊँ? क्या लूँ और क्या छोड़ूँ? क्योंकि महाकल्प (प्रलयकाल) में जैसे विश्व जल से भर जाता है, वैसे ही मुझसे यह सब कुछ भरा हुआ है। सब कुछ मैं ही हूँ। इस तरह जो भीतर का संग, बाहर का संग और आत्मा के संग को भी जो छोड़ देता है, वह सभी संगों से विनिर्मुक्त आत्मा वाला मनुष्य मुझे प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

अहिरिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद्यः
कुणपमिव सुनारीं त्यक्तुकामो विरागी ।
विषमिव विषयादीन्मन्यमानो दुरन्ता-
ञ्जगति परमहंसो वासुदेवोऽहमेव ॥37॥

जो वैरागी मनुष्यों के सम्बन्ध को साँप की तरह छोड़ देता है, जो सुन्दर स्त्री को एक शवदेह की तरह छोड़ने के लिए तत्पर रहता है, और अन्तविहीन विषयों को विष जैसा मानता है, वह इस जगत् में परमहंस है और मैं वासुदेव भी वही हूँ।

इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यमेतदिहोच्यते ।
अहं सत्यं परं ब्रह्म मत्तः किञ्चिन्न विद्यते ॥38॥
उप समीपे यो वासो जीवात्मपरमात्मनोः ।
उपवासः स विज्ञेयो न तु कायस्य शोषणम् ॥39॥
कायशोषणमात्रेण का तत्र ह्यविवेकिनाम् ।
वल्मीकताडनादेव मृतः किं नु महोरगः ॥40॥
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥41॥

"यह सत्य है यह सत्य है, यही सत्य है, और मैं भी सत्य हूँ, मैं परब्रह्म हूँ, मुझसे अलग कुछ है ही नहीं"—ऐसा कहना चाहिए। जीवात्मा और परमात्मा के उप (अर्थात् समीप) में ऐक्य भाव से 'वास' करने को ही 'उपवास' कहा जाता है। बिना खाये शरीर के शोषण को उपवास नहीं कहा जाता। क्योंकि अनशन कर शरीर को सुखाने से अविवेकियों को क्या फल मिलता है? (कुछ नहीं) वल्मीक के ऊपर दण्डप्रहार से उसके भीतर रहा हुआ बड़ा साँप क्या मर जाता है भला? (नहीं ही) 'ब्रह्म है'—

ऐसा जो जानता है, वह परोक्षज्ञान ही है। और 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—ऐसा ज्ञान जो रखता है उसे साक्षात्कार कहा जाता है।

यस्मिन्काले स्वमात्मानं योगी जानाति केवलम्।
तस्मात्कालात्समारभ्य जीवनन्मुक्तो भवेदसौ ॥42॥
अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च ॥43॥
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते।
बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका।
सर्वचिन्तां समुत्सृज्य स्वस्थो भव सदा ऋभो ॥44॥

जिस काल में योगी अपने को केवल एक स्वरूप में जान लेता है, उसी क्षण वह जीवन्मुक्त हो जाता है। 'मै ब्रह्म हूँ'—ऐसा जब निश्चित ही हो गया तो वही निश्चय महात्माओं के मोक्ष का कारण बनता है। बन्धन और मोक्ष के लिए दो ही पद हैं—एक 'निर्मम' अर्थात् 'मेरा कुछ भी नहीं' वह मोक्ष के लिए है और दूसरा है—'मम' अर्थात् मेरा, यह बन्धन के लिए है। 'मम'—ऐसा मानते हुए प्राणी बन्धन में पड़ता है और 'निर्मम'—ऐसा मानकर प्राणी मुक्त होता है। हे ऋभु ! बाहर और भीतर की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। सभी चिन्ताओं का त्याग करके तुम स्वस्थ रहो।

सङ्कल्पमात्रकलनेन जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलने हि जगद्विलासः।
सङ्कल्पमात्रमिदमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य मामकपदं हृदि भावयस्व ॥45॥

केवल संकल्पों से ही यह समग्र जगत् है, और केवल संकल्पों के करने से ही इस सारे जगत् का विलास है। इसलिए इस निर्विकल्प पद का आश्रय करके तुम संकल्पों को छोड़ दो और हृदय में मेरे पद की भावना करो।

मच्चिन्तनं मत्कथनमन्योऽन्यं मत्प्रभाषणम्।
मदेकपरमो भूत्वा कालं नय महामते ॥46॥
चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावय ॥47॥
रागं नीरागतां नीत्वा निर्लेपो भव सर्वदा।
अज्ञानजन्यकर्त्रादिकारकोत्पन्नकर्मणा ॥48॥
श्रुत्युत्पन्नात्मविज्ञानप्रदीपो बाध्यते कथम्।
अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगस्थितौ ॥49॥

हे महाबुद्धिमान ! मेरा चिन्तन, मेरी कथा, परस्पर मेरे ही विषय में संभाषण और मुझ में ही परायण होकर तुम समय व्यतीत कर लो। इस जगत् में चैतन्य ही है, मात्र चैतन्य ही चैतन्य है। जैसे मैं चैतन्य हूँ, वैसे तुम भी चैतन्य ही हो, ये सभी लोग भी चैतन्य ही हैं—ऐसी भावना करो। राग को नीराग (रागाभाव) करके सर्वकाल में तुम निर्लेप ही हो जाओ। कर्ता आदि कारक तो अज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं। तो ऐसे (अज्ञानजनित) कर्मों से श्रुतियों से उत्पन्न हुआ आत्मज्ञानरूपी दीपक कैसे बुझ सकेगा ? इसलिए अनात्मभाव को छोड़कर जगत् की स्थिति में तुम निर्विकार हो जाओ।

एकनिष्ठतयान्तस्थसंविन्मात्रपरो भव ।
घटाकाशमठाकाशौ महाकाशे प्रतिष्ठितौ ॥50॥
एवं मयि चिदाकाशे जीवेशौ परिकल्पितौ ।
या च प्रागात्मनो माया तथान्ते च तिरस्कृता ॥51॥
ब्रह्मवादिभिरुद्गीता सा मायेति विवेकतः ।
मायातत्कार्यविलये नेश्वरत्वं न जीवता ॥52॥
ततः शुद्धश्चिदेवाहं व्योमवन्निरुपाधिकः ।
जीवेश्वरादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥53॥

और तुम एकनिष्ठता से केवल भीतर के अनुभूतिज्ञान में ही तत्पर हो जाओ। जैसे घड़े का आकाश और घर का आकाश महाकाश में ही अवस्थित रहे हैं, वैसे ही जीव और ईश्वर चैतन्य चिदाकाश ऐसे मुझमें ही तो कल्पित हुए हैं। पहले (अज्ञानावस्था में) माया का जो सम्बन्ध आत्मा को दिखाई देता है, वह अन्त में (ज्ञान होने के बाद तो) तिरस्कृत (निराकृत) हो जाता है। इसी कारण से ब्रह्मज्ञानी लोग विवेकदृष्टि से उसे माया कहते हैं, क्योंकि माया और उसके कार्य के नाश होने पर तो न तो ईश्वरत्व है, न ही जीवत्व है। इसके बाद तो शुद्ध और उपाधिरहित मैं चैतन्य ही अवशिष्ट रहता हूँ। जीव और ईश्वर आदि के रूप में चैतन्य मैं ही हूँ, और अचेतन भी तो मैं ही हूँ।

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥54॥
त्रिणाचिकादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः ।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवविश्रान्तिमाश्रिताः ॥55॥
तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ।
कार्या किन्तु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम् ॥56॥
अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यथा तथा ।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ॥57॥

ईक्षण से ('तदैक्षत') से लेकर प्रवेशपर्यन्त ('तत्सृष्ट्वा तदेवाविशत्') तक की सृष्टि तो ईश्वर की बनाई हुई है, और जाग्रत् अवस्था से लेकर मोक्षपर्यन्त का संसार जीव का बनाया हुआ है। त्रिणाचिक से लेकर योग तक के दर्शन ईश्वर की भ्रान्ति को प्राप्त हुए हैं। और लोकायत से लेकर सांख्य तक के दर्शन जीवतत्त्व तक पहुँचे हुए हैं। इसलिए मुमुक्षुओं को जीववाद में या ईश्वरवाद में बुद्धि करनी ही नहीं चाहिए, किन्तु निश्चल होकर ब्रह्मतत्त्व का ही चिन्तन करना चाहिए। जो लोग अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को जानते नहीं हैं, वे तो जिस किसी तरह किसी भ्रान्ति को ही प्राप्त हुए हैं। उनकी मुक्ति कहाँ है ? और उन्हें इस लोक में सुख भी कहाँ है ?

उत्तमाधमभावश्चेत्तेषां स्यादस्ति तेन किम् ।
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां प्रबुद्धः स्पृशते खलु ॥58॥
अज्ञाने बुद्धिविलये निद्रा सा भण्यते बुधैः ।
विलीनाज्ञानतत्कार्ये मयि निद्रा कथं भवेत् ॥59॥
बुद्धेः पूर्णविकासोऽयं जागरः परिकीर्त्यते ।
विकारादिविहीनत्वाज्जागरो मे न विद्यते ॥60॥

सूक्ष्मनाडिषु सञ्चारो बुद्धेः स्वप्नः प्रजायते ।
सञ्चारधर्मरहिते मयि स्वप्नो न विद्यते ॥61॥

उन लोगों का चाहे उत्तम भाव हो, या अधम भाव हो, पर इससे क्या है ? स्वप्न में राज्य मिले या भिक्षा मिले, पर जागा हुआ मनुष्य क्या उसका अनुभव कर सकता है ? (नहीं कर सकता।) जब बुद्धि का अज्ञान में लय होता है, तब विद्वान् लोग उसे निद्रा कहते हैं, परन्तु मुझमें तो अज्ञान और उसका कार्य—दोनों ही नष्ट हो चुके हैं, तो भला फिर मुझे निद्रा कहाँ से होगी ? बुद्धि के पूर्ण विकास होने को जाग्रदवस्था कहते हैं, पर मैं तो बुद्धि आदि विकारों से रहित ही हूँ, तो फिर मेरी कोई जाग्रत् अवस्था भी तो नहीं है। जब बुद्धि का सूक्ष्म नाड़ियों में संचार होता है, तब स्वप्नावस्था होती है, परन्तु मैं तो उस संचार धर्म से भी रहित ही हूँ, इसलिए मुझमें तो स्वप्नावस्था भी नहीं हैं।

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसावृते ।
स्वरूपं महदानन्दं भुङ्क्ते विश्वविवर्जितः ॥62॥
अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात् ।
स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः ॥63॥
दीर्घस्वप्नमिदं यत्तद्दीर्घं वा चित्तविभ्रमम् ।
दीर्घं वापि मनोराज्यं संसारं दुःखसागरम् ।
सुप्तेरुत्थाय सुप्त्यन्तं ब्रह्मैकं प्रविचिन्त्यताम् ॥64॥

सुषुप्ति के समय में सब कुछ अज्ञान से ढँक जाता है और इसीलिए सबका विलय हो जाता है। बाद में जगत् से रहित हुआ आत्मा बड़े ही आनन्दमय आत्मस्वरूप का अनुभव करता है। परन्तु उस अज्ञानावरण के विशेष के बिना ही जो मनुष्य केवल चैतन्य के अनुसरण से ही सब कुछ आत्ममय ही देखता है, वही साक्षात् विज्ञानी, वही शिव, वही विष्णु और वही ब्रह्म है। यह संसार एक लम्बा-सा सपना है, अथवा तो चित्त की लम्बी भ्रान्ति ही है, अथवा मन का लम्बा राज्य है, और वह दुःख का सागर ही है। इसलिए सोकर उठने के बाद फिर सोने के समय तक केवल ब्रह्म का ही चिन्तन करते रहना चाहिए।

आरोपितस्य जगतः प्रविलापनेन
चित्तं मदात्मकतया परिकल्पितं नः ।
शत्रून्निहत्य गुरुषट्कगणान्निपाताद्
गन्धद्विपो भवति केवलमद्वितीयः ॥65॥
अद्यास्तमेतु वपुराशशितारमास्तां
कस्तावताऽपि मम चिद्वपुषो विशेषः ।
कुम्भे विनश्यति चिरं समवस्थिते वा
कुम्भाम्बरस्य नहि कोऽपि विशेषलेशः ॥66॥

आरोपित जगत् का अत्यन्त लय कर देने से हमारा कल्पित चित्त केवल मेरा स्वरूप ही बनकर रह जाता है। इस प्रकार हमारे काम आदि शत्रुओं का (सभी का) विलय करके केवल आत्मरूप गन्धहस्ती अद्वितीय रह जाता है। अर्थात् केवल एक ही आत्मा अनुभव में आता है। यह शरीर चाहे आज ही अस्त हो जाए, या चाहे जहाँ तक चन्द्र-तारे रहें, वहाँ तक टिका रहे, पर इससे मेरे चैतन्य रूप शरीर में क्या विशेषता होगी ? (कुछ भी नहीं।) घड़े का चाहे तुरन्त नाश हो, या लम्बे काल तक

वह टिका रहे, तो भी उसे घड़े के भीतर रहने वाले आकाश में किसी भी प्रकार की लेशमात्र भी विशेषता नहीं आती है।

अहिनिर्ल्वयनी सर्पनिर्मोको जीववर्जितः ।
वल्मीके पतितस्तिष्ठेत्तं सर्पो नाभिमन्यते ॥67॥
एवं स्थूलं च सूक्ष्मं च शरीरं नाभिमन्यते ।
प्रत्यग्ज्ञानशिखिध्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहेतुके ।
नेति नेतीति रूपत्वादशरीरो भवत्ययम् ॥68॥

साँप के द्वारा उतार दी गई निर्जीव त्वचा (साँप की खाल), बिल (बाँबी) पर ही पड़ी रहती है। उसे साँप फिर अपनी नहीं मानता, उसी तरह ज्ञानी मनुष्य स्थूल शरीर को या सूक्ष्म शरीर को अपना नहीं मानता, क्योंकि प्रत्यगात्मा के ज्ञानरूप अग्नि से उसका मिथ्या-ज्ञान नष्ट हो चुका होता है, और 'नेति नेति'—'यह नहीं, यह नहीं'—ऐसे अनुभव से वह शरीर रहित ही हो जाता है।

शास्त्रेण न स्यात्परमार्थदृष्टिः कार्यक्षमं पश्यति चापरोक्षम् ।
प्रारब्धनाशात्प्रतिभाननाश एवं त्रिधा नश्यति चात्ममाया ॥69॥

पहले तो शास्त्रों के द्वारा परमार्थदृष्टि नहीं होती। बाद में अपरोक्ष ज्ञान को ही परमार्थ दृष्टि के लिए कार्यक्षम (समर्थ) माना जाता है, और बाद में (तीसरे सोपान में) प्रारब्ध कर्मों के नाश होने से मिथ्याज्ञान का नाश होता है और इस प्रकार तीन प्रकार से आत्मा की माया का नाश होता है।

ब्रह्मत्वे योजिते स्वामिञ्जीवभावो न गच्छति ।
अद्वैते बोधिते तत्त्वे वासना विनिवर्तते ॥70॥
प्रारब्धान्ते देहहानिर्मायेति क्षीयतेऽखिला ।
अस्तीत्युक्ते जगत्सर्वं सद्रसं ब्रह्म तद्भवेत् ॥71॥
भातीत्युक्ते जगत्सर्वं भानं ब्रह्मैव केवलम् ।
मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत् ।
जगत्त्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः ॥72॥
अज्ञानमेव न कुतो जगतः प्रसङ्गो
जीवेशदेशिकविकल्पकथातिदूरे ।
एकान्तकेवलचिदेकरसस्वभावे
ब्रह्मैव केवलमहं परिपूर्णमस्मि ॥73॥

हे स्वामी, जब 'स्व' (अपने) में ब्रह्मभाव जुड़ जाता है, तब जीवभाव प्राप्त ही नहीं होता, और जब अद्वैततत्त्व समझ में आता है, तब वासनाएँ दूर हो जाती हैं। प्रारब्ध का अन्त होने पर देह का त्याग होता है और इस तरह पूरी माया ही नष्ट हो जाती है। 'यह सारा जगत् ब्रह्म है'—ऐसा कहने में 'यह सारा जगत् सद् ब्रह्ममय ही है'—ऐसा ही अर्थ निकलता है। 'ब्रह्म प्रकाशित होता है'—ऐसा कहने में 'यह सारा जगत् केवल प्रकाशित होने के रूप में (उस अर्थ में) केवल ब्रह्म ही बन जाता है' ऐसा अर्थ निकलता है। मरुस्थल में जो जल दिखाई देता है, वह सब मरुभूमिरूप ही है, उसी प्रकार आत्मा का विचार करने से ये तीनों प्रकार के जगत् केवल चैतन्यरूप ही मालूम पड़ रहे हैं (जगद् रूप नहीं)। इस जगत् का अनुभव भला अज्ञान ही क्यों नहीं है ? और जब ऐसा ही है तब तो जीव ईश्वर और गुरु की कल्पना की तो बात ही क्या है ? (वे तो हैं ही नहीं) जब केवल एकमात्र एकरस चित् ही सब कुछ है तब मैं वही परिपूर्ण ब्रह्म हूँ।

बोधचन्द्रमसि पूर्णविग्रहे मोहराहुमुषितात्मतेजसि।
स्नानदानयजनादिकाः क्रिया मोचनावधि वृथैव तिष्ठते ॥74॥
सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिति कथ्यते ॥75॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥76॥
उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रकाशते ॥77॥

जिस ज्ञानरूपी चन्द्रमा का प्रकाश मोहरूपी राहु ने हर लिया है, वह ज्ञानचन्द्र पूर्ण शरीर वाला होने पर भी जबतक उस मोह राहु से उसका छुटकारा हो, तब तक तो स्नान, दान, यज्ञ आदि क्रियाएँ व्यर्थ ही हैं। जैसे पानी में नमक डालने से पानी के साथ उसकी समानता हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा और मन की जो एकता हो जाती है, उसे 'समाधि' कहा जाता है। सद्गुरु की दया के बिना विषयों का त्याग करना मुश्किल है, एवं तत्त्वदर्शन भी दुर्लभ है, तथा सहज अवस्था भी दुर्लभ ही है। जिसमें आत्मशक्ति का ज्ञान हो चुका हो, और जिसने सभी कर्मों का त्याग किया हो, ऐसे योगी को सहजावस्था आप ही आप प्राप्त हो जाती है। (प्रकाशित हो जाती है।)

रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः।
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले ॥78॥
मूर्च्छितो हरति व्याधिं मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां धत्ते ब्रह्मत्वं रसचेतसि ॥79॥
इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथस्तन्नाथं लयमाश्रय ॥80॥
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जीवति योगिनाम्।
उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि यो मनोवागगोचरः ॥81॥

रस (पारद) और मन दोनों की चंचलता स्वाभाविक है। जिसने पारद को बाँध लिया और मन को भी बाँध लिया हो उसके लिए इस धरती पर क्या सिद्ध नहीं हो सकता ? पारद और मन—दोनों मूर्च्छित होने पर रोगों को दूर करते हैं, वे दोनों मर जाते हैं, तो अन्य को जिलाते हैं, और अगर बँध जाते हैं तो खेचरता को प्राप्त करवाते हैं। (बँधा हुआ पारद आकाश में उड़ने की शक्ति देता है और बँधा हुआ मन खेचरी विद्या को प्राप्त करवाता है।) इस प्रकार पारद में और मन में ब्रह्मत्व है। मन इन्द्रियों का स्वामी है, प्राणवायु मन का नाथ (स्वामी) है, एवं प्राणों की आत्मा में लीनता होना प्राणों का नाथ (स्वामी) होना है। इसलिए तुम प्राण के नाथरूप उस लय का ही आश्रय करो। चेष्टारहित और निर्विकार होते हुए भी योगियों का वह लय जीवित ही रहता है। उसमें से सभी संकल्प उच्छिन्न हो गए होते हैं। समस्त चेष्टाएँ समाप्त हो गई होती हैं और वह मन एवं वाणी से अगोचर होता है। ऐसा लय केवल अनुभवगम्य ही होता है।

पुङ्खानुपुङ्खविषयेक्षणतत्परोऽपि
ब्रह्मावलोकनधियं न जहाति योगी।
सङ्गीततालयवाद्यवशं गतापि
मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव ॥82॥

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥83॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

जैसे नाच करती हुई नर्तकी, संगीत-ताल-लय-वाद्ययन्त्रादि की वशवर्ती होकर उन सबमें ध्यान रखती हुई भी अपने सर पर रखे गए घड़े का रक्षण करने में पूरा ध्यान रखती है, उसी तरह यह योगी भी एक के बाद दूसरे अविरत प्राप्त होते रहते विषयों को देखने में तत्पर होते हुए भी ब्रह्मदर्शन की बुद्धि का कभी त्याग नहीं करता। अपने साम्राज्य को चाहने वाले पुरुष को सभी चिन्ताओं का त्याग करके सावधानं चित्त से नाद का ही अनुसन्धान करना चाहिए।

यहाँ पर दूसरा अध्याय पूरा होता है।

❈

तृतीयोऽध्यायः

न हि नानास्वरूपं स्यादेकं वस्तु कदाचन ।
तस्मादखण्ड एवास्मि यन्मदन्यन्न किञ्चन ॥1॥
दृश्यते श्रूयते यद्यद्ब्रह्मणोऽन्यन्न तद्भवेत् ।
नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्परं ब्रह्माहमेव तत् ॥2॥
आनन्दरूपोऽहमखण्डबोधः परात्परोऽहं घनचित्प्रकाशः ।
मेघा यथा व्योम न च स्पृशन्ति संसारदुःखानि न मां स्पृशन्ति ॥3॥
सर्वं सुखं विद्धि सुदुःखनाशात्सर्वं च सद्रूपमसंत्य नाशात् ।
चिद्रूपमेव प्रतिभानयुक्तं तस्मादखण्डं मम रूपमेतत् ॥4॥

जो वस्तु एक ही हो, वह अनेकस्वरूप वाली हो ही नहीं सकती। इसलिए मैं अखण्ड ही हूँ, क्योंकि मुझसे अन्य कुछ है ही नहीं। जो-जो भी कुछ दिखाई पड़ता है, या सुनाई पड़ता है, वह सब ब्रह्म से अलग हो ही नहीं सकता, क्योंकि ब्रह्म नित्य, शुद्ध, विमुक्त, एक, अखण्ड, आनन्दरूप, अद्वैत, सत्य, ज्ञानमय और अनन्त है। ऐसा जो परब्रह्म है, वही मैं हूँ। मैं आनन्दरूप और अखण्ड ज्ञानमय हूँ। मैं परात्पर हूँ, मैं गाढ चैतन्यरूप प्रकाशवाला हूँ। जिस तरह बादल आकाश का स्पर्श नहीं करते, उसी तरह संसार के दु:ख मेरा स्पर्श नहीं करते। दु:खों का अत्यन्त नाश हो जाने से तुम सबको सुखरूप जानो। असत्य का नाश हो जाने से तुम सभी को सत्य ही मानो। जो-जो प्रतिभान से युक्त (सामने से दिखाई देने वाला) हो, वह सब चैतन्य का ही स्वरूप है, इसलिए मेरा अखंड रूप है।

न हि जनिर्मरणं गमनागमौ न च मलं विमलं न च वेदनम् ।
चिन्मयं हि सकलं विराजते स्फुटतरं परमस्य तु योगिनः ॥5॥
सत्यचिद्घनमखण्डमद्वयं सर्वदृश्यरहितं निरामयम् ।
यत्पदं विमलमद्वयं शिवं तत्सदाहमिति मौनमाश्रय ॥6॥
जन्ममृत्युसुखदुःखवर्जितं जातिनीतिकुलगोत्रदूरगम् ।
चिद्विवर्तजगतोऽस्यकारणं तत्सदाहमिति मौनमाश्रय ॥7॥
पूर्णमद्वयमखण्डचेतनं विश्वभेदकलनादिवर्जितम् ।
अद्वितीयपरसंविदंशकं तत्सदाहमिति मौनमाश्रय ॥8॥

जन्म नहीं है, मरण नहीं है, गमन नहीं है, आगमन नहीं है, मल नहीं है, निर्मल नहीं है और अनुभवज्ञान भी नहीं है, परन्तु सब चैतन्यमय ही प्रकाशित हो रहा है। यह सबसे पर स्वरूप योगी को

अति स्पष्ट दिखाई देता है। सत्य, चैतन्यमय, अखण्ड, अद्वैत, सर्वदृश्यरहित, निर्दोष, निर्मल, अद्वैत और कल्याणस्वरूप जो परमतत्त्व है, वह मैं हूँ, ऐसा मानकर मौन ही धारण किए रहो। जन्म, मृत्यु, सुख और दुःख से जो रहित है, जाति, नीति, कुल और गोत्र से भी जो रहित है (दूर है) तथा चैतन्य में प्रतीत होती हुई जगत् की भ्रान्ति का जो कारण है वही सदा मैं हूँ—ऐसा मानकर तुम मौन को ही धारण किए रहो। जो पूर्ण, अद्वैत, अखण्ड और चैतन्य है, और समग्र भेद (ज्ञान) से रहित होते हुए अद्वितीय परम संवेदना (ज्ञान) का अंश है, वही मैं हूँ ऐसा मानकर तुम मौन का ही आश्रय करके रहो।

केनाप्यबाधितत्वेन त्रिकालेऽप्येकरूपतः।
विद्यमानत्वमस्त्येतत्सद्रूपत्वं सदा मम ॥9॥
निरुपाधिकनित्यं यत्सुप्तौ सर्वसुखात्परम्।
सुखरूपत्वमस्त्येतदानन्दत्वं सदा मम ॥10॥
दिनकरकिरणैर्हि शार्वरं तमो निबिडतरं झटिति प्रणाशमेति।
घनतरभवकारणं तमो यद्धरिदिनकृत्प्रभया न चान्तरेण ॥11॥
मम चरणस्मरणेन पूजया च स्वकतमसः परिमुच्यते हि जन्तुः।
न हि मरणप्रभवप्रणाशहेतुर्मम चरणस्मरणादृतेस्ति किञ्चित् ॥12॥

यह मेरा पारमार्थिक स्वरूप किसी से भी बाधित नहीं होता। और वह तीनों काल में एकरूप ही होता है। इसलिए सदैव उसका अस्तित्व (सत्ता) रहता है। यह मेरा 'सत्' रूप है। उपाधिरहित और नित्य ऐसा जो तत्त्व सुषुप्ति के समय में सर्व सुखों से पर और सुखमय होता है, वही मेरी नित्य आनन्दमयता है। रात्रि का अतिगाढ अन्धकार जैसे सूर्य की किरणों से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही संसार कारणरूप अज्ञान का गाढ अन्धकार जो है, वह श्रीहरि की (भगवान् की) कान्ति के बिना नष्ट नहीं हो सकता। मेरे (परमेश्वर के) चरण का स्मरण और पूजन करने से प्राणी अपने अज्ञानान्धकार से छूट जाता है। इस प्रकार मेरे चरण के स्मरण के सिवा जन्म-मरण के नाश का और कोई कारण (उपाय) है ही नहीं।

आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया।
तथा चेद्विश्वकर्तारं को न मुच्येत बन्धनात् ॥13॥
आदित्यसन्निधौ लोकश्चेष्टते स्वयमेव तु।
तथा मत्सन्निधावेव समस्तं चेष्टते जगत् ॥14॥
शुक्तिकायां यथा तारं कल्पितं मायया तथा।
महदादि जगन्मायामयं मय्येव केवलम् ॥15॥
चण्डालदेहे पश्वादिस्थावरे ब्रह्मविग्रहे।
अन्येषु तारतम्येन स्थितेषु न तथाह्यहम् ॥16॥

जैसे मनुष्य धन की इच्छा से धनवान की आदरपूर्वक स्तुति करता है, वैसे ही जो विश्वकर्ता की स्तुति करता है, ऐसा कौन मनुष्य संसार के बन्धन से भला नहीं छूटेगा ? (छूट ही जाएगा।) सूर्य के सान्निध्य में मनुष्य आप ही आप जैसे चेष्टा करने लगता है, वैसे ही मेरे सान्निध्य में यह सारा जगत् चेष्टा करने लग जाता है। जैसे भ्रामक माया के कारण ही सीप में रूपा कल्पित ही होता है, वैसे ही मुझमें भी महत्तत्त्व आदि यह जगत् केवल माया के द्वारा दी कल्पित हुआ है। पारमार्थिक रूप से तो जगत् मिथ्या ही है, और केवल मैं ही सत्य हूँ। चाण्डाल के देह में, पशु आदि के देह में, स्थावरों में या ब्रह्मा के देह में तारतम्य से छोटा-बड़ापन दीखता है, वैसा मैं नहीं हूँ।

विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक्।
तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्मे भाति तन्न हि ॥17॥

न देहो नेन्द्रियप्राणो न मनोबुद्ध्यहङ्कृति ।
न चित्तं नैव माया च न च व्योमादिकं जगत् ॥18॥
न कर्ता नैव भोक्ता च न च भोजयिता तथा ।
केवलं चित्सदानन्दब्रह्मैवाहं जनार्दनः ॥19॥
जलस्य चलनादेव चञ्चलत्वं यथा रवेः ।
तथाहङ्कारसम्बन्धादेव संसार आत्मनः ॥20॥

दिशा का भ्रम होने वाले व्यक्ति को उस भ्रम के नाश होने पर पहले की ही तरह ठीक से दिशाएँ दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार विज्ञान से जगत् के उच्छिन्न हो जाने पर वह जगत् मुझे तो दीखता नहीं है। शरीर नहीं हैं, इन्द्रियाँ नहीं हैं, प्राण नहीं हैं, मन, बुद्धि और अहंकार भी नहीं है, चित्त नहीं है, माया नहीं है, आकाश आदि जगत् भी नहीं है, कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है और भोग कराने वाला भी नहीं है। केवल सत्ता और आनन्दस्वरूप चैतन्य जनार्दन मैं ही हूँ। (मेरे सिवा और कुछ है ही नहीं।) जैसे पानी के हिलने से उसमें प्रतिबिम्ब सूर्य भी हिलता-सा लगता है, उसी प्रकार अहंकार के सम्बन्ध से ही आत्मा का संसार होता है।

चित्तमूलं हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
हन्त चित्तमहत्तायां कैषा विश्वासता तव ॥21॥
क्व धनानि महीपानां ब्राह्मणाः क्व जगन्ति वा ।
प्राक्तनानि प्रयातानि गताः सर्गपरम्पराः ।
कोटयो ब्रह्मणां याता भूपा नष्टाः परागवत् ॥22॥
स चाध्यात्माभिमानोऽपि विदुषोऽप्यासुरत्वतः ।
विद्वानप्यासुरश्चेत्स्यान्निष्फलं तत्त्वदर्शनम् ॥23॥
उत्पाद्यमाना रागाद्या विवेकज्ञानवह्निना ।
यदा तदैव दह्यन्ते कुतस्तेषां प्ररोहणम् ॥24॥

संसार का मूल चित्त ही है, इस बात को प्रयत्नपूर्वक खोज लेना चाहिए। अरे रे ! चित्त की महत्ता में तुम्हें यह कैसा विश्वास है ? चित्त तो क्षुद्र से भी क्षुद्र है। राजाओं की धन-सम्पत्तियाँ कहाँ गईं ? ब्राह्मण बहुत से (ब्रह्मा भी) कहाँ चले गये ? बहुत से जगत् भी कहाँ रह गये हैं ? पहले की सृष्टियाँ, करोड़ों ब्रह्मा और बड़े-बड़े राजा भी धूल की तरह नष्ट हो गए हैं। विद्वान् को भी आसुरी भाव से 'मैं ऐसा हूँ' इस प्रकार का आध्यात्मिक अभिमान होता है। विद्वान् भी अगर ऐसे आसुरी भाववाला हो जाता है, तो उसका तत्त्वदर्शन मिथ्या ही होता है। रागादि जब उत्पन्न होते हैं, तब विवेकाग्नि–ज्ञानाग्नि से ही वे जल सकते हैं और उनके जल जाने के बाद फिर से उनका उगना कैसे संभव हो सकता है ? (इसलिए ज्ञान से उन्हें जला ही देना चाहिए।)

यथा सुनिपुणः सम्यक् परदोषेक्षणे रतः ।
तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बन्धनात् ॥25॥
अनात्मविदमुक्तोऽपि सिद्धिजालानि वाञ्छति ।
द्रव्यमन्त्रक्रियाकालयुक्त्याप्नोति मुनीश्वर ॥26॥
नात्मज्ञस्यैव विषय आत्मज्ञो ह्यात्ममात्रदृक् ।
आत्मनात्मनि सन्तृप्तोनाविद्यामनुधावति ॥27॥
ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान्विदुः ।
कथं तेषु किलात्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति ॥28॥

पराये दोषों को देखने में मनुष्य जितना निपुण होता है उतना ही अगर अपने दोषों को देखने में निपुण हो जाए, तो संसाररूप बन्धन से भला कौन नहीं छूटेगा ? (सभी छूट जाएँगे) जिसको आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ है, और जो जीवन्मुक्त नहीं हुआ है, वही सिद्धियों का समूह चाहता है । हे मुनीश्वर ! और द्रव्य, मंत्र, क्रिया, काल और अनेक युक्तियों से वह उन्हें प्राप्त कर भी लेता है, परन्तु आत्मा को जानने वाले का यह विषय नहीं है । आत्मवेत्ता पुरुष तो केवल आत्मा ही को देखता है, आत्मा में ही आत्मा के द्वारा सदैव तृप्त रहता है एवं अविद्या के पीछे दौड़ता नहीं है । जगत् के जितने भी पदार्थ हैं, उन्हें ज्ञानी लोग अविद्यामय ही समझते हैं । इसलिए जो पुरुष आत्मा को जानने वाला है, जिसने अविद्या छोड़ी है, वह अविद्या के पदार्थों में कैसे रत होगा ? (अर्थात् नहीं रहेगा)

द्रव्यमन्त्रक्रियाकालयुक्तयः साधुसिद्धिदाः ।
परमात्मपदप्राप्तो नोपकुर्वन्ति काश्चन ॥29॥
सर्वेच्छाकलनाशान्तावात्मलाभोदयाभिधः ।
स पुनः सिद्धिवाञ्छायां कथमर्हत्यचित्ततः ॥30॥

इति तृतीयोऽध्यायः ।

द्रव्य, मंत्र, क्रिया, काल और उनकी युक्तियाँ यद्यपि उत्तम सिद्धियों को देती तो हैं ही, परन्तु, परमात्मा के पद की प्राप्ति में वे सब किसी भी प्रकार का उपकार (सहाय) नहीं देतीं । जब सभी इच्छाओं का आकलन शान्त हो जाता है, तब आत्मलाभ का उदय (अर्थात् मोक्ष) होता है । और वह लाभ होने के बाद सिद्धि की इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है ? क्योंकि उस अवस्था में चित्त तो होता ही नहीं है ।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा हुआ ।

❋

चतुर्थोऽध्यायः

अथ ह ऋभुं भगवन्तं निदाघः पप्रच्छ जीवन्मुक्तिलक्षणमनुब्रूहीति ॥1॥
तथेति स होवाच । सप्तभूमिषु जीवन्मुक्ताश्चत्वारः ॥2॥
शुभेच्छा प्रथमा भूमिका भवति। विचारणा द्वितीया। तनुमानसी तृतीया । सत्त्वापत्तिस्तुरीया । असंसक्तिः पञ्चमी । पदार्थभावना षष्ठी । तुरीयगा सप्तमी ॥3॥
प्रणवात्मिका भूमिका अकारोकारमकारार्धमात्रात्मिका ॥4॥
स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभेदेनाकारादयश्चतुर्विधाः ॥5॥

किसी एक समय निदाघ ने भगवान् ऋभु से पूछा—'आप मुझे जीवन्मुक्ति का लक्षण बताइए ।' तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर ऋभु बोले—'ज्ञान की सात भूमिकाएँ हैं, उनमें से चार जीवन्मुक्त की स्थितिवाली होती हैं । पहली भूमिका शुभेच्छा है, दूसरी भूमिका विचारणा है, तीसरी भूमिका तनुमानसी है, चौथी भूमिका सत्त्वापत्ति है, पाँचवीं भूमिका असंसक्ति है, छठी भूमिका पदार्थभावना है और सातवीं भूमिका तुरीयगा है । प्रणवरूप (ओंकार रूप) भूमिका, अ-उ-म और अर्धमात्रारूप होती है । ये 'अकार' आदि भी स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी के भेद से प्रत्येक चार-चार प्रकार के होते हैं ।

तदवस्था जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाः ॥6॥
अकारस्थूलांशे जाग्रद्विश्वः । सूक्ष्मांशे तत्तैजसः । बीजांशे तत्प्राज्ञः । साक्ष्यंशे तत्तुरीयः ॥7॥
उकारस्थूलांशे स्वप्नविश्वः । सूक्ष्मांशे तत्तैजसः । बीजांशे तत्प्राज्ञः । साक्ष्यंशे तत्तुरीयः ॥8॥
मकारस्थूलांशे सुषुप्तविश्व । सूक्ष्मांशे तत्तैजसः । बीजांशे तत्प्राज्ञः । साक्ष्यंशे तत्तुरीयः ॥9॥
अर्धमात्रास्थूलांशे तुरीयविश्वः । सूक्ष्मांशे तत्तैजसः । बीजांशे तत्प्राज्ञः । साक्ष्यंशे तुरीयतुरीयः ॥10॥

उनकी अवस्थाएँ भी चार होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय । उनमें से अकार के स्थूल अंश में जाग्रदवस्था वाला विश्व होता है, सूक्ष्म अंश में जाग्रत् तैजस होता है, बीज अंश में जाग्रत् प्राज्ञ होता है और साक्षी अंश में जाग्रत् तुरीय होता है । अब उकार के स्थूल अंश में स्वप्न विश्व होता है, उसके सूक्ष्म अंश में स्वप्न तैजस होता है, बीज अंश में स्वप्न प्राज्ञ होता है और साक्षी अंश में स्वप्न तुरीय होता है । अब मकार के स्थूल अंश में सुषुप्ति अवस्था वाला विश्वात्मा होता है, उसके सूक्ष्म अंश में सुषुप्ति तैजस, उसके बीज अंश में सुषुप्ति प्राज्ञ और साक्षी अंश में सुषुप्ति तुरीय होता है । अब अर्धमात्रा के स्थूल अंश में तुरीयावस्था वाला विश्वात्मा होता है, उसके सूक्ष्म अंश में तुरीय तैजस होता है, उसके बीज़ अंश में तुरीय प्राज्ञ होता है और उसके साक्षी अंश में तुरीयतुरीय होता है ।

अकारतुरीयांशाः प्रथमद्वितीयतृतीयभूमिकाः । उकारतुरीयांशा चतुर्थी भूमिका । मकारतुरीयांशा पञ्चमी । अर्धमात्रातुरीयांशा षष्ठी । तदतीता सप्तमी ॥11॥

ऊपर बताई गई सात ज्ञान भूमिकाओं में से पहली, दूसरी और तीसरी भूमिकाएँ अकार के तुरीयांश रूप में है। चौथा भूमिका उकार के तुरीय अंश के रूप में हैं। पाँचवीं भूमिका मकार के तुरीयांश के रूप में है । छठी भूमिका अर्धमात्रा के तुरीयांश के रूप में है, और सप्तमी उन सभी अंशों से रहित है ।

भूमित्रयेषु विहरन्मुमुक्षुर्भवति । तुरीयभूम्यां विहरन्ब्रह्मविद्भवति । पञ्चमभूम्यां विहरन्ब्रह्मविद्वरो भवति । षष्ठभूम्यां विहरन्ब्रह्मविद्वरीयान्भवति । सप्तमभूम्यां विहरन्ब्रह्मविद्वरिष्ठो भवति ॥12॥

पहली तीन भूमिकाओं में विहार करने वाला मुमुक्षु होता है । चौथी भूमिका में विहार करने वाला ब्रह्मवेत्ता होता है, पाँचवीं भूमिका में विहार करने वाला ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ होता है, छठी भूमिका में विहार करने वाला ब्रह्मवेत्ताओं में अधिक श्रेष्ठ होता है तथा सातवीं भूमिका में विहार करने वाला ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठतम होता है ।

तत्रैते श्लोका भवन्ति—
ज्ञानभूमिः शुभेच्छा स्यात्प्रथमा समुदीरिता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी ॥1॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥2॥

इस विषय में ये श्लोक हैं—शुभेच्छा नाम की पहली ज्ञान भूमिका कही गई हैं। दूसरी विचारणा और तीसरी तनुमानसी है। चौथी सत्त्वापत्ति है, बाद में असंसक्ति नाम की है। छठी पदार्थ भावना है और सातवीं तुर्यगा कही गई है।

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्योऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥3॥
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥4॥
विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता ।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ॥5॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थविरतेर्वशात् ।
सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥6॥

'मैं क्यों मूढ़ ही बैठा रहा हूँ ?' 'ये शास्त्र और सज्जन मुझे ऐसा देख रहे हैं ?'—इस तरह की जो वैराग्यपूर्ण इच्छा होती है, इसे पण्डित लोग 'शुभेच्छा' कहते हैं। शास्त्रों और सज्जनों के संग से वैराग्य हो जाने पर सदाचार में अभ्यासपूर्वक जो प्रवृत्ति होती है, उसे 'विचारणा' कहा जाता है। इस तरह 'शुभेच्छा' और 'विचारणा' से विषयों के ऊपर का प्रेम जो पतला पड़ जाता है, उसे 'तनुमानसी' कहा जाता है। इन तीन भूमिकाओं के अभ्यास से मन में विषयों के प्रति वैराग्य आ जाने से चित्त जब शुद्धात्मा में स्थिर हो जाता है, तब उसे 'सत्त्वापत्ति' कहा गया है।

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफला तु या ।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥7॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया भृशम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥8॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रत्ययेनावबोधनम् ।
पदार्थभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका ॥9॥
षड्भूमिकाचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात् ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥10॥

इन चार भूमिकाओं के अभ्यास से जिस मनुष्य में असंगरूपी फल प्रकट होता है और सत्त्वगुण का चमत्कार रूढ़ बनता है, तब उसको 'असंसक्ति' कहा गया है। फिर इन पाँच भूमिकाओं के अभ्यास से अपनी आत्मा में ही अत्यन्त रमण करते हुए स्थित रहता है, और इससे बाहर-भीतर के किसी भी पदार्थ का भान नहीं रहता। उस समय तो कोई पदार्थ की पहचान करवाता है, तभी लम्बे समय के बाद पदार्थ की पहचान होती है। इसी को 'पदार्थभावना' नाम की छठी ज्ञानभूमिका कहते हैं। इन छः भूमिकाओं के लम्बे अभ्यास के बाद संसार में जो किसी प्रकार का भेद नहीं दीखता और केवल आत्मस्वभाव में ही तब जो एकनिष्ठा प्राप्त होती है, उसे 'तुर्यगा' नाम की सातवीं भूमिका जानना चाहिए।

शुभेच्छादित्रयं भूमिभेदाभेदयुतं स्मृतम् ।
यथावद्वेद बुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते ॥11॥
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते ।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं तुर्यभूमिसुयोगतः ॥12॥

विच्छिन्नशरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ।
सत्त्वावशेष एवास्ते हे निदाघ दृढीकुरु ॥13॥
पञ्चभूमिं समारुह्य सुषुप्तिपदनामिकाम् ।
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ॥14॥

शुभेच्छादि भूमिकाएँ भेदाभेदज्ञान से युक्त मानी जाती हैं। इसलिए इन अवस्थाओं में मनुष्य जाग्रत् अवस्था में इस जगत् को अपनी बुद्धि से अच्छी तरह से जानता है। फिर जब चौथी अवस्था का उत्तम योग होता है तब उसके कारण से अद्वतभाव स्थिर होता है, और द्वैतभाव का नाश हो जाता है। इसलिए इस भूमिका पर पहुँचे हुए लोग जगत् को स्वप्न जैसा ही देखते हैं। हे निदाघ ! इस चौथी भूमिका में जैसे शरद् ऋतु के बादलों के अंश छिन्नभिन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही द्वैत के अंशों का विलय हो जाता है। और केवल सत्त्व अंश ही शेष रहता है। इसलिए तुम उसी भूमिका को दृढ़ करो। बाद में पाँचवीं भूमिका पर आरूढ़ होने से बाकी बचे अंश भी नष्ट हो जाते हैं। मात्र अद्वैत–आत्मस्वरूप ही शेष रहता है। इसीलिए इस भूमिका को 'सुषुप्तिपद' नाम से कहा जाता है।

अन्तर्मुखतया नित्यं बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ।
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥15॥
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूम्यां सम्यग्विवासनः ।
सप्तमी गाढसुप्त्याख्या क्रमप्राप्ता पुरातनी ॥16॥
यत्र नासन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः ।
केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतेऽतिनिर्भयः ॥17॥

फिर छठी भूमिका में आकर बाहर की वृत्ति में परायण होने पर भी मनुष्य नित्य अन्तर्मुखता से ही रहता है और बड़ी थकान से मानो निद्रालु हो (नींद ले रहा हो) ऐसा दीखता है। इस तरह इस भूमिका का अभ्यास करते-करते बिल्कुल वासनारहित हो जाता है। और अन्त में 'गाढ सुषुप्ति' नाम की सातवीं भूमिका में क्रमशः जा पहुँचता है। यही भूमिका देहसम्बन्ध से पहले की पुरातनी अवस्था है। जहाँ सत् नहीं है, असत् भी नहीं है, अहंकार भी नहीं है, अनहंकार भी नहीं है। यहाँ केवल क्षीणमन वाला, वह अति निर्भय होकर अवस्थित रहता है।

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ॥18॥
मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥19॥
द्रष्टुदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज ॥20॥

वह मनुष्य भीतर से और बाहर से शून्य आकाश में रखे गए घड़े जैसा होता है। अथवा तो भीतर से पूर्ण और बाहर से भी पूर्ण सागर में रखे गए घड़े जैसा होता है। ग्रहण किए जाते हुए पदार्थ रूप तुम मत बनो। सभी भावनाओं का त्याग करके जो शेष बचे, उसी के रूप तुम हो जाओ। तुम द्रष्टा, दृश्य और दर्शन को अपनी वासनाओं के साथ छोड़ ही दो और बाद में दर्शन के प्रथम आभास रूप आत्मा का ही केवल उपासना (चिन्तन) करो।

यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च ।
अस्तंगतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते ॥21॥

**नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे मनःप्रभा ।
यथाप्राप्तस्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥22॥
यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥23॥
रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदच्छन्नः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥24॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥25॥**

जिसके आगे यह जो कुछ जैसा है, वैसा ही रहता हो, और सभी प्रकार का व्यवहार करते हुए भी जिसकी दृष्टि में सब कुछ अस्त ही हो गया हो और केवल आकाश ही रहा हो, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है । जिसकी मानसिक कान्ति सुख में उगती नहीं है, और दुःख में अस्त नहीं होती, परन्तु प्रथम की ही स्थिति यथास्थिति रहती हो, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है । जो सुषुप्ति में रहा हुआ भी जागता ही रहता है, जिसे लौकिक जाग्रदवस्था नहीं होती, और जिसका ज्ञान वासनारहित होता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । राग, द्वेष, भय आदि के योग्य वर्तन जो कर रहा तो हो, परन्तु भीतर तो आकाश की तरह ही जो निर्लेप (अनावृत) ही रहता हो, वह 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है । जो कुछ करता हो, या न करता हो परन्तु उसका भाव तो अहंकाररहित ही होता हो, तथा जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है ।

**यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥26॥
यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि शीतलः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥27॥
प्रजहाति यदा कामान्सर्वांश्चित्तगतान्मुने ।
मयि सर्वात्मके तुष्टः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥28॥
चैत्यवर्जितचिन्मात्रे पदे परमपावने ।
अक्षुब्धचित्तो विश्रान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥29॥
इदं जगदहं सोऽयं दृश्य जातमवास्तवम् ।
यस्य चित्ते न स्फुरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥30॥**

जिससे लोग उद्वेग प्राप्त नहीं करते और जो लोगों से उद्वेग प्राप्त नहीं करता और जो हर्ष, द्वेष तथा भय से रहित हुआ हो, वह 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है । व्यवहार के योग्य सभी पदार्थों के समूह मानो पराये ही हों, ऐसा समझकर उनके सम्बन्ध में जो शीतल ही रहता हो, उनके सम्बन्ध में राग-द्वेष से जो मुक्त रहता हो, वह पूर्णात्मा 'जीवन्मुक्त' कहलाता है । हे मुनि ! जब मनुष्य चित्त में रही हुई सभी कामनाओं को छोड़ देता है, और सर्वात्मा मुझमें (अन्तरात्मा में) ही संतुष्ट रहता है, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है । जाड्यरहित केवल परमपावन चिद्रूप स्थान में अक्षुब्ध (शान्त) चित्तवाला होकर जो विश्राम करता है, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है । 'यह जगत् मैं ही हूँ और जो यह सब दृश्य है वह मिथ्या है'— ऐसे ज्ञान से जिसके चित्त में आत्मातिरिक्त किसी का भी स्फुरण नहीं होता, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है ।

**सद्ब्रह्मणि स्थिरे स्फारे पूर्णे विषयवर्जिते ।
आचार्यशास्त्रमार्गेण प्रविश्याशु स्थिरो भवः ॥31॥**

शिवो गुरुः शिवो वेदः शिवो देवः शिवः प्रभुः ।
शिवोऽस्म्यहं शिवः सर्वं शिवादन्यन्न किञ्चन ॥32॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥33॥
शुको मुक्तो वामदेवोऽपि मुक्तस्ताभ्यां विना मुक्तिभाजो न सन्ति ।
शुकमार्गं येऽनुसरन्ति धीराः सद्यो मुक्तास्ते भवन्तीह लोके ॥34॥
वामदेवं येऽनुसरन्ति नित्यं मृत्वा जनित्वा च पुनःपुनस्तत् ।
ते वै लोके क्रममुक्ता भवन्ति योगैः सांख्यैः कर्मभिः सत्त्वयुक्तैः ॥35॥

सत्यस्वरूप ब्रह्म स्थिर, सर्वव्यापी, पूर्ण और विषयरहित है । उसमें आचार्य और गुरु के बताए हुए मार्ग पर शीघ्र ही प्रवेश करके तुम उसमें स्थिर हो जाओ । 'शिव गुरु है, शिव वेद है, शिव देव है और शिव प्रभु हैं । मैं शिव हूँ और यह सब शिव है, शिव से भिन्न कुछ है ही नहीं'—इस तरह उस परमात्मा को जानकर धीर पुरुष को उसी में बुद्धि करनी चाहिए । उसे अनेक शब्दों का विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह तो वाणी को थकाने वाला होता है । शुकदेव मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, वामदेव भी मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, उनके बिना अन्य लोग मुक्ति को प्राप्त नहीं हुए हैं । इसलिए जो धीर पुरुष शुकदेव के मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे इस लोक में शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं । और जो लोग वामदेव के मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे लोग बार-बार मरकर और बार-बार जन्म लेकर सांख्य से, योग से या सात्त्विक कर्मों से क्रम मुक्ति को प्राप्त करते हैं ।

शुकश्च वामदेवश्च द्वे सृती देवनिर्मिते ।
शुको विहङ्गमः प्रोक्तो वामदेवः पिपीलिका ॥36॥
अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन वा ।
महावाक्यविचारेण सांख्ययोगसमाधिना ॥37॥
विदित्वा स्वात्मनो रूपं संप्रज्ञातसमाधितः ।
शुकमार्गेण विरजाः प्रयान्ति परमं पदम् ॥38॥
यमाद्यासनजायासहठाभ्यासात्पुनःपुनः ।
विघ्नबाहुल्यसंजात अणिमादिवशादिह ॥39॥

देवों ने शुक और वामदेव—ऐसे दो मार्ग निर्माण किए हैं । शुक पक्षी होता है और वामदेव चींटी होती है । (गति के परिमाण में ।) 'नेति-नेति'—ऐसे वेदोक्त अतद्व्यावृत्ति के रूप में अथवा साक्षात् विधिमुख से, महावाक्यों के विचार से अथवा तो सांख्य और योग की समाधि द्वारा अपने स्वरूप को जानकर संप्रज्ञात समाधि के द्वारा जो रजोगुणरहित हो जाते हैं वे लोग शुक के मार्ग से परमपद को प्राप्त करते हैं । यम आदि तथा आसन आदि करने से जो परिश्रम उत्पन्न होता है उसके तथा हठयोग के बार-बार अभ्यास करने से विघ्न बाहुल्य होता है और अणिमादि सिद्धियों से भी प्रमाण में समुचित फल प्राप्त नहीं होता ।

अलब्ध्वापि फलं सम्यक्पुनर्भूत्वा महाकुले ।
पुनर्वासनयैवायं योगाभ्यासं पुरश्चरन् ॥40॥
अनेकजन्माभ्यासेन वामदेवेन वै पथा ।
सोऽपि मुक्तिं समाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥41॥
द्वाविमावपि पन्थानौ ब्रह्मप्राप्तिकरौ शिवौ ।

सद्योमुक्तिप्रदश्चैकः क्रममुक्तिप्रदः परः ।
अत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥42॥
यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्तते ।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः ॥43॥
खेचरा भूचराः सर्वे ब्रह्मविद्दृष्टिगोचराः ।
सद्य एव विमुच्यन्ते कोटिजन्मार्जितैरघैः ॥44॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

यद्यपि इससे अच्छा (योग्य) फल तो नहीं मिलता, पर वह अच्छे कुल में जन्म प्राप्त करता है, और उस जन्म से वह पूर्व-जन्म की वासना से फिर से अपने योगाभ्यास को आगे बढ़ाता है । इस प्रकार अनेक जन्मों तक अभ्यास करने से वामदेव के मार्ग से वह भी विष्णु के परमधाम रूप मुक्ति को प्राप्त करता है । ये दोनों मार्ग ब्रह्मप्राप्ति कराने वाले और कल्याणस्वरूप हैं । उनमें से एक मार्ग सद्योमुक्ति (तुरन्तमुक्ति) देता है और दूसरा मार्ग क्रममुक्ति देने वाला है । जो मनुष्य सर्वत्र एक आत्मा को ही देखता है, उसको इस लोक में क्या मोह हो सकता है ? और क्या शोक भी हो सकता है ? जिसकी बुद्धि अनुभव-पर्यन्त एक तत्त्व के विचार में ही प्रवर्तमान होती है, उसकी दृष्टि में जो लोक आते हैं, वे सभी पापों से छूट जाते हैं । आकाशविहारी हों या धरती पर विचरण करने वाले हों—वे सभी जीव ब्रह्मवेत्ता पुरुष की दृष्टि पर पड़ते हैं कि तुरन्त ही वे करोड़ों जन्मों के पापों से मुक्त हो जाते हैं ।

यहाँ चौथा अध्याय पूरा हुआ ।

※

पञ्चमोऽध्यायः

अथ हैनं ऋभुं भगवन्तं निदाघः प्रप्रच्छ योगाभ्यासविधिमनुब्रूहीति ।
तथेति स होवाच—
पञ्चभूतात्मको देह पञ्चमण्डलपूरितः ।
काठिन्यं पृथिवी ह्येका पानीयं तद्द्रवाकृति ॥1॥
दीपनं च भवेत्तेजः प्रचारो वायुलक्षणम् ।
आकाशतत्त्वतः सर्वं ज्ञातव्यं योगमिच्छता ॥2॥

फिर निदाघ ने भगवान् ऋभु से पूछा—'मुझे योगाभ्यास की विधि बताइए ।' तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर ऋभु बोले—शरीर पंचभूतात्मक है और पाँच मण्डलों से भरा हुआ है । उनमें जहाँ कठिनता है, वह पृथ्वी है । जहाँ प्रवाह का आकार है, वह जल है । जठर में जो अग्नि जलती है वह तेज है । जो प्रसरण (आना-जाना) है वह वायु है । और जो कुछ खाली है, वह आकाशतत्त्व के कारण से है । योग के जिज्ञासु को यह सब जान लेना चाहिए ।

षट्शतान्यधिकान्यत्र सहस्राण्येकविंशतिः ।
अहोरात्रवहैः श्वासैर्वायुमण्डलघाततः ॥3॥
तत्पृथ्वीमण्डले क्षीणे वलिरायाति देहिनाम् ।
तद्वदापोगणापाये केशाः स्युः पाण्डुराः क्रमात् ॥4॥
तेजःक्षयेऽक्षुधा कान्तिर्नश्यते मारुतक्षये ।
वेपथुः संभवेन्नित्यं नाम्भसेनैव जीवति ॥5॥

इत्थं भूतक्षयान्नित्यं जीवितं भूतधारणम् ।
उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ॥6॥

वायुमण्डल के आघात से इस शरीर में एक रात-दिन के सामान्यतया इक्कीस हजार छः सौ श्वास-प्रश्वास चल रहे हैं। प्राणियों में जब पृथ्वीमंडल (तत्व) कम पड़ जाता है, तो शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, जब जल कम पड़ जाता है, तो क्रमशः केश सफेद हो जाते हैं, जब तेजोभाग कम पड़ जाता है, तो ठीक तरह से भूख नहीं लगती तथा कान्ति नष्ट होती है, जब वायुभाग की कमी पड़ जाती है, तो शरीर में नित्य कँपकँपी होती है। और अकेले जल या अकेले आकाश से कोई जी नहीं सकता। इस प्रकार नित्य ही भूतों का क्षय होता रहता है। इसलिए भूतों को धारण किए रहना (भूत धारण करना) ही जीवन है। इसी कारण से बड़े-बड़े पक्षी अविच्छिन्न रीति से सतत ही उड़ते रहते हैं।

उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ।
उड्डियाणो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥7॥
तस्य मुक्तिस्तनोः कायात्तस्य बन्धो हि दुष्करः ।
अग्नौ तु चालिते कुक्षौ वेदना जायते भृशम् ॥8॥
न कार्या क्षुधितेनापि नापि विण्मूत्रवेगिना ।
हितं मितं च भोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा ॥9॥
मृदुमध्यममन्त्रेषु क्रमान्मन्त्रं लयं हठम् ।
लयमन्त्रहठा योगा योगो हृष्टाङ्गसंयुतः ॥10॥

इसी को उड्डियाणबन्ध कहा जाता है। इस उड्डियाणबन्ध को यदि हमारे शरीर में प्रतिदिन किया जाए, तब मृत्युरूप हाथी का नाश करने में वह केसरी (सिंह) जैसा होता है। शरीर से इसकी मुक्ति भी हो सकती है परन्तु निर्दिष्ट पुरुष के लिए यह उड्डियाणबन्ध दुष्कर है, क्योंकि अग्नि को जब चलायमान किया जाता है, तब पेट में बड़ी वेदना होती है, इसलिए भूखे मनुष्य को और विष्टा-मूत्र के वेग वाले मनुष्य को यह उड्डियाणबन्ध नहीं करना चाहिए। जिसे योगक्रिया करनी हो, उसे हितकारी, थोड़ा-थोड़ा और प्रमाणपुरःसर (प्रमाण के अनुसार) खाना चाहिए। इस प्रकार विविध खाद्यों से क्षुधाशान्ति करके मृदु = लय, मध्यम = हठ और मन्त्र = नादानुसन्धान—इन योगों की साधना करनी चाहिए। इन तीन योगों में प्रथम क्रम लययोग का, द्वितीय मन्त्रयोग का और तीसरा क्रम हठयोग का है। उनमें हठयोग यम आदि आठ अंगों वाला होता है।

यमश्च नियमश्चैव तथा चासनमेव च ।
प्राणायामस्तथा पश्चात्प्रत्याहारस्तथा परम् ॥11॥
धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमो भवेत् ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ॥12॥
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ।
तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ॥13॥
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ।
एते हि नियमाः प्रोक्ता दशधैव महामते ॥14॥

हे बुद्धिमान ! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार, ध्यान और आठवीं समाधि—ये आठ योग के अंग हैं। इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सरलता), क्षमा, धैर्य, मिताहार तथा बाहर-भीतर की पवित्रता—ये दश यम हैं। इसी प्रकार तप,

सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, लज्जा, मनन, जप और व्रत—ये दस नियम कहे जाते हैं।

एकादशासनानि स्युश्चक्रादि मुनिसत्तम।
चक्रं पद्मासनं कूर्म मयूरं कुक्कुटं तथा ॥15॥
वीरासनं स्वस्तिकं च भद्रं सिहासनं तथा।
मुक्तासनं गोमुखं च कीर्तितं योगवित्तमैः ॥16॥
सव्योरु दक्षिणे गुल्फे दक्षिणं दक्षिणेतरे।
निदध्यादृजुकायस्तु चक्रासनमिदं मतम् ॥17॥

हे मुनिश्रेष्ठ! चक्र आदि आसन ग्यारह हैं। चक्रासन, पद्मासन, कूर्मासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, सिंहासन, मुक्तासन और गोमुखासन—ये ग्यारह आसन योगवेत्ताओं ने कहे हैं। (यहाँ ग्यारह आसन कहे हैं, जब कि जाबालदर्शनोपनिषद् में नौ आसन बताए हैं। यहाँ पर चक्रासन और कूर्मासन—दो ज्यादा बताए गए हैं। उनमें से चक्रासन का स्वरूप तो यहाँ बताया गया है, अन्य आसनों के स्वरूप जाबालदर्शनोपनिषत् में बताए गए हैं। कूर्मासन के विषय में जिज्ञासु को किसी योग्य गुरु के पास जाकर उसकी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए।) जब बाँयीं जाँघ दाहिने टखने पर और दाहिनी जाँघ बाँयें टखने पर रखी जाए और शरीर एकदम सीधा रखा जाय, तब उसे चक्रासन माना गया है।

पूरकः कुम्भकस्तद्वद्रेचकः पूरकः पुनः।
प्राणायामः स्वनाडीभिस्तस्मान्नाडीः प्रचक्षते ॥18॥
शरीरं सर्वजन्तूनां षण्णवत्यङ्गुलात्मकम्।
तन्मध्ये पायुदेशात्तु द्व्यङ्गुलात्परतः परम् ॥19॥
मेढ्रदेशादधस्तात्तु द्व्यङ्गुलान्मध्यमुच्यते।
मेढ्रान्नताङ्गुलादूर्ध्वं नाडीनां कन्दमुच्यते ॥20॥
चतुरङ्गुलमुत्सेधं चतुरङ्गुलमायतम्।
अण्डाकारं परिवृतं मेदोमज्जास्थिशोणितैः ॥21॥

पूरक, कुंभक और रेचक—इस तीन प्रकार का प्राणायाम होता है। वह अपनी नाड़ियों के द्वारा ही होता है, इसलिए नाडियाँ कही जाती हैं। सभी प्राणियों का (मनुष्यों का) शरीर छियानबे अंगुल के प्रमाण का होता है। इस शरीर में गुदा के ऊपर दो अंगुल और लिंग प्रदेश के नीचे दो अंगुल को शरीर का मध्यप्रदेश कहा जाता है। और लिंग के नीचे—एक अंगुल ऊँचे नाड़ियों का कन्द (मूल स्थान) कहा जाता है। वह चार अंगुल ऊँचा, चार अंगुल लम्बा-चौड़ा, अण्ड जैसे आकार का है और मेद, मज्जा, हड्डियों और रक्त से आवृत है।

तत्रैव नाडीचक्रं तु द्वादशारं प्रतिष्ठितम्।
शरीरं ध्रियते येन वर्तते तत्र कुण्डली ॥22॥
ब्रह्मरन्ध्रं सुषुम्णा या वदनेन पिधाय सा।
अलम्बुसा सुषुम्णायाः कुहूनाडी वसत्यसौ ॥23॥
अनन्तरारयुग्मे तु वारुणा च यशस्विनी।
दक्षिणारे सुषुम्णायाः पिङ्गला वर्तते क्रमात् ॥24॥

तदन्तरारयोः पूषा वर्तते च पयस्विनी ।
सुषुम्ना पश्चिमे चारे स्थिता नाडी सरस्वती ॥25॥

वहीं नाड़ीचक्र स्थित है । वह बारह आराओं वाला है । इसी के द्वारा शरीर धारण किया जाता है । उसमें कुण्डली अवस्थित है । नाड़ीचक्र में जो सुषुम्ना नाड़ी है, उसने अपने मुख से ब्रह्मरन्ध्र को ढँककर रखा है । अलम्बुसा और कुहू नाड़ियाँ सुषुम्णा के पास में होती हैं और सुषुम्णा के दाहिनी ओर के आरे में पिंगला नाड़ी अवस्थित है । इसके बाद के दो आरों में पूषा और यशस्विनी—ये दो नाड़ियाँ हैं, और सुषुम्ना के पश्चिम के आरे में सरस्वती नाड़ी है ।

शङ्खिनी चैव गान्धारी तदनन्तरयोः स्थिते ।
उत्तरे तु सुषुम्नाया इडाख्या निवसत्यसौ ॥26॥
अनन्तरं हस्तिजिह्वा ततो विश्वोदरी स्थिता ।
प्रदक्षिणक्रमेणैव चक्रस्यारेषु नाडयः ॥27॥
वर्तन्ते द्वादश ह्येता द्वादशानिलवाहकाः ।
पटवत्संस्थिता नाड्यो नानावर्णाः समीरिताः ॥28॥
पटमध्यं तु यत्स्थानं नाभिचक्रं तदुच्यते ।
नादाधारा समाख्याता ज्वलन्ती नादरूपिणी ॥29॥
पररन्ध्रा सुषुम्ना च चत्वारो रत्नपूरिताः ।
कुण्डल्या पिहितं शश्वद्ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्यमम् ॥30॥

इसके बाद के दो आरों में शंखिनी और गान्धारी नाड़ियाँ हैं । सुषुम्ना के उत्तर भाग में इडा नाम की नाड़ी रहती है । इसके बाद हस्तिजिह्वा और विश्वोदरी नाडियाँ आयी हुई हैं । इस तरह इस नाडी चक्र के आराओं में दाहिनी ओर के प्रदक्षिणा के क्रम से नाडियाँ आई हुई हैं । ये बारह नाडियाँ हैं । उनमें बारह वायु बह रहे हैं । वे वस्त्र की तरह रही हुई हैं और तरह-तरह के रंगों वाली कही गई हैं । नाभि प्रदेश का जो मध्य स्थान है, उसे नाभिचक्र कहा जाता है । और जो नाडीनाद का आधार है उसे ज्वलन्ती और नादरूपिणी कहा गया है । पररन्ध्रा और सुषुम्ना आदि चार रत्नों से भरपूर हैं । और ब्रह्मरन्ध्र का मध्यभाग सदैव कुण्डली के द्वारा ढँका हुआ ही रहता है । (आवृत होकर रहता है ।)

एवमेतासु नाडीषु धरन्ति दश वायवः ।
एवं नाडीगतिं वायुगतिं ज्ञात्वा विचक्षणः ॥31॥
समग्रीवशिरःकायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ।
नासाग्रे चैव हृन्मध्ये बिन्दुमध्ये तुरीयकम् ॥32॥
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः ।
अपानं मुकुलीकृत्य पायुमाकृष्य चोन्मुखम् ॥33॥
प्रणवेन समुत्थाप्य श्रीबीजेन निवर्तयेत् ।
स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः ॥34॥

इस प्रकार इन नाडियों में दश वायु धारण किए जाते हैं । इस तरह नाडीगति और वायुगति को जानकर बुद्धिमान मनुष्य को गर्दन, मस्तक और शरीर को सीधा रखकर, मुँह बन्द करके, एकदम निश्चल होकर बैठना चाहिए और नासिका के अग्रभाग में, हृदय के बीच में और बिन्दु के बीच जो तुरीय पद अवस्थित है, उसे एकदम एकाग्र होकर, दोनों नेत्रों से उससे होता हुआ अमृत का स्रवण देखना चाहिए । फिर बाद में अपानवायु का संकोच करके गुदा को ऊँचे खींचना चाहिए । इस प्रकार प्रणवमंत्र

के द्वारा ठीक तौर से उसे ऊपर स्थापित करके लक्ष्मीबीज के द्वारा उसे वापिस लौटाना चाहिए। उस समय अपने आत्मा का लक्ष्मी के रूप में ध्यान करना चाहिए। इससे अमृत के द्वारा तरबतर हुआ जा सकता है।

कालवञ्चनमेतद्धि सर्वमुख्यं प्रचक्षते।
मनसा चिन्तितं कार्यं मनसा येन सिद्धयति ॥35॥
जलेऽग्निज्वलनाच्छाखापल्लवानि भवन्ति हि।
नाधन्यं जागतं वाक्यं विपरीता भवत्क्रिया ॥36॥
मार्गे बिन्दुं समाबध्य वह्निं प्रज्वाल्य जीवने।
शोषयित्वा तु सलिलं तेन कायं दृढं भवेत् ॥37॥
गुदयोनिसमायुक्त आकुञ्चत्येककालतः।
अपानमूर्ध्वगं कृत्वा समानोऽन्ने नियोजयेत् ॥38॥

इसे ही सभी में मुख्य कालवञ्चन कहा जाता है। इसी के द्वारा मन में चिन्तित कार्य मन में ही सिद्ध हो जाता है। ''जल स्थान में अग्नि प्रकट करने से भी शाखाएँ और कोंपलें प्रस्फुटित होती हैं— यह जो जगत् का वाक्य है, वह यहाँ अधन्य (अकृतार्थ) नहीं होता (कृतार्थ ही होता है), यहाँ विपरीत क्रिया होती ही है। मार्ग में बिन्दु को बाँधकर, जीवन में अग्नि को प्रज्वलित करके जल को सुखा देना चाहिए, इससे शरीर दृढ़ (मजबूत) बनता है। गुदारूप मूल स्थान में एकाग्र होकर एक ही समय में (उसी समय) अपानवायु का संकोच भी करना चाहिए। और इस तरह उसे ऊर्ध्वगामी बनाकर समान के रूप में जठर के अन्न के साथ जोड़ना चाहिए।

स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः।
बलं समारभेद्योगं मध्यमद्वारभागतः ॥39॥
भावयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानसुयोगतः।
एष योगो वरो देहे सिद्धिमार्गप्रकाशकः ॥40॥
यथैवापाङ्गतः सेतुः प्रवाहस्य निरोधकः।
तथा शरीरगाच्छाया ज्ञातव्या योगिभिः सदा ॥41॥
सर्वासामेव नाडीनामेष बन्धः प्रकीर्तितः।
बन्धस्यास्य प्रसादेन स्फुटीभवति देवता ॥42॥

उस समय अपने आत्मा का लक्ष्मी के रूप में ध्यान करना चाहिए। इससे अमृत में तरबतर हुआ जा सकता है। यह योग बलरूप है। इसका बीच के द्वारभाग से आरंभ करना चाहिए। प्राण और अपान का सुयोग करके उसकी ऊर्ध्वगति की भावना करनी चाहिए। यह उत्तम योग है और देह में सिद्धि का मार्ग प्रकट करने वाला है। जैसे बीच में मेंड़ (बाँध) बाँधी हो, तो वह पानी के प्रवाह को रोकती है, वैसे ही योगियों के शरीर की छाया के बारे में समझना चाहिए। इसे 'सर्वनाडीबन्ध' कहा जाता है। इस बन्ध के सिद्ध होने पर आत्मारूप देवता स्फुट हो जाता है।

एवं चतुष्पथो बन्धो मार्गत्रयनिरोधकः।
एकं विकासयन्मार्गं येन सिद्धाः सुसङ्गताः ॥43॥
उदानमूर्ध्वगं कृत्वा प्राणेन सह वेगतः।
बन्धोऽयं सर्वनाडीनामूर्ध्वं याति निरोधकः ॥44॥

अयं च सम्पुटो योगो मूलबन्धोऽप्ययं मतः ।
बन्धत्रयमनेनैव सिद्ध्यत्यभ्यासयोगतः ॥45॥
दिवारात्रमविच्छिन्नं यामे यामे यदा यदा ।
अनेनाभ्यासयोगेन वायुरभ्यसितो भवेत् ॥46॥

इस प्रकार चार मार्ग वाला यह बन्ध तीन मार्गों को रोकता है, एवं एक मार्ग को खुला कर देता है, जिससे सिद्ध हुए मनुष्यों ने अच्छी तरह से आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लिया है। प्राण के साथ उदान वायु को ऊर्ध्वगामी करके तुरन्त ही यह नाडियों का बन्ध किया जा सकता है। वह निरोधक है, इसलिए ऊपर ही ऊपर जाता है। यह सम्पुट योग है। इसे 'मूलबन्ध' भी माना गया है। इसका अभ्यास करने से अन्य तीन बन्ध इसी के द्वारा सिद्ध हो जाते हैं। रात-दिन और प्रहर-प्रहर पर जिस समय इसका अभ्यास किया जाता है, उस-उस समय वायु वश में आने लगता है।

वायावभ्यसिते वह्निः प्रत्यहं वर्धते तनौ ।
वह्नौ विवर्धमाने तु सुखमन्नादि जीर्यते ॥47॥
अन्नस्य परिपाकेन रसवृद्धिः प्रजायते ।
रसे वृद्धिं गते नित्यं वर्धन्ते धातवस्तथा ॥48॥
धातूनां वर्धनेनैव प्रबोधो वर्धते तनौ ।
दह्यन्ते सर्वपापानि जन्मकोट्यर्जितानि च ॥49॥
गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम् ।
शिवस्य बिन्दुरूपस्य स्थानं तद्धि प्रकाशकम् ॥50॥

इस प्रकार वायु को वश करने का अभ्यास होने पर शरीर में प्रतिदिन अग्नि बढ़ता रहता है और अग्नि के बढ़ने से अन्न आदि आसानी से पच जाते हैं। अन्न का ठीक तरह से पाचन होने से रस की वृद्धि होती है, और रस की वृद्धि होने से दिन-प्रति-दिन धातु की वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार से धातुओं के बढ़ने से शरीर में ज्ञान बढ़ जाता है, और करोड़ों जन्मों के सभी पाप जल जाते हैं। गुदा और लिंग के बीच में मूलाधार अवस्थित है, उसके तीन कोने हैं और वही स्थान बिन्दुरूप शिव का प्रकाशक स्थान है।

यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता ।
यस्मादुत्पद्यते वायुर्यस्माद्वह्निः प्रवर्धते ॥51॥
यस्मादुत्पद्यते बिन्दुर्यस्मान्नादः प्रवर्धते ।
यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः ॥52॥
मूलाधारादिषट्चक्रं शक्तिस्थानमुदीरितम् ।
कण्ठादुपरि मूर्धान्तं शाम्भवं स्थानमुच्यते ॥53॥
नाडीनामाश्रयः पिण्डो नाड्यः प्राणस्य चाश्रयः ।
जीवस्य निलयः प्राणो जीवो हंसस्य चाश्रयः ॥54॥

वहाँ पर कुण्डलिनी नाम की पराशक्ति का स्थान है। वहाँ से वायु उत्पन्न होता है, और वहीं से अग्नि भी बढ़ती है। वहाँ से बिन्दु उत्पन्न होता है, वहीं से नाद बढ़ता है, वहीं से 'हंस' (सोऽहं मंत्र) भी उत्पन्न होता है, और वहीं से मन उत्पन्न होता है। मूलाधार आदि छः चक्र शक्ति का स्थान कहलाते हैं, और कण्ठ के ऊपर, मस्तक तक 'शांभव स्थान'—आत्मा का स्थान कहा जाता है। यह देह

नाडियों का आश्रयस्थान है, एवं नाडियाँ प्राण का आश्रय है, प्राण जीव का आश्रयस्थान है और जीव का परमात्मा आश्रयस्थान है।

हंसः शक्तेरधिष्ठानं चराचरमिदं जगत्।
निर्विकल्पः प्रसन्नात्मा प्राणायामं समभ्यसेत् ॥55॥
सम्यग्बन्धत्रयस्थोऽपि लक्ष्यलक्षणकारणम्।
वेद्यं समुद्धरेन्नित्यं सत्यसन्धानमानसः ॥56॥
रेचकं पूरकं चैव कुम्भमध्ये निरोधयेत्।
दृश्यमाने परे लक्ष्ये ब्रह्मणि स्वयमाश्रितः ॥57॥
बाह्यस्थविषयं सर्वं रेचकः समुदाहृतः।
पूरकं शास्त्रविज्ञानं कुम्भकं स्वगतं स्मृतम् ॥58॥

वह हंस शक्ति का मूल स्थान है। वही स्थावर-जंगम जगत् है—ऐसा समझकर, विकल्परहित होकर प्राणायाम का अच्छी तरह से अभ्यास करना चाहिए। जिस मनुष्य को सत्य का (आत्मतत्त्व का) अनुसन्धान करने की मनीषा हुई हो, उसको तीनों बन्धों में अच्छी तरह रहते हुए भी लक्ष्य-लक्षण का कारण और नित्य जाननेयोग्य परम तत्त्व को खोज निकालना चाहिए। परब्रह्मरूप प्रत्यक्ष लक्ष्य में अपनी स्थिति करके रेचक और पूरक प्राणायाम को कुंभक के बीच में रोककर बहुत अभ्यास करके अन्त में कुंभक में स्थिति कर देनी चाहिए। बाहर के सभी विषय रेचक कहलाते हैं। शास्त्रों का अनुभव ज्ञान पूरक है और अपने में रहा हुआ परम तत्त्व कुंभक कहलाता है।

एवमभ्यासचित्तश्चेत्स मुक्तो नात्र संशयः।
कुम्भकेन समारोप्य कुम्भकेनैव पूरयेत् ॥59॥
कुम्भेन कुम्भयेत्कुम्भं तदन्तस्थः परं शिवम्।
पुनरास्फालयेदद्य सुस्थिरं कण्ठमुद्रया ॥60॥
वायूनां गतिमावृत्य धृत्वा पूरककुम्भकौ।
समहस्तयुगं भूमौ समं पादयुगं तथा ॥61॥
वेधकक्रमयोगेन चतुष्पीठं तु वायुना।
आस्फालयेन्महामेरुं वायुवक्त्रे प्रकोटिभिः ॥62॥

इस प्रकार अभ्यास करने में यदि चित्त लग जाए, तो वह मुक्त हो जाता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। कुम्भक से चढ़ाकर कुम्भक को ही पूरक करना चाहिए। फिर उस कुंभक से ही कुंभक करना चाहिए। और उसके अन्दर स्थिति करके परमशिव का ध्यान करना चाहिए और फिर कण्ठमुद्रा से अत्यन्त स्थिरता से फिर से आस्फालन (कुम्भक द्वारा ही वायु का संचरण) करना चाहिए। वायुओं की गति को घेरकर, पूरक और कुम्भक धारण करके दोनों हाथ सीधे रखने चाहिए, और पृथ्वी पर दोनों पैर भी सीधे रखने चाहिए। वेधक क्रम के योग से वायु के द्वारा वायु के मुख में प्रकोटियों से चार पीठवाले महामेरु का आस्फालन करना चाहिए। (वेधक योग अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र ग्रन्थियों का वेध।)

पुटद्वयं समाकृष्य वायुः स्फुरति सत्त्वरम्।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धाज्जानीयादमृताय वै ॥63॥
मेरुमध्यगता देवाश्चलन्ते मेरुचालनात्।
आदौ सञ्जायते क्षिप्रं वधोऽस्य ब्रह्मग्रन्थितः ॥64॥

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ।
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ॥65॥
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा छित्वा मोहमलं तथा ।
अनेकजन्मसंस्कारगुरुदेवप्रसादतः ॥66॥

जिस समय वायु सोम, सूर्य तथा अग्नि के सम्बन्ध से तुरन्त ही दोनों नासापुटों को खींचकर स्फुरित होता है, तब वह अमृत देने वाला होता है, ऐसा समझना चाहिए। मेरु का संचालन करने से मेरु के मध्य में रहते हुए देव चलित होते हैं, और तुरन्त ही प्रथम ग्रन्थि के द्वारा उसका वेध होता है। बाद में ब्रह्मग्रन्थि भेदकर वह योगी विष्णुग्रन्थि को भेदता है। और विष्णुग्रन्थि को भेदकर रुद्रग्रन्थि को भेदता है। रुद्रग्रन्थि को भेदकर अनेक जन्मों के संस्कारों तथा गुरु की कृपा से मोहरूपी मैल को काटकर वह परमपद को प्राप्त हो जाता है।

योगाभ्यासात्ततो वेधो जायते तस्य योगिनः ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्नानाडिमण्डले ॥67॥
मुद्राबन्धविशेषेण वायुमूर्ध्वं च कारयेत् ।
ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घो मोक्षप्रदायकः ॥68॥
आप्यायनः प्लुतो वापि त्रिविधोच्चारणेन तु ।
तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ॥69॥
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ।
ह्रस्वं बिन्दुगतं दैर्घ्यं ब्रह्मरन्ध्रगतं प्लुतम् ।
द्वादशान्तगतं मन्त्रं प्रसादं मन्त्रसिद्धये ॥70॥

इस प्रकार योगाभ्यास करने के बाद, उस योगी को इडा और पिंगला के बीच की सुषुम्ना नाडी के मण्डल में वेध होता है। इसके लिए मुद्रा तथा बन्धों की विशेषता के द्वारा वायु को ऊर्ध्व गतिवाला करना चाहिए। वह वायु ह्रस्व होता है, तो पापों को जलाता है, और दीर्घ होता है तो मोक्षदायक होता है, और प्लुत हो तो पुष्टिकारक होता है। इस प्रकार तीन प्रकार के उच्चारणों से वह युक्त होता है। घण्ट के दीर्घ निनाद जैसा और तेल की धारा की तरह अविच्छिन्न ऐसा प्रणव का जो अग्र भाग है, वह अवर्णनीय है। उसे जो जानता है, वह वेदवेत्ता है। इस प्रणवमंत्र के ह्रस्व भाग को बिन्दु में अवस्थित मानकर तथा दीर्घ भाग को ब्रह्मरन्ध्र में तथा प्लुत भाग को द्वादशार चक्र के अन्त में अवस्थित मानकर ध्यान करना चाहिए, जिससे प्रसादरूप होकर वह मंत्र की सिद्धि के लिए हो।

सर्वविघ्नहरश्चायं प्रणवः सर्वदोषहा ।
आरम्भश्च घटश्चैव पुनः परिचयस्तथा ॥71॥
निष्पत्तिश्चेति कथिताश्चतस्रस्तस्य भूमिकाः ।
कारणत्रयसम्भूतं बाह्यं कर्म परित्यजन् ॥72॥
आन्तरं कर्म कुरुते यत्रारम्भः स उच्यते ।
वायुः पश्चिमतो वेधं कुर्वन्नापूर्य सुस्थिरम् ॥73॥
यत्र तिष्ठति सा प्रोक्ता घटाख्या भूमिका बुधैः ।
न सजीवो न निर्जीवः काये तिष्ठति निश्चलम् ।
यत्र वायुः स्थिरः खे स्यात्सेयं प्रथम भूमिका ॥74॥

यह प्रणवमंत्र सभी विघ्नों को हरने वाला और सर्वदोषों का नाश करने वाला है। इसकी चार भूमिकाएँ हैं—आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति। उनमें आरंभ यह है कि जहाँ मन-कर्म-वचन—तीनों से होते हुए बाह्य कर्मों का त्याग करके भीतर के ही कर्म किए जाते हैं। विद्वानों ने घट नाम की दूसरी भूमिका ऐसे बताई है कि जिसमें पश्चिम से वेध करता हुआ वायु चारों ओर से पूर्ण होकर अत्यन्त स्थिर रहता हो। जिसमें वायु सजीव भी न हो और निर्जीव भी न हो, ऐसा वायु शरीर में स्थिर रहे और हृदयाकाश में स्थित बना रहे उसे प्रथम परिचय नाम की भूमिका कहा गया है।

यत्रात्मना सृष्टिलयौ जीवन्मुक्तिदशागतः।
सहजः कुरुते योगं सेयं निष्पत्तिभूमिका ॥75॥ इति।

और जिसमें जीवन्मुक्ति में पहुँचा हुआ मनुष्य सहजस्वरूप बनकर स्वयं ही सृष्टि तथा लय को कर सकता हो, वह निष्पत्ति भूमिका है।

एतदुपनिषदं योऽधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। सुरापानात्पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। स जीवन्मुक्तो भवति। तदेतदृचाभ्युक्तम्। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदमित्युपनिषत् ॥76॥

इति पञ्चमोऽध्यायः।

इति वराहोपनिषत्समाप्ता।

इस प्रकार इस उपनिषद् को जो जानता है, वह अग्नि जैसा पवित्र हो जाता है, वह वायु जैसा पवित्र हो जाता है, वह सुरापान के पाप से मुक्त होता है, वह सुवर्ण की चोरी के पाप से मुक्त हो जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। ऐसा ही ऋचा में कहा गया है—"विष्णु के उस परम पद को आकाश में फैले हुए चक्षु की भाँति ज्ञानी लोग सदैव देखते हैं। विष्णु का जो परम पद है, उसमें जाग्रत् रहने वाले ब्रह्मज्ञानी क्रोधरहित होकर अच्छी तरह से प्रकाशित हो रहे हैं।

यहाँ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ।
इस प्रकार वराहोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ⋯मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

॥ शाण्डिल्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें 'योगविद्या' का समग्र वर्णन महर्षि शाण्डिल्य और मुनि अथर्वा के प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय ११ खण्डों वाला विस्तृत है। जिसका शुभारम्भ शाण्डिल्य ऋषि के आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय स्वरूप अष्टाङ्गयोग के प्रश्न से हुआ है। महामुनि अथर्वा इसके उत्तर में अष्टांगयोग का विशद वर्णन करते हैं। यम-नियम को दस-दस बताते हुए पातंजलयोग से इसकी विशिष्टता सिद्ध कर देते हैं। नाड़ी शोधन की प्रक्रिया का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं, जिससे प्राण-जय किया जा सके और अनेकानेक सिद्धियों का अधिकारी बना जा सके।

दूसरे अध्याय में ऋषि शाण्डिल्य ने महामुनि अथर्वा से ब्रह्म विद्या का रहस्य पूछा है, जिसके उत्तर में महामुनि ने ब्रह्म का सर्वव्यापी स्वरूप, उसकी अनिर्वचनीयता, उसका लोकोत्तर रूप बताते हुए कहा कि 'वह ब्रह्म तुम्हीं हो, उसे ज्ञान के द्वारा जानो'। तीसरे अध्याय में ऋषि शाण्डिल्य ने पुनः प्रश्न किया कि जो ब्रह्म एक, अक्षर, निष्क्रिय, शिव, सत्तामात्र एवं आत्म स्वरूप है, उससे जगत् का निर्माण, पोषण एवं संहार किस प्रकार हो सकता है ? इसके उत्तर में महामुनि ने ब्रह्म का सकल, निष्कल एवं सकल-निष्कल भेद बताते हुए कहा कि ब्रह्म के सकल-निष्कल रूप से उसके संकल्प मात्र से सृष्टि का प्राकट्य, विकास और विलय होता रहता है। अन्त में ब्रह्म, आत्मा, महेश्वर एवं दत्तात्रेय शब्द का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए आदि देवपुरुष दत्तात्रेय का सतत ध्यान करते रहने की बात कही और यह भी कहा कि इसी ध्यान से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त होकर परम कल्याण (मोक्ष) का अधिकारी बन जाता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः..........इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

शाण्डिल्यो ह वा अथर्वाणं पप्रच्छआत्मलाभोपायभूतमष्टाङ्गयोगमनुब्रूहीति। स होवाचाथर्वा यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि। तत्र दश यमाः। तथा नियमाः। आसनान्यष्टौ। त्रयः प्राणायामाः। पञ्च प्रत्याहाराः। तथा धारणा। द्विप्रकारं ध्यानम्। समाधिस्त्वेकरूपः। तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश। तत्राहिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदाऽक्लेशजननम्। सत्यं नाम मनोवाक्कायकर्मभिर्भूतहितयथार्थाभिभाषणम्। अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहता। ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः। दया नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः। आर्जवं नाम मनोवाक्कायकर्मणां विहिताविहितेषु जनेषु प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा एकरूपत्वम्। क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताडनपूजनेषु सहनम्। धृतिर्नामार्थहानौ स्वेष्टबन्धुवियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतःस्थापनम्। मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषकसुस्निग्धमधुराहारः। शौचं नाम द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति। तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यम्। मनःशुद्धिरान्तरम्। तदध्यात्मविद्यया लभ्यम्॥१॥

महर्षि शाण्डिल्य अथर्वा मुनि से पूछते हैं कि 'हे मुने! आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय स्वरूप अष्टाङ्ग योग का वर्णन करने की कृपा करें।' ऐसा सुनकर उन अथर्वा मुनि ने कहा-हे महर्षे! यम, नियम,आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि-ये ही योग के आठ अंग कहे गये हैं। 'यम' एवं 'नियम' की संख्या दस-दस है, 'आसन' आठ प्रकार के हैं, 'प्राणायाम' की संख्या तीन है, 'प्रत्याहार' एवं 'धारणा' दोनों के पाँच-पाँच भेद हैं, 'ध्यान' दो प्रकार के होते हैं तथा 'समाधि' का एक ही भेद है। इसमें यम के दस भेद इस प्रकार हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, अल्प-आहार ग्रहण करना तथा पवित्रता। अहिंसा का तात्पर्य है-मन, वचन, शरीर एवं अपने कार्य के द्वारा किसी भी प्राणी को कभी भी दु:ख न देना। सत्य का अर्थ है कि मन, वचन, शरीर एवं कर्म से जो हितकारी हो, वही वाणी प्राणियों के समक्ष बोलना। अस्तेय अर्थात् मन, वचन, शरीर एवं अपने कार्य के द्वारा दूसरों के धन-साधनों के प्रति निस्पृह रहना। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है कि सभी अवस्थाओं में मन, वचन, शरीर एवं कर्म के द्वारा सभी तरह के मैथुन (असंयम) का परित्याग करना। दया अर्थात् समस्त प्राणियों पर सदैव अपना अनुग्रह बनाये रखना। आर्जव अर्थात् मन, वचन, शरीर एवं कर्म से लोगों के द्वारा उचित अथवा अनुचित व्यवहार करने अथवा न करने पर भी समभाव बनाये रखना। क्षमा का तात्पर्य है-सदैव प्रिय-अप्रिय, पूजा अथवा ताड़ना आदि का बर्ताव किया जाए, तब भी उसे सहन करना। धृति अर्थात् धन हानि हो, अपने इष्ट-मित्रों का वियोग अथवा संयोग हो, हर स्थिति में चित्त को स्थिर रखना। अल्पाहार अर्थात् पेट में चौथा भाग खाली रहे, इस प्रकार अपने आहार में श्रेष्ठ घी, दुग्ध वाले मधुर पदार्थों का समावेश रखना। शौच का तात्पर्य है-बाह्य एवं अन्त: दोनों प्रकार की शुद्धि रखना। मिट्टी तथा जल के द्वारा बाहर की पवित्रता होती है तथा मन की शुद्धि आन्तरिक है जो अध्यात्म विद्या से होती है॥ १॥

॥ द्वितीय: खण्ड: ॥

तप:सन्तोषास्तिक्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवणह्रीमतिजपव्रतानि दश नियमा:। तत्र तपो नाम विध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभि: शरीरशोषणम्। संतोषो नाम यदृच्छालाभसंतुष्टि:। आस्तिक्यं नाम वेदोक्तधर्माधर्मेषु विश्वास:। दानं नाम न्यायार्जितस्य धनधान्यादे: श्रद्धयार्थिभ्य: प्रदानम्। ईश्वरपूजनं नाम प्रसन्नस्वभावेन यथाशक्ति विष्णुरुद्रादिपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं नाम वेदान्तार्थविचार:। ह्रीर्नाम वेदलौकिकमार्गकुत्सितकर्मणि लज्जा। मतिर्नाम वेदविहितकर्ममार्गेषु श्रद्धा। जपो नाम विधि वद्गुरूपदिष्टवेदाविरुद्धमन्त्राभ्यास:। तदिद्द्विविधं वाचिकं मानसं चेति। मानसं तु मनसा ध्यानयुक्तम्। वाचिकं द्विविधमुच्चैरुपांशुभेदेन। उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम्। उपांशु सहस्रगुणम्। मानसं कोटिगुणम्। व्रतं नाम वेदोक्तविधिनिषेधानुष्ठाननैयत्यम्॥ १॥

तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर-पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री (लज्जा), मति, जप तथा व्रत-ये दस प्रकार के भेद 'नियम' के कहे गये हैं। इसमें तप का तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक कृच्छ्र चान्द्रायण आदि से शरीर को सुखाना। संतोष अर्थात् दैव की इच्छा से जो भी कुछ प्राप्त हो जाए, उस पर संतोष रखना। आस्तिक्य का भाव यह है कि वेद द्वारा कहे हुए धर्म और अधर्म में विश्वास रखना। नीति पूर्वक प्राप्त हुए धन-धान्य आदि को श्रद्धापूर्वक गरीबों को देना ही दान कहा जाता है। ईश्वर-पूजन प्रसन्न स्वभाव से यथोचित मात्रा में विष्णु, रुद्र आदि का पूजन-अर्चन करना। सिद्धान्त श्रवण अर्थात् वेदान्त के अर्थ का चिन्तन करना। ह्री अर्थात् वेद मार्ग में तथा लोकमार्ग में नीच माने जाने वाले कृत्य के करने में लज्जा का अनुभव होना। मति अर्थात्

वेदोक्त कर्म में श्रद्धा का उत्पन्न होना। जप का तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक गुरु ने जिस वैदिक मन्त्र का उपदेश दिया है, उसका अभ्यास करना। जप का अभ्यास दो तरह से होता है- वाचिक और मानसिक। मानसिक-जप मन के द्वारा ध्यान युक्त होने से होता है तथा वाचिक दो प्रकार से होता है-१. उच्चारण पूर्वक से तथा २. उपांशु (फुसफुसाहट) रूप में उच्चारण पूर्वक जप का यथोक्त फल होता है। उपांशु का उससे सहस्त्रगुना फल प्राप्त होता है तथा मानसिक जप करने का फल तो करोड़ गुना मिलता है। व्रत का तात्पर्य वेद के द्वारा कहे हुए विधि-निषेध का नियमित आचरण करना है॥ १॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

स्वस्तिकगोमुखपद्मवीरसिंहभद्रमुक्तमयूराख्यान्यासनान्यष्टौ। स्वस्तिकं नाम जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे। ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते॥ १॥

स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त तथा मयूर नाम वाले ये आठ प्रकार के आसन कहे गये हैं-इस (स्वस्तिक आसन) में पैर के दोनों तलवों को दोनों जानुओं (घुटनों) के बीच में बराबर रखकर सीधा तनकर बैठना पड़ता है। इस क्रिया को ही स्वस्तिकासन कहा जाता है॥ १॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्। दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा ॥२

पीठ के बायीं ओर दाहिना गुल्फ एवं दायीं तरफ बायाँ गुल्फ (टखना) जोड़कर गोमुख के सदृश बैठना ही गोमुखासन है॥ १॥

अङ्गुष्ठेन निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च।
ऊर्वोरुपरि शाण्डिल्य कृत्वा पादतले उभे।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामपि पूजितम् ॥३॥

हे शाण्डिल्य! दोनों जंघाओं के ऊपर दोनों पैरों के तलवों को रखकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठों को उल्टी रीति से पकड़कर रखना ही सर्वमान्य पद्मासन कहलाता है॥ ३॥

एकं पादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितः। इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदीरितम्॥ ४॥

एक जाँघ को एक पैर से तथा दूसरी जाँघ को दूसरे पैर से जोड़कर बैठने को वीरासन कहते हैं॥ ४॥

दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम्। हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च ॥५॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः। सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिभिः सदा॥ ६॥

दाहिने टखने के साथ बायाँ टखना तथा बायें टखने के साथ दायें टखने को लगाकर बैठ जाना और दोनों हाथों को दोनों जानुओं (घुटनों) पर रखकर अँगुलियों को फैलाकर रखना चाहिए। तत्पश्चात् ठीक तरह से एकाग्र होकर मुँह फैलाकर घ्राणेन्द्रिय के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करनी चाहिए। इसको ही सिंहासन कहते हैं और योगीजन सदैव इस आसन की प्रशंसा करते हैं॥ ५-६॥

योनिं वामेन संपीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम्। भ्रूमध्ये च मनोलक्ष्यं सिद्धासनमिदं भवेत्॥ ७॥

गुदा क्षेत्र को बायें पैर से दबाकर दायें पैर को लिङ्ग के ऊपर स्थिर करना; तत्पश्चात् भौंहों के बीच में लक्ष्य स्थिर करना ही सिद्धासन कहा जाता है॥ ७॥

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। पादपार्श्वे तु पाणिभ्यां दृढं बद्धा सुनिश्चलम्। भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम्॥ ८॥

लिङ्ग के नीचे की ओर सीवनी प्रदेश में दोनों टखनों को स्थिर करने तथा हाथों से पैरों के दोनों पार्श्वों को मजबूती से पकड़कर निश्चलतापूर्वक बैठना ही भद्रासन कहलाता है, जो सभी तरह के रोग एवं विष आदि को विनष्ट करने वाला है॥ ८॥

संपीड्य सीविनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः। सव्यं दक्षिणगुल्फेन मुक्तासनमुदीरितम्॥ ९॥

सूक्ष्म सीवनी प्रदेश को बायें टखने के द्वारा दबा करके दाहिने गुल्फ (टखने) से बायें टखने को दबा करके (बैठना) ही मुक्तासन कहलाता है॥ ९॥

अवष्टभ्य धरां सम्यक्तलाभ्यां तु करद्वयोः। हस्तयोः कूर्परौ चापि स्थापयेन्नाभिपार्श्वयोः॥१०॥ समुन्नतशिरः पादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः। मयूरासनमेतत्तु सर्वपापप्रणाशनम्॥ ११॥

दोनों हाथ की हथेलियों को भूमि से सटाकर स्थिर करना और हाथ की कोहनियों से नाभि के दोनों ओर दबा करके बैठना चाहिए। तदनन्तर मस्तक और पैरों को ऊर्ध्व की ओर उठाकर लकड़ी की तरह से आकाश में अधर स्थिर रखना ही मयूरासन कहलाता है। यह आसन सभी तरह के पापों का विनाश करने वाला है॥

शरीरान्तर्गताः सर्वे रोगा विनश्यन्ति। विषाणि जीर्यन्ते॥ १२॥

इन आसनों के करने से शरीर के अन्दर विद्यमान रहने वाले सभी तरह के रोग विनष्ट हो जाते हैं तथा सभी प्रकार के विष स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं॥ १२॥

येन केनासनेन सुखधारणं भवत्यशक्तस्तत्समाचरेत्॥ १३॥

जो (मनुष्य) अशक्त हो, उसे जिस किसी आसन से सुख मिले, वही आसन करना चाहिए॥ १३॥

येनासनं विजितं जगत्त्रयं तेन विजितं भवति॥ १४॥

जिसने इन सभी आसनों को जीत लिया है, उसने तीनों लोक जीत लिये हैं, ऐसा समझना चाहिए॥१४॥

यमनियमासनाभ्यासयुक्तः पुरुषः प्राणायामं चरेत्। तेन नाड्यः शुद्धा भवन्ति॥ १५॥

यम, नियम एवं आसन से पूर्णरूपेण सम्पन्न होने के पश्चात् मनुष्य को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से नाड़ियों की शुद्धि हो जाती है॥ १५॥॥।

॥ चतुर्थः खण्डः॥

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ केनोपायेन नाड्यः शुद्धाः स्युः। नाड्यः कतिसंख्याकाः। तासामुत्पत्तिः कीदृशी। तासु कति वायवस्तिष्ठन्ति। तेषां कानि स्थानानि। तत्कर्माणि कानि। देहे यानि यानि विज्ञातव्यानि तत्सर्वं मे ब्रूहीति॥ १॥

तत्पश्चात् महात्मा शाण्डिल्य ने अथर्वा मुनि से पूछा-किस उपाय से नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं? नाड़ियों की संख्या कितनी होती है? उनकी उत्पत्ति किस तरह से हुई? उसमें कितने प्रकार के वायु रहते हैं? उनका स्थान कौन सा है? उनके कार्य क्या-क्या होते हैं? इस शरीर में जो भी कुछ जानने के लिए आवश्यक है, वह सभी कुछ आप मुझे बताने की कृपा करें॥ १॥

स होवाचाथर्वा। अथेदं शरीरं षण्णवत्यङ्गुलात्मकं भवति। शरीरात्प्राणो द्वादशाङ्गुलाधिको भवति॥ २॥ शरीरस्थं प्राणमग्निना सह योगाभ्यासेन समं न्यूनं वा यः करोति स योगिपुङ्गवो भवति॥ ३॥

तदनन्तर उन अथर्वा ऋषि ने कहा कि यह शरीर छियानबे (९६) अंगुल का प्रमाण स्वरूप है। यह

प्राण-शरीर की अपेक्षा बारह अंगुल और अधिक होता है। इस शरीर में उपस्थित रहने वाले प्राण को योग के अभ्यास द्वारा जो भी मनुष्य अग्नि के साथ सम अवस्था में स्थिर करता है या फिर उससे भी कम करता है, वह श्रेष्ठ योगी कहलाता है॥ २-३॥

देहमध्ये शिखिस्थानं त्रिकोणं तप्तजाम्बूनदप्रभं मनुष्याणाम्। चतुष्पदां चतुरश्रम्। विहङ्गानां वृत्ताकारम्। तन्मध्ये शुभा तन्वी पावकी शिखा तिष्ठति॥ ४॥

मनुष्यों की देह में अग्नि का स्थान त्रिकोण की भाँति तप्तस्वर्ण के सदृश प्रकाश युक्त होता है। चौपायों का आयताकार तथा पक्षियों का गोलाकार होता है। इस अग्नि स्थान में क्षीणकाय, शुभ अग्निशिखा रहती है॥ ४॥

गुदादद्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्राद्द्व्यङ्गुलादधो देहमध्यं मनुष्याणां भवति। चतुष्पदां हृन्मध्यम्। विहगानां तुन्दमध्यम्। देहमध्यं नवाङ्गुलं चतुरङ्गुलमुत्सेधायतमण्डाकृति॥ ५॥

गुदामार्ग से दो अङ्गुल ऊर्ध्व की ओर तथा लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे की ओर मनुष्य के शरीर का मध्यस्थल होता है। चौपायों के हृदय का मध्य एवं पक्षियों के पेट का मध्य ही उनके शरीरों के बीच का मध्य स्थल होता है। शरीर का वह बीच का भाग नौ अंगुल ऊँचा तथा चार अंगुल विस्तार वाला होता है। उसकी आकृति अण्डे के सदृश होती है॥ ५॥

तन्मध्ये नाभिः। तत्र द्वादशारयुतं चक्रम्। तच्चक्रमध्ये पुण्यपापप्रचोदितो जीवोभ्रमति॥६ तन्तुपञ्जरमध्यस्थलूतिका यथा भ्रमति तथा चासौ तत्र प्राणश्चरति। देहेऽस्मिञ्जीवः प्राणारूढो भवेत्॥ ७॥

उसके मध्य में नाभि है तथा उसमें बारह अरों से युक्त चक्र स्थित है। उस चक्र के मध्य में पुण्य-पाप से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ जीव यत्र-तत्र भ्रमण करता रहता है। जिस प्रकार से मकड़ी अपने द्वारा निर्मित तन्तु (जाल) के अन्दर भ्रमण करती रहती है, उसी तरह से यह जीव भी वहीं पर विचरण करता रहता है। इस देह में जीव प्राण के ऊपर सतत आरूढ़ रहता है॥ ६-७॥

नाभेस्तिर्यगध ऊर्ध्वं कुण्डलिनीस्थानम्। अष्टप्रकृतिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति। यथावद्वायुसंचारं जलान्नादीनि परितः स्कन्धपार्श्वेषु निरुध्यैनं मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रं योगकाले चापानेनाग्निना च स्फुरति। हृदयाकाशे महोज्ज्वला ज्ञानरूपा भवति॥ ८॥

नाभि के समीप नीचे एवं ऊपर की ओर कुण्डलिनी का क्षेत्र स्थित है। कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकार की प्रकृति से युक्त एवं आठ कुण्डली (घुमाव) बनाये हुए है। यह शक्ति योग की अवस्था में वायु के संचार को यथावत् करके जल एवं अन्न आदि को चारों ओर से कन्धों के पार्श्व में स्थिर करके पुनः मुख से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक अपान तथा अग्नि के द्वारा जाग्रत् होती है। यह स्फुरणयुक्ता शक्ति हृदयाकाश में महान् उज्ज्वल एवं ज्ञानरूपा होती है॥ ८॥

मध्यस्थकुण्डलिनीमाश्रित्य मुख्या नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति। इडा पिङ्गला सुषुम्ना सरस्वती वारुणी पूषा हस्तिजिह्वा यशस्विनी विश्वोदरी कुहूः शङ्खिनी पयस्विनी अलम्बुसा गान्धारीति नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति॥ ९॥

कुण्डलिनी का आश्रय प्राप्त करके मध्य में स्थित रहने वाली चौदह मुख्य नाड़ियाँ हैं। ये क्रमशः इड़ा,

पिंगला, सुषुम्ना, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरी, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी. अलंबुसा एवं गान्धारी नामवाली हैं॥ ९॥

तत्र सुषुम्ना विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते। गुदस्य पृष्ठभागे वीणादण्डाश्रिता मूर्धपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रे विज्ञेया व्यक्ता सूक्ष्मा वैष्णवी भवति॥ १०॥

इन समस्त नाड़ियों में सुषुम्ना नाड़ी विश्व को धारण करने में समर्थ तथा मोक्षमार्ग को प्रदान करने वाली है, ऐसा योगीजन कहते हैं। गुदा के पृष्ठ भाग में वह नाड़ी मेरुदण्ड के आश्रित रहती है तथा मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है। यह स्पष्ट, सूक्ष्म एवं वैष्णवी रूपा होती है॥ १०॥

सुषुम्नायाः सव्यभागे इडा तिष्ठति। दक्षिणभागे पिङ्गला। इडायां चन्द्रश्चरति। पिङ्गलायां रविः। तमोरूपश्चन्द्रः। रजोरूपो रविः। विषभागो रविः। अमृतभागश्चन्द्रमाः। तावेव सर्वकालं धत्तः। सुषुम्ना कालभोक्त्री भवति। सुषुम्नापृष्ठपार्श्वयोः सरस्वतीकुहू भवतः। यशस्विनी-कुहूमध्ये वारुणी प्रतिष्ठिता भवति। पूषासरस्वतीमध्ये पयस्विनी भवति। गान्धारीसरस्वतीमध्ये यशस्विनी भवति। कन्दमध्येऽलम्बुसा भवति। सुषुम्नापूर्वभागे मेढ्रान्तं कुहूर्भवति। कुण्ड-लिन्या अधश्चोर्ध्वं वारुणी सर्वगामिनी भवति। यशस्विनी सौम्या च पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते। पिङ्गला चोर्ध्वगा याम्यनासान्तं भवति। पिङ्गलायाः पृष्ठतो याम्यनेत्रान्तं पूषा भवति। याम्यक-र्णान्तं यशस्विनी भवति। जिह्वाया ऊर्ध्वान्तं सरस्वती भवति। आसव्यकर्णान्तमूर्ध्वगा शङ्खिनी भवति। इडापृष्ठभागात्सव्यनेत्रान्तगा गान्धारी भवति। पायुमूलादधोर्ध्वगाऽलम्बुसा भवति। एतासु चतुर्दशसु नाडीष्वन्या नाड्यः संभवन्ति। तास्वन्यास्तास्वन्या भवन्तीति विज्ञेयाः। यथाऽश्वत्थादिपत्रं सिराभिर्व्याप्तमेवं शरीरं नाडीभिर्व्याप्तम्॥ ११॥

इस सुषुम्ना नाड़ी के बायीं ओर इड़ा नामक नाड़ी है तथा दायीं ओर पिंगला नाड़ी स्थित है। इड़ा में चन्द्रमा चलायमान रहता है और पिंगला में सूर्य विचरण करता है। चन्द्रमा तमोगुण के स्वरूप वाला एवं सूर्य रजोगुण के स्वरूप से युक्त है। चन्द्रमा अमृत का क्षेत्र है तथा सूर्य विष का प्रभाग है। ये दोनों सम्पूर्ण काल को धारण करते हैं। सुषुम्ना नाड़ी काल का उपभोग करने वाली है। सुषुम्ना के पृष्ठ भाग की तरफ सरस्वती नाड़ी विद्यमान है तथा उसके बगल के क्षेत्र में कुहू नाड़ी स्थित है। यशस्विनी एवं कुहू के मध्य में वारुणी नाड़ी प्रतिष्ठित है। पूषा और सरस्वती के मध्य में पयस्विनी नाड़ी स्थित है। गान्धारी और सरस्वती के मध्य में यशस्विनी नाड़ी विद्यमान है। कन्द के बीच में अलम्बुसा नाड़ी है। सुषुम्ना नाड़ी के पूर्व भाग में लिंग क्षेत्र तक कुहू नाड़ी फैली हुई है। कुण्डलिनी के नीचे एवं ऊपर की ओर वारुणी नाड़ी चारों तरफ गयी हुई है। यशस्विनी और सौम्या पैर के अँगूठे तक फैली हुई है। पिङ्गला नाड़ी ऊपर की तरफ चलकर के दायीं नासिका तक पहुँचती है। पिंगला के पृष्ठ भाग की तरफ से दायीं आँख तक पूषा नाड़ी फैली हुई है। दायें कान तक यशस्विनी स्थित है। जिह्वा के ऊपरी भाग तक सरस्वती नाड़ी प्रतिष्ठित है। बायें कान तक ऊपर की ओर गमन करती हुई शंखिनी नाड़ी स्थित है। इड़ा नाड़ी के पृष्ठ भाग की ओर से बायें नेत्र तक गमन करने वाली गांधारी नाड़ी कहलाती है। गुदा क्षेत्र के मूल से नीचे-ऊपर की ओर जाने वाली अलम्बुसा नाड़ी कहलाती है। इन चौदह प्रकार की नाड़ियों में अन्य और दूसरी नाड़ियाँ भी स्थित हैं। उन नाड़ियों के अन्दर भी अन्य इस प्रकार की बहुत सी नाड़ियाँ हैं। जिस प्रकार से पीपल आदि के पत्ते शिराओं (केशों) से संव्याप्त होते हैं,उसी तरह शरीर भी तरह-तरह की नाड़ियों से संव्याप्त है॥११॥

प्राणापानसमानोदानव्याना नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया एते दश वायवः सर्वासु नाडीषु चरन्ति॥ १२॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त एवं धनञ्जय- ये दस तरह के वायु इन समस्त नाड़ी-संस्थानों में विचरण करते रहते हैं॥ १२॥

आस्यनासिकाकण्ठनाभिपादाङ्गुष्ठद्वयकुण्डल्यधश्चोर्ध्वभागेषु प्राणः संचरति। श्रोत्राक्षि-कटिगुल्फघ्राणगलस्फिग्देशेषु व्यानः संचरति। गुदमेढ्रोरुजानूदरवृषणकटिजङ्घानाभिगु-दाग्न्यगारेष्वपानः संचरति। सर्वसंधिस्थ उदानः। पादहस्तयोरपि सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी समानः। भुक्तान्नरसादिकं गात्रेऽग्निना सह व्यापयन्द्विसप्ततिसहस्रेषु नाडीमार्गेषु चरन्समानवायुरग्निना सह साङ्गोपाङ्गकलेवरं व्याप्नोति। नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिसंभवाः। तुन्दस्थं जलमन्नं च रसादिषु समीरितं तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि पृथक्कुर्यात्। अग्नेरुपरि जलं स्थाप्य जलोपर्य-न्नादीनि संस्थाप्य स्वयमपानं संप्राप्य तेनैव सह मारुतः प्रयाति देहमध्यगतं ज्वलनम्। वायुना पालितो वह्निरपानेन शनैर्देहमध्ये ज्वलति। ज्वलनो ज्वालाभिः प्राणेन कोष्ठमध्यगतं जलमत्यु-ष्णमकरोत्। जलोपरि समर्पितव्यञ्जनसंयुक्तमन्नं वह्निसंयुक्तवारिणा पक्वमकरोत्। तेन स्वेदमूत्रजलरक्तवीर्यरूपरसपुरीषादिकं प्राणः पृथक्कुर्यात्। समानवायुना सह सर्वासु नाडीषु रसं व्यापयञ्छ्वासरूपेण देहे वायुश्चरति। नवभिर्व्योमरन्ध्रैः शरीरस्य वायवः कुर्वन्ति विण्मूत्रादिविसर्जनम्। निश्वासोच्छ्वासकासश्च प्राणकर्मोच्यते। विण्मूत्रादिविसर्जनमपानवा-युकर्म। हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्म। देहस्योन्नयनादिकमुदानकर्म। शरीरपोषणादिकं समानकर्म। उद्गारादि नागकर्म। निमीलनादि कूर्मकर्म। क्षुत्करणं कृकरकर्म। तन्द्रा देवदत्त-कर्म। श्लेष्मादि धनञ्जयकर्म॥ १३॥

मुख , नासिका, गला, नाभि, पैर के दोनों अँगूठे तथा कुण्डलिनी के नीचे एवं ऊर्ध्व के भागों में प्राणतत्त्व विचरण करता रहता है। कर्णेन्द्रिय, नेत्र, कमर, गुल्फ, नासिका, गला एवं कूल्हे के क्षेत्रों में व्यान भ्रमण करता रहता है। गुदा, लिंग, जानु, पेट, वृषण, कटि प्रदेश, नाभि और अग्निसंस्थान में अपान संव्याप्त रहता है। समस्त संधि अर्थात् जोड़ के संस्थानों में उदान सतत विचरण करता रहता है। पैर, हाथ एवं अन्य सभी अंग-अवयवों में समान संव्याप्त रहता है। खाये हुए अन्न के रस को शरीर की अग्नि के साथ संव्याप्त करके समान वायु बहत्तर हजार नाड़ियों के मार्ग में विचरण करता रहता है एवं अग्नि के साथ सांगोपांग शरीर में विद्यमान रहता है। नाग आदि पाँच प्रकार की वायु त्वचा, अस्थि आदि में प्रतिष्ठित रहते हैं। उदर में रहने वाले जल तथा अन्न को रस आदि के रूप में ले जाकर पेट में रहने वाला प्राण-वायु पृथक्-पृथक् करता है। आग के ऊपर जल रखकर तथा जल के ऊपर अन्न आदि प्रतिष्ठित कर स्वयं अपान के पास पहुँचकर वायु तत्त्व इसी अपान के साथ शरीर में स्थित अग्नि की ओर गमन करता है। अपान वायु से रक्षित अग्नि शरीर के मध्य में मन्द-मन्द प्रज्वलित रहता है। यह अग्नि अपनी ज्वाला एवं प्राण-वायु के द्वारा कोठे के मध्य में स्थित रहने वाले जल को खूब गर्म करता है और उस पानी के ऊपर रखे शाक-दाल के सहित अन्न को प्राणवायु, अग्नियुक्त जल के द्वारा पकाता अर्थात् पचाता है तथा उसी में से पसीना, मूत्र, खून, वीर्य, रस, विष्ठा (मल) आदि को पृथक्-पृथक् करता है। तदनन्तर समान वायु के साथ-साथ समस्त नाड़ियों में रस को प्रसारित करता हुआ प्राण-वायु श्वास के रूप में

शरीर में विचरण करता रहता है। शरीर के नौ व्योमरन्ध्रों (घटाकाश के छिद्रों) के द्वारा वायु, मल, मूत्र आदि को बाहर निष्कासित करता है। श्वासोच्छ्वास तथा खाँसी यह दोनों ही प्राण तत्त्व के कर्म कहलाते हैं। मल-मूत्र का बहिर्गमन कराना अपान वायु का कार्य कहलाता है। त्याग करना एवं स्वीकार करना आदि चेष्टाएँ व्यान का कार्य कहलाती हैं, शरीर का उन्नयन उदान का कार्य कहलाता है। शरीर को पोषण प्रदान करना समान का कार्य कहलाता है। डकार आदि नाग का कार्य है। पलक झपकाना कूर्म का कार्य है, भूख लगना कृकर का कार्य है। आलस्य देवदत्त का कार्य है तथा कफ आदि का उत्पन्न करना धनञ्जय का कार्य कहलाता है॥१३॥

एवं नाडीस्थानं वायुस्थानं तत्कर्म च सम्यग्ज्ञात्वा नाडीसंशोधनं कुर्यात्॥ १४॥

इस तरह से नाड़ी-संस्थान, वायु-संस्थान एवं उन सभी के कार्यों को ठीक तरह से जान-समझ कर नाड़ी को शुद्ध करना चाहिए॥ १४॥

॥ पंचमः खण्डः ॥

यमनियमयुतः पुरुषः सर्वसङ्गविवर्जितः कृतविद्यः सत्यधर्मरतो जितक्रोधो गुरुशुश्रूषानिरतः पितृमातृविधेयः स्वाश्रमोक्तसदाचारविद्वच्छिक्षितः फलमूलोदकान्वितं तपोवनं प्राप्य रम्यदेशे ब्रह्मघोषसमन्विते स्वधर्मनिरतब्रह्मवित्समावृते फलमूलपुष्पवारिभिः सुसंपूर्णे देवायतने नदीतीरे ग्रामे नगरे वापि सुशोभनमठं नात्युच्चनीचायतमल्पद्वारं गोमयादिलिप्तं सर्वरक्षासमन्वितं कृत्वा तत्र वेदान्तश्रवणं कुर्वन्योगं समारभेत्॥ १ ॥

जिस पुरुष ने विद्या का अभ्यास किया हो, उसको यम-नियम से युक्त होकर सभी तरह की संगति का परित्याग करके सत्य रूपी धर्म में आरूढ़ होना चाहिए। क्रोध को वश में रखना, गुरु की सेवा शुश्रूषा में सतत लगे रहना, माता-पिता के आश्रित (संरक्षण में) रहना तथा पुनः अपने आश्रम में बताये गये श्रेष्ठ आचरण को समझने वाले के समीप में शिक्षा पाकर के फल, मूल तथा जलयुक्त तपोवन में जाना चाहिए। वहाँ जाकर सुरम्य प्रदेश में ब्रह्मघोष से युक्त, अपने धर्म में परायण ब्रह्मवेत्ताओं के सान्निध्य में तथा फल-मूल, पुष्प एवं जल आदि से परिपूर्ण किसी भी देव-स्थल में या नदी के तट पर किसी गाँव या शहर में अनुपम श्रेष्ठ मठ बनाना चाहिए। वह स्थान न तो बहुत ऊँचा हो और न ही अत्यन्त नीचा ही हो, न तो बहुत लम्बा तथा न ही अति चौड़ा ही हो। छोटे दरवाजे वाला, गोमय आदि से लीपा हुआ एवं पूर्णरूपेण सुरक्षित होना चाहिए। वहाँ वेदान्त का श्रवण करते हुए पुरुष को निरन्तर योगाभ्यास आदि आरम्भ कर देना चाहिए॥ १ ॥

आदौ विनायकं संपूज्य स्वेष्टदेवतां नत्वा पूर्वोक्तासने स्थित्वा प्राङ्मुख उदङ्मुखो वापि मृद्वासनेषु जितासनगतो विद्वान्समग्रीवशिरोनासाग्रदृग्भ्रूमध्ये शशभृद्बिम्बं पश्यन्नेत्राभ्याममृतं पिबेत्। द्वादशमात्रया इडया वायुमापूर्योदरे स्थितं ज्वालावलीयुतं रेफबिन्दुयुक्तमग्निमण्डलयुतं ध्यायेद्रेचयेत्पिङ्गलया। पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य कुम्भित्वा रेचयेदिडया॥ २ ॥

देवों में प्रथम पूज्य गणपति का पूजन करने के पश्चात् अपने इष्टदेव को नमन-वंदन करके पूर्व में कहे गये आसन पर बैठना चाहिए। उस समय पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ मुख रखना और सुकोमल आसन पर आसीन होकर के आसन को जय (सिद्ध) करना चाहिए। तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष को गर्दन और मस्तक को सीधा रखकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखनी चाहिए। दोनों भौंहों के मध्य चन्द्रमण्डल को देखना तथा दोनों नेत्रों से अमृत तत्त्व का पान करना चाहिए। इसके बाद बारह मात्राओं से इड़ा नाड़ी के माध्यम से वायु

खींचकर उसे पेट के अन्दर रहने वाले, ज्वालाओं से युक्त, रेफ और बिन्दु सहित अग्नि मण्डल से संयुक्त करने का ध्यान (चिन्तन) करना चाहिए तथा इसके बाद पिंगला नाड़ी द्वारा अन्दर की वायु को बाहर निकालना चाहिए। तदनन्तर पिंगला से वायु भरकर अन्तःकुम्भक करके इड़ा नाड़ी से उसे बाहर निकालना चाहिए॥ २॥

त्रिचतुस्त्रिचतुःसप्तत्रिचतुर्मासपर्यन्तं त्रिसंधिषु तदन्तरालेषु च षट्कृत्व आचरेन्नाडीशुद्धिर्भवति। ततः शरीरे लघुदीप्तिवह्निवृद्धिनादाभिव्यक्तिर्भवति॥ ३-४॥

इस तरह से ४३ दिन (त्रिचतुः=४३), तीन, चार या सात मास (त्रि चतुः सप्त) अथवा एक वर्ष (त्रिचतुः ३×४=१२ मास) पर्यन्त त्रिकाल सन्ध्या के साथ तीन-तीन अथवा चार-चार बार तथा उनके मध्य में छः बार तक अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास से नाड़ी की शुद्धि हो जाती है। तदनन्तर इस अभ्यास से शरीर में हल्कापन, चेहरे में चमक (कान्ति), अग्नि की अभिवृद्धि तथा नाद श्रवण होने लगता है॥ ३-४॥

॥ षष्ठः खण्डः॥

प्राणापानसमायोगः प्राणायामो भवति। रेचकपूरककुम्भकभेदेन स त्रिविधः। ते वर्णात्मकाः। तस्मात्प्रणव एव प्राणायामः॥ १-२॥

प्राण तथा अपान को एकत्रित कर देना ही प्राणायाम होता है। रेचक, पूरक तथा कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन तरह का होता है। वे रेचक, पूरक, कुम्भक (प्राणायाम) वर्ण के स्वरूप से युक्त हैं इस कारण प्रणव ही प्राणायाम कहलाता है॥ १-२॥

पद्माद्यासनस्थः पुमान्नासाग्रे शशभृद्बिम्बज्योत्स्नाजालवितानिताकारमूर्ती रक्ताङ्गी हंसवाहिनी दण्डहस्ता बाला गायत्री भवति। उकारमूर्तिः श्वेताङ्गी तार्क्ष्यवाहिनी युवती चक्रहस्ता सावित्री भवति। मकारमूर्तिः कृष्णाङ्गी वृषभवाहिनी वृद्धा त्रिशूलधारिणी सरस्वती भवति॥३॥ अकारादित्रयाणां सर्वकारणमेकाक्षरं परंज्योतिः प्रणवं भवतीति॥ ४॥

पद्म आदि किसी भी आसन पर आसीन होकर पुरुष को ध्यान करना चाहिए- 'नासिका' के अग्रभाग पर चन्द्रमण्डल की ज्योत्स्ना से आवृत, लाल रंग के अंगवाली, हंस पर आसीन, अपने हाथ में दण्ड को धारण किये हुए, बालरूप, 'अ' कार मूर्ति से युक्त 'गायत्री' हैं। 'उ' कार मूर्ति सावित्री श्वेत-शुभ्र अंग से युक्त, गरुड़ के आसन पर प्रतिष्ठित युवावस्था से युक्त, अपने हाथ में चक्र धारण किये हुए हैं। इसी तरह से 'म' कार मूर्ति सरस्वती कृष्णांगी, वृषभ पर आसीन, वृद्धावस्था को प्राप्त, अपने हाथ में त्रिशूल को धारण किये हुए हैं। इस प्रकार 'अ' कार आदि तीनों वर्णों का सम्मिलित रूप 'ॐ' है तथा वह सम्पूर्ण का कारण एकाक्षर स्वरूप परम ज्योति है। ऐसा चिन्तन करना चाहिए॥ ३-४॥

ध्यायेत् इडया बाह्याद्वायुमापूर्य षोडशमात्राभिरकारं चिन्तयन्पूरितं वायुं चतुःषष्टिमात्राभिः कुम्भयित्वोकारं ध्यायन्पूरितं पिङ्गलया द्वात्रिंशन्मात्रया मकारमूर्तिध्यानेनैवं क्रमेण पुनः-पुनः कुर्यात्॥ ५॥

इस ध्यान के पश्चात् पुनः इड़ा नाड़ी के द्वारा बाहर की वायु सोलह मात्रा में खींचे तथा उस समय 'अ' कार का ध्यान करना चाहिए। इसके बाद इसी वायु को चौंसठ मात्रा में अन्तःकुम्भक करे तथा उस समय 'उ' कार का ध्यान करना चाहिए तथा उसके पश्चात् पिंगला नाड़ी के द्वारा बत्तीस मात्राओं से संयुक्त उस अन्दर भरी हुई वायु को बाहर निष्कासित करे । उस समय 'म' कार मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। इसी प्रकार से यह क्रिया निरन्तर बार-बार करते रहना चाहिए॥ ५॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

अथासनदृढो योगी वशी मितहिताशनः सुषुम्नानाडीस्थमलशोषार्थं योगी बद्धपद्मासनो वायुं चन्द्रेणापूर्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा सूर्येण रेचयित्वा पुनः सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण विरेच्य यया त्यजेत्तया संपूर्य धारयेत्। तदेते श्लोका भवन्तिप्राणं प्रागिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया। सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वतां शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः॥ १ ॥

इसके पश्चात् आसन के दृढ़ हो जाने पर योगी अपनी इन्द्रियों को वश में करके, दूसरों का हित चाहते हुए, स्वल्पाहार पर रहते हुए, सुषुम्ना नाड़ी में स्थित मल को शुष्क करने के लिए निरन्तर योगाभ्यास करता रहे। उस समय बद्धपद्मासन पर आरूढ़ हो, चन्द्र नाड़ी के द्वारा वायु को भरकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के बाद सूर्य नाड़ी के द्वारा रेचक करना चाहिए। तदनन्तर सूर्यनाड़ी से पूरक करके कुम्भक करे तथा चन्द्र नाड़ी से रेचक करना चाहिए। इस प्रकार जिस नाड़ी के द्वारा रेचक करे, उसी नाड़ी से पुनः पूरक करने के बाद कुम्भक करना चाहिए। इस भाव को प्रकट करने वाले निम्न प्रकार के श्लोक वर्णित किये गये हैं- ''सर्वप्रथम इड़ा नाड़ी के द्वारा प्राण को अन्दर भरकर कुम्भक करे तथा दूसरी पिंगला नाड़ी से रेचक करे। तत्पश्चात् पुनः पिंगला से पूरक करके कुम्भक करते हुए इड़ा नाड़ी से रेचक करना चाहिए। इस प्रक्रिया से सूर्य और चन्द्र नाड़ी के द्वारा प्राणायाम का प्रतिदिन निरन्तर अभ्यास करने से योगी की सभी नाड़ियाँ तीन मास में ही पूर्ण शुद्ध हो जाती हैं॥ १॥

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे तु कुम्भकान्। शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्॥ २॥

प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में इसी तरह से चार बार मन्द-मन्द गति से अस्सी मात्राओं तक कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए॥ २॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे। उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं भवेत्॥ ३॥

कनिष्ठ प्राणायाम के करते समय शरीर में पसीना आ जाता है, मध्यम स्तर का प्राणायाम करने में शरीर में कँप-कँपी छूटती है और श्रेष्ठ प्राणायाम में पद्मासन में अवस्थित योगी अपने आसन से उठ जाता है॥ ३॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्। दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते॥ ४॥

प्राणायाम करते समय श्रम के कारण शरीर में से जो पसीना निकल आता है, उस पसीने को शरीर में मसल लेना चाहिए, क्योंकि इससे योगी का शरीर अत्यधिक मजबूत और हल्का हो जाता है॥ ४॥

अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम्। ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तावन्नियमग्रहः॥५॥

प्राणायाम का अभ्यास करते समय प्रारम्भिक अवस्था में दुग्ध एवं घृत के भोजन को ही अत्यधिक श्रेष्ठ बतलाया गया है। तत्पश्चात् जब अभ्यास स्थिर हो जाता है, तब किसी नियम की आवश्यकता नहीं रहती॥ ५॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः। तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्॥ ६

जिस प्रकार शनैः-शनैः सिंह, गज और व्याघ्र आदि को वश में कर लिया जाता है, उसी प्रकार वायु भी प्राणायाम के अभ्यास से धीरे-धीरे वश में आ जाती है; लेकिन इसके विपरीत नियम से चलने पर यानी जल्दबाजी करने से वायु योगी का विनाश कर देती है॥ ६॥

युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं च पूरयेत्। युक्तंयुक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात्॥ ७॥

अतः जिस प्रकार से ठीक बने, वैसे ही रेचक करना चाहिए, जैसे ठीक लगे, वैसे ही पूरक करना तथा ठीक लगने तक ही कुम्भक करना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास करने से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥७

यथेष्टधारणाद्वायोरनलस्य प्रदीपनम्। नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्॥ ८॥

यथेष्ट शक्ति के अनुसार कुम्भक करने से अग्नि प्रज्वलित होती है तथा नाड़ियों के शुद्ध होने से नाद-श्रवण होता है और शरीर रोगरहित हो जाता है॥ ८॥

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते। सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः॥ ९॥

विधि-विधान पूर्वक प्राणायाम करने से योगी के समस्त नाड़ी-समूह शुद्ध हो जाते हैं। तब सुषुम्ना नाड़ी का मुख भेदन करके वायु सुखपूर्वक उसमें प्रविष्ट हो जाता है ॥ ९॥

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते। यो मनः सुस्थिरो भावः सैवावस्था मनोन्मनी॥ १०॥

वायु जब बीच में सञ्चरित होती है, तब मन सुस्थिर होता है और जब मन की ठीक तरह से स्थिरता हो जाती है, तब उसी स्थिरता को मनोन्मनी अवस्था कहा जाता है॥ १०॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः। कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ॥११

साधक को पूरक के अन्त में (कुम्भक के समय) जालन्धर नामक बन्ध करना चाहिए तथा कुम्भक के अन्त एवं रेचक के प्रारंभ में उड्डियान नामक बन्ध करना चाहिए॥ ११॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते। मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥ १२॥

नीचे की ओर मूलरन्ध्र का संकोचन करने में कण्ठ का संकोचन होता है और बीच के भाग को पश्चिम (पीछे) की ओर खींचने से प्राणवायु ब्रह्मनाड़ी में निरन्तर गतिमान् होती रहती है॥ १२॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयन्। योगी जराविनिर्मुक्तः षोडशो वयसा भवेत्॥१३

अपान वायु को ऊर्ध्व की तरफ ले जाकर तथा प्राणवायु को कण्ठ से नीचे की ओर लाकर के योगी साधक वृद्धावस्था से रहित होकर सोलह वर्ष की आयु वाला हो जाता है॥ १३॥

सुखासनस्थो दक्षनाड्या बहिःस्थं पवनं समाकृष्याकेशमानखाग्रं कुम्भयित्वा सव्यनाड्या रेचयेत्। तेन कपालशोधनं वातनाडीगतसर्वरोगसर्वविनाशनं भवति॥ १३-१॥

योगी सुखासन पर बैठकर दाहिनी नाड़ी के द्वारा बाहर की वायु को अन्दर की ओर खींचकर सिर के बालों से लेकर पैर के नख की नोंक तक में वायु को रोक कर अर्थात् कुम्भक करके बायीं नाड़ी के द्वारा वायु को बाहर निकाले अर्थात् रेचक करे। ऐसी क्रिया करने से कपाल की शुद्धि होती है और नाड़ियों में रहने वाले समस्त रोगों का पूर्णतया विनाश ही हो जाता है॥ १३-१॥

हृदयादिकण्ठपर्यन्तं सस्वनं नासाभ्यां शनैः पवनमाकृष्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा इडया विरेच्य गच्छंस्तिष्ठन्कुर्यात्। तेन श्लेष्महरं जठराग्निवर्धनं भवति॥ १३-२॥

हृदय से लेकर कण्ठ पर्यन्त शब्द के साथ दोनों नासिका छिद्रों के द्वारा धीरे-धीरे वायु को खींचकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के बाद इड़ा नाड़ी के द्वारा रेचक करना चाहिए। यह क्रिया चलते हुए तथा खड़े हुए भी करते ही रहना चाहिए, क्योंकि इस क्रिया से कफ का शमन और जठराग्नि की वृद्धि होती है॥ १३-२॥

वक्त्रेण सीत्कारपूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्। तेन क्षुत्तृष्णालस्यनिद्रा न जायन्ते॥ १३-३॥

मुख के द्वारा सीत्कार अर्थात् सी-सी करते हुए वायु अन्दर भरकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के पश्चात् दोनों नासिका छिद्रों द्वारा रेचक की क्रिया करनी चाहिए। इससे भूख-प्यास, आलस्य अथवा निद्रा का प्रादुर्भाव नहीं होता॥ १३-३॥

जिह्वया वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्। तेन गुल्मप्लीहज्वरपित्त-क्षुधादीनि नश्यन्ति॥ १३-४॥

जिह्वा द्वारा वायु को अन्दर खींचकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करके दोनों नासिका छिद्रों द्वारा रेचक करना चाहिए। इससे गुल्म (गोला), तिल्ली, ज्वर, पित्त और भूख आदि रोगों का शमन हो जाता है॥ १३-४॥

अथ कुम्भकः। स द्विविधः सहितः केवलश्चेति। रेचकपूरकयुक्तः सहितः। तद्विवर्जितः केवलः। केवलसिद्धिपर्यन्तं सहितमभ्यसेत्। केवलकुम्भके सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति। केवलकुम्भकात्कुण्डलिनीबोधो जायते।॥ १३-५॥

अब कुम्भक के सन्दर्भ में कहते हैं, उसके दो भेद हैं- (१) सहित और (२) केवल। रेचक तथा पूरक से जो संयुक्त हो, उसे सहित और उनसे जो रहित हो, वह केवल है। इसमें से केवल जब तक सिद्ध न हो, तब तक सहित का अभ्यास करते रहना चाहिए और जब 'केवल' कुम्भक सिद्ध हो जाता है, तब योगी को तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। केवल कुम्भक के द्वारा ही कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है॥ १३-५॥

ततः कृशवपुः प्रसन्नवदनो निर्मललोचनोऽभिव्यक्तनादो निर्मुक्तरोगजालो जितबिन्दुः पट्वग्निर्भवति॥ १३-६॥

इस सिद्धि के पश्चात् योगी-साधक कृश शरीर से युक्त, प्रसन्न मुख वाला, निर्मल नेत्रों से सम्पन्न, नाद श्रवण करने वाला, समस्त रोगों से रहित, बिन्दु को जय करने वाला (ब्रह्मचर्यसिद्ध) तथा प्रज्वलित जठराग्नि से युक्त हो जाता है॥१३-६॥

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता। एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥ १४॥

अन्तःकरण में लक्ष्य निहित हो तथा बाह्य की दृष्टि निमेष-उन्मेष अर्थात् पलक झपकने से विहीन हो, यही वैष्णवी मुद्रा है तथा इसे ही समस्त तन्त्र-शास्त्रों में गुप्त रहस्य के रूप में मान्यता प्राप्त है॥ १४॥

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि। मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवी॥ १५॥

अन्तर्लक्ष्य में जिस योगी का चित्त और पवन विलय को प्राप्त हो गया हो, वह योगी साधक सतत निश्चल नेत्रों द्वारा बाहर की ओर नीचे की तरफ देखता हो, किन्तु इसके अतिरिक्त और कुछ न देखता हो, यही खेचरी मुद्रा है। यह केवल लक्ष्य में ही एकतान एवं मङ्गलमयी होने के कारण वैष्णवी मुद्रा भी कही जाती है। उसमें शून्य एवं अशून्य रहित परमतत्त्व अविनाशी पद रूप में प्रकाशित होता रहता है॥ १५॥

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणश्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पन्द-भावोत्तरम्। ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं देदीप्यमानं परं तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तुविषयं शाण्डिल्य विद्धीह तत्॥ १६॥

अर्ध उन्मीलित नेत्रों से युक्त, एकाग्र मनवाला तथा नासिका के अग्रभाग पर स्थित दृष्टि से सम्पन्न योगी

अचल भाव को पाने के पश्चात् सूर्य एवं चन्द्र नाड़ी को भी विलय करा देता है। इस समय ज्योति रूप समस्त बाहरी विषयों से विहीन एवं दीप्तिमान् जो तत्त्व प्रकाशित हो रहा है, वही परम वस्तु के रूप में उसका विषय होता है। हे शाण्डिल्य! इस प्रकार तुम्हें जानना चाहिए॥ १६॥

तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयन्भ्रुवौ। पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्॥ १७॥ तस्मात्खेचरीमुद्रामभ्यसेत्। तत उन्मनी भवति। ततो योगनिद्रा भवति। लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः कालो नास्ति। ॥ १७.१॥

योगी साधक दोनों नेत्रों की पुतलियों को ज्योति से जोड़कर दोनों भौंहों को कुछ ऊँचा रखता है। यह साधक के प्रारम्भिक अभ्यास का मार्ग है और इससे क्षणमात्र में ही 'उन्मनी' स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसलिए साधक को खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए, उससे वह उन्मनी दशा को प्राप्त करता है, फिर उसे योग-निद्रा की प्राप्ति हो जाती है। जिस साधक को योग-निद्रा की प्राप्ति हो, वह योगी फिर काल के वश में नहीं होता॥ १७-१७.१॥

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम्।
मनसा मन आलोक्य शाण्डिल्य त्वं सुखी भव॥ १८॥

इस कारण हे शाण्डिल्य! शक्ति के बीच में मन को केन्द्रित करो। शक्ति को मन के अन्दर गतिशील रखकर तुम मन के द्वारा मन को ही देखो तथा सुखी-समुन्नत जीवन व्यतीत करो॥ १८॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु। सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तय॥

ऐसे ही (चैतन्य) आकाश के बीच में आत्मा को स्थित करके तथा आत्मा के मध्य में (चैतन्य) आकाश को प्रतिष्ठित देखना चाहिए। इसके पश्चात् सभी को (चैतन्य) आकाशमय करके, ऐसा ध्यान करें कि इसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं॥ १९॥

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका। सर्वचिन्तां परित्यज्य चिन्मात्रपरमो भव॥ २०॥

योगी को बाह्यजगत् की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, उसी प्रकार अपने भीतर की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इस तरह समस्त प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग करके मात्र चैतन्य स्वरूप हो जाना चाहिए॥ २०॥

कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले यथा। तथा च लीयमानं सन्मनस्तत्त्वे विलीयते॥ २१॥

जिस तरह से कपूर अग्नि में तथा नमक जल में विलीन हो जाता है, उसी तरह से ध्यानस्थ हुए योगी का मन परम तत्त्व में विलीन हो जाता है॥ २१॥

ज्ञेयं सर्वप्रतीतं च तज्ज्ञानं मन उच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः॥ २२॥

जो भी कुछ जानने योग्य है और जो प्रतीत होता है, उसका जो ज्ञान है, उसे ही मन कहते हैं। ज्ञान एवं ज्ञेय सभी कुछ एक ही साथ विनष्ट हो गया है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी पथ नहीं है॥ २२॥

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम्। मानसे विलयं याते कैवल्यमवशिष्यते॥ २३॥

ज्ञेय वस्तु का परित्याग कर देने से मन विलीनता को प्राप्त हो जाता है और जब मन विलीनता को प्राप्त हो जाता है, तब कैवल्य ही कैवल्य शेष रह जाता है॥ २३॥

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीश्वर। योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥ २४॥

हे मुनीश्वर! चित्त को विनष्ट करने के दो प्रमुख मार्ग हैं- १. योग और २. ज्ञान। योग अर्थात् चित्त की वृत्तियों का शमन करना तथा ज्ञान अर्थात् वस्तु के तत्त्व को यथार्थ रूप में देखना॥ २४॥

तस्मिन्निरोधिते नूनमुपशान्तं मनो भवेत्। मनः स्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते॥ २५॥

मन को जब अपने वश में कर लिया जाता है, तब वह निश्चित ही शान्त हो जाता है। मन की चंचलता के शान्त होते ही इस संसार का विलय हो जाता है॥ २५॥

सूर्यालोकपरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा। शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः॥ २६॥

जिस प्रकार सूर्य की गति (आलोक) शान्त हो जाने पर संसार का व्यवहार शान्त हो जाता है, वैसे ही शास्त्रों एवं सज्जनों की संगति से वैराग्य के अभ्यास का योग हो जाने से भी संसार शान्त हो जाता है॥ २६॥

अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वं संसारवृत्तिषु। यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोहितात्॥ २७॥
एकतत्त्वदृढाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते। पूरकाद्यनिलायामाद्दृढाभ्यासादखेदजात्॥ २८॥
एकान्तध्यानयोगाच्च मनःस्पन्दो निरुध्यते। ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात्। सुषुप्ते संविदा ज्ञाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ २९॥

सर्वप्रथम सांसारिक वृत्तियों के प्रति अनास्था उत्पन्न की जाए, तत्पश्चात् लम्बे समय तक ध्यान एवं एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास हो जाने से प्राण का स्पन्दन बन्द हो जाता है अर्थात् प्राणवायु को अपने वश में कर लिया जाता है। इसी प्रकार बिना श्रम के अधिक देर तक श्वास खींचते हुए पूरक आदि वायु के दृढ़ अभ्यास तथा एकान्त चिन्तन करने से मन की गति पूर्णतया बन्द हो जाती है (मन वश में हो जाता है)। तदनन्तर ॐकार के उच्चारण के बाद शब्द तत्त्व की अनुभूति होने से सद्ज्ञान द्वारा सुषुप्ति का रूप जान लिया जाता है, तब प्राण की गति रुक जाती है अर्थात् प्राण तत्त्व को अपने वश में कर लिया जाता है॥ २७-२९॥

तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घण्टिकाम्। ऊर्ध्वरन्ध्रं गते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥

तालु के मूल में स्थित रहने वाली ग्रन्थि को जब सतर्कतापूर्वक जिह्वा द्वारा दबाया जाता है, तब प्राणवायु ऊपर के छिद्र में आ जाता है और तभी प्राणगति अवरुद्ध (अपने वश में) हो जाती है॥ ३०॥

प्राणे गलितसंवित्तौ तालूर्ध्वं द्वादशान्तगे। अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३१॥

तालु से ऊर्ध्व की ओर बारह अंगुल दूर तक गमन करने वाला प्राण गलित (चेष्टा-शून्य)हो जाता है, तब अभ्यास मात्र से ही ऊपर के छिद्र द्वारा प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध किया जाता है॥ ३१॥

द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे। संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३२॥

नासिका के अग्रभाग के सामने द्वादश अंगुल की दूरी पर पवित्र आकाश में ज्ञान-दृष्टि जब अत्यन्त शान्त हो जाती है, तभी प्राणों का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है॥ ३२॥

भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते। चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३३॥

भौंहों के मध्य में तारक ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर शान्ति के मिल जाने से जगत् व्यापार बन्द होने लगते हैं तथा मानसिक संकल्प विराम लेते हैं, तभी प्राणगति अवरुद्ध हो जाती है॥ ३३॥

ओमित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम्। असंस्पृष्टविकल्पांशं प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥३४

केवल प्रणव के स्वरूप में ही प्रादुर्भूत जो ज्ञानज्ञेय रूप तथा मंगलमय बनकर प्रकट होता है तथा जिसमें विकल्प के अंश का स्पर्श भी नहीं रहता, तभी प्राण की गति अवरुद्ध हो जाती है॥ ३४॥

चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने। अवासनमनोध्यानात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३५॥

हे मुने! चिरकाल तक हृदय प्रदेश में एकान्त आकाश की अनुभूति होने से वासना विहीन मन ध्यान-मग्न होने लगता है। इससे प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है॥ ३५॥

एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासंकल्पकल्पितैः। नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥३६

इस प्रकार क्रमानुसार अन्य अनेक गुरुओं के अमृत वचनों-उपदेशों का अनुसरण करके भाँति-भाँति के संकल्पों की कल्पना के माध्यम से प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है॥ ३६-क॥

आकुञ्चनेन कुण्डलिन्याः कवाटमुद्घाट्य मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥ ३६-ख॥

योगी साधक कुण्डलिनी को संकुचित करके (ऊपर खींचकर) किवाड़ को खोलकर मुक्ति का द्वार प्रशस्त करे॥ ३६-ख॥

येन मार्गेण गन्तव्यं तद्द्वारं मुखेनाच्छाद्य प्रसुप्ता।
कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद्वेष्टिता भवति॥ ३६-ग॥

जिस मार्ग से गमन करना होता है, उसी मार्ग का द्वार मुख से आच्छादित करके कुण्डलिनी शयन करती है। वह तिर्यक् स्वरूप वाली सर्प की भाँति लिपटी हुई है॥ ३६-ग॥

सा शक्तिर्येन चालिता स्यात्स तु मुक्तो भवति। सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मुक्तये भवति। बन्धनायाधो मूढानाम्॥ ३६-घ॥

इस कुण्डलिनी महाशक्ति को जो योगी निरन्तर संचालित करता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। वह कुण्डलिनी साधक के कण्ठ में ऊर्ध्व भाग की तरफ यदि शयन करती हुई हो, तो वह योगियों को मुक्ति प्रदान कर देने वाली होती है, किन्तु यदि वह कण्ठ के नीचे शयन करती हो, तो ज्ञानरहित साधकों के लिए बन्धनकारी सिद्ध होती है॥ ३६-घ॥

इडादिमार्गद्वयं विहाय सुषुम्नामार्गेणागच्छेत्तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ३६-ङ॥

इड़ा आदि दोनों मार्गों का परित्याग करके सुषुम्ना के रास्ते उसका आगमन होता है, क्योंकि वही विष्णु का परम पद है॥ ३६-ङ॥

मरुदभ्यसनं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्। इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा॥ ३७॥

वायु (प्राणायाम) का संपूर्ण अभ्यास मन के साथ ही होना चाहिए। इस अवसर पर ज्ञानी पुरुष को मन की वृत्ति को अन्यत्र संयुक्त नहीं होने देना चाहिए॥ ३७॥

दिवा न पूजयेद्विष्णुं रात्रौ नैव प्रपूजयेत्। सततं पूजयेद्विष्णुं दिवारात्रं न पूजयेत्॥ ३८॥

यहाँ पर यह बात नहीं है कि अमुक दिन विष्णु का पूजन नहीं करना चाहिए अथवा अमुक रात्रि को विष्णु को न पूजना चाहिए, बल्कि सदा ही विष्णु की पूजा करते रहना चाहिए। केवल रात्रि में अथवा दिन में ही न पूजना चाहिए॥ ३८॥

सुषिरो ज्ञानजनकः पञ्चस्रोतः समन्वितः। तिष्ठते खेचरी मुद्रा त्वं हि शाण्डिल्य तां भज॥३९

हे शाण्डिल्य! पाँच इन्द्रियों के प्रवाह वाला हृदय रूप रिक्त (आकाश) स्थान ज्ञान को प्रादुर्भूत करने वाला है तथा वहीं खेचरी मुद्रा स्थित रहती है। अतः आप उसी का सेवन करें॥ ३९॥

सव्यदक्षिणनाडीस्थो मध्ये चरति मारुतः। तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः॥ ४०

बायीं एवं दाहिनी नाड़ी में स्थित होकर मध्य में वायु का संचरण होता रहता है तथा उस स्थान में खेचरी मुद्रा प्रतिष्ठित रहती है, इसमें किसी भी तरह का संशय नहीं है॥ ४०॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्। तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम्॥ ४१॥

इड़ा एवं पिंगला के मध्य में शून्य भाग स्थित है। वहाँ वह वायु को ग्रस लेता है, खेचरी मुद्रा भी वहीं पर प्रतिष्ठित रहती है एवं वहीं सत्य भी स्थित रहता है॥ ४१॥

सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः। संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम्ना च खेचरी ॥ ४२क

चन्द्रमा एवं सूर्य की दोनों नाड़ियों के बीच में आधार-रहित धरातल स्थित है, वहीं व्योम मण्डल में खेचरी मुद्रा प्रतिष्ठित है॥ ४२-क॥

छेदनचालनदोहैः फलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते। जिह्वा चित्तं च खे चरति तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतो भवति॥ ४२-ख॥

छेदन, चालन एवं दोहन के द्वारा जिह्वा को ज्यादा से ज्यादा नुकीला बनाकर, भृकुटि के बीच में दृष्टि स्थिर करके, कपाल के छिद्र में जब जिह्वा विपरीत (उल्टी) होकर गमन करने लगती है, तभी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। जिह्वा एवं चित्त दोनों ही कपाल के छिद्र रूपी आकाश में विचरण करते हैं, तभी ऊर्ध्व की ओर गई हुई जिह्वा वाला पुरुष अमरता को प्राप्त कर लेता है॥ ४२-ख॥

वामपादमूलेन योनिं संपीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत्। तेन सर्वक्लेशहानिः। ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते। क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वगादिदोषा नश्यन्ति। एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः ॥ ४२ग

बायें पैर की एड़ी से मूलरन्ध्र को दबाकर दाहिना पैर आगे की तरफ फैलाकर उसे दोनों हाथों से पकड़ना तथा इसके पश्चात् नासिका के दोनों छिद्रों से वायु को भर कर कण्ठबन्ध (जालन्धर बन्ध) लगाना एवं ऊपर की ओर उठी हुई वायु को स्थिर करना चाहिए। इस क्रिया से समस्त क्लेशों का विनाश हो जाता है। इसके बाद विष भी अमृत के सदृश पच जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्त्त एवं त्वचा के असाध्य एवं पुराने रोग विनष्ट हो जाते हैं। प्राण को जीतने का यह उपाय मृत्यु को पूर्णरूप से विनष्ट करने वाला है॥ ४२-ग॥

वामपादपार्ष्णियोनिस्थाने नियोज्य दक्षिणचरणं वामोरूपरि संस्थाप्य वायुमापूर्य हृदये चुबुकं निधाय योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये यथाशक्ति धारयित्वा स्वात्मानं भावयेत्। तेनापरोक्षसिद्धिः॥

बायें पैर की एड़ी को योनि स्थान के साथ संयुक्त करके, दाहिना पैर बायें पैर पर रखे तथा वायु को अन्दर भरकर, ठुड्डी को हृदय की तरफ दबाकर योनि स्थान को संकुचित कर मन के मध्य अपनी आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। इस क्रिया से अपरोक्ष सिद्धि की प्राप्ति होती है॥ ४२-घ॥

बाह्यात्प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम्। नाभिमध्ये च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नतः ॥४३॥
धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु वा सदा। सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद्योगी गतक्लमः ॥ ४४क ॥

बाहर से प्राणवायु को अन्दर की ओर आकृष्ट करके उदर में प्रतिष्ठित करे और वहाँ से उसे नाभि के मध्य में, नाक के अग्रभाग में तथा पैर के अँगूठे में मन द्वारा प्रयासपूर्वक धारण करे। इस तरह से सन्ध्याकाल में यह क्रिया सदैव करने वाला योगी साधक समस्त रोगों से मुक्ति पाकर श्रम-रहित हो जाता है॥ ४३-४४-क॥

नासाग्रे वायुविजयं भवति। नाभिमध्ये सर्वरोगविनाशः।
पादाङ्गुष्ठधारणाच्छरीरलघुता भवति॥ ४४-ख॥

नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि केन्द्रित करने से वायु को वश में किया जा सकता है, नाभि के मध्य में स्थिर करने से सभी रोगों का नाश होता है तथा पैर के अँगूठे में स्थिर करने से शरीर हल्का हो जाता है॥ ४४ख

रसनाद्वायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः। श्रमदाहौ तु न स्यातां नश्यन्ति व्याधयस्तथा॥ ४५॥

जो मनुष्य जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर सतत पान किया करता है, उसे श्रम या दाह नहीं होता तथा उसके समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ४५॥

सन्ध्ययोर्ब्राह्मणः काले वायुमाकृष्य यः पिबेत्। त्रिमासात्तस्य कल्याणी जायते वाक् सरस्वती॥ ४६॥

जो ब्राह्मण दोनों सन्ध्याकाल में वायु को अपनी ओर आकृष्ट करके उसको पीता रहता है, उसकी वाणी में तीन मास में ही कल्याण स्वरूपा माँ सरस्वती प्रकट हो जाती हैं॥ ४६॥

एवं षण्मासाभ्यासात्सर्वरोगनिवृत्तिः। जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत्। यः पिबेदमृतं विद्वान्सकलं भद्रमश्नुते॥ ४७॥

इसी तरह से छः मास पर्यन्त अभ्यास करने से समस्त प्रकार के रोगों का शमन हो जाता है। जो विद्वान् पुरुष जिह्वा द्वारा वायु को ग्रहण करके जिह्वा के मूल में उसे अवरुद्ध करता है, वह अमृत का पान करता है तथा उसका सब प्रकार से कल्याण ही होता है॥ ४७॥

आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वा भ्रुवोऽन्तरे। विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते॥

इड़ा नाड़ी के द्वारा दोनों भौंहों के मध्य में आत्मा में ही आत्मा (मन) को धारण कर लेने से पुरुष देवों के आहार का भेदन करता है, इस क्रिया को सम्पन्न करते समय यदि वह रोगी भी होता है, तो समस्त रोगों से मुक्त हो जाता है॥ ४८॥

नाडीभ्यां वायुमारोप्य नाभौ तुन्दस्य पार्श्वयोः। घटिकैकां वहेद्यस्तु व्याधिभिः स विमुच्यते॥

(इड़ा एवं पिंगला) दोनों नाड़ियों के द्वारा वायु को नाभि तक खींचकर पेट के दोनों भागों में जो मनुष्य एक घड़ी तक चलाता रहता है, वह सभी रोगों से छूट जाता है॥ ४९॥

मासमेकं त्रिसन्ध्यं तु जिह्वयारोप्य मारुतम्। विभेद्य त्रिदशाहारं धारयेत्तुन्दमध्यमे॥ ५०॥

जो मनुष्य एक मास तक तीनों (प्रातः, मध्याह्न, सायं) काल में जिह्वा द्वारा वायु को अन्दर आकृष्ट करके उदर के मध्य भाग में अवरुद्ध करता है, वह भी देवताओं के आहार का भेदन करने वाला हो जाता है॥ ५०॥

[मनुष्य का आहार तब पचता है जब उसके पाचक रस खाये हुए पदार्थों का भेदन करने में समर्थ होते हैं। देवताओं के सूक्ष्म आहार मनुष्य के प्रभाव क्षेत्र में रहते हैं, लेकिन सामान्य लोग उसका उपयोग नहीं कर पाते। योगी अपनी चेतना से उसका भेदन करके उसका लाभ प्राप्त करने की स्थिति में पहुँच जाता है।]

ज्वराः सर्वेऽपि नश्यन्ति विषाणि विविधानि च। मुहूर्तमपि यो नित्यं नासाग्रे मनसा सह। सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्मशतार्जितम्॥ ५१॥

जो पुरुष नित्य मुहूर्त भर के लिए मन के साथ वायु को नासिका के अग्रभाग पर धारण करता है, उसके सभी तरह के ज्वर विनष्ट हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार के विषों का शमन हो जाता है। उसके सैकड़ों जन्म के पाप पूर्णरूप से छूट जाते हैं॥ ५१॥

तारसंयमात्सकलविषयज्ञानं भवति। नासाग्रे चित्तसंयमादिन्द्रलोकज्ञानम्। तदधश्चित्त-संयमादग्निलोकज्ञानम्। चक्षुषि चित्तसंयमात्सर्वलोकज्ञानम्। श्रोत्रे चित्तस्य संयमाद्यमलोक-ज्ञानम्। तत्पार्श्वे संयमान्निर्ऋतिलोकज्ञानम्। पृष्ठभागे संयमाद्वरुणलोकज्ञानम्। वामकर्णे संय-माद्वायुलोकज्ञानम्। कण्ठे संयमात्सोमलोकज्ञानम्। वामचक्षुषि संयमाच्छिवलोकज्ञानम्।

मूर्ध्नि संयमाद्ब्रह्मलोकज्ञानम्। पादाधोभागे संयमादतललोकज्ञानम्। पादे संयमाद्वितललोकज्ञानम्। पादसन्धौ संयमान्नितललोकज्ञानम्। जङ्घे संयमात्सुतललोकज्ञानम्। जानौ संयमान्महातललोकज्ञानम्। ऊरौ चित्तसंयमाद्रसातललोकज्ञानम्। कटौ चित्तसंयमात्तलातललोकज्ञानम्। नाभौ चित्तसंयमाद्भूलोकज्ञानम्। कुक्षौ संयमाद्भुवर्लोकज्ञानम्। हृदि चित्तस्य संयमात्स्वर्लोकज्ञानम्। हृदयोर्ध्वभागे चित्तसंयमान्महर्लोकज्ञानम्। कण्ठे चित्तसंयमाज्जनोलोकज्ञानम्। भ्रूमध्ये चित्तसंयमात्तपोलोकज्ञानम्। मूर्ध्नि चित्तसंयमात्सत्यलोकज्ञानम्। धर्माधर्मसंयमादतीतानागतज्ञानम्। तत्तज्जन्तुध्वनौ चित्तसंयमात्सर्वजन्तुरुतज्ञानम्। संचितकर्मणि चित्तसंयमात्पूर्वजातिज्ञानम्। परचित्ते चित्तसंयमात्परचित्तज्ञानम्। कायरूपे चित्तसंयमादन्यादृश्यरूपम्। बले चित्तसंयमाद्धनुमदादिबलम्। सूर्ये चित्तसंयमाद्भुवनज्ञानम्। चन्द्रे चित्तसंयमात्ताराव्यूहज्ञानम्। ध्रुवे तद्गतिदर्शनम्। स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्। नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। तारे सिद्धदर्शनम्। कायाकाशसंयमादाकाशगमनम्। तत्तत्स्थाने संयमात्तत्तत्सिद्धयो भवन्ति॥ ५२॥

आँख की पुतली पर संयम करने से सभी प्रकार के विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है, नासिका के अग्रभाग पर चित्त का संयम करने से इन्द्रलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। उसके नीचे चित्त का संयम करने से अग्निलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। नेत्र में चित्त का संयम करने से सभी लोकों का ज्ञान प्राप्त होता है। श्रोत्र में संयम करने से यम लोक का ज्ञान प्राप्त होता है। उसके बगल में चित्त का संयम करने से राक्षसों के लोक का ज्ञान होता है। पीठ के भाग में संयम करने से वरुण लोक का ज्ञान होता है। बायें कान में चित्त का संयम करने पर वायु लोक का ज्ञान होता है। कण्ठ में संयम करने से चन्द्रलोक का ज्ञान होता है। बाँयीं आँख में संयम करने से शिवलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। मस्तक में संयम करने से ब्रह्मलोक का ज्ञान होता है, पैर के नीचे (तलवे) में संयम करने से अतल लोक का ज्ञान होता है। पैर (पंजे) में संयम करने से वितल लोक का ज्ञान होता है। पैर के जोड़ (टखने) में चित्त का संयम करने से नितल लोक का ज्ञान होता है। पैर की जंघा (पिंडली) में संयम करने से सुतल लोक का ज्ञान होता है। जानु (घुटने) में संयम करने से महातल लोक का ज्ञान प्राप्त होता है, ऊरु (जाँघ) में संयम करने से रसातल का ज्ञान होता है। कमर में संयम करने से तलातल लोक का ज्ञान होता है, नाभि में चित्त का संयम करने से भूलोक का ज्ञान होता है। पेट में संयम करने से भुवः लोक का ज्ञान होता है। हृदय में चित्त का संयम रखने से स्वः लोक का ज्ञान प्राप्त होता है, हृदय के ऊर्ध्व भाग में चित्त का संयम करने से महः लोक का ज्ञान प्राप्त होता है। कण्ठ में संयम करने से जनः लोक का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। भौंहों के मध्य में संयम करने से तपःलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। मस्तक में चित्त का संयम करने से सत्यलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। धर्म तथा अधर्म में संयम करने से भूत-भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है। विभिन्न प्राणियों की आवाज में संयम करने से उनकी बोली का ज्ञान होता है। सञ्चित कर्म में संयम करने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। दूसरे लोगों के चित्त में संयम रखने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है। शरीर के रूप में संयम करने से दूसरे का-सा रूप हो जाता है, बल में संयम करने से हनुमान् आदि के जैसा बल प्राप्त हो जाता है। सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान हो जाता है। चन्द्र में संयम करने से समस्त तारामण्डलों का ज्ञान हो जाता है, ध्रुव में संयम करने से उसकी गति का दर्शन होता है। स्वार्थ में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है। नाभिचक्र में संयम करने से शरीर व्यूह का ज्ञान होता है। कण्ठ कूप में संयम करने से भूख-प्यास समाप्त

हो जाती है। कूर्म नाड़ी में संयम करने से स्थिरता आती है। तारा में संयम करने से सिद्ध दर्शन होता है तथा शरीर के आकाश में संयम करने से मनुष्य आकाश में गमन कर सकता है। इस तरह से भिन्न-भिन्न स्थानों में संयम करने से उस स्थान में स्थित विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं॥ ५२॥

[यहाँ संयम का अर्थ अपने चित्त के माध्यम से स्थान विशेष में स्थित दिव्य चेतन धारा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना। तादात्म्य की स्थिति में उस चेतना विशेष के साथ जुड़े सारे तथ्य चित्त की अनुभूति में सहज ही आने लगते हैं। योगदर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि की एकत्र स्थिति को 'संयम' कहा जाता है।]

॥ अष्टमः खण्डः ॥

अथ प्रत्याहारः। स पञ्चविधः विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः। यद्यत्पश्यति तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः। नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः। सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः। अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्धारणं प्रत्याहारः॥ १॥

अब प्रत्याहार का वर्णन करते हैं। वह पाँच प्रकार का है। विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों को बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट कर लेने (इन्द्रियाँ बाह्य भोगों में रस लेने की अभ्यस्त होती हैं, उन्हें बाह्य उपकरण में से हटाकर अन्त:करण की रसानुभूति से जोड़ लेने) को प्रत्याहार कहा जाता है। जो-जो दिखाई देता है, वह सब आत्मा है, ऐसा समझना चाहिए, (आँख, नाक, कान आदि विभिन्न अवयवों की अनुभूति वास्तव में आत्मा के ही कारण है। इसका बोध होना) यही प्रत्याहार है। नित्य किये गये कर्मों के फल का परित्याग (कर्म के फल में रस लेने की अपेक्षा कर्म करने में ही रस एवं सार्थकता की अनुभूति होने पर फल की कामना न रहना) ही प्रत्याहार है। समस्त प्रकार की विषय-वासनाओं से रहित होना (अन्त:स्थिति उच्च रसों की अनुभूति के आधार पर विषयों के रस की कामना न रहना), यह प्रत्याहार है। अट्ठारह मर्म-स्थलों (आगे कहे गये) में क्रमशः धारणा करना (उन स्थानों पर स्थित चेतन दिव्य प्रवाहों के साथ चित्त का तादात्म्य स्थापित करके दिव्यानुभूति प्राप्त करना), यही प्रत्याहार है॥ १॥

पादाङ्गुष्ठगुल्फजङ्घाजानूरुपायुमेढ्रनाभिहृदयकण्ठकूपतालुनासाक्षिभ्रूमध्यललाटमूर्ध्नि स्थानानि। तेषु क्रमादारोहावरोहक्रमेण प्रत्याहरेत्॥ २॥

पैर का अँगूठा, गुल्फ (टखने),जंघा (पिंडली), जानु (घुटने), ऊरु (जाँघ), गुदा, लिङ्ग, नाभि, हृदय, गले का छिद्र, तालु, नासिका, आँख, भौंहों के बीच का भाग, ललाट एवं सिर-इन सभी स्थलों में उतार-चढ़ाव के क्रम से प्रत्याहार करना चाहिए॥ २॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अथ धारणा। सा त्रिविधा आत्मनि मनोधारणं दहराकाशे बाह्याकाशधारणं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेषु पञ्चमूर्तिधारणं चेति॥ १॥

अब धारणा को स्पष्ट करते हैं। यह तीन प्रकार की होती है। अपनी अन्तरात्मा में मन की धारणा करना, दहरा (हृदय) आकाश में बाह्याकाश की धारणा करना तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश में पाँच मूर्तियों की धारणा करनी चाहिए। ये ही तीन प्रकार हैं॥ १॥

॥ दशमः खण्डः ॥

अथ ध्यानम्। तद्द्विविधं सगुणं निर्गुणं चेति। सगुणं मूर्तिध्यानम्। निर्गुणमात्मयाथात्म्यम्॥ १॥

अब इसके बाद ध्यान को बतलाते हैं-यह दो प्रकार का होता है, प्रथम-निर्गुण एवं द्वितीय-सगुण। मूर्ति का चिन्तन करना सगुण कहलाता है तथा आत्मा के स्वरूप का ध्यान करना निर्गुण कहलाता है॥ १॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ समाधिः। जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका भवति॥ १॥

अब इसके अनन्तर समाधि का वर्णन करते हैं। जीवात्मा एवं परमात्मा की ऐक्यावस्था, (ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता) की त्रिपुटीविहीन,परमानन्द के रूप से युक्त एवं शुद्ध चैतन्यमय अवस्था ही समाधि कहलाती है॥१॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ ह शाण्डिल्यो ह वै ब्रह्मऋषिश्चतुर्षु वेदेषु ब्रह्मविद्यामलभमानः किं नामेत्यथर्वाणं भगवन्तमुपसन्नः पप्रच्छाधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां येन श्रेयोऽवाप्स्यामीति॥ १॥

तदनन्तर ब्रह्मर्षि शाण्डिल्य ने चारों वेदों में (चारों वेदों का अध्ययन करने पर भी) ब्रह्म विद्या को प्राप्त न कर पाने से भगवान् अथर्वा की शरण में पहुँचकर प्रश्न किया- 'हे भगवन्! आप हमें ब्रह्म विद्या का अध्ययन कराएँ, जिससे कि मुझे कल्याण की प्राप्ति हो'॥ २॥

स होवाचाथर्वा शाण्डिल्य सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म। ॥ २॥

तत्पश्चात् अथर्वा मुनि ने कहना प्रारम्भ किया ''हे शाण्डिल्य! ब्रह्म, सत्य, विज्ञान एवं अनन्त रूपों में संव्याप्त है॥ २॥

यस्मिन्निदमोतं च प्रोतं च। यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। तदपाणिपादमचक्षुःश्रोत्रमजिह्वमशरीरमग्राह्यमनिर्देश्यम्॥ ३॥

जिसमें यह सभी कुछ ओत-प्रोत है। जिसमें यह प्रादुर्भूत होता है तथा अस्त भी होता है,उसी तरह से जिसको समझ लेने से यह सभी कुछ समझ लिया जाता है,वह हाथ-पैर से विहीन,नेत्रों से रहित,कार्य विहीन,जिह्वा रहित, शरीर विहीन, स्वीकार न किये जाने योग्य तथा स्पष्ट रूप से बताये न जा सकने योग्य है॥३

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। यत्केवलं ज्ञानगम्यम्। प्रज्ञा च यस्मात्प्रसृता पुराणी। यदेकमद्वितीयम्। आकाशवत्सर्वगतं सुसूक्ष्मं निरञ्जनं निष्क्रियं सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं शिवं प्रशान्तममृतं तत्परं च ब्रह्म। तत्त्वमसि तज्ज्ञानेन हि विजानीहि॥ ४॥

जिसे प्राप्त किये बिना वाणी एवं मन पीछे की ओर वापस हो जाते हैं। जो मात्र ज्ञान से ही पाया जा सकता है, जिससे प्राचीन प्रज्ञा का प्रचार-प्रसार हुआ है, जो अनुपम एवं अद्वितीय है, आकाश के सदृश सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, अति सूक्ष्म, निरञ्जन, क्रियाविहीन, एकमात्र सत्य स्वरूप, चेतना से सम्पन्न, आनन्द स्वरूप,

एकरस से सम्पन्न, मंगलमय, अत्यन्त शांत एवं अमर है, वही परम अविनाशी ब्रह्म है। वही तुम हो। ज्ञान के द्वारा तुम उसे जानो॥ ४॥

य एको देव आत्मशक्तिप्रधानः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूताधिवासः सर्वभूतनिगूढो भूतयोनिर्योगैकगम्यः। यश्च विश्वं सृजति विश्वं बिभर्ति विश्वं भुङ्क्ते स आत्मा। आत्मनि तं तं लोकं विजानीहि॥ ५॥

जो एक ही देव आत्मा की शक्ति के रूप में प्रमुख, सब प्रकार से ज्ञान सम्पन्न, सर्वेश्वर, समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा, सभी प्राणियों में निवास करने वाले, सब प्राणियों में छिपे हुए, सभी प्राणियों का मूल उत्पत्ति स्थान, केवल योग के द्वारा ही जाने जा सकने योग्य है, जो विश्व की सृष्टि, पालन एवं विलय स्वयं करता है, वही आत्मा है। तुम आत्मा में ही उन सबको स्थित जानो॥ ५॥

मा शोचीरात्मविज्ञानी शोकस्यान्तं गमिष्यसि॥ ६॥

तुम शोक बिल्कुल न करो। आत्मा का विशिष्ट ज्ञान पाकर के तुम शोक का अन्त कर सकोगे॥ ६॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ हैनं शाण्डिल्योऽथर्वाणं पप्रच्छ यदेकमक्षरं निष्क्रियं शिवं सन्मात्रं परंब्रह्म। तस्मात्कथमिदं विश्वं जायते कथं स्थीयते कथमस्मिँल्लीयते। तन्मे संशयं छेत्तुमर्हसीति॥१॥

इस प्रकार अथर्वा मुनि से जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् महात्मा शाण्डिल्य ने पुनः प्रश्न किया- हे भगवन्! जो परब्रह्म एकाक्षर, क्रिया विहीन, मङ्गलमय, सत्ता मात्र एवं आत्म स्वरूप है, उससे यह जगत् किस प्रकार से प्रादुर्भूत होता है? किस प्रकार वह प्रतिष्ठित होता है तथा किस तरह से उसमें विलीन हो जाता है? मेरी यह शंका दूर करना अत्यन्त आवश्यक है॥ १॥

स होवाचाथर्वा सत्यं शाण्डिल्य परब्रह्म निष्क्रियमक्षरमिति। अथाप्यस्यारूपस्य ब्रह्मणस्त्रीणि रूपाणि भवन्ति सकलं निष्कलं सकलनिष्कलं चेति॥२-३॥

ऐसा सुनकर अथर्वा मुनि ने कहा-हे शाण्डिल्य! यह सत्य है कि परब्रह्म निष्क्रिय एवं अक्षर रूप है, तब भी इस अविनाशी परब्रह्म के तीन स्वरूप-सकल, निष्कल एवं सकल-निष्कल हैं॥ २-३॥

यत्सत्यं विज्ञानमानन्दं निष्क्रियं निरञ्जनं सर्वगतं सुसूक्ष्मं सर्वतोमुखमनिर्देश्य-ममृतमस्ति तदिदं निष्कलं रूपम्॥ ४॥

जो सत्यरूप, विज्ञानयुक्त, आनन्दस्वरूप, क्रियारहित, निरञ्जन, सर्वव्यापी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, चतुर्दिक् मुखवाला, अनिर्वचनीय और अमर है, यह ब्रह्म का निष्कल रूप है॥ ४॥

अथास्य या सहजास्त्यविद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहितशुक्लकृष्णा। तया सहायवान् देवः कृष्णपिङ्गलो महेश्वर ईष्टे। तदिदमस्य सकलं रूपम्॥ ५॥

इसके पश्चात् अब इस परब्रह्म की जो सहज अविद्या, मूल प्रकृति और माया शक्ति है, वह लाल, श्वेत एवं कृष्ण रंग से युक्त है। उस (माया) की सहायता प्राप्त करके यह देव कृष्ण एवं पीत रंग से युक्त होकर सभी का ईश्वर और नियन्ता होता है। यह इस ब्रह्म का 'सकल' रूप है॥ ५॥

अथैष ज्ञानमयेन तपसा चीयमानोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। अथैतस्मात्तप्यमानात्सत्यकामात्त्रीण्यक्षराण्यजायन्त। तिस्रो व्याहृतयस्त्रिपदा गायत्री त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो वर्णास्त्रयोऽग्रयश्च जायन्ते। योऽसौ देवो भगवान्सर्वैश्वर्यसंपन्नः सर्वव्यापी सर्वभूतानां हृदये संनिविष्टो मायावी मायया क्रीडति स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स इन्द्रः स सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि स एव पुरस्तात्स एव पश्चात्स एवोत्तरतः स एव दक्षिणतः स एवाधस्तात्स एवोपरिष्टात्स एव सर्वम्। अथास्य देवस्यात्मशक्तेरात्मक्रीडस्य भक्तानुकम्पिनो दत्तात्रेयरूपा सुरूपा तनूरवासा इन्दीवरदलप्रख्या चतुर्बाहुरघोरापापकाशिनी। तदिदमस्य सकलनिष्कलं रूपम्॥६

तत्पश्चात् इस परब्रह्म ने ज्ञानमय तप से वृद्धि प्राप्त कर इच्छा की कि ''मैं विभिन्न रूपों में प्रकट (प्रादुर्भूत) हो जाऊँ।'' तदनन्तर तप प्रारम्भ किया। तभी समस्त कामनाओं से सम्पन्न तीन अक्षर प्रादुर्भूत हुए, वैसे ही तीन व्याहृतियाँ, तीन पदों वाली गायत्री, तीन वेद, तीन देव, तीन वर्ण एवं तीन अग्नियाँ उत्पन्न हुईं। जो यह देव भगवान् होकर समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न, सर्वत्र व्याप्त रहने वाला, समस्त प्राणियों के हृदय में रहने वाला, मायावी एवं माया के साथ क्रीड़ा- कल्लोल करता है, वही ब्रह्मा, वही विष्णु, वही रुद्र, वही इन्द्र, वही समस्त देवताओं एवं सभी भूत-प्राणियों के रूप में है। वही अग्रभाग में, वही पृष्ठभाग में, वही उत्तर की ओर, वही दक्षिण की ओर, वही नीचे की ओर तथा वही ऊर्ध्व की ओर प्रतिष्ठित है। इस तरह से वही सब कुछ है। यह देव अपनी शक्ति से क्रीड़ा करने वाला तथा अपने भक्तों के प्रति अनुकम्पा बनाये रखने वाला है। इसका शरीर दत्तात्रेय रूप, सुन्दर, वस्त्र रहित, कमल की पंखुड़ी के सदृश कोमल, चार भुजाओं से सम्पन्न, भयंकरता से रहित एवं पापरहित होकर प्रकाश से युक्त है। यही उसका 'सकल-निष्कल' रूप है॥ ६॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ भगवन्सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति। स होवाचाथर्वा यस्माच्च बृहति बृंहयति च सर्वं तस्मादुच्यते परंब्रह्मेति॥ १-२॥

इसके पश्चात् महर्षि शाण्डिल्य ने अथर्वा मुनि से पुनः प्रश्न किया- ''हे भगवन्! मात्र सत्य स्वरूप, चैतन्य युक्त एवं आनन्दस्वरूप एकरस सम्पन्न यह परब्रह्म क्यों कहा जाता है? '' तब अथर्वा मुनि ने उत्तर दिया- ''हे शाण्डिल्य! वह ब्रह्म स्वयं वृद्धि को प्राप्त होता है तथा अन्य दूसरों को वृद्धि प्रदान करता है, अतः इस कारण से वह अविनाशी शाश्वत ब्रह्म कहलाता है॥ १-२॥

अथ कस्मादुच्यते आत्मेति। यस्मात्सर्वमाप्नोति सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च तस्मादुच्यते आत्मेति॥ ३-४॥

इसके अनन्तर 'वह आत्मा क्यों कहा जाता है?' (ऐसा पूछने पर अथर्वा मुनि ने कहा -) वह (ब्रह्म) सर्वत्र सभी में विद्यमान रहता है, सभी को स्वीकार करता है तथा सभी का भक्षण कर लेता है अर्थात् अपने में मिला लेता है, इस कारण वह आत्मा कहलाता है॥ ३-४॥

अथ कस्मादुच्यते महेश्वर इति। यस्मान्महत ईशः शब्दध्वन्या चात्मशक्त्या च महत ईशते तस्मादुच्यते महेश्वर इति॥ ५-६॥

वह महेश्वर क्यों कहा जाता है? (अथर्वा मुनि ने कहा-) क्योंकि वह शब्द ध्वनि एवं आत्मशक्ति से बड़ों-बड़ों का नियंत्रण करता है तथा बड़ों-बड़ों का ईश्वर है, इसलिए वह महेश्वर कहलाता है॥ ५-६॥

अथ कस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति। यस्मात्सुदुश्चरं तपस्तप्यमानायात्रये पुत्रकामायातितरां तुष्टेन भगवता ज्योतिर्मयेनात्मैव दत्तो यस्माच्चानसूयायामत्रेस्तनयो ऽभवत्तस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति॥

वह दत्तात्रेय क्यों कहा जाता है ? (अथर्वा मुनि ने उत्तर दिया-) क्योंकि अत्यन्त उग्र तपश्चर्या करने के उपरान्त अत्रि ऋषि ने पुत्र प्राप्ति की कामना की। तदनन्तर उनके ऊपर अत्यधिक प्रसन्न होते हुए ज्योतिष्मान् भगवान् (शिव) ने स्वयं को ही उन अत्रि ऋषि को पुत्र रूप में प्रदत्त किया और वे स्वयं अत्रि एवं अनसूया के द्वारा प्रादुर्भूत हुए । इस प्रकार से वे दत्तात्रेय के नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ७-८ ॥

अथ योऽस्य निरुक्तानि वेद स सर्वं वेद। अथ यो ह वै विद्ययैनं परमुपास्ते सोऽहमिति स ब्रह्मविद्भवति॥ ९-१०॥

इन समस्त अर्थ सहित नामों को जो व्युत्पत्ति सहित समझता है, वह सभी कुछ जानने में समर्थ हो जाता है। इसके अनन्तर जो (इस आत्म) विद्या के द्वारा इस परमात्म तत्त्व की उपासना करता है, वह ''मैं ही परमात्मा हूँ'' इस प्रकार के भाव से ब्रह्म का वर्णन करने वाला (ब्रह्मवेत्ता) बन जाता है॥ ९-१० ॥

अत्रैते श्लोका भवन्ति। दत्तात्रेयं शिवं शान्तमिन्द्रनीलनिभं प्रभुम्। आत्ममायारतं देवमवधूतं दिगम्बरम्॥ ११॥ भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं जटाजूटधरं विभुम्। चतुर्बाहुमुदाराङ्गं प्रफुल्लकमलेक्षणम्॥ १२॥ ज्ञानयोगनिधिं विश्वगुरुं योगिजनप्रियम्। भक्तानुकम्पिनं सर्वसाक्षिणं सिद्धसेवितम्॥ १३॥ एवं यः सततं ध्यायेद्देवदेवं सनातनम्। स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात्॥ १४॥ इत्यों सत्यमित्युपनिषद्॥ १५॥

यहाँ पर ये निम्न श्लोक कहे गये हैं— ''मंगल स्वरूप वाले, शान्तरूप वाले, इन्द्रनीलमणि के समान श्याम, आत्ममाया के साथ रमण करने वाले, अवधूत, नग्न शरीर वाले, भस्म लगे हुए शरीर वाले, जटाजूट धारण किये हुए , सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, चार भुजाओं से युक्त, उदार अंग वाले, प्रफुल्ल कमल के समान नेत्र वाले, ज्ञानयोग के भण्डार, सम्पूर्ण विश्व के गुरु, योगी जनों के प्रिय, अपने भक्तजनों पर दया करने वाले, सबके साक्षी एवं सिद्धजनों द्वारा सेवित प्रभु दत्तात्रेय देव शाश्वत, सनातन पुरुष हैं तथा देवों के भी देव अर्थात् आदिदेव हैं। इस तरह से जो पुरुष निरन्तर सदा ही उन (देवपुरुष) का ध्यान करता रहता है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। इति ॐ सत्यम् अर्थात् यही सत्य है। इस प्रकार से यह उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) पूर्ण हुई ॥ ११-१५ ॥''

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः॥

॥ इति शाण्डिल्योपनिषत्समाप्ता ॥

(15) हंसोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषत् को कुछ लोग अथर्ववेद से सम्बद्ध मानते हैं, तो कुछ विद्वान् इसे शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध मानते हैं। यह उपनिषद् गौतम और सनत्सुजात के संवाद के रूप में है। इसमें हंसमन्त्र का रहस्य, ध्यान, जपादि की विधि आदि विषय हैं। इसके ऋषि हंस, देवता परमहंस, 'हम्' बीज, 'स' शक्ति और 'सोऽहम्' कीलक बताया गया है। यह बड़ा ही निगूढ (रहस्यमय) ज्ञान है। सबसे पहले यह उपनिषत् शिवजी ने पार्वतीजी को सुनाया था। शान्त, दान्त और गुरुभक्त मनुष्य ही इसे सुनने का अधिकारी माना जाता है। इसमें कहा है कि जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि और तिलों में तेल रहता है, उसी प्रकार सभी शरीरों में जीवात्मा रहता है। उस आत्मा की प्राप्ति के लिए षट्चक्रभेदन की साधना करनी पड़ती है। अष्टदल कमल में उसकी वृत्तियों का साम्य बताया है और बाद में ब्रह्म का स्फटिक मणि जैसा स्वरूप बताया गया है, वही ब्रह्म 'हंस' है। इस पर ध्यान करने से 'नाद' उत्पन्न होता है। इसकी अनेक रूपों में अनुभूति होती है, ऐसा कहा गया है। यही आत्मसाक्षात्कार की परमावस्था है। यही समाधि है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं········पूर्णमेवावशिष्यते ॥ (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

गौतम उवाच—
भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
ब्रह्मविद्याप्रबोधो हि ये(के)नोपायेन जायते ॥1॥

ऋषि गौतम ने सनत्कुमार से पूछा—'हे भगवन्! हे सर्व धर्मों को जानने वाले! हे सभी शास्त्रों में पारंगत! यह ब्रह्मविद्या जिस किसी उपाय से जानी जा सकती हो, यह बताने की आप कृपा करें।'

सनत्कुमार उवाच—
विचार्य सर्वधर्मेषु मतं ज्ञात्वा पिनाकिनः ।
पार्वत्या कथितं तत्त्वं शृणु गौतम तन्मम ॥2॥

तब सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि—"हे गौतम! पिनाकपाणि महादेव ने सभी उपनिषद्धर्मों में दिए गए मत का ठीक तौर से विचार करके पार्वतीजी से जो कुछ पहले कहा था, वही तुम मुझसे सुनो।

अनाख्येयमिदं गुह्यं योगिने कोशसन्निभम् ।
हंसस्याकृतिविस्तारं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥3॥

यह गूढ रहस्यमय ज्ञान अनधिकारी को नहीं देना चाहिए। योगियों के लिए तो यह ज्ञान एक खजाने जैसा ही है। यह ज्ञान हंस की (आत्मा की) आकृति (स्वरूप) का विस्तार (वर्णन) करने वाला है, तथा भोग और मोक्षरूपी फल देनेवाला है।

अथ हंसपरमहंसनिर्णयं व्याख्यास्यामः।
ब्रह्मचारिणे शान्ताय दान्ताय गुरुभक्ताय। हंसहंसेति सदा ध्यायन् ॥4॥

जो गुरुभक्त है और सदैव जो हंस (सोऽहम् सोऽहम्) का जाप करनेवाला है, जो ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय तथा शान्त मन:स्थिति वाला है, उसी के समक्ष हंसपरमहंस का रहस्य प्रकट करना चाहिए। (ऐसा मनुष्य ही ज्ञान का अधिकारी है, दूसरा नहीं)।

सर्वेषु देहेषु व्याप्तो वर्तते। यथा ह्यग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव। तं विदित्वा मृत्युमत्येति ॥5॥

जैसे तिल में तेल और लकड़ी में अग्नि व्याप्त होकर रहते हैं, उसी प्रकार यह जीव—हंस भी समस्त शरीर को व्याप्त होकर रहता है। उस हंस को (सदा हंस हंस का जाप करने वाले जीव को) जानकर मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है।

गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौ प्राणान्निरुध्याज्ञामनुध्यायन् ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमित्येवं सर्वदा पश्यत्यनाकारश्च भवति ॥6॥

इस हंस ज्ञान की साधना सर्वप्रथम गुदा को खींचकर, आधारचक्र से वायु को ऊपर उठाकर स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणाएँ करनी चाहिए। इसके बाद, मणिपूरचक्र में प्रवेश करके, अनाहत चक्र को लाँघकर बाद में विशुद्धचक्र में प्राणों को निरुद्ध करके आज्ञाचक्र का ध्यान करना चाहिए। और उसके बाद फिर ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान करना चाहिए। 'मैं त्रिमात्र ब्रह्म हूँ'—ऐसा ध्यान करते हुए योगी हमेशा निराकार ब्रह्म को देखता हुआ स्वयं अनाकार जैसा हो जाता है। अर्थात् तुरीयावस्था को प्राप्त करता है।

एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशो येनेदं व्याप्तम् ॥7॥

ऐसा यह परमहंस करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान होता है और उससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त (घिरा हुआ) है।

तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति। पूर्वदले पुण्ये मतिः। आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति। याम्ये क्रौर्ये मतिः। नैर्ऋते पापे मनीषा। वारुण्यां क्रीडा। वायव्यां गमनादौ बुद्धिः। सौम्ये रतिप्रीतिः। ईशान्ये द्रव्यदानम्। मध्ये वैराग्यम्। केसरे जाग्रदवस्था। कर्णिकायां स्वप्नम्। लिङ्गे सुषुप्तिः। पद्मत्यागे तुरीयम्। यदा हंसे नादो विलीनो भवति तत्तुरीयातीतम् ॥8॥

जीव भाव को प्राप्त हुए उस हंस की आठ प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं। हृदयस्थ अष्टदल कमल की विविध दिशाओं में विविध प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं, जैसे पूर्वदल में पुण्यमति, आग्नेय दल में निद्रा-आलस्यादि, दक्षिण दल में क्रूरमति, नैर्ऋत्य दल में पापबुद्धि, पश्चिम दल में क्रीडावृत्ति, वायव्यदल में गमन करने आदि की मति, उत्तर दल में स्नेह-प्रीति (रमणप्रीति), ईशान दल में द्रव्यदान

की वृत्ति, मध्यदल में वैराग्यवृत्ति होती है उस अष्टदल कमल के केसरतन्तु में जाग्रदवस्था, कर्णिका में स्वप्नावस्था तथा लिंग में सुषप्तावस्था होती है। जब यह हंस (जीव) उस पद्म को छोड़ देता है, तब वह तुरीय अवस्था को प्राप्त करता है। जब नाद उस हंस में विलीन हो जाता है, तब तुरीयातीत स्थिति से सम्पन्न हो जाता है।

अथो नाद आधाराद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शुद्धस्फटिकसंकाशः। स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते ॥9॥

जो नाद इस प्रकार मूलाधारचक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक विद्यमान रहता है, वह विशुद्ध स्फटिकमणि जैसा ब्रह्म है। उसी को परमात्मा कहा जाता है।

अथ हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हमिति बीजम्। स इति शक्तिः। सोऽहमिति कीलकम् ॥10॥

इस तरह इस अजपामन्त्र का ऋषि हंस (प्रत्यगात्मा) है, अव्यक्तगायत्री इसका छन्द है, और देवता परमहंस (परमात्मा) है। 'हं' जीव और 'स' शक्ति है। 'सोऽहम्' यह कीलक है।

षट्संख्यया अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्त्राणि षट्शतान्यधिकानि भवन्ति। सूर्याय सोमाय निरञ्जनाय निराभासायातनुसूक्ष्म प्रचोदयादिति ॥11॥

इस प्रकार इन छः संख्यकों द्वारा एक अहोरात्र (24 घण्टों) में इक्कीस हजार छः सौ श्वास लिए जाते हैं। अथवा गणेश आदि छः देवताओं द्वारा दिन-रात्रि में इक्कीस हजार छः सौ बार 'सोऽहं' मंत्र का जाप किया जाता है। यथा—'.....सूर्याय सोमाय निरंजनाय निराभासायातनुसूक्ष्मप्रचोदयात्'।

अग्निषोमाभ्यां वौषट् हृदयाद्यङ्गन्यासकरन्यासौ भवतः ॥12॥

मंत्र के साथ 'अग्निषोमाभ्यां वौषट्'—यह जोड़कर पूरे मंत्र का जाप करते हुए हृदय आदि अङ्गन्यास और करन्यास करना चाहिए।

एवं कृत्वा हृदयेऽष्टदले हंसमात्मानं ध्यायेत् ॥13॥

ऐसा करके हृदय में स्थित अष्टदल कमल में हंस का (परमात्मा का) ध्यान करना चाहिए।

अग्निषोमौ पक्षावोंकारः शिर उकारो बिन्दुस्त्रिणेत्रं मुखं रुद्रो रुद्राणी चरणौ द्विविधं कण्ठतः कुर्यादित्युन्मना अजपोपसंहार इत्यभिधीयते ॥14॥

अग्नि और सोम इस हंस के दो पंख हैं, ओंकार इसका सिर है, बिन्दुसहित 'उ'कार हंस का तीसरा नेत्र है, रुद्र उसका मुख है, रुद्राणी उसके चरण हैं। अपने कण्ठ से दो प्रकार का नाद (सगुण-निर्गुण प्रकार के) करते हुए ऐसे हंसरूप परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। इस तरह नाद द्वारा ध्यान करने पर साधक की उन्मनी अवस्था हो जाती है। इस स्थिति को 'अजपोपसंहार' कहा जाता है।

एवं हंसवशात् तस्मान्मनो विचार्यते ॥15॥

सभी भाव हंस के वश में आ जाते हैं, इसलिए साधक अपने मन में अवस्थित उस हंस के विषय में चिन्तन करता है।

अस्यैव जपकोट्या नादमनुभवति। स च दशविधो जायते। चिणीति प्रथमः। चिञ्चिणीति द्वितीयः। घण्टानादस्तृतीयः। शङ्खनादश्चतुर्थः। पञ्चमस्तन्त्रीनादः। षष्ठस्तालनादः। सप्तमो वेणुनादः। अष्टमो मृदङ्ग-नादः। नवमो भेरीनादः। दशमो मेघनादः ॥16॥

इस 'सोऽहम्' मन्त्र के दस कोटि जाप कर लेने पर साधक नाद का अनुभव करता है। वह नाद दस प्रकार का उत्पन्न होता है—पहला चिणी, दूसरा चिञ्चिणी, तीसरा घण्टानाद, चौथा शंखनाद, पाँचवाँ वीणानाद, छठा तालनाद, सातवाँ वेणुनाद, आठवाँ मृदंगनाद, नवाँ भेरीनाद और दसवाँ मेघनाद।

नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत् ॥17॥

उनमें से नवम को छोड़कर दशम का ही अभ्यास करना चाहिए।

प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम्।
तृतीये भेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥18॥

इन नादों के प्रभाव से शरीर में तरह-तरह की अनुभूतियाँ होने लगती हैं। प्रथम नाद से शरीर में चिन्-चिन् अर्थात् शरीर में चिनचिनाहट पैदा हो जाती है। दूसरे नाद के प्रभाव से गात्रभंजन होता है अर्थात् शरीर टूटने लगता है और अवयवों में अकड़न पैदा हो जाती है। तीसरे नाद के प्रभाव से हृदयपद्म विकास को प्राप्त होता है (कहीं 'स्वेदनं याति' या 'खेदनं याति'—ऐसे भी पाठान्तर मिलते हैं; तदनुसार तीसरे नाद से 'पसीना आ जाता है'—ऐसा अर्थ होता है) और चौथे प्रकार के नाद के प्रभाव से सिर काँपने लग जाता है।

पञ्चमे स्रवते(न्ति) तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम्।
सप्तमे गूढविज्ञानं परावाचा(चां) तथाष्टमे ॥19॥

पाँचवें नाद से तालु में स्राव उत्पन्न होता है, छठे नाद से अमृत की वर्षा होने लगती है। सातवें नाद से निगूढ विज्ञान की प्राप्ति होती है और आठवें नाद में परावाणी प्राप्त होती है।

अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथामलम्।
दशमं च परं ब्रह्म भवेद् ब्रह्मात्मसन्निधौ ॥20॥

नवें नाद से शरीर को अन्तर्धान करने की (शरीर को अदृश्य करने की) तथा निर्मल (विशुद्ध) दृष्टि की विद्या प्राप्त होती है। और दसवें नाद से परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है (ब्रह्म उसकी सन्निधि में आ जाता है)।

तस्मिन्मनो विलीयते मनसि संकल्पविकल्पे दग्धे पुण्यपापे सदाशिवः (सदाशिवेशः) शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयंज्योतिः शुद्धो बुद्धो नित्यो निरञ्जनः शान्तः प्रकाशत इति वेदानुवचनं भवतीत्युप-निषत् ॥21॥

इति हंसोपनिषत् समाप्ता।

जब मन उस हंसरूप परमात्मा में विलीन हो जाता है, तब सभी संकल्प-विकल्प मन में ही विलीन हो चुके होते हैं। तब सभी पाप और पुण्य जल जाते हैं। तब वह हंस सदाशिवस्वरूप, शक्त्यात्मा (चैतन्यस्वरूप), सर्वत्र व्यापक, स्वयंप्रकाश, निर्मल, ज्ञानस्वरूप, नित्य, निष्पाप और शान्त होकर प्रकाशित होता है—ऐसा वेद कहते हैं। यहाँ उपनिषत् पूर्ण होती है।

यहाँ हंसोपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं। ..... पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

❈

॥ योगराजोपनिषद् ॥

यह योगपरक उपनिषद् है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह योगपरक उपनिषदों में श्रेष्ठ है, तभी इसे 'योगराज' संज्ञा प्रदान की गई है। इसमें कुल २१ मन्त्र हैं, जिसमें योग विषयक सिद्धान्तों को बड़े सरल शब्दों में व्याख्यायित किया गया है। सर्वप्रथम चार योगों-मन्त्रयोग,लययोग, हठयोग एवं राजयोग का उल्लेख है। इसके बाद योग के प्रमुख चार अंगों-आसन, प्राणसंरोध (प्राणायाम), ध्यान तथा समाधि का विवेचन है। पुनः ९ चक्रों (ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, नाभिचक्र, हृदयचक्र,कण्ठचक्र, तालुकाचक्र, भ्रूचक्र, ब्रह्मरन्ध्रचक्र, व्योमचक्र) का वर्णन तथा उनमें ध्यान करने की प्रक्रिया का उल्लेख है। अन्त में चक्रों के ध्यान की फलश्रुति बताते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

योगराजं प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये। मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा॥ १ ॥

अब योगियों के योग-सिद्धि के लिए मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग इन चार प्रकार वाले योग से युक्त योगराज उपनिषद् का वर्णन करते हैं॥ १॥

योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिकः ॥२ ॥

योग के तत्त्वदर्शियों ने योग को आसन, प्राणसंरोध, ध्यान तथा समाधिरूप चार प्रकार का कहा है॥

एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम्। ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मन्त्रं जाप्यं विशारदैः॥ ३ ॥

ये चारों सर्वयोग-सम्मत कहे गये हैं। विद्वज्जन ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के मन्त्रों का जप करें॥ ३॥

साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा। कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञितः॥ ४॥

मन्त्रयोग को सिद्ध करने वाले वत्सराज आदि हैं एवं लययोग को व्यासादि ने सिद्ध किया॥ ४॥

नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः। प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तं भगाकृति॥ ५ ॥

नौ प्रकार के चक्रों में लय करके महात्मा लोग योग की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। तीन बार आवृत्त (घिरा हुआ) 'भग' (त्रिकोण)की आकृति का प्रथम चक्र है, जिसको ब्रह्मचक्र कहा गया है॥ ५॥

अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः। तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा ॥६ ॥

अपान के स्थान में कामरूपी मूलकन्द स्थित है, उसको ही अग्नि कुण्ड एवं तत्त्व कुण्डलिनी कहा है॥६

तां जीवरूपिणीं ध्यायेज्ज्योतिष्ठं मुक्तिहेतवे। स्वाधिष्ठानं द्वितीयं स्याच्चक्रं तन्मध्यगं विदुः ॥७ ॥

उस ज्योतिस्वरूप जीवरूपिणी का मुक्ति की कामना से ध्यान करना चाहिए। उसी के मध्य में स्वाधिष्ठान नाम का दूसरा चक्र विद्वानों ने कहा है॥ ७॥

पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसन्निभम्। तत्रोड्रीयाणपीठेषु तं ध्यात्वाकर्षयेज्जगत्॥ ८ ॥

प्रवालाङ्कुर(रक्त वर्ण के अंकुर)के समान प्रकाशमान पश्चिमाभिमुख एक लिङ्ग स्थित है। वहाँ उड्रीयाणपीठ (स्वाधिष्ठान चक्र) के अन्तर्गत उस (प्रकाशमान अंकुर) का ध्यान करते हुए संसार का आकर्षण करे॥ ८॥

तृतीयं नाभिचक्रं स्यात्तन्मध्ये तु जगत् स्थितम्। पञ्चावर्तां मध्यशक्तिं चिन्तयेद्विद्युदाकृति ॥९ ॥

तृतीय चक्र नाभि चक्र है, उसके अन्दर संसार की स्थिति कही गयी है। उसके मध्य में पाँच आवृत्ति वाली विद्युत् के समान शक्ति का चिन्तन (ध्यान) करना चाहिए॥ ९॥

तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां भाजनं जायते बुधः। चतुर्थे हृदये चक्रं विज्ञेयं तदधोमुखम्॥ १० ॥

उसका ध्यान करके विद्वान् पुरुष समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। चतुर्थ चक्र नीचे की ओर मुँह किये हृदय में स्थित है, ऐसा जानना चाहिए॥ १०॥

ज्योतीरूपं च तन्मध्ये हंसं ध्यायेत् प्रयत्नतः। तं ध्यायतो जगत् सर्वं वश्यं स्यान्नात्र संशयः ॥११ ॥

उसके मध्य में प्रकाश के रूप में हंस का ध्यान प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। उसका ध्यान करने से सारा संसार वशीभूत हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए॥ ११ ॥

पञ्चमं कण्ठचक्रं स्यात् तत्र वामे इडा भवेत्। दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया सुषुम्ना मध्यतः स्थिता ॥१२ ॥

पञ्चम चक्र कण्ठचक्र कहा गया है, उसके वाम भाग में इड़ा, दक्षिण भाग में पिङ्गला एवं मध्य में सुषुम्ना की स्थिति कही गई है॥ १२॥

तत्र ध्यात्वा शुचि ज्योतिः सिद्धीनां भाजनं भवेत्। षष्ठं च तालुकाचक्रं घण्टिकास्थान मुच्यते ॥

वहाँ पर (कण्ठचक्र में) पवित्र प्रकाश का ध्यान करने से समस्त सिद्धियाँ मिल जाती हैं। छठा 'तालुका' चक्र कहा गया है, जिसे घण्टिका स्थान भी कहते हैं॥ १३॥

दशमद्वारमार्गं तद्राजदन्तं च तज्जगुः। तत्र शून्ये लयं कृत्वा मुक्तो भवति निश्चितम्॥ १४॥

उसे दसवें द्वार का मार्ग एवं राजदन्त भी कहा जाता है। वहाँ पर शून्य में (मन को) लय करने से मनुष्य निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

भ्रूचक्रं सप्तमं विद्याद्बिन्दुस्थानं च तद्विदुः। भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते॥ १५

सप्तम 'भ्रू' चक्र है, उसे विद्या एवं बिन्दुस्थान भी कहते हैं। योगीजन भृकुटि-मध्य में गोलाकार ज्योति का ध्यान करके मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं॥ १५॥

अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकम्। तं ध्यात्वा सूतिकाग्रामं धूमाकारं विमुच्यते॥ १६॥

परम निर्वाण का सूचक आठवाँ चक्र 'ब्रह्मरन्ध्र' कहा जाता है। धूम्रवर्ण वाले उस सूतिका ग्राम अर्थात् उद्गमस्थान का ध्यान करके योगी मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ १६॥

तच्च जालन्धरं ज्ञेयं मोक्षदं नीलचेतसम्। नवमं व्योमचक्रं स्यादश्रैः षोडशभिर्युतम्॥ १७॥

उस नीलवर्ण वाले मोक्षदाता को जालन्धर (जालन्धरपीठ) समझना चाहिए। नौवाँ चक्र सोलह दल वाला व्योमचक्र कहा गया है॥ १७॥

संविद्ब्रूयाच्च तन्मध्ये शक्तिरुद्धा स्थिता परा। तत्र पूर्णां गिरौ पीठे शक्तिं ध्यात्वा विमुच्यते॥१८

उस षोडशदलचक्र के मध्य में जो पराशक्ति अवरुद्ध (स्थित) है, उसे संविद् कहना चाहिए। वहाँ (उस चक्र के मध्य में) पूर्णागिरिपीठ में पूर्णशक्ति का ध्यान करके साधक मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १८॥

एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः। सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्थाः स्युर्दिने दिने॥ १९॥

जो साधक ऊपर वर्णित इन नौ चक्रों में से क्रमशः एक-एक का ध्यान करता है, उसे मुक्ति के सहित समस्त सिद्धियाँ प्रतिदिन प्राप्त होती जाती हैं॥ १९॥

एको दण्डद्वयं मध्ये पश्यति ज्ञानचक्षुषा। कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते॥ २०॥

अपने ज्ञाननेत्र से जो साधक कदम्ब के गुच्छक के समान गोलाकार चक्र के मध्य में दो दण्डों का दर्शन करते हैं, वे ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेते हैं॥ २०॥

ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन अधःशक्तेर्निकुञ्चनात्। मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखं जायते परमं सुखम्। इति॥ २१॥

ऊर्ध्वशक्ति के निपात से एवं अधःशक्ति को संकुचित करने से तथा मध्य की शक्ति को जाग्रत् कर देने से परमसुख प्राप्त हो जाता है। यह निश्चित है॥ २१॥

॥ इति योगराजोपनिषत् समाप्ता॥

॥ सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें 'श्री' सूक्त के वैभवशाली अक्षरों को आधार मानकर देवी के मन्त्र, चक्र आदि को प्रकट किया गया है। उपनिषद् का प्रस्तुतीकरण देव समूह एवं श्रीनारायण के बीच हुए प्रश्नोत्तर रूप में हुआ है।

यह उपनिषद् तीन खण्डों में प्रविभक्त है। प्रथम खण्ड का शुभारम्भ सौभाग्यलक्ष्मी विद्या की जिज्ञासा से किया गया है। तत्पश्चात् सौभाग्यलक्ष्मी का ध्यान, श्रीसूक्त के ऋषि आदि का निरूपण, सौभाग्यलक्ष्मी चक्र, एकाक्षरी मन्त्र का ऋषि आदि निरूपण, एकाक्षरी चक्र और लक्ष्मी का विशेष मन्त्र उल्लिखित है।

द्वितीय खण्ड में उत्तम अधिकारी के लिए ज्ञानयोग, षण्मुखी मुद्रा से युक्त प्राणायामयोग, नाद के आविर्भाव पूर्वक तीन ग्रन्थियों का विवेचन, अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति, निर्विकल्पभाव तथा समाधि का लक्षण निरूपित हुआ है।

तृतीय खण्ड में नवचक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रू, ब्रह्मरन्ध्र तथा आकाश) का विस्तृत वर्णन है और अन्त में उपनिषद् के अध्ययन की फलश्रुति वर्णित की गई है।

ॐ वाङ्मे मनसि .... इति शान्तिः। (द्रष्टव्य- अक्षमालिकोपनिषद्)

॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ भगवन्तं देवा ऊचुर्हे भगवन्नः कथय सौभाग्यलक्ष्मीविद्याम्॥ १ ॥

एक बार समस्त देवों ने भगवान् नारायण के समक्ष उपस्थित होकर निवेदन किया- हे प्रभो! हम सभी के लिए सौभाग्यलक्ष्मी-विद्या का उपदेश प्रदान करने की कृपा करें॥ १ ॥

तथेत्यवोचद्भगवानादिनारायणः सर्वे देवा यूयं सावधानमनसो भूत्वा शृणुत। तुरीयरूपां तुरीयातीतां सर्वोत्कटां सर्वमन्त्रासनगतां पीठोपपीठदेवतापरिवृतां चतुर्भुजां श्रियं हिरण्यवर्णामिति पञ्चदशर्ग्भिर्ध्यायेत्॥ २ ॥

भगवान् नारायण ने कहा—हे देवो! ठीक है, अब आप सभी एकाग्र मन से स्थित होकर श्रवण करें। जो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण रूप तीनों अवस्थाओं से परे, तुरीयस्वरूपा (साथ ही) तुरीयातीता हैं, सर्वोत्कटरूपा अर्थात् कठिनाई से प्राप्त होने वाली हैं और जो समस्त मन्त्रों को अपना आसन बनाकर उस पर प्रतिष्ठित हैं। पीठों एवं उपपीठों में विद्यमान देवों से घिरी हुई हैं तथा वे देवी चार भुजाओं से सम्पन्न हैं। उन श्रीलक्ष्मी देवी का 'हिरण्यवर्णाम्० .... ' आदि श्रीसूक्त की १५ ऋचाओं के द्वारा ध्यान करना चाहिए॥ २ ॥

अथ पञ्चदश ऋगात्मकस्य श्रीसूक्तस्यानन्दकर्दमचिक्लीतेन्दिरासुता ऋषयः। श्रीरित्याद्या ऋचः चतुर्दशानामृचामानन्दाद्यृषयः। हिरण्यवर्णाद्याद्यत्रयस्यानुष्टुप् छन्दः। कांसोस्मीत्यस्य बृहती छन्दः। तदन्ययोर्द्वयोस्त्रिष्टुप्। पुनरष्टकस्यानुष्टुप्। शेषस्य प्रस्तारपङ्क्तिः। श्र्यग्निर्देवता। हिरण्यवर्णामिति बीजम्। कांसोऽस्मीति शक्तिः। हिरणमया चन्द्रा रजतस्रजा हिरण्यस्रजा हिरण्या हिरण्यवर्णेति प्रणवादिनमोन्तैश्चतुर्थ्यन्तैरङ्गन्यासः। अथ वक्त्रत्रयैरङ्गन्यासः। मस्तकलोचनश्रुतिघ्राणवदनकण्ठबाहुद्वयहृदयनाभिगुह्यपायूरुजानुजङ्घेषु श्रीसूक्तैरेव क्रमशो न्यसेत्॥३

उपर्युक्त कही हुई श्रीसूक्त की पन्द्रह ऋचाओं के द्रष्टा ऋषि इन्दिरा पुत्र आनन्द, चिक्लीत एवं कर्दम हैं। प्रथम मन्त्र की द्रष्ट्री ऋषिका श्री अर्थात् इन्दिरा हैं और आनन्द, कर्दम एवं चिक्लीत आदि चौदह मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि हैं। (श्रीसूक्त के) प्रथम तीन ऋचाओं का छन्द अनुष्टुप् है, चौथी ऋचा का बृहती छन्द है, उसके आगे की दो ऋचाएँ पाँचवीं और छठी का त्रिष्टुप् छन्द है। इससे आगे सातवीं से चौदहवीं तक आठ ऋचाओं का पुनः अनुष्टुप् छन्द है और पन्द्रहवीं अथवा शेष अन्य मन्त्रों का छन्द प्रस्तार पंक्ति है। श्री और अग्नि ही इन मन्त्रों के देवता हैं। इस सूक्त के समस्त मन्त्रों का बीज 'हिरण्यवर्णाम्' है और शक्ति 'कांसोस्मि' है। इन हिरण्यमयी, चन्द्रा, रजतस्रजा, हिरण्यस्रजा, हिरण्या, हिरण्यवर्णा आदि नामों को चतुर्थी विभक्ति में रखते हुए प्रारम्भ में 'ॐ' और समाप्ति में 'नमः' शब्द का उच्चारण करते हुए अङ्गन्यास की क्रिया सम्पन्न करे। तदनन्तर वक्त्रत्रय (मन्त्र) के द्वारा अंगन्यास करे। इन समस्त अंगों सिर, नेत्र, कान, नासिका, मुख, कण्ठ, भुजाएँ, हृदय, नाभि, लिङ्ग, गुदा, ऊरु (जाँघ), जानु, जङ्घा (पिंडली) आदि अंगों में श्रीसूक्त की ऋचाओं द्वारा ही क्रमानुसार न्यास की क्रिया सम्पन्न करे (और फिर नीचे लिखे मन्त्रानुसार ध्यान करे) ॥ ३ ॥

अरुणकमलसंस्था तद्रजःपुञ्जवर्णा करकमलधृतेष्टाऽभीतियुग्माम्बुजा च ।
मणिकटकविचित्रालंकृताकल्पजालैः सकलभुवनमाता संततं श्रीः श्रियै नः ॥ ४ ॥

अरुण वर्णा (हल्के लाल रंग के), निर्मल कमल-दल पर आसीन, कमल पराग की राशि सदृश पीतवर्णा चारों हाथों में क्रमशः वर-मुद्रा, अभय-मुद्रा एवं दोनों हाथों में दो कमल-पुष्प धारण किये हुए, मणियुक्त कङ्कणों द्वारा विचित्र शोभा को धारण करने वाली तथा समस्त आभूषणों से सुशोभित, सम्पूर्ण लोकों की माता श्रीमहालक्ष्मी हमें सर्वदा श्री-सम्पन्न बनाएँ॥ ४ ॥

तत्पीठकर्णिकायां ससाध्यं श्रीबीजम्। वस्वादित्यकलापद्मेषु श्रीसूक्तगतार्धार्धर्चा तद्बहिर्यः शुचिरिति मातृकया च श्रियं यन्त्राङ्गदशकं च विलिख्य श्रियमावाहयेत् ॥ ५ ॥

पीठकर्णिका (बीजकोष) के अन्दर ससाध्य (श्रमपूर्वक) श्रीबीज (श्रीं) को लिखना चाहिए। तदनन्तर अष्टदल, द्वादश दल एवं षोडशदल पद्मों के ऊपर तथा भूवृत्तों के मध्य में श्री-सूक्त का आधा-आधा मन्त्र लिखे। तत्पश्चात् उस (बीजकोश) के बाहर 'यः शुचिः प्रयतो भूत्वा' इत्यादि (फलश्रुति स्वरूप मन्त्र को लिखकर षोडशार के बीच में तथा ऊपर 'अ' कार से लेकर 'क्ष' कार तक) मातृका-वर्णों को लिखना चाहिए। इस प्रकार दस अंगों से युक्त श्रीचक्र (अर्थात् प्रणव,षट्कोण, भूवृत्त, अष्टदल, भूवृत्त, द्वादशदल, भूवृत्त, षोडशदल, भूवृत्त, तथा निर्भूवृत्त) विनिर्मित करके श्री का आवाहन करे ॥ ५ ॥

अङ्गैः प्रथमावृतिः। पद्मादिभिर्द्वितीया। लोकेशैस्तृतीया। तदायुधैस्तुरीया वृतिर्भवति। श्रीसूक्तैरावाहनादि। षोडशसहस्रजपः॥ ६ ॥

अङ्गन्यास के मन्त्रों द्वारा प्रथम आवरण की पूजा सम्पन्न होती है। पद्म आदि निधियों के द्वारा द्वितीय आवरण की पूजा सम्पन्न होती है। लोकपालों (इन्द्रादि) के द्वारा तृतीय आवरण की पूजा सम्पन्न की जाती है। उनके वज्रादि के आयुध संयंत्रों के द्वारा चतुर्थ आवरण की पूजा सम्पन्न होती है। श्री-सूक्त के मन्त्रों द्वारा आवाहनादि कार्य पूर्ण किये जाते हैं। तत्पश्चात् पुरश्चरण हेतु सोलह हजार मन्त्रों द्वारा जप कार्य करने का विधान कहा गया है ॥ ६ ॥

सौभाग्यरमैकाक्षर्या भृगुनिचृद्गायत्री। श्रिय ऋष्यादयः। शमिति बीजशक्तिः। श्रामित्यादि षडङ्गम्॥ ७ ॥

(सौभाग्य लक्ष्मी-पूजन क्रम इस प्रकार है) एकाक्षर सौभाग्य लक्ष्मी मन्त्र के द्रष्टा ऋषि-भृगु हैं। छन्द-निचृत् गायत्री है और देवता-श्री हैं। 'शं' बीज है। 'श्रां' आदि के द्वारा अङ्ग-न्यास की क्रिया सम्पन्न करे॥७॥

इसके पश्चात् नीचे लिखे मन्त्र के भावार्थ के अनुसार ध्यान करे-

भूयाद्भूयो द्विपद्माभयवरदकरा तप्तकार्तस्वराभा शुभ्राभ्राभेभयुग्मद्वयकरधृतकुम्भाद्भिरासिच्यमाना। रक्तौघाबद्धमौलिर्विमलतरदुकूलार्तवालेपनाढ्या पद्माक्षी पद्मनाभोरसि कृतवसतिः पद्मगा श्रीः श्रियै नः ॥८॥

जो श्री-लक्ष्मीदेवी अपने दोनों हाथों में कमल पुष्प और शेष दो में वर एवं अभय मुद्राएँ धारण किये हुए हैं। जिन देवी के शरीर की आभा तप्त-स्वर्ण के सदृश है। जिन देवी का अभिषेक शुभ्र मेघ की सी सुन्दर आभा वाले दो हाथियों की सूँड़ों में ग्रहण किये हुए कलशों के जल से सम्पन्न हो रहा है। लाल रंग के माणिक्यादि रत्नों का मुकुट जिनके सिर पर शोभायमान है, जिन श्री देवी के परिधान अत्यधिक स्वच्छ हैं। जिनके नेत्र पद्म के समान हैं, ऋतु के अनुकूल जिनके अंग-अवयव चन्दन आदि सुवासित पदार्थों के लेपन से युक्त हैं। क्षीरशायी भगवान् विष्णु के हृदय स्थल में जिनका निवास है। हम सभी के लिए वे श्री-लक्ष्मी देवी कमल के आसन पर प्रतिष्ठित होकर श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्रदान करने की कृपा करें॥८॥

तत्पीठम्। अष्टपत्रं वृत्तत्रयं द्वादशराशिखण्डं चतुरस्रं रमापीठं भवति। कर्णिकायां ससाध्यं श्रीबीजम्। विभूतिरुन्नतिः कान्तिः सृष्टिः कीर्तिः सन्नतिर्व्युष्टिः सत्कृष्टिर्ऋद्धिरिति प्रणवादिनमोन्तैश्चतुर्थ्यन्तैर्नवशक्तिं यजेत्॥९॥

ध्यान के पश्चात् उस पीठयन्त्र का वर्णन करते हैं-इस में तीन वृत्तों-अष्टदल पद्म, द्वादश राशिखण्ड और चतुष्कोण के आकार सदृश रमापीठ होता है। उस कर्णिका (बीजकोष) में श्रमपूर्वक श्री-बीज (श्रीं) अंकित करना चाहिए। (उदाहरणार्थ- 'श्रीं श्रीर्मा देवी जुषताम्।' इसके बाद प्रातःकालीन कृत्य, पीठन्यास तथा ऋष्यादि न्यास करे) तत्पश्चात् प्रारम्भ में 'ॐ' कार एवं अन्त में 'नमः' शब्द जोड़कर प्रत्येक नाम को चतुर्थी विभक्ति के रूप में प्रयुक्त करते हुए इन नौ शक्तियों (उदाहरणार्थ- 'ॐ विभूत्यै नमः' आदि) विभूति, कान्ति, उन्नति, कीर्ति, सृष्टि, संनति, व्युष्टि, ऋद्धि एवं सत्कृष्टि की पूजा-अर्चा सम्पन्न करे॥९॥

अङ्गैः प्रथमावृतिः। वासुदेवादिभिर्द्वितीया। बालक्यादिभिस्तृतीया। इन्द्रादिभिश्चतुर्थी भवति। द्वादशलक्षजपः॥१०॥

तदुपरान्त अङ्गन्यास द्वारा प्रथम-आवरण का पूजन सम्पन्न करे।(उस समय) वासुदेव आदि(वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध)का पूजन करे,यह द्वितीय-आवरण की पूजा हुई। अब तृतीय आवरण के द्वारा बालाकी आदि(बालाकी,विमला,कमला,विभीषिका, वनमालिका, मालिका एवं वसुमालिका)का पूजन सम्पन्न करे। इसके पश्चात् चतुर्थ आवरण की पूजा में इन्द्र आदि(इन्द्र सहित समस्त देवों की और वज्र सहित उन सभी के आयुधों)का पूजन करे।(पुरश्चरण के लिए)बारह लाख मन्त्रों का जप (नियम सहित) करना चाहिए॥१०॥

श्रीलक्ष्मीर्वरदा विष्णुपत्नी वसुप्रदा हिरण्यरूपा स्वर्णमालिनी रजतस्रजा स्वर्णप्रभा स्वर्णप्राकारा पद्मवासिनी पद्महस्ता पद्मप्रिया मुक्तालंकारा चन्द्रसूर्या बिल्वप्रिया ईश्वरी भुक्तिर्मुक्तिर्विभूतिर्ऋद्धिः समृद्धिः कृष्टिः पुष्टिर्धनदा धनेश्वरी श्रद्धा भोगिनी भोगदा सावित्री धात्री विधात्रीत्यादिप्रणवादिनमोन्ताश्चतुर्थ्यन्ता मन्त्राः। एकाक्षरवदङ्गादिपीठम्। लक्षजपः। दशांशं तर्पणम्। दशांशं हवनम्। द्विजतृप्तिः॥११॥

(अब त्र्यक्षरी-श्रीं, ह्रीं, श्रीं-विद्या के पूजन-क्रम का वर्णन किया जा रहा है। त्र्यक्षरी विद्या का पूजन-क्रम एकाक्षरी के पूजन की भाँति ही है। केवल तीसरे आवरण की पूजा में कुछ भिन्नता है। इस विद्या के प्रारम्भ में 'ॐ' कार और अन्त में 'नमः' शब्द जोड़कर हर एक नाम का चतुर्थी विभक्ति के रूप में प्रयुक्त करते हुए) श्री, लक्ष्मी, वरदा, विष्णुपत्नी, वसुप्रदा, हिरण्यरूपा, स्वर्णमालिनी, रजतस्रजा, स्वर्णप्रभा, स्वर्णप्राकारा, पद्मवासिनी, पद्मप्रिया, पद्महस्ता, चन्द्रसूर्या, मुक्तालङ्कारा, बिल्वप्रिया, ईश्वरी, भुक्ति, मुक्ति, विभूति, ऋद्धि, समृद्धि, कृष्टि, पुष्टि, धनदा, धनेश्वरी, श्रद्धा, भोगिनी, भोगदा, सावित्री, धात्री एवं विधात्री आदि नाम-मंत्रों द्वारा शक्ति की पूजा-अर्चा सम्पन्न करे। एकाक्षर मन्त्र की ही भाँति अङ्गादि से पीठ-पूजन की क्रिया करे। पुरश्चरण के लिए एक लाख मन्त्रों का जप करना चाहिए। जप का दसवाँ भाग तर्पण, तर्पण का दसवाँ भाग हवन और हवन का दसवाँ हिस्सा ब्रह्मभोज करना चाहिए॥ ११ ॥

निष्कामानामेव श्रीविद्यासिद्धिः । न कदापि सकामानामिति ॥ १२ ॥

निष्काम (कामनाविहीन) उपासकों को ही श्री-लक्ष्मी विद्या की सिद्धि प्राप्त होती है। इसकी सिद्धि सकाम उपासकों को किञ्चित् मात्र भी नहीं होती॥ १२ ॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ हैनं देवा ऊचुस्तुरीयया मायया निर्दिष्टं तत्त्वं ब्रूहीति। तथेति स होवाच—योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्धते। योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम् ॥ १ ॥ समापय्य निद्रां सुजीर्णेऽल्पभोजी श्रमत्याज्यबाधे विविक्ते प्रदेशे । सदा शीतनिस्तृष्ण एष प्रयत्नोऽथ वा प्राणरोधो निजाभ्यासमार्गात्॥ २ ॥ वक्त्रेणापूर्य वायुं हुतवहनिलयेऽपानमाकृष्य धृत्वा स्वाङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीभिर्वरकरतलयोः षड्भिरेवं निरुध्य। श्रोत्रे नेत्रे च नासापुटयुगलमथोऽनेन मार्गेण सम्यक्पश्यन्ति प्रत्ययांशं प्रणवबहुविधध्यानसंलीनचित्ताः॥ ३ ॥

इसके पश्चात् समस्त देवों ने आदि नारायण से पुनः प्रश्न किया—हे प्रभो! आप कृपा करके तुरीया माया के द्वारा निर्दिष्ट तत्त्व के सन्दर्भ में हम सभी को बताने का अनुग्रह करें।' बहुत अच्छा 'कहते हुए आदि नारायण ने आगे कहना प्रारम्भ किया।(उन्होंने कहा-हे देवो!)योग द्वारा ही योग को जानने का प्रयास करना चाहिए, योग द्वारा ही योग वृद्धि को प्राप्त होता है। जो योगी अपने योग में प्रमाद-रहित होकर सतत जागरूक बना रहता है, वह योगी अनन्तकाल तक आनन्द लाभ प्राप्त करता है। मितभोगी अर्थात् ब्राह्मणोचित निर्वाह हेतु आवश्यक सामग्री का उपयोग करने वाला साधक राग,द्वेष एवं मोहरूपी कषाय-कल्मष,निद्रालस्य का परित्याग कर, प्रपञ्च के ब्रह्मत्व की प्राप्ति में अवरोध उत्पन्न होने से एकान्त स्थल में स्थित होकर ध्यान साधना करता रहता है। निरन्तर वह आत्मतत्त्व को परमात्मतत्त्व में प्रतिष्ठित करने का अभ्यास करता रहता है। वह सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों से परे रहने के लिए सदैव राजयोग की साधना में प्रवृत्त रहता है। योगीजन प्राणायाम के अभ्यास में सर्व-प्रथम मुख द्वारा वायु को खींचकर अन्तः में प्रतिष्ठित करते हैं एवं नाभि प्रदेश से अपान वायु का जठराग्नि के कोष्ठ में सम्मिलन कराते हैं। तदुपरान्त अंगुष्ठ सहित सभी अँगुलियों एवं दोनों हथेलियों से दोनों कान,आँखें और नासिका के दोनों छिद्रों को बन्द करके प्राणायाम के सतत अभ्यास से और ॐ कार का विभिन्न तरह से ध्यान करते हुए उसी में एकाग्र मन से लीन हुए योगीजन चैतन्य रूपी आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं॥ १-३ ॥

श्रवणमुखनयननासानिरोधनेनैव कर्तव्यम्। शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलं श्रूयते नादः॥ ४ ॥
विचित्रघोषसंयुक्तानाहते श्रूयते ध्वनिः। दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धोऽप्यरोगवान् ॥ ५॥
संपूर्णहृदयः शून्ये त्वारम्भे योगवान्भवेत्। द्वितीयां विघटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः॥ ६ ॥

नेत्र, कर्ण, मुख एवं नासिका के दोनों छिद्रों को बन्द करके की जाने वाली अभ्यास-साधना की एक और विधि बतलायी गई है। उस (विधि) से शुद्ध सुषुम्ना नाड़ी में ॐ कार के विशुद्ध अनाहत नाद को स्पष्टतया सुना जाता है। अनाहत-चक्र में ध्वनि के श्रवण करने पर विभिन्न तरह के विचित्र घोष (शब्द) सुने जाते हैं। इस साधना से साधक अत्यन्त तेजस्वी हो जाता है, उसके शरीर से दिव्य-गन्ध निःसृत होने लगती है। वह स्वास्थ्य लाभ लेता हुआ दिव्य शरीर और पूर्ण विकसित हृदय को प्राप्त कर लेता है। शून्य (सुषुम्ना नाड़ी) में (पूर्ण मनोयोगपूर्वक ध्वनि श्रवण करते रहने से) प्रारम्भिक-काल से ही वह साधक जहाँ से सुषुम्ना नाड़ी शुरू होती है,उस(ब्रह्मग्रन्थि-मूलाधार चक्र)में ही योग युक्त हो जाता है।(तत्पश्चात्) दूसरी(विष्णुग्रन्थि-स्वाधिष्ठान चक्र) का भेदन करके उसके मध्यवर्ती छिद्र में से होकर प्राणवायु सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है॥ ४-६॥

दृढासनो भवेद्योगी पद्माद्यासनसंस्थितः। विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्दसंभवः॥ ७॥
अतिशून्यो विमर्दश्च भेरीशब्दस्ततो भवेत्। तृतीयां यत्नतो भित्त्वा निनादो मर्द्दलध्वनिः॥ ८॥

दृढ़तापूर्वक पद्मासन आदि आसन में प्रतिष्ठित होकर तृतीय मणिपूरकचक्र में स्थित होकर, (अनेक इच्छाओं-आकांक्षाओं का विस्तार करती रहने वाली उस) विष्णुग्रन्थि (माया) का भेदन करने पर परम आनन्द की प्राप्ति सुलभ हो जाती है। शून्य (माया) को लाँघकर ऊर्ध्व की ओर बढ़ता हुआ प्राणवायु जब नाड़ी के साथ संघर्षित होता है, तब उसमें से भेरी की भाँति ध्वनि सुनाई पड़ती है। उस समय तीसरी (रुद्रग्रन्थि-मणिपूरचक्र) को भेदकर चलने पर प्राणवायु से मृदङ्ग-जैसी ध्वनि सुनाई देती है॥ ७-८॥

महाशून्यं ततो याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम्। चित्तानन्दं ततो भित्त्वा सर्वपीठगतानिलः॥ ९॥

इसके बाद प्राणवायु अन्य चक्रों का भेदन करता हुआ महाशून्य (आकाश चक्र) में पहुँच जाता है। वहाँ पर सभी तरह की सिद्धि सुलभता से प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर प्राणवायु उस चित्त के आनन्द को भी भेद कर (अर्थात् उसमें न रमता हुआ, कामरूप पीठ आदि)सभी पीठों (चक्रों) में गतिशील हो जाता है॥ ९॥

निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणतीति क्वणो भवेत्। एकीभूतं तदा चित्तं सनकादिमुनीडितम्॥१०॥
अन्तेऽनन्तं समारोप्य खण्डेऽखण्डं समर्पयन्। भूमानं प्रकृतिं ध्यात्वा कृतकृत्योऽमृतो भवेत्॥११

तदनंतर इस साधना के समापन पर वैणव शब्द- वेणुनिनाद शब्दायमान होता हुआ स्वयमेव 'प्रणव'-रूप में प्रादुर्भूत होता है। इस ॐकार ध्वनि में चित्त लीन हो जाता है, ऐसा सनकादि ऋषियों के द्वारा कहा गया है। उस महाशून्य-चक्र में अवस्थित होता हुआ साधक अन्त में अर्थात् जीवात्मा में अन्तरहित परमात्मतत्त्व का समारोप करता है। वह मायाग्रस्त अंशरूप आत्मा में अंशरहित परमपिता परमात्मा को समर्पित करके और आत्मा की भूमा (सर्वत्र संव्याप्त) प्रकृति का चिन्तन करता हुआ अमृतमय हो जाता है॥ १०-११॥

योगेन योगं संरोध्य भावं भावेन चाञ्जसा। निर्विकल्पं परं तत्त्वं सदा भूत्वा परं भवेत्॥ १२॥
अहंभावं परित्यज्य जगद्भावमनीदृशम्। निर्विकल्पे स्थितो विद्वान्भूयो नाप्यनुशोचति॥ १३॥

(असंप्रज्ञात ज्ञानातीत) योग द्वारा (संप्रज्ञात-विशिष्टज्ञान) योग को अपने वश में करे तथा भाव (सविचार) समाधि का निरोध अभाव (निर्विचार) समाधि द्वारा करे। तदुपरान्त योगी निर्विकल्प-समाधि को प्राप्त करके परमात्मतत्त्व से एकत्वरूप कैवल्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। निर्विकल्प समाधि में विद्यमान योगी-साधक

का अहंभाव उससे अलग हो जाता है तथा आत्मतत्त्व में स्थित मायास्वरूप जगत् का भी लोप हो जाता है। इस प्रकार से विद्वज्जन बार-बार 'यह मैं हूँ' तथा 'यह मेरा है' इत्यादि चिन्ताओं से परे हो जाते हैं॥ १२-१३॥

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भवति योगतः। तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥१४॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते। तदा समरसत्वं यत्समाधिरभिधीयते॥ १५॥
यत्समत्वं तयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः। समस्तनष्टसंकल्पः समाधिरभिधीयते ॥ १६॥
प्रभाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं निरामयम्। सर्वशून्यं निराभासं समाधिरभिधीयते ॥१७॥
स्वयमुच्चलिते देहे देही नित्यसमाधिना। निश्चलं तं विजानीयात्समाधिरभिधीयते ॥ १८॥
यत्रयत्र मनो याति तत्रतत्र परं पदम्। तत्रतत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम्॥ १९॥

जिस प्रकार जल में नमक का मिश्रण कर देने पर, जल और नमक घुल-मिल जाता है, उसी प्रकार आत्मा में मन का विलय होना ही समाधि कहलाता है। जब प्राणायाम के अभ्यास द्वारा प्राणवायु पूरी तरह से कमजोर होकर कुम्भक में स्थित हो जाती है तथा मानसिक-वृत्तियाँ पूर्णतया कमजोर हो जाती हैं, उस समय तैलधारावत् आत्मा के संग चित्त का एकात्म भाव ही समाधि कहा जाता है। जीवात्मा एवं परमात्मा का एकत्व होने पर जब समस्त संकल्प विनष्ट हो जाते हैं, तब उस अवस्था को समाधि कहते हैं। प्रभा अर्थात् सांसारिक बोध से रहित जिस स्थिति में मन एवं बुद्धि पूर्णरूपेण लीन हो जाते हैं, जिसमें कुछ भी आभास नहीं होता, सब शून्यवत् ही प्रतीत होता है, वह (भवरोग के निवारण की स्थिति) ही समाधि कहलाती है। शरीर के इधर-उधर गतिशील रहने पर भी जीवात्मा जब निश्चल, नित्य, स्वयं प्रकाशरूप में विद्यमान रहता है, तब वही समाधि अवस्था कहलाती है। उस योगी साधक का मन जहाँ-जहाँ गमन करता है, वहाँ-वहाँ परम श्रेष्ठ पद की प्राप्ति होती है। उस (योगी) के लिए परब्रह्म सभी जगह समान रूप से अवस्थित रहता है॥ १४-१९॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

अथ हैनं देवा ऊचुर्नवचक्रविवेकमनुब्रूहीति । तथेति स होवाच—आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिरावृतं भगमण्डलाकारम् । तत्र मूलकन्दे शक्तिः पावकाकारं ध्यायेत् । तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकामप्रदं भवति । इत्याधारचक्रम् ॥ १॥

तदनन्तर समस्त देवों ने भगवान् आदि नारायण से पुनः प्रार्थना की-हे प्रभो! आप कृपा करके हम सभी के कल्याणार्थ 'नवचक्र-विवेक' के सन्दर्भ में बतलाने का अनुग्रह करें। 'बहुत अच्छा' कहते हुए भगवान् आदि नारायण देवों को समझाते हुए बोले-

मूलाधार में ही ब्रह्मचक्र स्थित है। वह योनि के आकार में तीन घेरों के रूप में है। वहाँ पर कर्णिका (बीजकोष) के मूल में कुण्डलिनी-महाशक्ति शयन किये हुए सर्प के आकार में विद्यमान है। तपती हुई अग्नि के रूप में उस शक्ति का तब तक चिन्तन करना चाहिए, जब तक वह जाग्रत् अवस्था को प्राप्त न हो जाए। वहीं पर देवी त्रिपुरा का स्थान कामरूप नाम की पीठ स्थित है। उसकी उपासना द्वारा सभी तरह के भोगों को प्राप्त किया जा सकता है। इतना ही आधार (मूलाधार) नाम से युक्त प्रथम चक्र के सन्दर्भ में वर्णित है॥ १॥

द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं षड्दलम् । तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत्। तत्रैवोड्याणपीठं जगदाकर्षणसिद्धिदं भवति ॥ २॥

द्वितीय चक्र छः दलों से युक्त स्वाधिष्ठान चक्र कहलाता है। उस षड्दल कमल के कर्णिका पीठ में (पृष्ठ में) पश्चिम की ओर मुख करके मूँगे के अङ्कुर के सदृश लाल वर्ण युक्त शिवलिङ्ग का चिन्तन करे। वहाँ पर उड्याण पीठ स्थित है। उसकी उपासना द्वारा सम्पूर्ण विश्व को आकर्षित करने की सिद्धि प्राप्त होती है॥ २॥

तृतीयं नाभिचक्रं पञ्चावर्तं सर्पकुटिलाकारम् । तन्मध्ये कुण्डलिनीं बालार्ककोटिप्रभां तडित्प्रभां (तनुमध्यां) ध्यायेत् । सामर्थ्यशक्तिः सर्वसिद्धिप्रदा भवति । मणिपूरकचक्रम्॥३ ॥

तृतीय-चक्र सर्प की भाँति कुटिल आकार वाला एवं पाँच घेरों से आवृत्त है। उसे नाभि चक्र कहते हैं। उस चक्र में करोड़ों बाल सूर्यों की सी कान्ति से युक्त और तडित् के सदृश कोमल अंगों से युक्त कुण्डलिनी-महाशक्ति का ध्यान करना चाहिए। इस शक्ति की जागृति से महान् सामर्थ्य की प्राप्ति होती है तथा यह समस्त सिद्धियों को भी प्रदान करती है। यही मणिपूरक चक्र है ॥ ३ ॥

हृदयचक्रमष्टदलमधोमुखम् । तन्मध्ये ज्योतिर्मयलिङ्गाकारं ध्यायेत् । सैव हंसकला सर्वप्रिया सर्वलोकवश्यकरी भवति ॥ ४॥

(चतुर्थ अनाहत चक्र कहलाता है) इसे ही हृदयचक्र भी कहते हैं। यह अष्टदल कमल के आकार सदृश अधोमुख होता है। इस चक्र में ज्योतिर्मय लिङ्ग का ध्यान करना चाहिए। यही ज्योतिर्मय लिङ्ग हंसकला के नाम से प्रसिद्ध है। यह सभी को प्रिय है, इसके जाग्रत् होने से सम्पूर्ण लोकों को अपने वश में करने की शक्ति प्रकट होती है॥ ४॥

कण्ठचक्रं चतुरङ्गुलम्। तत्र वामे इडा चन्द्रनाडी दक्षिणे पिङ्गला सूर्यनाडी तन्मध्ये सुषुम्नां श्वेतवर्णां ध्यायेत्। य एवं वेदानाहतसिद्धिदा भवति ॥ ५ ॥

पाँचवाँ चक्र कण्ठ में विशुद्धाख्य चक्र के नाम से प्रसिद्ध है। यह चार अङ्गुल परिमाण का है। इस चक्र में बायीं ओर इड़ा (चन्द्रनाड़ी) और दाहिनी तरफ पिङ्गला (सूर्यनाड़ी) प्रतिष्ठित है। इन दोनों नाड़ियों के मध्य में श्वेतवर्ण की सुषुम्ना नाड़ी का ध्यान करना चाहिए। जो मनुष्य इसे जानता है, वह इसके द्वारा अनाहत (नाद) की सिद्धि प्राप्त कर लेता है॥ ५॥

तालुचक्रम् । तत्रामृतधाराप्रवाहः । घण्टिकालिङ्गमूलचक्ररन्ध्रे राजदन्तावलम्बिनीविवरं दशद्वादशारम् । तत्र शून्यं ध्यायेत् । चित्तलयो भवति ॥ ६ ॥

इसके ऊपर तालु चक्र है, जहाँ पर हमेशा अमृत की धार प्रवहमान रहती है। तालु-चक्र में दस या बारह दल होते हैं। घाटी (गले में लटकने वाला टेंटुआ) के मूल में एवं अग्रभाग के दाँतों की जड़ तक फैला हुआ जो चक्र के आकार का रन्ध्र (छिद्र) है, उसी में तालु-चक्र प्रतिष्ठित है। इस चक्र में शून्य का ध्यान करने से चित्त शून्य में समाहित होता है॥ ६॥

सप्तमं भ्रूचक्रमङ्गुष्ठमात्रम्। तत्र ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेत्। तदेव कपालकन्दवाक्सिद्धिदं भवत्याज्ञाचक्रम्॥ ७॥

अंगुष्ठ के आकार-सदृश सातवाँ भ्रू-चक्र कहलाता है। उस द्विदल कमल में स्थित दीपशिखा के आकार में ज्ञान-चक्षु का ध्यान करना चाहिए। इस (भ्रू) चक्र के जाग्रत् होने के पश्चात् कपालकन्द अर्थात् अदृष्ट के कारणभूत कार्यों एवं उनके विषय का (वाक्सिद्धि का) समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है, यही आज्ञा चक्र है॥७॥

ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रम्। तत्र सूचिकागृहेतरं धूम्रशिखाकारं ध्यायेत् । तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवतीति परब्रह्मचक्रम् ॥ ८॥

आठवाँ निर्वाण-चक्र कहलाता है। इसे ब्रह्मरन्ध्र भी कहते हैं। वह सुई के अग्रभाग के नोंक के आकार के सदृश है। वहाँ सतत सक्रिय धूम्रशिखा के आकार का चिन्तन करना चाहिए। वहीं जालन्धर पीठ विद्यमान है। उस चक्र के सतत चिन्तन से मोक्ष लाभ प्राप्त होता है, अतः इसी कारण योगीजनों द्वारा इसे परब्रह्म चक्र भी कहा जाता है॥ ८॥

नवममाकाशचक्रम्। तत्र षोडशदलपद्ममूर्ध्वमुखं तन्मध्यकर्णिकात्रिकूटाकारम्। तन्मध्ये ऊर्ध्वशक्तिः। तां पश्यन्ध्यायेत्। तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छासिद्धिसाधनं भवति॥ ९॥

आकाश चक्र को नवम चक्र कहा गया है। इस चक्र में षोडश दलों से युक्त कमल ऊर्ध्व की ओर मुख किये हुए अवस्थित है। उसके मध्य स्थल की कर्णिका तीन गुणों की जननी होने के कारण तीन शिखरों से युक्त पर्वत के आकार-सदृश कही गयी है। उस चक्र के बीच में ऊपर की ओर झुकी हुई शक्ति है, उसी को दृष्टि में रखकर ध्यान करना चाहिए। उस स्थल पर ही पूर्णगिरि पीठ स्थित है, जिसके ध्यान द्वारा समस्त कामनाओं की सिद्धि प्राप्त हो जाती है॥ ९॥

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सकलधनधान्यसत्पुत्रकलत्रहयभूगजपशुमहिषीदासीदासयोगज्ञानवान्भवति। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तत इत्युपनिषत्॥ १०॥

जो मनुष्य नित्य प्रति सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद् का पाठ करता है, वह अग्निवत् पवित्र होता है, वह वायु के सदृश शुद्ध होता है। वह सभी प्रकार के धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, हाथी-घोड़े, भैंस-गाय एवं दास-दासी से सम्पन्न योगी एवं ज्ञानी हो जाता है। मनुष्य जीवन के समापन पर वह परम पिता परमात्मा के शाश्वत पद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से वह पुनः वापस नहीं आता, पुनः वापस नहीं लौटता है, ऐसी ही यह उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है॥ १०॥

ॐ वाङ्मे मनसि ...... इति शान्तिः॥

॥ इति सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत्समाप्ता॥

(63) महोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस सामवेदीय उपनिषद् में बड़े-बड़े छः अध्याय हैं। प्रथमाध्याय में सांख्यानुसारी पचीस तत्त्व बताए हैं किन्तु उनके अतिरिक्त एक नारायणरूप नियन्ता को भी सम्मिलित किया गया है। नारायण से शंकर और ब्रह्मा की उत्पत्ति बताकर दूसरे और तीसरे अध्याय में शुकदेव की कथा कही गई है। इनमें शुकदेव जी की साधना और इस साधना के फलस्वरूप उन्होंने जो आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त कीं, उनका वर्णन है। जब ऐसी अनुभूतियों से उन्हें शान्ति न मिली, तब वे अपने पिता व्यास जी के पास पहुँचे। व्यास जी से उन्होंने सारी बातें कहीं। तब व्यास जी ने उन्हें तत्त्वोपदेश देकर राजा जनक के यहाँ परितोष प्राप्त करने के लिए भेजा। जनक की कसौटी में वे खरे उतरे। जनक के प्रथम उपदेश से तो उन्होंने प्राप्त की ही प्राप्ति की थी, इसलिए उन्हें पहले तो शान्ति नहीं हुई। बाद में जनक ने जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के बारे में कहा, तब उन्हें शान्ति मिली और वे मेरु-शिखर पर पहुँचकर समाधि में लीन हुए। तीसरे अध्याय से लेकर अन्त तक निदाघ और ऋभु का संवाद चलता है। इन अध्यायों में ऋभु द्वारा निदाघ को बड़ा अच्छा तत्त्वविवेचनात्मक उपदेश दिया गया है। इस कार्यकारणसंघात के बीच में से छानबीन कर आत्मतत्त्व का तारण इसमें प्रदर्शित किया गया है। इस उपदेश में मानो वेदान्त का सारा सागर ही गर्जना कर रहा है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुःश्रोत्रमथोबलमिन्द्रयाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद-निराकरणं मेऽस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परब्रह्म परमात्मा! हमारे सभी अंग—वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और सभी इन्द्रियाँ तथा बल परिपुष्ट हों। यह जो सर्वरूप उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म है, उस ब्रह्म की अवगणना (तिरस्कार) हम न करें और ब्रह्म (भी) हमारा परित्याग न करें। उस (ब्रह्म) के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध हो। उपनिषदों में प्रतिपादित जो धर्म हैं, वे सब परमात्मा में रत हममें प्रविष्ट हों, वे सभी हमारे धर्म में हों।

हे परमात्मा ! (हमारे) त्रिविध तापों की शान्ति हो।

प्रथमोऽध्यायः

अथातो महोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥1॥
तदाहुः—एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नापो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः ॥2॥

स एकाकी न रमते ॥3॥
तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते ॥4॥
तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दश जायन्ते एका कन्या दशेन्द्रियाणि मन एकादशं तेजो द्वादशमहंकारस्त्रयोदशकः प्राणश्चतुर्दश आत्मा पञ्चदशी बुद्धिर्भूतानि पञ्च तन्मात्राणि पञ्च महाभूतानि स एकः पञ्चविंशतिः पुरुषः ॥5॥
तत्पुरुषं पुरुषो निवेश्य नास्य प्रधानसंवत्सरा जायन्ते । संवत्सरादधि-जायन्ते ॥6॥

अब हम महोपनिषद् कहेंगे । उसमें प्रथम यह कहा जाता है कि इस सृष्टि के पहले एक नारायण ही थे । ब्रह्मा भी नहीं थे, शंकर भी नहीं थे, जल नहीं था, अग्नि और सोम भी नहीं थे । यह आकाश और पृथ्वी भी नहीं थे । नक्षत्र नहीं थे । चन्द्र न था, सूर्य भी न था । उस समय अकेले नारायण को आनन्द नहीं आया (चैन नहीं पड़ा) । वे ध्यान में बैठकर चिन्तन करने लगे । अतः उनके सामने यज्ञ-समूह उच्चरित हुआ । उसमें चौदह पुरुष जन्मे । एक कन्या जन्मी । दश इन्द्रियाँ, ग्यारहवाँ तेजोरूप मन, बारहवाँ अहंकार, तेरहवाँ प्राण, चौदहवाँ आत्मा और पंद्रहवीं बुद्धि हुई । बाद में पाँच तन्मात्राएँ और पाँच महाभूत उत्पन्न हुए । इस प्रकार वह एक पुरुष पचीस रूप में (विराट् या सूत्रात्मा रूप में) उत्पन्न हुआ । उस पुरुष (सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ) को उसका अधिष्ठाता (नारायण) सृष्टि आदि स्थूल कर्म में स्थापित करके और स्वयं असंग और उदासीन हो गया । 'इतने काल तक वह ऐसा रहता है'— इस तरह के कोई संवत्सर जैसे कालपरिमाण उस समय उत्पन्न नहीं होते । कालपरिमाण तो संवत्सर से ही पैदा होते हैं ।

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत । तस्य ध्यानान्तः-स्थस्य ललाटात् त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषो जायते । बिभ्रच्छ्रियं यशः सत्यं ब्रह्मचर्यं तपो वैराग्यं मन ऐश्वर्यं सप्रणवा व्याहृतय ऋग्यजुःसामाथ-र्वाङ्गिरसः सर्वाणि छन्दांसि तान्यङ्गे समाश्रितानि । तस्मादीशानो महादेवो महादेवः ॥7॥

बाद में फिर उस नारायण ने एक अन्य कामना की । उन्होंने अपने मन से ध्यान किया । ध्यानस्थ उनके (नारायण के) ललाट से तीन आँखों वाले त्रिशूलधारी पुरुष का जन्म हुआ । वह लक्ष्मी, यश, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, वैराग्य, मन तथा ऐश्वर्य धारण किए हुए था । प्रणवसहित सभी व्याहृतियाँ, ऋक्-यजुष्-साम-अथर्ववेद, सभी छन्द उसके शरीर में विद्यमान थे । अत एव वे ईशान हैं, वे बड़े देव हैं इसलिए वे महादेव हैं ।

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत । तस्य ध्यानान्तः-स्थस्य ललाटात् स्वेदोऽपतत् । ता इमाः प्रतता आपः । ततस्तेजो हिरण्मयमण्डम् । तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत ॥8॥

बाद में फिर उन नारायण ने अन्य इच्छा की और मन से ध्यान किया । जब वे ध्यान में बैठे, तब उनके ललाट से पसीना गिर पड़ा । वह जल के रूप में फैल गया । उसमें से तेज पैदा हुआ और एक स्वर्णमय अण्ड उत्पन्न हुआ । उसमें से चार मुख वाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए ।

सोऽध्यायत् । पूर्वाभिमुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्द ऋग्वेदो-ऽग्निर्देवता । पश्चिमाभिमुखो भूत्वा भुव इति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दो

यजुर्वेदो वायुर्देवता । उत्तराभिमुखो भूत्वा स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सामवेदः सूर्यो देवता । दक्षिणाभिमुखो भूत्वा मह इति व्याहृतिरानुष्टुभं छन्दोऽथर्ववेदः सोमो देवता ॥9॥

उत्पन्न होकर उस ब्रह्मा ने पूर्वाभिमुख होकर ध्यान किया कि यह 'भूर्' व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद और अग्निदेव हैं। फिर उन्होंने पश्चिमाभिमुख होकर यह 'भुवर्' व्याहृति, त्रैष्टुभ् छन्द, यजुर्वेद और वायुदेव यह है, ऐसा ध्यान किया। फिर उत्तराभिमुख होकर यह 'स्वर्' व्याहृति, जाग्रत् छन्द, सामवेद और सूर्यदेव हैं, ऐसा ध्यान किया। फिर दक्षिणाभिमुख होकर यह 'महः' व्याहृति, अनुष्टुभ् छन्द और अथर्ववेद तथा चन्द्रदेव हैं, ऐसा ध्यान किया।

सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं विश्वशम्भुवम् ।
विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम् ॥10॥
विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति ।
पतिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रेकं विश्वरूपिणम् ॥11॥

और भी हजारों मस्तकों वाले, हजारों आँखों वाले, जगत् का कल्याण करने वाले, सर्वश्रेष्ठ, नित्य, विश्वरूप, भक्तों के दुःख दूर करने वाले, श्रीनारायण देव का उन्होंने (ब्रह्मा ने) ध्यान किया कि यह सर्वजगत् उस पुरुषमय ही है। उन्हीं के आधार पर यह सारा जगत् टिका हुआ है। जगत् के प्रतिपालक-विश्वेश्वरदेव, प्रत्यगात्मा से अभिन्न होकर ब्रह्मरूप से सम्यक् (योग्य) रीति से ऊपर उठे हुए उन ब्रह्मा ने 'वह मैं ही हूँ'—ऐसा ध्यान किया।

पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसन्निभम् ।
हृदयं चाप्यधोमुखं सन्तत्यै सीत्कराभिश्च ॥12॥
तस्य मध्ये महानर्चिर्विश्वार्चिर्विश्वतो मुखम् ।
तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता ॥13॥
तस्याः शिखाया मध्ये पुरुषः परमात्मा व्यवस्थितः ।
स ब्रह्मा स ईशानः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ॥14॥
इति महोपनिषत् ।

इति प्रथमोऽध्यायः ।

पद्मकोश जैसे प्रकाशित, नीचे की ओर मुखवाला, जो जीवन की सन्तति (सातत्य) के लिए ही लटक रहा है, जो ठण्डे पानी के शीकरों से युक्त है (जिससे जल-बिन्दुओं का स्राव होता रहता है) ऐसा एक हृदय सभी प्राणियों के भीतर प्रतिष्ठित है। ऐसे उस हृदय के बीच में चारों ओर व्याप्त और सभी ओर अपनी ज्वालाएँ फैलाने वाली विशाल वह्निशिखा है। उसके बीच अतिसूक्ष्म सीधी अग्निशिखा है, उसके बीच परमात्मा हैं। वही ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र और वही अविनाशी तथा परम स्वयंप्रकाश है—ऐसा यह महोपनिषद् कहती है।

यहाँ पर प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

शुको नाम महातेजाः स्वरूपानन्दतत्परः ।
जातमात्रेण मुनिराड् यत् सत्यं तदवाप्तवान् ॥1॥
तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः ।
प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्नुयात् ॥2॥
अनाख्यत्वादगम्यत्वान्मनःषष्ठेन्द्रियस्थितेः ।
चिन्मात्रमेवायमणुराकाशादपि सूक्ष्मकः ॥3॥
चिदणोः परमस्यान्तः कोटिब्रह्माण्डरेणवः ।
उत्पत्तिस्थितिमभ्येत्य लीयन्ते शक्तिपर्ययात् ॥4॥

शुकदेव नाम के एक बड़े तेजस्वी मुनिराज सदैव स्वरूपानन्द में तल्लीन रहते थे। वे जन्मे थे तब से ही सत्य पदार्थ जो है उसे प्राप्त कर चुके थे। महामना उन शुकदेव जी ने अपने आप ही स्वयंभू विवेक से दीर्घकाल तक बहुत ही चिन्तन किया। और बाद में इस प्रकार का उत्तम अपने आत्मा के विषय में निश्चय किया था कि मनसहित छहों इन्द्रियों की उपस्थिति से अगम्य और अवर्णनीय होने से यह आत्मा मात्र चैतन्य रूप ही है। वह अणु है अर्थात् आकाश से भी सूक्ष्म है। इस चैतन्यरूप परमाणु के भीतर करोड़ों ब्रह्माण्डरूपी रजकण उत्पत्ति तथा स्थिति को प्राप्त करते रहते हैं। और शक्ति में परिवर्तन हो जाने से उसी चिदणु में लीन हो जाते हैं।

आकाशं बाह्यशून्यत्वादनाकाशं तु चित्त्वतः ।
न किञ्चिद्यदनिर्देश्यं वस्तु सत्तेति किञ्चन ॥5॥
चेतनोऽसौ प्रकाशत्वाद्वेद्याभावाच्छिलोपमः ।
स्वात्मनि व्योमनि स्वस्थे जगदुन्मेषचित्रकृत् ॥6॥
तद्भामात्रमिदं विश्वमिति न स्यात्ततः पृथक् ।
जगद्भेदोऽपि तद्भानमिति भेदोऽपि तन्मयः ॥7॥
सर्वगः सर्वसंबन्धो गत्यभावान्न गच्छति ।
नास्त्यसावाश्रयाभावात् सद्रूपत्वादथास्ति च ॥8॥

वह आत्मतत्त्व बाहर की दृष्टि से शून्य जैसा होने से आकाश है। परन्तु वह तो चिद्रूप है, वह कहीं वास्तविक रूप में आकाश तो नहीं है। 'कुछ है ही नहीं'—इस तरह कहना या बताना तो असंभव ही है, इसलिए कुछ 'सत्ता' रूप तो अवश्य है ही। वह प्रकाशरूप होने से चेतन है पर उसे जानना असंभव होने से शिला जैसा है। अपने आकाशरूप स्वरूप में ही वह जगत् के प्रादुर्भावरूप चित्र अंकित करता है। यह सम्पूर्ण विश्व उसी का प्रकाशमात्र होने के कारण उससे अलग है ही नहीं। जगत् रूप भेद भी तो उसी का भान है क्योंकि भेद भी तो तन्मय (आत्ममय) ही है। वह सभी ओर गति करता है और सभी के साथ सम्बन्ध वाला होता है। सभी के साथ सम्बद्ध होने से उसमें कोई गति नहीं होती, इसलिए वह चलायमान भी नहीं है। वह निरालम्ब है इसलिए वह 'नहीं' है। परन्तु, वह सत्यस्वरूप है इसलिए वह 'है भी तो सही।'

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम् ।
सर्वसंकल्पसंन्यासश्चेतसा यत्परिग्रहः ॥9॥

जाग्रतः प्रत्ययाभावं यस्याहुः प्रत्ययं बुधाः ।
यत्संकोचविकासाभ्यां जगत्प्रलयसृष्टयः ॥10॥
निष्ठा वेदान्तवाक्यानामथ वाचामगोचरः ।
अहं सच्चित्परानन्दब्रह्मैवास्मि न चेतरः ॥11॥

ब्रह्म विज्ञानरूप और आनन्दरूप है। वह जीवन्मुक्तिरूपी धनदाता मनुष्य की गुरु की परमगतिरूप है (गुरु की सार्थकता है)। चित्त के द्वारा सभी संकल्पों का त्याग करना ही परब्रह्म को स्वीकार करना है। विद्वान् लोग कहते हैं कि जागते रहने पर भी बाह्य विषयों का भान न होना ही ब्रह्म का ज्ञान है। उस ब्रह्म के संकोच और विकास से सारी सृष्टि का सर्जन और प्रलय होता है। पहले वेदान्त के वाक्यों पर श्रद्धा उत्पन्न होती है और फिर बाद में 'वाणी का अविषय सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्मा मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं' ऐसा अनुभव होता है।

स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवान् शुकः ।
स्वयं प्राप्ते परे वस्तुन्यविश्रान्तमनाः स्थितः ॥12॥
इदं वस्त्विति विश्वासं नासावात्मन्युपाययौ ।
केवलं विररामास्य चेतो विषयचापलम् ।
भोगेभ्यो भूरि भङ्गेभ्यो धाराभ्य इव चातकः ॥13॥

यह सब शुकदेव ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि से ही जाना था और अपने आप ही परम वस्तु को प्राप्त किया था। परन्तु तो भी उनका चित्त विश्रान्ति (शान्ति) को प्राप्त नहीं कर पाया था। और आत्मा के विषय में उनका विचार 'यह वही आत्मतत्त्व है'—इस तरह निश्चयात्मक रूप से दृढ नहीं हुआ था। केवल उनका विषयचंचल चित्त अब विषयों से रुक गया था और जिस तरह चातक जलधाराओं से विराम को प्राप्त होता है, उस तरह अतिनाशवान् विषयों में से वे विराम को प्राप्त किए हुए थे।

एकदा सोऽमलप्रज्ञो मेरावेकान्तसंस्थितम् ।
पप्रच्छ पितरं भक्त्या कृष्णद्वैपायनं मुनिम् ॥14॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं मुने ।
कथं च प्रशमं याति कियत् कस्य कदा वद ॥15॥
एवं पृष्टेन मुनिना व्यासेनाखिलमात्मजे ।
यथावदखिलं प्रोक्तं वक्तव्यं विदितात्मना ॥16॥
अज्ञासिषं पूर्वमेवमहमित्यथ तत्पितुः ।
स शुकः स्वकया बुद्ध्या न वाक्यं बहु मन्यते ॥17॥

एक दिन निर्मल बुद्धिवाले शुकदेव जी मेरु पर्वत के ऊपर अकेले ही बैठे थे। वहाँ उन्होंने अपने पिताजी कृष्णद्वैपायन (व्यास) से भक्तिभावपूर्वक पूछा—'हे मुनि ! यह संसाररूपी आडम्बर किस तरह स्थित है ? वह किसका, कितना, कब और किस तरह शान्त होता है, यह बताइए।' उनसे ऐसा पूछे जाने पर उन आत्मज्ञाता व्यास मुनि ने अपने पुत्र से जो कुछ कहने योग्य था वह सब कुछ कह दिया। परन्तु शुकदेव जी ने 'यह तो मैंने पहले से ही जान लिया है'—ऐसा मानकर पिता का कथन अपनी बुद्धि से बहुत नहीं माना।

व्यासोऽपि भगवान् बुद्ध्वा पुत्राभिप्रायमीदृशम् ।
प्रत्युवाच पुनः पुत्रं नाहं जानामि तत्त्वतः ॥18॥
जनको नाम भूपालो विद्यते मिथिलापुरे ।
यथावद्वेत्त्यसौ वेद्यं तस्मात् सर्वमवाप्स्यसि ॥19॥
पित्रेत्युक्तः शुकः प्रायात् सुमेरोर्वसुधातलम् ।
विदेहनगरीं प्राप जनकेनाभिपालिताम् ॥20॥

भगवान् व्यास पुत्र के इस अभिप्राय को समझ गए। उन्होंने फिर से अपने पुत्र से कहा कि—"यह तो मैं अच्छी तरह से जानता नहीं हूँ। मिथिला में जनक नाम का राजा है। वह जाननेयोग्य सब कुछ जानता है। इसलिए उनके पास से तुम सब कुछ जान सकोगे।" पिता ने जब ऐसा कहा तब शुकदेवजी सुमेरु पर्वत से नीचे आए और जनक द्वारा रक्षित मिथिलानगरी में प्रवेश किया।

आवेदितोऽसौ याष्टीकैर्जनकाय महात्मने ।
द्वारि व्याससुतो राजन् शुकोऽत्र स्थितवानिति ॥21॥
जिज्ञासार्थं शुकस्यासावास्तामेवेत्यवज्ञया ।
उक्त्वा बभूव जनकस्तूष्णीं सप्त दिनान्यथ ॥22॥
ततः प्रवेशयामास जनकः शुकमङ्गणे ।
तत्राहानि स सप्तैव तथैवावसदुन्मनाः ॥23॥
ततः प्रवेशयामास जनकोऽन्तःपुराजिरे ।
राजा न दृश्यते तावदिति सप्त दिनानि तम् ॥24॥

शुकदेव मुनि के आगमन पर द्वारपालों ने महात्मा जनक को खबर पहुँचाई कि "महाराज! व्यासपुत्र शुकदेव जी यहाँ द्वार पर आकर खड़े हैं।" शुकदेव जी की परीक्षा करने के लिए जनक ने अवज्ञापूर्वक कहा कि—'खड़े रहने दो।' ऐसा कहकर वे (जनक) सात दिनों तक कुछ बोले ही नहीं। इसके बाद जनक ने शुकदेव को आँगन में प्रवेश करवाया। परन्तु वहाँ भी उन्होंने (शुकदेवजी ने) सात दिनों तक उसे (राजा को) नहीं देखा। वे उन्मन (संसारविमुख) शुकदेव वैसे ही रहे। बाद में राजा ने उन्हें अन्त:पुर के आंगन में प्रवेश करवाया तो वहाँ पर भी सात दिनों तक उन्होंने राजा को देखा नहीं।

तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिर्भोजनैर्भोगसंचयैः ।
जनको लालयामास शुकं शशिनिभाननम् ॥25॥
ते भोगास्तानि भोज्यानि व्यासपुत्रस्य तन्मनः ।
नाजह्रुर्मन्दपवनो बद्धपीठमिवाचलम् ॥26॥
केवलं सुसमः स्वच्छो मौनी मुदितमानसः ।
संपूर्ण इव शीतांशुरतिष्ठदमलः शुकः ॥27॥

तदनन्तर राजा जनक ने वहाँ मदमस्त स्त्रियों, भाँति-भाँति के भोजनों और तरह-तरह के पदार्थों से उन चन्द्र जैसे मुखवाले शुकदेवजी का स्वागत किया। परन्तु उन भोगों ने और भोजनों ने शुकदेवजी के मन को उसी प्रकार चलायमान नहीं किया, जिस प्रकार मन्द-मन्द पवन मजबूत नींव वाले दृढ़ पर्वतो को हिलाने में सक्षम नहीं होता। शुकदेव जी तो अत्यन्त समबुद्धि वाले, समभावी, स्वच्छ, मौनी, प्रसन्नचित्त और पूर्ण चन्द्र की तरह निर्मल ही रहे।

परिज्ञातस्वभावं तं शुकं स जनको नृपः ।
आनीय मुदितात्मानमवलोक्य ननाम ह ॥28॥
निःशेषितजगत्कार्यः प्राप्ताखिलमनोरथः ।
किमीप्सितं तवेत्याह कृतस्वागत आह तम् ॥29॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो ।
कथं प्रशममायाति यथावत् कथयाशु मे ॥30॥
यथावदखिलं प्रोक्तं जनकेन महात्मना ।
तदेव यत् पुरा प्रोक्तं तस्य पित्रा महाधिया ॥31॥

इस तरह शुकदेव के स्वभाव की परीक्षा लेने के बाद राजा जनक ने उन्हें अपने समीप बुलाया और आनंदी आत्मा के दर्शन करके उन्हें नमन किया। जिस राजा ने जगत् के सभी कार्य समाप्त कर दिये थे, और जिसके सभी मनोरथ परिपूर्ण हो चुके थे, ऐसे उस राजा ने शुकदेव का स्वागत करके फिर उनसे कहा कि—"आपकी क्या इच्छा है ?" तब शुकदेव ने कहा—"हे गुरो ! यह संसाररूपी आडम्बर किस तरह उत्पन्न हुआ है और यह किस प्रकार से नष्ट होता है ? यह आप मुझे जल्द ही बताइए।" यह सुनकर महात्मा जनक ने उन्हें वे सभी बातें तत्त्वतः बतला दी जो कि उनके (शुकदेव के) महाबुद्धिमान पिता (श्रीव्यास) ने पहले ही कह दिया था।

स्वयमेव मया पूर्वमभिज्ञातं विशेषतः ।
एतदेव हि पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम् ॥32॥
भवताऽप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदां वर ।
एष एव हि वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते ॥33॥
मनोविकल्पसञ्जातं तद्विकल्पपरिक्षयात् ।
क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चितः ॥34॥
तत् किमेतन्महाभाग सत्यं ब्रूहि ममाचलम् ।
त्वत्तो विश्रममाप्नोमि चेतसा भ्रमता जगत् ॥35॥

तब शुकदेवजी ने कहा—"यह सब तो मैंने पहले ही स्वयं जान लिया है। विशेष जानने के लिए मैंने अपने पिताजी से पूछा था, तब उन्होंने भी यही कहा था। और आप भी तो यही अर्थ बतला रहे हैं। हे वक्ताओं में श्रेष्ठ ! यही वाक्य शास्त्रों में भी देखा जा सकता है। परन्तु इसके विषय में मेरे मन में जो संशय है उसका यदि नाश हो, तभी यह जलता हुआ निःसार संसार नष्ट हो सकता है, ऐसा मेरा निश्चय है। इसलिए हे महाभाग ! यह सब क्या है, इसका उत्तर मुझे निश्चित और सही रूप में बताइए। इस जगत् के विषय में मेरा मन भ्रमित रहता है। परन्तु मुझे आपके द्वारा ही शान्ति प्राप्त होगी।"

शृणु तावदिदानीं त्वं कथ्यमानमिदं मया ।
श्रीशुकं ज्ञान विस्तारं बुद्धिसारान्तरान्तरम् ॥36॥
यद्विज्ञानात् पुमान् सद्यो जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात् ॥37॥

तब जनक ने कहा—हे शुकदेवजी ! मैं अब इस ज्ञान का विस्तार कर रहा हूँ, उसे आप सुनिए। वह बुद्धि के भीतर का और उसके भी भीतर का सत्य है, उस सत्य के भी भीतर का सार है। उसको जानने से मनुष्य तुरन्त ही जीवन्मुक्तता को प्राप्त कर लेता है।

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।
सम्पन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥38॥
अशेषेण परित्यागो वासनाया य उत्तमः ।
मोक्ष इत्युच्यते सद्भिः स एव विमलक्रमः ॥39॥
ये शुद्धवासना भूयो न जन्मानर्थभागिनः ।
ज्ञातज्ञेयास्त उच्यन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः ॥40॥
पदार्थभावनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते ।
वासनातानवं ब्रह्मन् मोक्ष इत्यभिधीयते ॥41॥

मन में से यदि 'दृश्य है ही नहीं'—इस प्रकार के ज्ञान से दृश्य बिल्कुल ही साफ (नष्ट) हो जाए तो निर्वाण की परम शान्ति प्राप्त हो जाती है। वासना का सम्पूर्णतः त्याग कर देना ही उत्तम मोक्ष है। और उसी को सत्पुरुष 'निर्मल क्रम' कहते हैं। शुद्ध वासना वाले जो मनुष्य (वासनाओं की जिनमें शुद्धि हो चुकी है ऐसे मनुष्य ही) जन्मरूपी अनर्थ को फिर से प्राप्त नहीं करते। उन्होंने जो कुछ जानने योग्य है, वह जान लिया है। और वे ही परम बुद्धिमान् और जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। हे ब्राह्मण! पदार्थों (विषयों) की ओर भावना की दृढ़ता ही बन्ध कहलाता है और वासनाओं की कमी (न्यूनता) ही मोक्ष कहलाती है।

तपः प्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः ।
भोगा इह न रोचन्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥42॥
आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतः ।
न हृष्यति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥43॥
हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ।
न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥44॥
अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥45॥

जिसे तप आदि किसी कारण के बिना यों ही भोग अच्छे नहीं लगते, वह जीवन्मुक्त है। यथा समय आ टपकने वाली आपत्तियों में और सुख-दुःख में जो हर्ष या ग्लानि प्राप्त नहीं करता वह जीवन्मुक्त है। जिसका अन्तःकरण हर्ष, खेद, भय, क्रोध, इच्छा और हीनता के दर्शन से किसी भी प्रकार का असर (प्रभाव) प्राप्त नहीं करता, वह जीवन्मुक्त है। अहंकारमय वासना का खेल ही खेल में त्याग कर देने वाला जो मनुष्य अपनी ध्येय वस्तु का भी पूर्ण त्यागी बनकर रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु ।
सुषुप्तिवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥46॥
अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः ।
प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्न किञ्चिदिह वाञ्छति ।
यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥47॥
संवेद्येन हृदाकाशे मनागपि न लिप्यते ।
यस्यासावजडा संवित् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥48॥

रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले ।
यः करोत्यनपेक्ष्यैव स जीवन्मुक्त उच्यते ॥49॥

जिसको अपनी आन्तरिक दृष्टि से कोई इष्ट या अनिष्ट होता ही नहीं है, और जो सुषुप्तावस्था में विद्यमान की तरह व्यवहार करता हो, तो वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो हमेशा अपने आत्मा में ही रमण करता रहता हो और बैठा रहता हो (कर्मत्यागी हो), और पवित्र मनवाला होकर परम विश्रान्ति को प्राप्त हुआ हो, जो इस लोक में कुछ भी चाहता न हो, जो स्नेहरहित (आसक्तिरहित) होकर ही इस जगत् में जी रहा हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो मनुष्य (जागतिक) संवेद्य, पदार्थों द्वारा अपने हृदयाकाश में लेशमात्र भी नहीं लुभाता (लिप्त होता) है, और जिसे इस प्रकार 'चैतन्य संवित्' का ज्ञान हो गया हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। राग, द्वेष, सुख, दुःख, धर्म, अधर्म, फल और अफल की चिन्ता किए बिना ही जो कर्म किया करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

मौनवान् निरहंभावो निर्मानो मुक्तमत्सरः ।
यः करोति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥50॥
सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः ।
निरिच्छो वर्तते कार्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥51॥
येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम् ।
सर्वमन्तः परित्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥52॥
यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते ।
सा येन सुष्ठु संत्यक्ता स जीवन्मुक्त उच्यते ॥53॥

मौनधारी, अहंभावरहित, मानरहित, द्वेषरहित और उद्वेगरहित होकर जो कर्म करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। सभी के ऊपर से जिसकी आसक्ति नष्ट हो गई हो और साक्षीरूप होकर ही जो किसी भी कार्य में अपनी इच्छा न होने पर भी प्रवर्तन करता हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने धर्म, अधर्म, मन, विचार और इच्छा—इन सबको भीतर से ही त्याग दिया हो वह जीवन्मुक्त कहलाता है। इन दृश्य पदार्थों की देखी जाने वाली जितनी संख्या है, उन सभी को जिसने छोड़ दिया हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमेव च ।
सममेव च यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥54॥
जरा मरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च ।
रम्यमित्येव यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥55॥
धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी ।
धिया येन सुसंत्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥56॥
उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया ।
न शोचते न चोदेति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥57॥

जो मनुष्य कडुए, खट्टे, खारे, तीखे या निःस्वाद खाद्य को समान मानकर ही खाता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। बुढ़ापा, मरण, आपत्ति, राज्य और दरिद्र अवस्था आदि सब कुछ अच्छा ही है, ऐसा मानकर ही जो उन सबको भोगता है, नह जीवन्मुक्त कहा जाता है। धर्म, अधर्म, सुख, दुःख

और मरण तथा जन्म को जिस मनुष्य ने अपनी बुद्धि से छोड़ दिया हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। समभावयुक्त स्वच्छ बुद्धि से उद्वेगरहित तथा आनन्दरहित होकर जो शोक नहीं करता और हर्ष भी नहीं करता वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः।
धिया येन परित्यक्ताः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥58॥
जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च।
सममेव मनो यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥59॥
न किञ्चन द्वेष्टि तथा न किञ्चिदपि काङ्क्षति।
भुङ्क्ते यः प्रकृतान् भोगान् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥60॥
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥61॥
यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि निःस्पृहः।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥62॥

सभी इच्छाओं, सभी शंकाओं, सभी चेष्टाओं और सभी निश्चयों को जिसने बुद्धिपूर्वक (समझदारी पूर्वक) छोड़ दिया हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जन्म, स्थिति और विनाश में अथवा उन्नति में और अवनति में जिसका चित्त समान ही रहता हो, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो किसी से भी द्वेष नहीं करता, जो कुछ भी चाहता नहीं है और जो प्रस्तुत हुए भोगों को भोग लेता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिस मनुष्य का संसार का ज्ञान चला गया होता है, जो कलाओं से युक्त होने पर भी कलाओं से रहित ही होकर रहता है, और जो चित्तयुक्त होने पर भी चित्तरहित होकर ही रहता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो मनुष्य सभी पदार्थों के साथ व्यवहार करता हुआ भी मानों यह सब दूसरों के लिए ही है, इस प्रकार मानते हुए निःस्पृह ही रहकर पूर्णात्मा हो गया हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥63॥
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः ॥64॥
ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किञ्चिदवशिष्यते ॥65॥
न शून्यं नापि चाकारो न दृश्यं नापि दर्शनम्।
न च भूतपदार्थौघसदनन्ततया स्थितम् ॥66॥

(अब विदेहमुक्त की स्थिति बताते हैं—) फिर उस जीवन्मुक्त का देह मृत्यु के वश में आ जाता है। तब 'जीवन्मुक्त' पद का त्याग करके वह मनुष्य जैसे पवन निश्चलता को प्राप्त होता है, उसी तरह विदेहमुक्तता को प्राप्त करता है। फिर वह विदेहमुक्त जन्मता भी नहीं है और मरता भी नहीं है। वह 'सत्' भी नहीं होता, 'असत्' भी नहीं होता, 'मैं' भी नहीं होता, और 'अन्य' भी नहीं होता। तब वह

शान्त-गम्भीर तेज भी तो नहीं होता और न ही वह फैला हुआ अन्धकार ही होता है। तब वह शून्य भी नहीं है, न कोई आकार है, न दृश्य है, न दर्शन है, न भूतों या पदार्थों का कोई समूह है। वह तो केवल अनंत रूप में अवस्थित 'सत्' तत्त्व ही है।

किमप्यव्यपदेशात्मा पूर्णात् पूर्णतराकृतिः ।
न सन्नासन्न सदसन्न भावो भावनं न च ॥67॥
चिन्मात्रं चैत्यरहितमनन्तमजरं शिवम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं यदनादि निरामयम् ॥68॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां मध्ये यद्दर्शनं स्मृतम् ।
नातः परतरं किञ्चिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने ॥69॥

इसका स्वरूप किसी भी व्यवहार के लिए नहीं हो सकता। वह केवल पूर्ण से भी पूर्ण आकृति वाला होता है। वह 'सत्' भी नहीं है, 'असत्' भी नहीं है, 'सत्-असत्' भी वह नहीं है। वह कोई 'पदार्थ' भी नहीं है, कोई 'भावना' भी नहीं है। केवल चैतन्यरूप है, वह चैत्य से (विश्व से) रहित है, अनन्त है, जरारहित है, मंगलस्वरूप है, आदि-मध्य-अन्तरहित है, और जो निर्दोष है, वही वह अनादि वस्तु है। हे मुनि ! द्रष्टा, दर्शन और दृश्य में जो 'दर्शन' होता है, उससे अधिक कोई श्रेष्ठ नहीं होता। यह तो सर्वोत्कृष्ट निश्चय है।

स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम् ।
स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पाद्विमुच्यते ॥70॥
तेन स्वयं त्वया ज्ञातं ज्ञेयं यस्य महात्मनः ।
भोगेभ्यो ह्यरतिर्जाता दृश्याद्वा सकलादिह ॥71॥
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा ।
स्वरूपे पतसि ब्रह्मन् मुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज ॥72॥
अतिबाह्यं तथा बाह्यमन्तराभ्यन्तरं धियः ।
शुक पश्यन्न पश्येस्त्वं साक्षी सम्पूर्णकेवलः ॥73॥

आपने अपने-आप से जो जान लिया है और गुरु के पास से भी सुन लिया है कि अपने संकल्प के वश होने से प्राणी को बन्धन होता है। और संकल्परहित होने से वह मुक्त हो जाता है। आपने अपने-आप से (स्वयं ही) ज्ञेय वस्तु को जान लिया है और इसीलिए आप महात्मा को भोगों के ऊपर एवं सकल दृश्य पदार्थों के ऊपर वैराग्य हो गया है। हे ब्राह्मण ! पूर्ण चित्त वाले आपने जो कुछ प्राप्तव्य था, उसे प्राप्त कर लिया है। आप मुक्त हो गए हैं। हे ब्राह्मण ! अब आप अपने (निज) स्वरूप में ही प्रकाशित हो रहे हैं। अतः और भ्रान्ति छोड़ दीजिए। आप आत्मस्वरूप ही हो गए हैं। हे शुकदेव ! बुद्धि के बाहर का और उससे भी बाहर का तथा भीतर का और भीतर के भी भीतर का तेज देखते हुए भी आप उसे नहीं देखते, क्योंकि आप तो केवल संपूर्ण साक्षी ही हैं।

विशश्राम शुकस्तूष्णीं स्वस्थे परमवस्तुनि ।
वीतशोकभयायासो निरीहश्छिन्नसंशयः ॥74॥
जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमखण्डितम् ॥75॥
तत्र वर्षसहस्त्राणि निर्विकल्पसमाधिना ।
देशे स्थित्वा शशामासावात्मन्यस्नेहदीपवत् ॥76॥

व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः स्वयममलात्मनि पावने पदेऽसौ ।
सलिलकण इवाम्बुधौ महात्मा विगलितवासनमेकतां जगाम ॥77॥
इति महोपनिषत् ।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

यह सुनकर शुकदेवजी शान्त हुए और स्वयं के भीतर ही अवस्थित वस्तु में विश्रान्ति को प्राप्त हुए। उनका शोक, भय और भ्रम सब दूर हो गया, सभी इच्छाएँ भी समाप्त हो गईं, सन्देह सब कट गए। वे अखण्ड समाधि के लिए मेरु पर्वत पर चले गए। और उस प्रदेश पर हजारों वर्ष तक निर्विकल्प समाधि में रहकर तैलरहित दीपक की भाँति आत्मस्वरूप में शान्त-विलीन होकर रहे। इस प्रकार वे महात्मा जागतिक पदार्थों के ज्ञानरूप कलंक के दूर हो जाने से विशुद्ध हो गए और जिस तरह जल के बिन्दु पानी में विलीन हो जाते हैं, उसी तरह स्वयं वासनारहित होकर निर्मल और पवित्र आत्मस्वरूप के पद में एकता को प्राप्त हुए। इस प्रकर यह महोपनिषद् कहती है।

यहाँ दूसरा अध्याय समाप्त होता है।

❋

तृतीयोऽध्यायः

निदाघो नाम मुनिराट् प्राप्तविद्यश्च बालकः ।
विहृतस्तीर्थयात्रार्थं पित्राऽनुज्ञातवान् स्वयम् ॥1॥
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा गृहमुपागतः ।
स्वोदन्तं कथयामास ऋभुं नत्वा महायशाः ॥2॥
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नानपुण्यप्रभावतः ।
प्रादुर्भूतो मनसि मे विचारः सोऽयमीदृशः ॥3॥
जायते म्रियते लोको म्रियते जननाय च ।
अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः ॥4॥
सर्वापदां पदं पापा भावा विभवभूमयः ।

निदाघ नाम के एक मुनिराज जब बालक थे, तभी सभी विद्याएँ पढ़कर तीर्थयात्रा में निकल पड़े। उनके पिताजी ने ही उन्हें अनमुति दी थी। साढ़े तीन करोड़ तीर्थों में स्नान करके फिर घर पर लौटकर उन महायशस्वी (निदाघ) ने ऋभु को नमस्कार करके अपना सब वृत्तान्त इस प्रकार सुनाया—"साढ़े तीन करोड़ तीर्थों में स्नान करने से जो पुण्य हुआ है, उसके प्रभाव से मेरे मन में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ है कि जो जन्म लेते हैं, वे मरते हैं और जो मरते हैं वे फिर जन्म लेते हैं, इस तरह सचराचर की चेष्टाएँ अस्थिर ही होती हैं। वैभवदायक ये सभी पदार्थ पापमय हैं और वे सभी आपत्तियों के उत्पादक स्थानरूप हैं।

अयः शलाकासदृशाः परस्परमसङ्गिनः ।
शुष्यन्ते केवला भावा मनःकल्पनयाऽनया ॥5॥
भावेष्वरतिरायाता पथिकस्य मरुष्विव ।
शाम्यतीदं कथं दुःखमिति तप्तोऽस्मि चेतसा ॥6॥

चिन्तानिचयचक्राणि नानन्दाय धनानि मे ।
संप्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव ॥7॥
इयमस्मिन् स्थितोदारा संसारे परिपेलवा ।
श्रीर्मुने परिमोहाय साऽपि नूनं न शर्मदा ॥8॥

किसी पेटी में एकत्र की गई लोह-शलाकाओं की तरह परस्पर सम्बन्धरहित अकेले ये पदार्थ सूख जाते हैं इस प्रकार की कल्पनाएँ करते हुए मुझे, जिस तरह किसी यात्रिक को निर्जल प्रदेशों में बेचैनी होती है, उसी प्रकार इन जागतिक पदार्थों के प्रति बेचैनी (घृंणा) सी होती है । और मेरा यह दुःख किस तरह से दूर हो, शान्त हो, इस विचार से मैं मन में संतप्त हूँ । चिन्ता के समूहों के स्थान-रूप धनादि मुझे शान्त नहीं बना सकते और सन्तानों के साथ ये स्त्रियाँ भी मानो आपत्तियों के घर ही हों, इस तरह मुझे लग रहा है । हे मुनि ! संसार में रही हुई यह उदार और सुन्दर लक्ष्मी भी चारों ओर मुझे मोह उत्पन्न कर रही है । वह भी निश्चित रूप से कल्याण नहीं दे रही है ।

आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकण भङ्गुरम् ।
उन्मत्त इव सन्त्यज्य याम्यकाण्डे शरीरकम् ॥9॥
विषयाशीविषासङ्गपरिजर्जरचेतसाम् ।
अप्रौढात्मविवेकानामायुरायासकारणम् ॥10॥
युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम् ।
ग्रन्थनं च तरङ्गाणामास्था नायुषि युज्यते ॥11॥
प्राप्यं संप्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते ।
पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते ॥12॥

आयुष्य तो वृक्ष के पत्ते पर लटकते हुए पानी के बिन्दु जैसा ही नश्वर है और वह एक पागल की तरह इस शरीर को छोड़कर दक्षिण भाग में चला जाता है । जिनके चित्त विषयोंरूपी साँपों के संग से संक्षुब्ध हो रहे हों और जिनका आत्मविवेक अभी अपरिपक्व ही हो, ऐसे मनुष्यों के लिए तो आयुष्य एक परिश्रम-सा (थकावट का ही कारण) हो जाता है । यदि वायु का भी वेष्टन किया जा सके और यदि आकाश को भी काटा जा सके और यदि तरंगों को भी गूँथा जा सके तो भी इस आयुष्य के ऊपर विश्वास नहीं रखा जा सकता । जिससे प्राप्तव्य सब पाया जा सकता है और फिर शोक करना नहीं पड़ता और जो शान्ति का स्थान बनता है, उसी को तो जीवन कहते हैं ।

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः ।
स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥13॥
जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः ।
ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः ॥14॥
भारो विवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः ।
अशान्तस्य मनो भारं भारोऽनात्मविदो वपुः ॥15॥

यों तो पेड़ भी जीते तो हैं ही । मृग और पक्षी भी जीते हैं । परन्तु, वास्तविक जीवन तो वही जीता है, कि जिसका मन केवल मन का ही आश्रय लेता है (विषयों का नहीं) । अर्थात् जो विचारशील है । जगत् में वही प्राणी वास्तव में जन्म लिए हुए होते हैं, वे ही उत्तम जीवन वाले होते हैं, जो इस संसार में फिर से जन्म नहीं लेते । शेष तो केवल पेट भरने वाले गधे ही हैं । विवेकी के लिए शास्त्र

सब भाररूप ही हैं, उन्हें शास्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। रागयुक्त मनुष्य को ज्ञान भाररूप होता है क्योंकि उसके लिए वह निरुपयोगी है। शान्तिरहित मनुष्य को मन भाररूप होता है और आत्मा को नहीं जानने वाले के लिए शरीर भाररूप ही होता है।

अहंकारवशादापदहंकाराद्दुराधयः।
अहंकारवशादीहा नाहंकारात् परो रिपुः ॥16॥
अहंकारवशाद्यद्यन्मया भुक्तं चराचरम्।
तत्तत् सर्वमवस्त्वेव वस्त्वहंकाररिक्तता ॥17॥
इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाभिधावति।
मनो दूरतरं याति ग्रामे कौलेयको यथा ॥18॥
क्रूरेण जडतां याता(तः) तृष्णाभार्याऽनुगामिना।
वशः कौलेयकेनैव ब्रह्मन् मुक्तोऽस्मि चेतसा ॥19॥

अहंकार के कारण आपत्ति आती है। अहंकार से कष्ट (मानसिक पीड़ाएँ) होता है। अहंकार से इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, इसलिए अहंकार से बड़ा कोई शत्रु नहीं हैं। मैंने अहंकार को रखकर जो-जो उपभोग किया है, वह चराचर सब व्यर्थ ही है (अवस्तु ही है)। अहंकार से राहित्य (अहंकार की विहीनता-अभाव) ही सही वस्तु है। जिस तरह गाँव में कुत्ता इधर-उधर दौड़ता रहता है और बहुत दूर चला जाता है, उसी प्रकार हे ब्राह्मण ! स्त्री का अनुसरण करते हुए क्रूर चित्त से तृष्णा जडवत् बन गई है और कुत्ते जैसे चित्त के कारण मनुष्य पराधीन हो जाता है। इसलिए उससे मैं मुक्त हो गया हूँ।

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि।
अपि वह्न्यशनाद्ब्रह्मन् विषमश्चित्तनिग्रहः ॥20॥
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम्।
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥21॥
यां यामहं मुनिश्रेष्ठ संश्रयामि गुणश्रियम्।
तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कुमूषिका ॥22॥
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्ता विफलमीहते।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥23॥

हे ब्राह्मण ! समुद्र को पी जाने से, बड़े मेरु पर्वत को उखाड़ डालने से और अग्नि का भक्षण करने से भी चित्त को वश में लाना बड़ी कठिन बात है। पदार्थों का कारण चित्त ही है। जब चित्त है तभी ये तीन लोक हैं। यदि चित्त क्षीण हो गया, तो जगत् भी नष्ट हो जाएगा। इसलिए प्रयत्नपूर्वक चित्त को वश में लाना चाहिए। हे मुनिश्रेष्ठ ! मैं जिस-जिस गुणलक्ष्मी का आश्रय करता हूँ, उस-उस गुणलक्ष्मी को, जिस तरह चुहिया तार को काट देती है उसी तरह, मेरी तृष्णा काट देती है। अलंघनीय स्थान में भी तृष्णा अपना पैर फँसा देती है और तृप्त होने पर भी विफल चेष्टा करती रहती है। इस तरह चंचल बन्दरी जैसी तृष्णा एक जगह पर स्थिर होकर बैठती ही नहीं है।

क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभः स्थलम्।
क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ॥24॥
सर्वसंसारदुःखानां तृष्णैका दीर्घदुःखदा।

अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥25॥
तृष्णाविषूचिकामन्त्रश्चिन्तात्यागो हि स द्विज ॥26॥

हृदयकमल की भ्रमरी जैसी यह तृष्णा एक क्षण में पाताल में पहुँच जाती है तो दूसरे क्षण में वह आकाश में पहुँच जाती है और अन्य क्षण में दिशाओंरूपी अरण्यों में घूमती है। संसार के सभी दुःखों में दीर्घकाल तक दुःख को देने वाली यह तृष्णा ही है। वह हृदयरूपी नगर के भीतर रहने वाले आत्मा को भी संकट में डाल देती है। हे द्विज ! तृष्णारूपी महामारी दूर करने का एकमात्र उपाय चिन्ता से मुक्त हो जाना ही है।

स्तोकेनानन्दमायाति स्नोकेनायाति खेदताम् ।
नास्ति देहसमः शोच्यो नीचो गुणविवर्जितः ॥27॥
कलेवरमहंकारगृहस्थस्य महागृहम् ।
लुठत्वभ्येतु वा स्थैर्यं किमनेन गुरो मम ॥28॥
पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं वल्गत्तृष्णागृहाङ्गणम् ।
चित्तभृत्यजनाकीर्णं नेष्टं देहगृहं मम ॥29॥
जिह्वामर्कटिकाक्रान्तवदनद्वारभीषणम् ।
दृष्टदन्तास्थिशकलं नेष्टं देहगृहं मम ॥30॥

थोड़े से ही जो आनन्द में आ जाता है और थोड़े से ही जो खिन्न हो उठता है, ऐसे इस देह के समान कोई गुणहीन और शोचनीय अन्य नहीं है। हे गुरो ! शरीर अहंकाररूपी गृहस्थ का बड़ा घर है। वह नष्ट हो या बना रहे, इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है। यह शरीररूपी घर जिसमें इन्द्रियरूपी पशु पंक्ति बनाकर बँधे हुए हैं, जिसके आँगन में तृष्णा नाचकूद रही है और जो चित्त के संकल्प-विकल्पात्मक नौकर-चाकरों से भरा-पूरा है, ऐसा शरीरगृह मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। जीभरूपी मर्कटिका ने मुँह के द्वार को दबा रखा है, इससे दाँत जिसमें हड्डियों के टुकड़ों जैसे भयंकर दीख रहे हैं, ऐसा शरीररूपी घर मुझे अच्छा नहीं लगता।

रक्तमांससमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने ।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥31॥
तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च ।
स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वसितु विग्रहे ॥32॥
शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः पितृतस्तथा ।
जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम् ॥33॥
स्वचित्तबिलसंस्थेन नानाविभ्रमकारिणा ।
बलात् कामपिशाचेन विवशः परिभूयते ॥34॥

हे मुनि ! यह शरीर बाहर-भीतर (चारों ओर) रक्त और मांस से ही केवल भरा हुआ है। यह केवल नाशरूप धर्म वाला ही है। कहिए तो ! इसमें कौन-सी सुन्दरता है ? जो पुरुष बिजली के चमकने में और शरद् ऋतु के बादलों में स्थिरता का निर्णय कर सकता हो, और गन्धर्वनगर में स्थिरता देख सकता हो, वह भले ही इस शरीर पर विश्वास करता रहे। बचपन में गुरु का, माता का, पिता का, अन्य लोगों का और अपने से बड़ों का मनुष्य को भय होता है इसलिए बचपन तो भय का घर ही है।

और जवानी में अपने चित्तरूपी बिल में (दर में) अनेक प्रकार के विलास कराने वाला कामरूपी पिशाच बलात् भीतर घुस जाता है। उसके वश में आकर प्राणी पीड़ाएँ सहन करता रहता है।

दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव बान्धवाः सुहृदस्तथा।
हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्धककम्पितम् ॥35॥
दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्धते वार्धके स्पृहा।
सर्वापदामेकसखी हृदि दाहप्रदायिनी ॥36॥
क्वचिद्वा विद्यते यैषा संसारे सुखभावना।
आखुः स्तम्बमिवासाद्य कालस्तामपि कृन्तति ॥37॥
तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुवर्णं मेरुसर्षपम्।
आत्मम्भरितया सर्वमात्मसात्कर्तुमुद्यतः।
कालोऽयं सर्वसंहारी तेनाक्रान्तं जगत्त्रयम् ॥38॥

और बुढ़ापे में जब शरीर काँमने लगता है तब तो नौकर-चाकर, पुत्र, स्त्रियाँ, कुटुम्बीजन और मित्र भी पागल की तरह हँसकर ठट्ठा करते हैं। और वृद्धावस्था में दीनता और दोषों से भरी हुई और सभी आपत्तियों की सखी ऐसी हृदय में दाह करती हुई लम्बी लालसा बढ़ जाया करती है। किसी समय संसार में जो कुछ सुख की भावना उत्पन्न होती है, उसे भी काल उस आयुष्य को गुच्छे की तरह काट डालता है। सबका संहार करने वाला यह काल तृण और धूलिकण को महेन्द्र तथा सुवर्ण और मेरु पर्वत को सरसों का दाना बना देता है। केवल उदरंभरी (मात्र अपना पेट भरने वाला) होने से काल सबको अपने अधीन करने के लिए उद्यत रहता है। उसने तीनों जगतों को दबा रखा है।

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियः किमिव शोभनम् ॥39॥
त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोच(क)ने।
समालोक(च)य रम्यं चेत् किं मुधा परिमुह्यसि ॥40॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाचलरयोपमा।
दृष्टा यस्मिन् मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥41॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्डमिवान्धसः ॥42॥

स्नायु (नसें) एवं अस्थिग्रन्थियों (हड्डियों की गाँठों) से युक्त ये स्त्रियाँ तो मांस की पुतली जैसे शरीरवाली ही हैं। उनका शरीररूपी पिंजरा तो यंत्र की तरह डोल रहा है। इसमें भला क्या सुन्दरता है ? चमड़ी, मांस, लहू और आँसू का पानी—सबको अलग-अलग कर देखो, तो उसमें भला क्या सुन्दर है ? व्यर्थ ही कोई क्यों मोह प्राप्त करता है ? हे मुनि ! जब स्त्री जीवित थी, तब उसके गले में मोती का हार ऐसा शोभित होता था कि लोग उसे मेरुपर्वत के शिखर पर शोभायमान चंचल गंगा-प्रवाह की उपमा दिया करते थे। परन्तु, मरण के बाद उसी स्त्री के स्तन को श्मशान में छोटे अनाज के पिण्ड की तरह कुत्ते चारों दिशाओं में खाते हुए दिखाई पड़ते हैं।

केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥43॥

ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः ।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ॥44॥
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः ।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥45॥
जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका ॥46॥

केश और काजल को धारण करने वाली स्त्रियाँ हमारी आँखों को अच्छी तो लगती हैं, परन्तु, वास्तविक रूप में उनका स्पर्श करना दुःखदायी ही है। ऐसी स्त्रियाँ पापरूपी आग की ज्वालाएँ ही हैं। वे पुरुष को एक तिनके की तरह जला देती हैं। स्त्रियाँ स्नेह-रस से युक्त लगती तो हैं, परन्तु वास्तव में वे नीरस हैं। और वे अत्यन्त दूर रहने पर भी नरक रूप जलते हुए अग्नियों में सुन्दर मालूम होते हुए भयंकर ईंधन के समान ही हैं। कामदेवरूपी शिकारी ने पुरुषरूपी पक्षियों के (अपने शिकार के) शरीरों को बाँधने के लिए मुग्ध मनवाली स्त्रियों के रूप में अपनी जाल बिछाई है। पुरुष मानों मछलियाँ हैं। वे मानो जन्मरूपी तालाब में चित्तरूपी कीचड़ में घूमती हैं। उन्हें बींधने के लिए ये स्त्रियाँ मानो काँटों की तरह हैं। और पुरुषों के मन में रही हुई दुर्वासना डोरी (रज्जु) है।

सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयाऽनया ।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥47॥
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत् त्यक्तं जगत् त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥48॥
दिशोऽपि न हि दृश्यन्ते देशोऽप्यन्योपदेशकृत् ।
शैला अपि विशीर्यन्ते शीर्यन्ते तारका अपि ॥49॥
शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च ध्रुवोऽप्यध्रुवजीवनः ।
सिद्धा अपि विनश्यन्ति जीर्यन्ते दानवादयः ॥50॥

सभी दोष मानों रत्न हैं। उनका रक्षण करने के लिए स्त्रियाँ मानो सुन्दर मञ्जूषा (पेटी) हैं। और उसमें दुःखरूपी शृंखला बँधी हुई है। ऐसी स्त्री की मुझे किसी भी समय में आवश्यकता नहीं है। जिसके पास स्त्री है, उसको भोगों की इच्छा होती है, पर जो बिना स्त्री का (स्त्रीरहित) होता है, उसके लिए भोगों का स्थान कहाँ है ? स्त्री को छोड़कर जगत् का त्याग हो सकता है और जगत् का त्याग करके ही सुखी हुआ जा सकता है। सब कुछ नाशवान् ही है। दिशाएँ भी नहीं दिखतीं, दूसरों को उपदेश करने वाला देश (स्थान) भी नहीं दिखाई देता। पहाड़ भी शीर्ण-विशीर्ण हो जाते हैं, सागर भी सूख जाते हैं, ध्रुव भी विनाशी जीवन वाला ही है। सिद्धलोग भी नष्ट हो जाते हैं। और दानव आदि भी जीर्ण (नष्ट) हो जाते हैं। (तात्पर्य, सब कुछ विनाशशील ही है।)

परमेष्ठ्यपि निष्ठावान् हीयते हरिरप्यजः ।
भावोऽप्यभावमायाति जीर्यन्ते वै दिगीश्वराः ॥51॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः ।
नाशमेवानुधावन्ति सलिलानीव वाडवम् ॥52॥
आपदः क्षणमायान्ति क्षणमायान्ति संपदः ।
क्षणं जन्माथ मरणं सर्वं नश्वरमेव तत् ॥53॥

अशूरेण हताः शूरा एकेनापि शतं हतम् ।
विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते ॥54॥

ब्रह्मा भी विनाशशील है और अजन्मा विष्णु भी नाश को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सब कुछ नाशवान् ही है, दिक्पाल भी तो मरते ही हैं। जैसे जल वडवानल की ओर ही गति करता है, वैसे ही ब्रह्मा-विष्णु-शंकर, प्राणियों की सभी जातियाँ भी विनाश की ओर दौड़ती ही जाती हैं। एक क्षण में ही आपत्तियाँ आती हैं और क्षणभर में संपत्तियाँ भी आती हैं। उसी प्रकार क्षणभर में ही जन्म होता है और क्षणभर में ही मरण भी होता है। इस तरह सब कुछ नाशवान् ही है। जो वास्तव में शूर नहीं होता उसने कई शूरवीरों को मार दिया हुआ देखा जाता है और कोई अकेला भी सैंकड़ों लोगों को मार देता है। तात्पर्य यह है कि विषयों का परिणाम बहुत विषम होता है। जहर कहा जाने वाला पदार्थ कोई वास्तव में जहर नहीं है। यह विषयों का वैषम्य ही वास्तव में जहर है।

जन्मान्तरघ्ना विषया एकजन्महरं विषम् ।
इति मे दोष दावाग्निदग्धे सम्प्रति चेतसि ॥55॥
स्फुरन्ति हि न भोगाशा मृगतृष्णासरःस्वपि ।
अतो मां बोधयाशु त्वं तत्त्वज्ञानेन वै गुरो ॥56॥
नो चेन्मौनं समास्थाय निर्मानो गतमत्सरः ।
भावयन् मनसा विष्णुं लिपिकर्मार्पितोपमः ॥57॥
इति महोपनिषत् ।

इति तृतीयोऽध्यायः ।

क्योंकि जहर तो एक ही जन्म में मारता है, परन्तु ये विषय तो अन्य जन्मों में भी मारा ही करते हैं। इस कारण से मेरा मन अभी-अभी उस दोषरूपी दावानल से जला करता है। जैसे मृगज़ल से (मरुमरीचिका के पानी से) भरे दिखाई देने वाले तालाबों में जल की कोई आशा ही नहीं होती, इसी प्रकार मेरे मन में भोगों की कोई भी आशा स्फुरित नहीं होती। इसलिए हे गुरो ! आप मुझे तत्त्वज्ञान का उपदेश दीजिए। यदि आप नहीं देंगे तो मैं मौन धारण करके मान-अपमान से रहित होकर मन से विष्णु का चिन्तन किया करूँगा और चित्रांकित जैसे बना रहूँगा।—इस प्रकार इस उपनिषद् का उपदेश है।

यहाँ पर तीसरा अध्याय पूरा होता है।

❈

चतुर्थोऽध्यायः

निदाघ तव नास्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर ।
प्रज्ञया त्वं विजानासि ईश्वरानुगृहीतया ।
चित्तमालिन्यसञ्जातं मार्जयामि भ्रमं मुने ॥1॥
मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।
शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥2॥
एकं वा सर्वयत्नेन सर्वमुत्सृज्य संश्रयेत् ।
एकस्मिन् वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं गताः ॥3॥

तब ऋभु ने कहा—हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ निदाघ ! तुम्हारे लिए अब जानने लायक और कुछ है ही नहीं। क्योंकि ईश्वर के अनुग्रहवाली बुद्धि से तुम सब कुछ जानते ही हो। फिर भी हे मुनि ! चित्त की मलिनता से उत्पन्न हुआ तुम्हारा भ्रम मैं दूर कर देता हूँ। मोक्ष के द्वार पर चार चौकीदार कहे गए हैं। ये हैं—शम, विचार, सन्तोष और चौथा साधु-समागम। सब कुछ छोड़कर उनमें से किसी एक का प्रयत्नपूर्वक आश्रय करके रहना चाहिए। क्योंकि जब एक वश में आ जाता है तो अन्य सब वश में आ जाते हैं।

शास्त्रैः सज्जनसम्पर्कपूर्वकैश्च तपोदमैः।
आदौ संसारमुक्त्यर्थं प्रज्ञामेवाभिवर्धयेत् ॥4॥
स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता।
यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते ॥5॥

संसार से छुटकारा पाने के लिए पहले तो शास्त्रों और साधुजनों के समागमपूर्वक तपश्चर्या और इन्द्रियविग्रह करके बुद्धि को बढ़ाना चाहिए। अपने अनुभव से, शास्त्रों के अभ्यास से और गुरु जो कुछ एक वाक्य कहें, उसका निरन्तर अभ्यास करने से आत्मा के दर्शन किए जा सकते हैं।

संकल्पाशाऽनुसन्धानवर्जनं चेत् प्रतिक्षणम्।
करोषि तदचित्तत्वं प्राप्त एवासि पावनम् ॥6॥
चेतसो यदकर्तृत्वं तत् समाधानमीरितम्।
तदेव केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा ॥7॥
चेतसा संपरित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम्।
यथा तिष्ठसि तिष्ठ त्वं मूकान्धबधिरोपमः ॥8॥
सर्वं प्रशान्तमजमेकमनादिमध्य-
माभास्वरं स्वदनमात्रमचैत्यचिह्नम्।
सर्वं प्रशान्तमिति शब्दमयी च दृष्टि-
र्बाधार्थमेव हि मुधैव तदोमितीदम् ॥9॥

यदि प्रतिक्षण ही संकल्पों और आशाओं के अनुसन्धान को तुम छोड़ते ही रहते हो, तब तो तुम पवित्र होकर चित्तरहित स्थिति को प्राप्त किए हुए ही हो, इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं हो सकता। चित्त का जो कर्तृत्व से हीन (शून्य) होने का भाव है, वही समाधान कहलाता है। वही कैवल्यप्राप्ति है और वही शुभ निर्वाण है। सभी प्रकार के पदार्थों में आत्मभावना को चित्त में से छोड़कर जैसे रहा जाता है, वैसे मूक की तरह, बधिर की तरह और अन्धे की तरह तुम इस जगत् में रहो। सब अत्यन्त शान्त, जन्मरहित, एक, अद्वितीय, आदि-मध्य-अन्तरहित, चारों ओर प्रकाशमान, केवल आस्वादरूप है, जगत् का कोई भी चिह्न उसमें नहीं दिखाई देता। 'यह सब अत्यन्त शान्त है'—ऐसा जो शब्दप्रयोग (वाणी के माध्यम से) किया जाता है, वह भी तो केवल बाध के लिए ही शब्दमय दृष्टि है, इसलिए वह बिल्कुल झूठी ही है। वास्तव में तो यह सब ओंकाररूपी ही है।

सर्वं किञ्चिदिदं दृश्यं दृश्यते चिज्जगद्गतम्।
चिन्निष्पन्दांशमात्रं तन्नान्यदस्तीति भावय ॥10॥
नित्यप्रबुद्धचित्तस्त्वं कुर्वन् वाऽपि जगत्क्रियाम्।
आत्मैकत्वं विदित्वा त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् ॥11॥

तत्त्वावबोध एवासौ वासनातृणपावकः ।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः ॥12॥
निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोकः प्रवर्तते ।
सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः ॥13॥

यह सब जगत् जो दिखाई देता है, वह सब कुछ चैतन्य में ही अवस्थित है और वह केवल चैतन्य का ही निष्क्रिय अंश है। चैतन्य के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। ऐसा तुम चिन्तन किया करो। नित्यबोध को प्राप्त किए हुए चित्तवाले तुम आत्मा की एकता को जान-पहचान कर शान्त महासागर जैसे ही रहो, फिर भले ही जगत् की क्रियाओं में परिवर्तन हुआ करते हों। केवल तत्त्वज्ञान ही वासनारूपी घास को जलाने में अग्नि समान होता है और वही 'समाधि' शब्द के द्वारा कहा जाता है। गूँगा रहकर बैठे रहना कोई समाधि नहीं है। यों ही कहीं पड़े हुए रत्न को अपना प्रकाश कहीं बिखेरने की इच्छा तो नहीं होती, फिर भी उसमें से प्रकाश तो निकलता ही रहता है, उसी तरह परमतत्त्व केवल 'सत्ता' के रूप में ही अवस्थित रहता है फिर भी उसमें से जगत् का उद्भव हुआ ही करता है।

अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने ।
निरिच्छत्वादकर्ताऽसौ कर्ता सन्निधिमात्रतः ॥14॥
ते द्वे ब्रह्मणि विन्देते कर्तृताऽकर्तृते मुने ।
यत्रैवैष चमत्कारस्तमाश्रित्य स्थिरो भव ॥15॥
तस्मान्नित्यमकर्ताऽहमिति भावनयेद्धया ।
परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥16॥

हे मुनि ! इसी हेतु से आत्मा में कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों माने गए हैं। वह इच्छारहित है इसलिए वह अकर्ता है, और मात्र समीप होने से वह कर्त्ता भी है। हे मुनि ! ब्रह्म में कर्तापन भी है और अकर्तापन भी है ऐसा समझना चाहिए। दोनों में से जिसमें चमत्कार मालूम हो, वहाँ पर आश्रय करके स्थिर हो जाओ। अत: 'मैं नित्य अकर्ता ही हूँ' ऐसी भावना प्रदीप्त होने पर समता की भावना अवशिष्ट होती है (फलीभूत होती है)। वह भावना ही 'अमृता' कहलाती है।

निदाघ श्रृणु सत्त्वस्था जाता भुवि महागुणाः ।
ते नित्यमेवाभ्युदिता मुदिताः ख इवेन्दवः ॥17॥
नापदि ग्लानिमायान्ति निशि हेमाम्बुजं यथा ।
नेहन्ते प्रकृतादन्यद्रमन्ते शिष्टवर्त्मनि ॥18॥
आकृत्यैव विराजन्ते मैत्र्यादिगुणवृत्तिभिः ।
समाः समरसाः सौम्य सततं साधुवृत्तयः ॥19॥
अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः ।
नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥20॥

हे निदाघ, जो आत्मस्थ महागुणशाली लोग यहाँ जन्म लेते हैं, उनके विषय में तुम सुनो। वे लोग आकाश में उदित हुए चन्द्र जैसे ही सदा निर्मल होते हैं। हे सोम्य ! सुवर्ण का कमल रात्रि में भी जिस तरह कभी धुँधला या मुरझा नहीं जाता, उसी तरह उत्तम वृत्तिवाले पुरुष आपत्ति में भी उद्विग्न नहीं होते। प्रस्तुत प्रसंग के अतिरिक्त वे कुछ चाहते भी नहीं हैं। सज्जनों के मार्ग में वे रमण करते हैं। वे अपनी आकृति से ही शोभित हो जाते हैं। वे मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा के गुणों की वृत्ति से

सर्वत्र समान भाववाले और समान रसवाले होते हैं। वे महापुरुष समुद्र की तरह मर्यादा को निभाते हैं। वे निर्मल आशय वाले होते हैं। वे सूर्य की तरह अपनी नियमितता को कभी छोड़ते नहीं हैं।

कोऽहं कथमिदं चेति संसारमलमाततम्।
प्रविचार्यं प्रयत्नेन प्राज्ञेन सह साधुना॥21॥
नाकर्मसु नियोक्तव्यं नानार्येण सहावसेत्।
द्रष्टव्यः सर्वसंहर्ता न मृत्युरवहेलया॥22॥
शरीरमस्थिमांसं च त्यक्त्वा रक्ताद्यशोभनम्।
भूतमुक्तावलीतन्तुं चिन्मात्रमवलोकयेत्॥23॥
उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविसर्जनम्।
यदेतन्मनसो रूपं तद्बाह्यं विद्धि नेतरत्॥24॥
गुरुशास्त्रोक्तमार्गेण स्वानुभूत्या च चिद्घने।
ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा वीतशोको भवेन्मुनिः॥25॥

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह किसी सज्जन के साथ बैठकर प्रयत्नपूर्वक सदा यह विचार किया ही करे कि 'मैं कौन हूँ ?' और 'यह संसाररूपी मलिनता कैसे आकर फैल गई है ?' बुद्धिमान मनुष्य को कभी किसी अकर्म के साथ अपने को जोड़ना नहीं चाहिए। किसी अनार्य के साथ कभी बसना नहीं चाहिए। और सर्वसंहारक मृत्यु के प्रति उपेक्षाभाव से नहीं देखना चाहिए। हड्डी, मांस, लहू आदि से अपवित्र बने हुए देह का त्याग करके, जिस प्रकार मोती की माला में सूत्र अनस्यूत होता है, वैसे ही सभी प्राणियों में चैतन्य का ही अनुस्यूत रूप से दर्शन करना चाहिए। यह बाह्य रूप जो है वह हमें ग्रहण करने योग्य लगता है, वह मानो अपना ग्रहण करवाने के लिए हमारे पीछे पड़ा हुआ है, परन्तु वास्तव में तो वह त्याग करने लायक ही है। यह बाह्यरूप और कुछ नहीं, केवल हमारा मन ही है, ऐसा मानना चाहिए। गुरु और शास्त्र के द्वारा कथित मार्ग पर तथा अपने अनुभवों पर आधार रखकर केवल चैतन्य में ही 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसी भावना (ज्ञान) कर के मुनि को शोकरहित होना चाहिए।

यत्र निशितासिशतपातनमुत्पलताडनवत्सोढव्यम्, अग्निदाहो हिमसेचनमिव, अङ्गारावर्तनं चन्दनचर्चेव, निरवधिनाराचविकिरपातो निदाघविनोदनधारागृहशीकरवर्षणमिव, स्वशिरश्छेदः सुखनिद्रेव, मूकीकरणमाननमुद्रेव, बाधिर्यं महानुपचय इवेदं नावहेलनया भवितव्यम्, एवं दृढवैराग्याद्बोधो भवति॥25-1॥

हे निदाघ ! तीक्ष्ण तलवार के सैंकड़ों प्रहार यदि हों, तो उन्हें कमलप्रहार मान कर सहन करना चाहिए। अग्नि के दाह को भी उसी तरह शीतल सिंचन मानना चाहिए। जलते हुए अंगारे का छूना भी चन्दनलेप के समान मानना चाहिए। अनेक बाणों की वर्षा को भी शान्तिदायक फव्वारे की तरह (फव्वारे के जल-बिन्दुओं के वर्षण के समान) मानना चाहिए। किसी के द्वारा मस्तक के काटे जाने पर उसे सुखपूर्ण निद्रा मानना चाहिए। यदि कोई मुख बन्द कर दे तो उसे 'आननमुद्रा' समझ लेना चाहिए। यदि कोई बधिर बना दे तो उसे बड़ी उन्नति समझना चाहिए। परन्तु उसके प्रति तिरस्कार-दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। ऐसे दृढ वैराग्य से ज्ञान उत्पन्न होता है।

गुरुवाक्यसमुद्भूतस्वानुभूत्यादिशुद्धया ।
यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते ॥26॥
विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक् ।
तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्नास्तीति भावय ॥27॥
न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः ।
न कायक्लेशवैधुर्यं न तीर्थायतनाश्रयः ।
केवलं तन्मनोमात्रमयेनासाद्यते पदम् ॥28॥

गुरु के वाक्यों से उत्पन्न हुए स्वानुभव से और अन्य विशुद्धियों के साथ अभ्यास सतत करते रहने से आत्मा के दर्शन किए जा सकते हैं। किसी मनुष्य को यदि दिशाभ्रम हो गया हो और बाद में उसके हट जाने से जैसे उसे पहले की ही तरह दिशाएँ दिखाई देती हैं, ठीक उसी प्रकार जब विज्ञान के द्वारा जगत् का नाश होता है, तब तुम 'जगत् है ही नहीं'—ऐसा जान सकोगे। अर्थात् तब तुम्हें आत्मदर्शन होगा। परमपद को प्राप्त करने में धन, मित्र, बान्धव, शरीर का क्लेश, शरीर का सुख और तीर्थस्थानों का सेवन—ये सब किसी भी काम के नहीं हो सकते। मन को केवल तन्मय बनाने से ही इस परमपद को प्राप्त किया जा सकता है।

यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधयः ।
शान्तचेतःसु तत् सर्वं तमोऽर्केष्विव नश्यति ॥29॥
मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च ।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि ॥30॥
न रसायनपानेन न लक्ष्म्यालिङ्गितेन च ।
न तथा सुखमाप्नोति शमेनान्तर्यथा जनः ॥31॥

जिन मनुष्यों के मन शान्त हो गए होते हैं, उनके दुःख, उनकी दुःसह तृष्णा और दुष्ट मानसिक पीड़ाएँ—ये सब, जैसे सूर्य के दर्शनमात्र से अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही नष्ट हो जाते हैं। क्रूर और सोम्य—दोनों स्वभाव वाले प्राणी इस शमयुक्त मनुष्य पर ऐसा परम विश्वास रखते हैं जैसे मनुष्य अपनी माता पर विश्वास रखता है। मनुष्य शम के द्वारा जैसा सुख प्राप्त कर सकता है, ऐसा सुख किसी रसायन के पीने से या लक्ष्मी के आलिंगन से नहीं प्राप्त किया जा सकता।

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा ज्ञात्वा शुभाशुभम् ।
न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते ॥32॥
तुषारकरबिम्बाच्छं मनो यस्य निराकुलम् ।
मरणोत्सवयुद्धेषु स शान्त इति कथ्यते ॥33॥
तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च ।
वलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते ॥34॥

जो मनुष्य किसी भी शुभ या अशुभ को सुनकर, छूकर, भोगकर, देखकर या जानकर न तो हर्षित होता है, न वह ग्लानि को ही प्राप्त करता है, वह शान्त कहा जाता है। मरण में, उत्सव में अथवा युद्ध में भी जिस मनुष्य का चित्त चन्द्र के बिम्ब जैसा स्वच्छ और व्यग्रतारहित रहता हो, वह शान्त कहलाता है। जो लोग तपस्वी हैं, बहुत ज्ञानी हैं, यज्ञ करने-कराने वाले हैं, राजा हैं, बलवान हैं, गुणवान हैं, उन सभी में शम गुण वाला ही अधिक प्रकाशित होता है।

सन्तोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः ।
आत्मारामा महात्मानस्ते महापदमागताः ॥35॥
अप्राप्तं हि परित्यज्य सम्प्राप्ते समतां गतः ।
अदृष्टखेदाखेदो यः सन्तुष्ट इति कथ्यते ॥36॥
नाभिनन्दत्यसम्प्राप्तं प्राप्तं भुङ्क्ते यथेप्सितम् ।
यः स सौम्यसमाचारः सन्तुष्ट इति कथ्यते ॥37॥
रमते धीर्यथाप्राप्ते साध्वीवान्तःपुराजिरे ।
सा जीवन्मुक्ततोदेति स्वरूपानन्ददायिनी ॥38॥

जो महात्मा लोग संतोषरूपी अमृत को पीकर तृप्त हो गए हों, और अपने आत्मा में ही रमण करने वाले हों, वे महापद को प्राप्त कर ही चुके हैं। जिस मनुष्य ने अप्राप्त को (नहीं मिले हुए पदार्थ को) छोड़ दिया हो, अर्थात् जो वस्तु नहीं मिली है, उसे प्राप्त करने के लिए किसी भी प्रकार का प्रयत्न ही नहीं किया है और प्राप्त वस्तु में जिसका समभाव हो (हर्ष या शोक कुछ न हो) और जिसने हर्ष या शोक कभी देखा ही न हो, वह सन्तुष्ट कहा जाता है। जो मनुष्य अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार की आतुरता न रखता हो और प्राप्त वस्तु को इच्छानुसार (योग्य रीति से) भोगता हो, और जिसका आचार सौम्य और शिष्ट हो, वह संतुष्ट कहलाता है। अन्तःपुर के आंगन में जैसे पतिव्रता स्त्री आनन्दित रहती है, उसी प्रकार यदृच्छाप्राप्त में जिसकी बुद्धि प्रसन्न रहती है, उसी में स्वरूपानन्ददायिनी ऐसी जीवन्मुक्तता का उदय होता है।

यथाक्षणं यथाशास्त्रं यथादेशं यथासुखम् ।
यथासंभवसत्सङ्गमिमं मोक्षपथक्रमम् ।
तावद्विचारयेत् प्राज्ञो यावद्विश्रान्तमात्मनि ॥39॥
तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य निवृत्तस्य भवार्णवात् ।
जीवतोऽजीवतश्चैव गृहस्थस्याथवा यतेः ॥40॥
नाकृतेन कृतेनार्थो न श्रुतिस्मृतिविभ्रमैः ।
निर्मन्दर इवाम्भोधिः स तिष्ठति यथास्थितः ॥41॥

समय के अनुसार और शास्त्रों के अनुसार तथा देश के अनुसार जिस प्रकार से सुख हो, इस प्रकार से वर्तन करना चाहिए, और यथासंभव सत्संग भी करना चाहिए। यह मोक्षमार्ग का क्रम है। जहाँ तक आत्मा में विश्रान्ति (शान्ति) हो जाए, वहाँ तक बुद्धिमान मनुष्य को आत्मतत्त्व का विचार करते रहना चाहिए। परन्तु जिसको तुरीय अवस्था रूप विश्रान्ति मिल चुकी हो और संसारसागर से जो निवृत्त हो गया हो, ऐसे मनुष्य को जीते या मरते, गृहस्थ जीवन में या संन्यासी जीवन में वेदोक्त कर्तव्य या धर्मशास्त्रोक्त कर्तव्य करने से या नहीं करने से कोई फल प्राप्त नहीं होता। वह तो मन्दराचलरहित सागर की तरह (क्षुब्ध हुए बिना ही) अपनी जैसी मूल स्थिति है, उसी में सदा रहता है (ज्ञानी के लिए कुछ भी करने या न करने का है ही नहीं)।

सर्वात्मवेदनं शुद्धं यदोदेति तदात्मकम् ।
भाति प्रसृतिदिक्कालबाह्यं चिद्रूपदेहकम् ॥42॥
एवामात्मा यथा यत्र समुल्लासमुपागतः ।
तिष्ठत्याशु तथा तत्र तद्रूपश्च विराजते ॥43॥

तुम्हें जब, 'यह सब आत्मा ही है'—ऐसा ज्ञान (शुद्ध अनुभवजन्य ज्ञान) प्राप्त होगा, तब तुम्हारा अपना देह भी तुम्हें देश-काल-दिशाओं आदि से बाहर ही दिखेगा। देशकालातीत चैतन्यरूप ही दिखाई देगा। जब ऐसा आत्मस्वरूप प्रस्फुटित हो जाता है, तब तुरन्त उसी स्वरूप में मनुष्य प्रकाशित हो उठता है।

यदिदं दृश्यते सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
तत् सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥44॥
ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः।
कल्पिता व्यवहारार्थं यस्य संज्ञा महात्मनः ॥45॥
यथा कटकशब्दार्थः पृथग्भावो न काञ्चनात्।
न हेम कटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परा ॥46॥

यह सचराचर जगत् जो दिखाई दे रहा है, वह सब सुषुप्ति में आए हुए स्वप्न की भाँति सृष्टि के अन्त में संपूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है। ऋत, आत्मा, परब्रह्म, सत्य आदि महान् आत्मा की जो संज्ञाएँ हैं, वे तो केवल व्यवहार के लिए ही पंडितों के द्वारा कल्पित की गई हैं। जैसे 'कङ्कण' इस शब्द का अर्थ सोने से कोई अलग नहीं होता और 'कङ्कण' कोई सोने से अलग पदार्थ नहीं है, ठीक इसी तरह ब्रह्म कोई जगत् से भिन्न (अलग) नहीं है। इसी तरह जगत् भी ब्रह्म से कोई अलग वस्तु नहीं है।

तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते।
द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताऽन्तर्बन्ध इत्यभिधीयते ॥47॥
द्रष्टा दृश्यवशाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते।
जगत्त्वमहमित्यादिसर्गात्मा दृश्यमुच्यते ॥48॥
मनसैवेन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते।
यावदेतत् संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते ॥49॥

आत्मा ने ही जगत् में इस इन्द्रजाल की शोभा बढ़ाई है और द्रष्टा के अन्तर में दृश्य की जो 'सत्ता' होती है, उसी का नाम बन्धन है। द्रष्टा दृश्य के कारण ही बन्धन में पड़ा है। दृश्य का अभाव होते ही वह मुक्त हो जाता है। यह 'जगत्', 'तू' और 'मैं' इत्यादि सृष्टि का स्वरूप दृश्य कहा जाता है। सिर्फ मन के कारण ही इस इन्द्रजाल की शोभा जगत् में फैलती है। जहाँ तक यह मन है, वहाँ तक मोक्ष नहीं है (अर्थात् मोक्ष की आशा तक नहीं की जा सकती)।

ब्रह्मणा तन्यते विश्वं मनसैव स्वयंभुवा।
मनोमयमतो विश्वं यन्नाम परिदृश्यते ॥50॥
न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।
यदर्थं प्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते ॥51॥
सङ्कल्पनं मनो विद्धि सङ्कल्पस्तत्र विद्यते।
यत्र सङ्कल्पनं तत्र मनोऽस्तीत्यवगम्यताम् ॥52॥
सङ्कल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केनचित्।
सङ्कल्पजाते गलिते स्वरूपमवशिष्यते ॥53॥

मन ही तो स्वयंभू (ब्रह्मा) है । और वही विश्व का विस्तरण करता है । इसीलिए तो विश्व मनोमय है । और मन ही विश्व के नाम से दिखाई पड़ रहा है । वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो भीतर या बाहर कहीं भी मन की सत्ता है ही नहीं । सत्तारूप से कहीं मन है ही नहीं । परन्तु, विषय के प्रति विषयाकार रूप से जो भान होता है उसे ही मन कहा जाता है । संकल्पों का उत्पन्न होना मन है । उसी मन में ही ये संकल्प रहते हैं, ऐसा तुम्हें समझना चाहिए । और भी जिसमें संकल्प होते हैं, वह मन है ऐसा समझना चाहिए । संकल्प और मन किसी भी प्रकार अलग हैं ही नहीं, न किसी कारण से या न किसी काल में ही वे अलग हो सकते हैं । क्योंकि संकल्पों के समूह जब विनष्ट हो जाते हैं, तब तो केवल स्वरूप ही शेष रह जाता है ।

अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे ।
स्यात्तादृशी केवलता दृश्ये सत्तामुपागते ॥54॥
महाप्रलयसंपत्तौ ह्यसत्तां समुपागते ।
अशेषदृश्ये सर्गादौ शान्तमेवावशिष्यते ॥55॥
अस्त्यनस्तमितो भास्वानजो देवो निरामयः ।
सर्वदा सर्वकृत् सर्वः परमात्मेत्युदाहृतः ॥56॥
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते ।
यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावतः ॥57॥

जब 'मैं' 'तू' और 'जगत्' की भ्रान्ति (दृश्य की भ्रान्ति) एकदम प्रशान्त हो जाती है, तुरन्त ही कैवल्य की स्थिति का अनुभव किया जाता है । जैसे पहले दृश्य की असत्ता के समय में कैवल्य की सत्ता है, दृश्य के नाश के बाद भी वैसी ही सत्ता होती है । सृष्टि के प्रारंभ में तो सब दृश्य दिखाई ही पड़ता है, परन्तु, जब महाप्रलय होता है, तब तो सब दृश्य 'असत्ता' को प्राप्त हो जाता है । और तब केवल आत्मा ही शान्त रूप से शेष रह जाता है । वही अजन्मा देव किसी काल में भी अस्त नहीं होने वाला निर्दोष सूर्य है और वही सर्वकाल में सर्वकर्ता सर्वस्वरूप परमात्मा है । उस परमात्मा से वाणी उसे पाए बिना वापस लौट जाती है । उस परमात्मा को मुक्त पुरुष ही पहचान पाते हैं । उसकी 'आत्मा' जैसी संज्ञाएँ (नाम) तो कल्पित ही हैं । वे संज्ञाएँ वास्तविक नहीं है । उसे ही परमात्मा कहा जाता है ।

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।
द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं महामुने ॥58॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत् ।
निमेषेण चिदाकाशं तद्विद्धि मुनिपुङ्गव ॥59॥
तस्मिन् निरस्तनिःशेषसंकल्पस्थितिमेषि चेत् ।
सर्वात्मकं पदं शान्तं तदा प्राप्नोष्यसंशयः ॥60॥

हे महामुनि ! चित्त-आकाश, चैतन्य-आकाश और तीसरा आकाश—ऐसे तीन आकाश होते हैं । उनमें जो चैतन्य आकाश है, वह अन्य दो आकाशों से बिल्कुल ही रहित है, ऐसा तुम समझो । हे श्रेष्ठ मुनि ! एक देश से अन्य देश में जाने का जो ज्ञान है, उस ज्ञान के मध्य में जो आकाश रहता है, और जो आँख के एक पलक के समय में जहाँ जाना हो, वहाँ जा सकता है, वह चैतन्याकाश है, ऐसा तुम समझो । तुम जब सभी संकल्पों को छोड़कर उस चैतन्याकाश में ही निवास करने लगोगे, तब सर्व के आत्मस्वरूप उस आत्मा को तुम प्राप्त करोगे । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है । यह सर्वात्मा का पद शान्त है, वही परमपद है ।

उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसगर्भिणी ।
आनन्दस्यन्दिनी यैषा समाधिरभिधीयते ॥61॥
दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रतिर्बलोदिता याऽसौ समाधिरभिधीयते ॥62॥
दृश्यासंभवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं चिदात्मकम् ।
तदेव केवलीभावं ततोऽन्यत् सकलं मृषा ॥63॥

जिसमें उदारता, सुन्दरता और वैराग्य का रस प्रकट होकर बह रहा हो और जो उस आनन्द-रस को बहाती हो उसे ही समाधि कहा जाता है। जिसमें दृश्य की सत्ता से रहित केवल ज्ञान ही हो और इस प्रकार के केवल ज्ञान के कारण जिसमें राग, द्वेष आदि अत्यन्त ही क्षीण हो गए हों, और जिसका स्वरूप अभ्यास बल से उत्पन्न हुआ आनन्द ही हो, उसे ही 'समाधि' कहा जाता है। दृश्य की सत्ता से रहित ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। वही चैतन्य का स्वरूप है। वही केवलीभाव है (कैवल्य की स्थिति है)। शेष सब कुछ मिथ्या ही है।

मत्त ऐरावतो बद्धः सर्षपीकोणकोटरे ।
मशकेन कृतं युद्धं सिंहौघैरणुकोटरे ॥64॥
पद्माक्षे स्थापितो मेरुर्निगीर्णो भृङ्गसूनुना ।
निदाघ विद्धि तादृक् त्वं जगदेतद्भ्रमात्मकम् ॥65॥

हे निदाघ ! सरसों के दाने के एक छोटे कोने में (एकदम ही छोटी जगह में) मानो ऐरावत हाथी बाँध दिया हो ! (बिल्कुल ही असंभव है) और मानो परमाणु के एक भाग में किसी मच्छर के साथ सिंहों की टोली का युद्ध हो गया हो ! (बहुत ही असंभव है।) और भी मानो कमलबीज पर मेरुपर्वत की स्थापना की गई हो और उस पर्वत को भ्रमर के बच्चे ने निगल लिया हो ! (कितनी बेहूदी और असंभव बात !) तो इसी प्रकार की बातें जैसे भ्रान्तिपूर्ण ही हैं, उसी प्रकार से यह जगत् भी भ्रान्तिमय ही है।

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥66॥
मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः ।
देहवासनया मुक्तो देहधर्मैर्न लिप्यते ॥67॥
कल्पं क्षणीकरोत्यन्तः क्षणं नयति कल्पताम् ।
मनोविलासः संसार इति मे निश्चिता मतिः ॥68॥
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमनसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥69॥

रोग या राग से भरा हुआ चित्त ही संसार कहा जाता है। चित्त उन रागादि से रहित (शून्य) हो जाए, वही संसार का अन्त है, वही मोक्ष है, ऐसा कहा जाता है। मन से देह की भावना किये जाने पर ही यह देह उत्पन्न होता है (अर्थात् देह केवल एक भावना अथवा कल्पना ही है) परन्तु देह की वासना (भावना) ही मन से छूट जाए तो फिर मनुष्य देह के धर्मों से लिप्त नहीं होता। मन तो एक कल्प बराबर काल को एक क्षण बना देता है, और क्षण को भी कल्प बना देता है। इस प्रकार मन का यह विलास ही संसार है, ऐसा मैं निश्चित बुद्धि से (प्रतीतिपूर्वक) मान रहा हूँ। जो मनुष्य अपने दुराचारों से अभी छूटा नहीं है, जिसने अपनी अशान्ति को अभी तक छोड़ा नहीं है, जो समाधिनिष्ठ

नहीं हो पाया है, और जिसका मन अभी शान्त नहीं हो सका है, वह केवल ज्ञान से (जानकारीरूप ज्ञान से) आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम्।
विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कदाचन ॥70॥
परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम्।
कविं पुराणं पुरुषं सनातनं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम् ॥71॥
अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ॥72॥

अपने आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप तो ब्रह्मानन्दमय, द्वन्द्वों से रहित, निर्गुण, सत्य और चैतन्यमय है, ऐसा जानकर मनुष्य कभी डरता नहीं है। जो तत्त्व परे से भी परे, बड़े से भी बड़ा, स्वरूप में तेजोमय, सनातन, मंगलमय, विद्वन्मय, पुराने से भी पुराना, पुरुषस्वरूप, शाश्वत और सर्व का नियामक है, वही सभी देवों के लिए भी उपासना के योग्य है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार का जो निश्चित ज्ञान है वह ज्ञान महात्माओं के मोक्ष का कारण बनता है। बन्धन और मोक्ष के लिए दो ही शब्द हैं। 'ममता' शब्द बन्धन के लिए है और 'ममताराहित्य' शब्द मोक्ष के लिए होता है। 'मेरा' ऐसा मानने से प्राणी बन्धन में पड़ता है और 'मेरा नहीं है'—ऐसा मानने से वह मुक्त होता है।

जीवेश्वरादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम्।
ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥73॥
त्रिणाचिकादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवविभ्रान्तिमाश्रिताः ॥74॥
तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः।
कार्या किन्तु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम् ॥75॥

यह जडचेतनमय जगत् जो जीव और ईश्वर आदि के रूप में ही केवल भासित होता है। इसमें विषय के दर्शन से लेकर उसमें प्रवेश करने तक की सारी सृष्टि ईश्वर के द्वारा ही कल्पित हुई है और जाग्रत् अवस्था से लेकर मोक्ष तक का संसार जीव के द्वारा कल्पित हुआ है। त्रिणाचिक (त्रिणाचिकेताग्नि कठोपनिषद् में वर्णित है) से लेकर योग तक के सभी शास्त्र ईश्वर की भ्रान्ति में पड़े हैं और लोकायत से लेकर सांख्य तक के सभी शास्त्र जीव की भ्रान्ति में पड़े हुए हैं। इसलिए मुमुक्षुओं को जीव और ईश्वर के वादविवाद में बुद्धि लगानी ही नहीं चाहिए। परन्तु निश्चल होकर केवल ब्रह्मतत्त्व का ही विचार करना चाहिए।

अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात्।
स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः ॥76॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥77॥
उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते ॥78॥

सर्वत्र चैतन्य का ही सम्बन्ध होने से जो मनुष्य सबको समान चैतन्यमय देखता है, वही साक्षात् विज्ञानी है, वही शंकर है, वही विष्णु है और वही ब्रह्मा है। सद्गुरु की कृपा के बिना विषयों का त्याग करना दुर्लभ है, तत्त्वपदार्थ का दर्शन दुर्लभ है, और सहज आत्मस्वरूप की अवस्था भी दुर्लभ ही है। जिसने सभी कर्मों को छोड़ दिया हो, ऐसे योगी में ज्ञान की शक्ति उत्पन्न होती है। उसमें आप ही आप सहज रूप से सहजावस्था प्राप्त हो जाती है।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः।
विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः ॥79॥
सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥80॥
प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म सत्यप्रज्ञानलक्षणम्।
एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत् ॥81॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टि परावरे ॥82॥

जब मनुष्य अपने आत्मस्वरूप के बारे में थोड़ा-सा भी अन्तर (भिन्नता) जानता है, तब उसे संसार से भय होने लगता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ज्ञानदृष्टि वाला मनुष्य तो सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को सर्वत्र व्याप्त ही देखता है। परन्तु जो अज्ञान दृष्टिवाला पुरुष है, वह जैसे कोई अन्धा आदमी सूर्य को नहीं देख सकता, वैसे आत्मतत्त्व (की सर्वव्यापकता) को देख नहीं पाता। इसलिए प्रज्ञान, अर्थात् उत्तम ज्ञान ही ब्रह्म है और इसीलिए सत्य और प्रज्ञान को ब्रह्म का लक्षण कहा जाता है। इस तरह के ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान से मनुष्य अमर हो जाता है। जब उस परात्पर परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं तब ही ज्ञानी के हृदय की गाँठ टूट जाती है, उसके सभी संशय छिन्न हो जाते हैं—कट जाते हैं और उसके सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं।

अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ।
एकनिष्ठतयाऽन्तःस्थः संविन्मात्रपरो भव ॥83॥
मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत्।
जगत्त्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः ॥84॥
लक्ष्यालक्ष्यमतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत् केवलात्मना।
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ॥85॥
अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ॥86॥
सर्वशक्तेर्महेशस्य विलासो हि मनो जगत्।
संयमासंयमाभ्यां च संसारं शान्तिमन्वगात् ॥87॥

इसलिए अनात्मभाव का त्याग करके जगत् की स्थिति में तुम निर्विकार हो जाओ और एकनिष्ठता से अंतस् में (भीतर में) ही स्थिति करके केवल ज्ञान परायण ही हो जाओ। जिस प्रकार किसी निर्जल प्रदेश में दिखाई देने वाला (भ्रान्ति से मृगमरीचिका में दिखाई देने वाला) जल केवल निर्जल प्रदेश रूप ही है, ठीक उसी प्रकार आत्मविचार से यह सारा त्रिभुवन (तीनों लोक) केवल चैतन्य ही है। ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ जो पुरुष, लक्ष्य और अलक्ष्य के विचारों को छोड़कर केवल आत्मस्वरूप

में ही अवस्थित रहता है, वह स्वयं साक्षात् शिव ही होता है। इसलिए जो सर्व का आश्रयरूप है, जो उपमारहित है, जो वाणी और मन का विषय ही नहीं बनता, जो नित्य, व्यापक, सर्वगामी, अतिसूक्ष्म और निर्विकार है, उस आत्मस्वरूप का ही ध्यान करना चाहिए। मन ही जगत् है और वह सर्वशक्तिमान महेश्वर का एक विलास है। मन का संयम नहीं करने से संसार होता है. पर मन का संयम करने से संसार शान्त हो जाता है।

मनोव्याधेश्चिकित्साऽर्थमुपायं कथयामि ते।
यद्यत् स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन् मोक्षमश्नुते ॥88॥
स्वायत्तमेकान्तहितं स्वेप्सिततत्यागवेदनम्।
यस्य दुष्करतां यातं धिक् तं पुरुषकीटकम् ॥89॥
स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सिततत्यागरूपिणा।
मनःप्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः ॥90॥
असङ्कल्पनशस्त्रेण छिन्नं चित्तमिदं यदा।
सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥91॥

मन एक रोग है। मैं अब इस मनोरोग के लिए एक चिकित्सा बताता हूँ। जो-जो वस्तु हमें अच्छी लगती हों उनका त्याग कर देना चाहिए। ऐसा त्याग करने वाला मोक्ष को प्राप्त होता है। आत्मवस्तु का ज्ञान तो अपने ही हाथ की बात है, और वही परमहितकारी भी है। इच्छित वस्तु के त्याग से आत्मवस्तु का अनुभव भी हो सकता है। ऐसा होने पर भी जो मनुष्य उसे दुष्कर है, ऐसा अनुभव करता है, तो ऐसे मनुष्यरूपी कीड़े को धिक्कार है। जो शुभगति केवल अपने पुरुषार्थ के द्वारा ही साध्य हो सकती है, उसका एकमात्र उपाय इच्छित वस्तु का त्याग ही है, और मन के अत्यंत शम के बिना तो वह शुभ गति प्राप्त नहीं हो सकती। असंकल्परूप शस्त्र से जब यह मन कट जाता है तब मनुष्य सर्वस्वरूप, सर्वव्यापक और शान्त ब्रह्मरूप ही बन जाता है।

भवभावनया मुक्तो युक्तः परमया धिया।
धारयात्मानमव्यग्रो ग्रस्तचित्तं चितः पदम् ॥92॥
परं पौरुषमाश्रित्य नीत्वा चित्तमचित्तताम्।
ध्यानतो हृदयाकाशे चिति चिच्चक्रधारया।
मनो मारय निःशङ्कं त्वां प्रबध्नन्ति नारयः ॥93॥
अयं सोऽहमिदं तन्मे एतावन्मात्रकं मनः।
तदभावनमात्रेण दात्रेणेव विलीयते ॥94॥
छिन्नाभ्रमण्डलं व्योम्नि यथा शरदि धूयते।
वातेनाकल्पकेनैव तथाऽन्तर्धूयते मनः ॥95॥

परम श्रेष्ठ बुद्धिपूर्वक तुम इस संसार की भावना से मुक्त हो जाओ और व्यग्रतारहित चित्त से अपने आत्मा को परम चैतन्य के स्थान में धारण कर लो। क्योंकि ऐसी धारणा तुम्हारे चित्त को निगल जाएगी। बड़े भारी पुरुषार्थ का अवलम्बन करके तुम अपने 'चित्त' को 'अचित्त' की अवस्था में ले जाओ। और बाद में हृदयाकाश में (जो कि चैतन्यमय ही है, उसमें) ध्यान करके उस चैतन्य चक्र की धार से अपने मन को निःसन्देहरूप से मार डालो, जिससे कि शत्रु लोग तुम्हें बाँध न सकें। ''यह वह है और यह मैं हूँ''—सिर्फ यह भावना ही मन है। ऐसा वह मन मात्र 'भावना के

अभाव' रूपी हँसिये से (गड़ासे से) ही कट जाता है। शरद् ऋतु के आकाश में वायुरूपी छेदन यंत्र के द्वारा छिन्न-भिन्न किए हुए बादल जैसे बिखर जाते हैं, इसी प्रकार साधक के द्वारा हृदय में काटा गया मन बिखर जाता है।

कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः ।
तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः ॥96॥
असंकल्पनमात्रैकसाध्ये सकलसिद्धिदे ।
असंकल्पातिसाम्राज्ये तिष्ठावष्टब्धतत्पदः ॥97॥
न हि चञ्चलताहीनं मनः क्वचन दृश्यते ।
चञ्चलत्वं मनोधर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता ॥98॥
एषा हि चञ्चला स्पन्दशक्तिश्चित्तत्वसंस्थिता ।
तां विद्धि मानसीं शक्तिं जगदाडम्बरात्मिकाम् ॥99॥
यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनोऽमृतमुच्यते ।
तदेव च तपः शास्त्रसिद्धान्ते मोक्ष उच्यते ॥100॥

भले ही प्रलयकाल के वायु बहें, भले ही सभी समुद्र एकाकार हो जाएँ, भले ही बारहों सूर्य एक साथ तपें, फिर भी मनरहित मनुष्य की कोई हानि नहीं होती। चञ्चलतारहित मन किसी भी समय में देखा नहीं जाता। क्योंकि जिस प्रकार उष्णता अग्नि का धर्म है उसी प्रकार चंचलता मन का धर्म है। यह चंचलता (स्पन्दनशक्ति) ही 'चित्तता' के रूप में रहती है। और वही मानसी शक्ति इस जगत् के आडम्बर के रूप में दिखाई देती है, ऐसा तुम समझो। संकल्पों का अभाव तो एक बड़ा साम्राज्य ही है और वह तो केवल संकल्परहित होने से ही सिद्ध हो सकता है। वही सम्पूर्ण सिद्धियों का देने वाला भी है। इसलिए 'संकल्पराहित्य' रूप पद का आश्रय करके तुम उस राज्य में स्वयं को स्थिर कर लो। जो चंचलतारहित मन है, वही अमृत है, वही तप है और शास्त्रों में उसी को मोक्ष कहा गया है।

तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या वासनात्मिका ।
वासनाऽपरनाम्नीं तां विचारेण विनाशय ॥101॥
पौरुषेण प्रयत्नेन यस्मिन्नेव पदे मनः ।
योज्यते तत् पदं प्राप्य निर्विकल्पो भवानघ ॥102॥
अतः पौरुषमाश्रित्य चित्तमाक्रम्य चेतसा ।
विशोकं पदमालम्ब्य निरातङ्कः स्थिरो भव ॥103॥
मन एव समर्थं हि मनसो दृढनिग्रहे ।
अराज्ञा कः समर्थः स्याद्राज्ञो निग्रहकर्मणि ॥104॥

इस मन की जो चंचलता है, वही वासनात्मिका अविद्या है। अविद्या का दूसरा नाम ही वासना है। तुम चिन्तन-मनन करके उस वासना को दूर कर दो। हे निष्पाप! बड़े भारी पुरुषार्थ के द्वारा वासनाक्षय के बाद मन जिस परमपद में प्राप्त होता है, उस पद को प्राप्त करके तुम निर्विकल्प बन जाओ। इस तरह पुरुषार्थ का अवलम्बन करके चित्त द्वारा ही चित्त को दबाकर उस शोकरहित पद का तुम आश्रय कर लो और फिर निर्भय होकर स्थिर हो जाओ। मन का दृढरूप से निग्रह करने में तो मन ही समर्थ है। राजा का निग्रह करने के लिए जो राजा न हो ऐसा भला कौन समर्थ हो सकता है ?

तृष्णाग्राहगृहीतानां संसारार्णवपातिनाम् ।
आवर्तैरूह्यमानानां दूरं स्वमन एव नौः ॥105॥
मनसैव मनश्छित्त्वा पाशं परमबन्धनम् ।
भवादुत्तारयात्मानं नासावन्येन तार्यते ॥106॥

जो लोग संसाररूपी सागर में पड़े हों और तृष्णारूपी ग्राह से जकड़े गए हों, और संसारसागर के भँवरों में फँसकर दूर-दूर तक घसीटे गए हों, उनके लिए अपना मन ही नौकारूप बनता है। वास्तव में यह मन ही एक बन्धनकारक पाश है। उसे मन से ही काटकर तुम अपने आत्मा को संसार से पार ले जाओ। क्योंकि मन के सिवा अन्य तो कोई भी इसे तार सकने वाला नहीं है।

या योदेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा ।
तां तां परिहरेत् प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत् ॥107॥
भोगैकवासनां त्यक्त्वा त्यज त्वं भेदवासनाम् ।
भावाभावौ ततस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव ॥108॥
एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च ।
यत्तत् संवेद्यते किञ्चित् तत्रास्थापरिवर्जनम् ।
अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः ॥109॥
अविद्या विद्यमानैव नष्टप्रज्ञेषु दृश्यते ।
नाम्नैवाङ्गीकृताकारा सम्यक्प्रज्ञस्य सा कुतः ॥110॥

वासना का ही दूसरा नाम मन होता है और ये वासनाएँ ही मन में वास करके बैठी हुई हैं। इसलिए जो-जो भी वासना मन में उदित हो, उसे बुद्धिमान मनुष्य को त्याग ही देना चाहिए क्योंकि इसी से अविद्या का नाश होता है। पहले तुम भोग की एक वासना का त्याग करो। फिर बाद में भेद की वासना को छोड़ो। फिर भाव और अभाव का भी त्याग करके विकल्परहित होकर सुखी बन जाओ। मन का नाश ही अविद्या का नाश है। जो-जो कुछ अनुभव में आता हो, उसमें आस्था का त्याग कर देना ही मन का नाश कहलाता है। जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई होती है, उन्हें अविद्या ही विद्यमान (वास्तविक) मालूम पड़ती है। परन्तु वह अविद्या तो केवल नाममात्र से ही आकार धारण किए हुए है। सम्यक् (सच्चे) ज्ञानी के लिए भला वह कहाँ से हो सकती है ?

तावत् संसारभृगुषु स्वात्मना सह देहिनम् ।
आन्दोलयति नीरन्ध्रं दुःखकण्टकशालिषु ॥111॥
अविद्या यावदस्यास्तु नोत्पन्ना क्षयकारिणी ।
स्वयमात्मावलोकेच्छा मोहसंक्षयकारिणी ॥112॥
अस्याः परं प्रपश्यन्त्याः स्वात्मनाशः प्रजायते ।
दृष्टे सर्वगते बोधे स्वयं ह्येषा विलीयते ॥113॥
इच्छामात्रमविद्येयं तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
स चासंकल्पमात्रेण सिद्धो भवति वै मुने ॥114॥
मनागपि मनोव्योम्नि वासनारजनीक्षये ।
कलिका तनुतामेति चिदादित्यप्रकाशनात् ॥115॥

यह संसार पर्वतों के ऊँचे शिखरों के समान है और उस पर भरसक काँटे भरे हुए हैं। वहाँ अविद्या अपने स्वरूप से आत्मा को घुमाती ही रहती है। वह वहाँ तक घुमाती रहती है कि जहाँ तक उसका नाश करने वाली आत्मदर्शन की इच्छा उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि वही इच्छा केवल मोह का विनाश करने वाली होती है। परमात्मा का साक्षात्कार कराने वाली उस आत्मदर्शन की इच्छा, आत्मदर्शन कराने के बाद स्वयं भी नष्ट हो जाती है। क्योंकिं सर्वव्यापी ज्ञान को देखे जाने पर तो वह आप ही आप विलीन हो जाती है। हे मुनि! केवल इच्छा ही अविद्या है। और उसका नाश ही मोक्ष कहा जाता है। केवल संकल्परहित हो जाने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। जब मनरूपी आकाश में वासनारूपी रात्रि का नाश होता है तब चैतन्यसूर्य का थोड़ा सा प्रकाश होने से भी अन्धकार की (अज्ञान की) कालिमा का नाश हो जाता है, या कालिमा कम हो जाती है।

चैत्यानुपातरहितं सामान्येन च सर्वगम्।
यच्चित्तत्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः ॥116॥
सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यचिद्घनमक्षतम्।
कल्पनाऽन्या मनोनाम्नी विद्यते न हि काचन ॥117॥
न जायते न म्रियते किञ्चिदत्र जगत्त्रये।
न च भावविकाराणां सत्ता क्वचन विद्यते ॥118॥

चैत्य के अर्थात् जगत् के (जगत् के विषयों के) पीछे दौड़ादौड़ी से रहित और सामान्यतः सर्वव्यापी बने हुए चित्त का वर्णन करना असंभव ही है, क्योंकि वह स्वयं ही तो परमेश्वर है। यह सब कुछ ब्रह्म ही है और वह नित्य, चैतन्यमय एवं अविनाशी है। इसके सिवा और जो अन्य कल्पनाएँ हैं, वही मन है। मन इसके सिवा कुछ है ही नहीं। इन तीनों भुवनों में वास्तव में न तो कोई जन्मता है और न ही कोई प्रलयकाल में मरता ही है। क्योंकि अन्य पदार्थों का या विकारों का तो कोई अस्तित्व ही नहीं है।

केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम्।
चैत्यानुपातरहितं चिन्मात्रमिह विद्यते ॥119॥
तस्मिन् नित्ये तते शुद्धे चिन्मात्रे निरुपद्रवे।
शान्ते शमसमाभोगे निर्विकारे चिदात्मनि ॥120॥
यैषा स्वभावाभिमतं स्वयं संकल्प्य धावति।
चिच्चैत्यं स्वयमम्लानं मननान्मन उच्यते ॥121॥

केवल कैवल्यरूप में ही प्रकाशित, सामान्यतया सबमें अवस्थित और विषयों के पीछे दौड़ादौड़ी नहीं करने वाला केवल चैतन्य ही इस जगत् में विद्यमान है। वह चिदात्मा नित्य, व्यापक, शुद्ध, मात्र चैतन्यस्वरूप, उपद्रवरहित, शान्त, समर्थ, परिपूर्ण और निर्विकार है। ऐसे उसमें यह अविद्या, अपने हावभावों से अपने अभिमत विषयों को संकल्पित करके दौड़ा करती है। वास्तव में तो चित् और चैत्य (यह जगत्) अम्लान (विकारशून्य) ही है परन्तु केवल मनन करने से ही मन कहा जाता है।

अतः संकल्पसिद्धेयं संकल्पेनैव नश्यति।
नाहं ब्रह्मेति संकल्पात् सुदृढाद्बध्यते मनः।
सर्वं ब्रह्मेति संकल्पात् सुदृढान्मुच्यते मनः ॥122॥

कृशोऽहं दुःखबद्धोऽहं हस्तपादादिमानहम् ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते ॥123॥
नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्यात्मनि स्थितः ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते ॥124॥
नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्यः परोऽस्म्यहम् ।
इति निश्चितवानन्तः क्षीणाविद्यो विमुच्यते ॥125॥

अत: ऐसे केवल संकल्पों के द्वारा ही सिद्ध होने वाली (मानी जाने वाली) यह अविद्या, संकल्पों के द्वारा ही नष्ट की जा सकती है। 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ'—ऐसे सुदृढ़ संकल्प से ही मन बँध जाता है और 'यह सब ब्रह्म ही है'—ऐसे सुदृढ संकल्प से मन मुक्त हो जाता है। 'मैं दुबला-पतला हूँ', 'मैं दुःखों से बँध गया हूँ', 'मैं हाथ-पैरों वाला हूँ'—इत्यादि प्रकार के भावों के अनुरूप ही मनुष्य बँध जाता है। परन्तु यदि 'मैं दुःखी नही हूँ', 'मेरा कोई देह नहीं है', 'मुझ (आत्मा) में यह बन्ध कैसे आ सकता है ?' इस प्रकार के सुदृढ़ भाव हों, तो ऐसे सुदृढ़ भावों के अनुरूप व्यवहार से मनुष्य की मुक्ति हो जाती है। 'मैं मांस नहीं हूँ, हड्डियाँ भी नहीं हूँ, मैं देह से अलग हूँ, मैं सर्व से परे हूँ'—ऐसे विचार करने वाला मनुष्य अपने भीतर की अविद्या का नाश हो जाने से मुक्त हो जाता है।

कल्पितेयमविद्येयमनात्मन्यात्मभावनात् ।
परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात् परमया धिया ।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव ॥126॥
मम पुत्रो मम धनमहं सोऽयमिदं मम ।
इतीयमिन्द्रजालेन वासनैव विवल्गति ॥127॥
मा भवाज्ञो भव ज्ञस्त्वं जहि संसारभावनाम् ।
अनात्मन्यात्मभावेन किमज्ञ इव रोदिषि ॥128॥

अनात्मा में आत्मा की भावना होने से यह अविद्या कल्पित ही है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक उत्तम पुरुषार्थ का अवलम्बन करके श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा भोगों की दृष्टि को दूर से ही फेंक दो (छोड़ दो) और विकल्पों से रहित होकर सुखी बने रहो। 'मेरा पुत्र', 'मेरा धन', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है'—इस प्रकार की वासना ही इन्द्रजाल के रूप में छलाँगें मार रही हैं। इसलिए अज्ञानी मत बनो, अपितु ज्ञानी बन जाओ। संसार की भावना छोड़ दो। अनात्मा में आत्मभाव करके अज्ञानी की तरह रोते क्यों हो ?

कस्तवायं जडो मूको देहो मांसमयोऽशुचिः ।
यदर्थं सुखदुःखाभ्यामवशः परिभूयसे ॥129॥
अहो नु चित्रं यत् सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम् ।
तिष्ठतस्तव कार्येषु माऽस्तु रागानुरञ्जना ॥130॥
अहो नु चित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तन्तुभिरद्रयः ।
अविद्यमाना याऽविद्या तया विश्वं खिलीकृतम् ।
इदं तद्वज्रतां यातं तृणमात्रं जगत्त्रयम् ॥131॥
इति महोपनिषत् ।

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

जड, गूँगा, मांस से भरा यह अपवित्र देह तुम्हारा कहाँ है कि जिसके लिए तुम सुखों और दुःखों के वश में आकर हैरान परेशान होते हो ? अहा ! यह तो आश्चर्य की बात है कि जो सत्य-स्वरूप ब्रह्म है, उसे ही लोग भूल गए हैं और उसी तरह तुम भी कामनाओं में फँसकर उसके रंग से आप्लावित मत हो जाओ अर्थात् कामनाओं के रंग में सराबोर मत होओ । अहा ! यह तो बड़ा अचरज है कि कमल के तंतुओं से पर्वत बँध गए हैं । अविद्या वास्तव में कोई वस्तु ही नहीं है, फिर भी उसने सारे संसार को थाम रखा है । पारमार्थिक रूप से ये तीनों भुवन (जगत्) निःसार (तुच्छ) ही हैं, फिर भी मानो वज्र जैसे बने हुए हैं ? (यह बड़ा भारी आश्चर्य है) ऐसा यह उपनिषद् कहती है ।

यहाँ चतुर्थ अध्याय पूरा हुआ ।

❋

पञ्चमोऽध्यायः

(ऋभुः) अथापरं प्रवक्ष्यामि शृणु तात यथातथम् ।
अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि ॥1॥
पदान्तराण्यसंख्यानि प्रभवन्त्यन्यथैतयोः ।
स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम् ॥2॥
शुद्धसन्मात्रसंवित्तेः स्वरूपान्न चलन्ति ये ।
रागद्वेषादयो भावास्तेषां नाज्ञत्वसम्भवः ॥3॥
यः स्वरूपपरिभ्रंशश्चैत्यार्थे चितिमज्जनम् ।
एतस्मादपरो मोहो न भूतो न भविष्यति ॥4॥

(ऋभु बोले)—हे तात ! मैं और भी तुम्हें यह बताऊँगा, उसे तुम ध्यान देकर सुनो । अज्ञान की भूमि सात स्थानों वाली है और ज्ञान की भूमि भी सात स्थानों वाली है । यों तो इनके अतिरिक्त इसके कई अन्य स्थान हैं (पर मुख्य सात हैं) । अपने स्वरूप में ही अवस्थिति होना ही मुक्ति कहलाती है और अहंकार का अनुभव करना मुक्ति से भ्रष्टता है । शुद्ध वस्तु का सम्यक् (यथातथ) ज्ञान होना ही तो स्वरूपावस्थिति है । इससे जो मनुष्य च्युत नहीं होते (चलित नहीं होते), उनमें रागद्वेषादिभाव नहीं होते । इसलिए वहाँ अज्ञानित्व की कोई सम्भावना ही नहीं है । इस स्वरूपावस्थिति से भ्रष्ट (च्युत) होना और दिखाई देने वाले विषयों में चैतन्य को डुबो देना ही मोह है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मोह नहीं है, और होगा भी नहीं ।

अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये तु या स्थितिः ।
सा ध्वस्तमननाकारा स्वरूपस्थितिरुच्यते ॥5॥
संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः ।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥6॥
अहन्तांऽशे क्षते शान्ते भेदनिष्पन्दचित्तता ।
अजडा या प्रचलति तत्स्वरूपमितीरितम् ॥7॥

जब मन एक विषय से दूसरे विषय पर जाता है, तब बीच की स्थिति (दूसरे विषय पर जाने से पहले की और पहले विषय के नाश की) जो होती है वही स्वरूपावस्थिति है । जिसमें मनुष्य के सभी संकल्प शान्त हो गए हों, जिसमें स्थिति एक शिला जैसी बन गई हो, जो स्थिति जाग्रत् और निद्रा से

अलग हो, वह उत्कृष्ट स्थिति ही स्वरूपावस्थिति है। जिसमें अहंभाव का समूल (अंश का भी) नाश हो चुका हो, जिसमें शान्तस्वरूप से अभेद भाव में चित्त स्थिर रहता हो और चैतन्यस्वरूप से जो चलता ही रहता हो (सातत्य से युक्त हो) उसे 'स्वरूप' कहा जाता है।

बीजजाग्रत् तथा जाग्रन्महाजाग्रत् तथैव च।
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत् सुषुप्तिकम् ॥8॥
इति सप्तविधो मोहः पुनरेष परस्परम्।
श्लिष्टो भवत्यनेकाग्र्यं शृणु लक्षणमस्य तु ॥9॥
प्रथमं चेतनं यत् स्यादनाख्यं निर्मलं चितः।
भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ॥10॥
बीजरूपं स्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत् तदुच्यते।
एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था त्वं जाग्रत्संस्थितिं शृणु ॥11॥

मोह सात प्रकार का होता है—बीजजाग्रत्, जाग्रत्, महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत् और सुषुप्ति। वे ही जब परस्पर मिल जाते हैं, तब उसे 'अनेकाग्र्य' कहा जाता है। अब उन सातों का लक्षण सुनो—प्रथम तो निर्मल चेतन ही होता है। उसका वर्णन करना तो असंभव है। उस चेतन में से भविष्य में चित्त, जीव आदि नाम एवं जो शब्दादि विषयों का पात्र है, वह बनता है। वही बीजरूप में अवस्थित 'बीजजाग्रत्' अवस्था कहलाती है। अज्ञान की यह नई अवस्था मैंने कही। अब तुम पहले जाग्रत् स्थिति को सुनो।

नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम।
इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत् प्रागभावनात् ॥12॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः।
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुटम् ॥13॥
अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम्।
यज्जाग्रतो मनोराज्यं तज्जाग्रत्स्वप्न उच्यते ॥14॥
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णाऽऽदिभेदतः।
अभ्यासं प्राप्य जाग्रत् तत् स्वप्नो नानाविधो भवेत् ॥15॥

इस नए जन्मे हुए बीजरूप पर (कार्यरूप से) इस कार्यरूप के बाद जो 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है'—ऐसा जो अनुभव होता है, उसे 'जाग्रत्' अवस्था कहा जाता है। वास्तव में वह पहले था ही नहीं इसलिए आत्मस्वरूप में ही यह जाग्रदवस्था थी। 'यह वह मैं हूँ' 'यह वह मेरा है'—ऐसा जन्म-जन्मान्तर का जो पुष्ट हुआ अनुभव प्रकट होता है, उसे स्फुट रूप से महाजाग्रत् कहा जाता है। रूढ़ हो या न हो, फिर भी सदा तन्मय स्वरूप वाले इस जाग्रत् अवस्था का जो मनोराज्य होता है, वह 'जाग्रत्स्वप्न' कहलाता है। और दो चन्द्र, सीप में रजत, मरु-मरीचिका आदि विविध भेदों को बार-बार देखने से (अभ्यास किए जाने से) यह 'स्वप्न' अनेक प्रकार का हो जाता है। (जाग्रदवस्था के संस्कारों से उत्पन्न स्वप्न अनेक प्रकार का होता है।)

अल्पकालं मया दृष्टमेतन्नोदेति यत्र हि।
परामर्शः प्रबुद्धस्य स स्वप्न इति कथ्यते ॥16॥

चिरसन्दर्शनाभावादप्रफुल्लं बृहद्वचः ।
चिरं कालानुवृत्तिस्तु स्वप्नो जाग्रदिवोदितः ॥17॥
स्वप्नजाग्रदिति प्रोक्तं जाग्रत्यपि परिस्फुरत् ।
षडवस्थापरित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः ॥18॥
भविष्यद्दुःखबोधाढ्या सौषुप्तिः सोच्यते गतिः ।
जगत् 　तस्यामवस्थायामन्तस्तमसि लीयते ॥19॥
सप्तावस्था इमाः प्रोक्ता मयाऽज्ञानस्य वै द्विज ।
एकैका 　शतसंख्याऽत्र 　नानाविभवरूपिणी ॥20॥

जाग्रदवस्था में विद्यमान मनुष्य को यह अनुभव होता है कि 'जिस वस्तु को मैंने निद्रावस्था में अल्पकाल तक देखा था, वह अब नहीं दिखाई पड़ती।' यह अनुभव 'स्वप्न' कहा जाता है। लम्बे समय तक जिसका दर्शन न हुआ हो, इसलिए जो अप्रफुल्ल(धुँधला)-सा हो, फिर भी लम्बे काल तक जिसका अनुसरण बड़े वचनों द्वारा ही होता रहता हो, उस स्वप्न को जाग्रत् जैसा कहा जाता है वही स्वप्नजाग्रत् है अर्थात् जाग्रत् अवस्था में भी जिसका स्फुरण होता ही रहे, उसे 'स्वप्नजाग्रत्' कहा गया है। ऊपर की इन छहों अवस्थाओं का जिसमें त्याग हो जाता हो और जीव की स्थिति जड़ जैसी हो जाती हो, तो उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। दुःख का भान तो उसके बाद के (भविष्य के) समय में हो सकता है, क्योंकि उस स्थिति में तो सारा जगत् अज्ञान में लय हुआ होता है। हे ब्राह्मण ! अज्ञान की ये सात अवस्थाएँ मैंने तुम्हें बताई हैं। इनमें प्रत्येक अवस्था के उपप्रकार सैकड़ों की संख्या में हैं और उनमें अनेक प्रकार के सांसारिक स्वरूप भी हुआ करते हैं।

इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ ।
नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जति ॥21॥
वदन्ति बहुभेदेन वादिनो योगभूमिकाः ।
मम त्वभिमता नूनमिमा एव शुभप्रदाः ॥22॥

हे निर्दोष मुनि ! अब सात स्थानों वाली इस ज्ञानभूमि को भी तुम सुन लो। इसको जानने के बाद, मनुष्य मोहरूपी कीचड़ में नहीं फँसता। अन्यान्य वादी लोग तरह-तरह की योग भूमिकाएँ बताते रहते हैं, परन्तु मुझे तो ये सात ही मान्य हैं, क्योंकि ये ही कल्याणप्रद हैं।

अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं साप्तभूमिकम् ।
मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्ता भूमिका सप्तकात्परम् ॥23॥
ज्ञानभूमिः शुभेच्छाऽऽख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया 　तनुमानसी ॥24॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थभावना 　षष्ठी 　सप्तमी 　तुर्यगा स्मृता ॥25॥

ज्ञान को 'अवबोध' नाम दिया गया है। इसकी सात भूमिकाएँ हैं। जिसको 'ज्ञेय' कहा जाता है, उसे ही 'मुक्ति' कहते हैं। यह मुक्ति ज्ञान की सात भूमिकाओं के बाद में ही प्राप्त होती है। पहली ज्ञानभूमि 'शुभेच्छा' नाम से पहचानी गई है। दूसरी भूमि का नाम 'विचारणा' है। तीसरी का नाम 'तनुमानसी' है। चौथी भूमि 'सत्त्वापत्ति' है। पाँचवीं 'असंसक्ति' है। छठी 'पदार्थ भावना' नाम की भूमि है और सातवीं भूमि 'तुर्यगा' कही गई है।

आसामन्तःस्थिता मुक्तिर्यस्यां भूयो न शोचति ।
एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ॥26॥
स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥27॥
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥28॥

इन भूमिकाओं के भीतर मुक्ति अवस्थित है । इस मुक्ति में रहकर प्राणी कभी शोक नहीं करता । अब तुम इन भूमिकाओं की व्याख्या सुनो । 'मैं मूढ ही क्यों रह गया ? शास्त्र और सज्जन मुझे देखते ही रहते हैं'—इस प्रकार की वैराग्य से युक्त जो इच्छा होती है, उसे विद्वान् लोग 'शुभेच्छा' के नाम से पहचानते हैं । अब, यदि शास्त्रों और सज्जनों के सम्बन्ध से वैराग्य हो और उसके अभ्यास से जो सदाचार किया जाता हो, उसे 'विचारणा' कहा गया है ।

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता ।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ॥29॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्ते तु विरतेर्वशात् ।
सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥30॥
दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या ।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥31॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदर्थानामभावनात् ॥32॥

इन्द्रियों के विषयों पर होता हुआ राग, पूर्वोक्त 'विचारणा' और 'शुभेच्छा' के योग से जहाँ पर क्षीण हो जाता है, ऐसी अवस्था को 'तनुमानसी' कहा जाता है । उपर्युक्त तीन भूमिकाओं के अभ्यास से जब चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो जाए और उसके कारण शुद्ध सत्त्वयुक्त आत्मा में साधक स्थिर बना रहे, तो ऐसी अवस्था को 'सत्त्वापत्ति' कहा जाता है । इन चार दशाओं (अवस्थाओं) के अभ्यास से जहाँ पर कोई संसर्गजन्य स्थिति न हो और सत्त्व तत्त्व का ही चमत्कार रूढ़ बन जाए, तो ऐसी अवस्था को 'असंसक्ति' के नाम से कहा जाता है । अब जब ऊपर ही उन पाँचों भूमिकाओं के अभ्यास से अपने आत्मा में ही रमण होता रहे और भीतर के और बाहर के पदार्थ दिखाई ही न पड़ें, तब—

परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम् ।
पदार्थभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका ॥33॥
भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात् ।
यत् स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥34॥
एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेति विद्यते ।
विदेहमुक्तिविषयं तुर्यातीतमतः परम् ॥35॥

यदि अन्य लोगों के लम्बे काल तक प्रयत्न करने पर ही बाहर के पदार्थ देखने में आ सकें, तब 'पदार्थभावना' नाम की छठी भूमिका होती है । अब इन छहों भूमिकाओं के लम्बे काल तक किए गए अभ्यास के द्वारा जब भेद का भाव ही नष्ट हो जाए और उस भेदाभाव से आत्मस्वरूप में एकनिष्ठता प्राप्त हो जाए, तो उस भूमिका को 'तुर्यगा' समझना चाहिए। जीवन्मुक्त पुरुषों में यही अवस्था

'तुर्यावस्था' के रूप में अनुभवगम्य होती है। 'तुरीयातीत दशा' तो विदेह मुक्ति के साथ सम्बन्ध रखती है। वह इससे परे है।

ये निदाघ महाभागाः सप्तमीं भूमिमाश्रिताः।
आत्माऽऽरामा महात्मानस्ते महत्पदमागताः ॥36॥
जीवन्मुक्ता न मज्जन्ति सुखदुःखरसस्थिते।
प्रकृतेनाथ कार्येण किञ्चित् कुर्वन्ति वा न वा ॥37॥
पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम्।
आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदुत्थिताः ॥38॥

हे निदाघ ! जो महाभाग्यशाली लोग इस सातवीं ज्ञानभूमिका पर पहुँचकर अपनी आत्मा में ही रमण करते रहते हों, वे महान् पद पर पहुँच गए हैं। ऐसे जीवन्मुक्त लोग, सुख-दुःख के रस से भरी स्थिति में डूब नहीं जाते। वे लोग कभी प्रकृति के कार्य का अनुसरण करके कुछ कर भी लेते हैं और कुछ नहीं भी कर लेते। आसपास के लोग उन्हें बताते हैं, तब कभी वे कहीं आचार के क्रम से चलता हुआ आचार कर दिया करते हैं। वे मानो नींद में से उठे हों, ऐसे ही मालूम पड़ते हैं।

भूमिकासप्तकं चैतद्धीमतामेव गोचरम्।
प्राप्य ज्ञानदशामेतां पशुम्लेच्छाऽऽदयोऽपि ये ॥39॥
सदेहा वाऽप्यदेहा वा ते मुक्ता नात्र संशयः।
ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन् सति विमुक्तता ॥40॥
मृगतृष्णाऽम्बुबुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ।
ये तु मोहार्णवात्तीर्णास्तैः प्राप्तं परमं पदम् ॥41॥
ते स्थिता भूमिकास्वासु स्वात्मलाभपरायणाः।
मनःप्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते ॥42॥

ये सात भूमिकाएँ तो केवल बुद्धिमानों के विषयरूप ही हैं। इस ज्ञानावस्था को पाकर पशु और म्लेच्छ लोग भी सदेहरूप में या विदेहरूप में मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। मोह की गाँठ टूट जाने का ही दूसरा नाम ज्ञान है। ऐसा ज्ञान हो जाने से मरुमरीचिका में जैसे जलबुद्धि का भ्रम नष्ट हो जाता है, वैसे ही संसार सम्बन्धी अहंता-ममता का नाश हो जाता है। और जो लोग मोहरूपी सागर को पार कर गए हैं, उन्होंने तो परमपद प्राप्त कर ही लिया है। ऐसे लोग आत्मकल्याण में परायण होकर इन भूमिकाओं में आरूढ़ होते हैं। मन को प्रशान्त करने के इस उक्त प्रकार को योग कहा जाता है।

सप्तभूमिः स विज्ञेयः कथितास्ताश्च भूमिकाः।
एतासां भूमिकानां तु गम्यं ब्रह्माभिधं पदम् ॥43॥
त्वत्ताऽहन्ताऽऽत्मता यत्र परता नास्ति काचन।
न क्वचिद्भावकलना न भावाभाव गोचरा ॥44॥
सर्वं शान्तं निरालम्बं व्योमस्थं शाश्वतं शिवम्।
अनामयमनाभासमनामकमकारणम् ॥45॥
न सन्नासन्न मध्यान्तन्न सर्वं सर्वमेव च।
मनोवचोभिरग्राह्यं पूर्णात् पूर्णं सुखात् सुखम् ॥46॥

वह 'योग' सप्तभूमिका रूप ही है। इसीलिए यहाँ वे सातों भूमिकाएँ कही गई हैं। इन भूमिकाओं के द्वारा ब्रह्म नाम का पद प्राप्त किया जा सकता है। जिसमें न अहंभाव होता है, न ही त्वत्ता ('तू'पने) का भाव होता है, अथवा जिसमें कोई परायापन नहीं रहता, जहाँ कहीं भी पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, जो न भाव का विषय है, न वा किसी अभाव का विषय है, सब कुछ शान्त, निरवलम्ब, आकाश में अवस्थित और सनातन कल्याणस्वरूप ही होता है, ऐसी वह स्थिति निर्दोष, आभासरहित, नामरहित और कारणरहित है। वह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, मध्य भी नहीं है, अन्त भी नहीं है; सर्व न होते हुए भी सर्वस्वरूप ही है। मन और वचन के द्वारा उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह पूर्ण से भी पूर्ण है, और सुख का भी सुख है।

असंवेदनमाशान्तमात्मवेदनमाततम्।
सत्ता सर्वपदार्थानां नान्या संवेदनादृते ॥47॥
सम्बन्धे द्रष्टृदृश्यानां मध्ये दृष्टिर्हि यद्वपुः।
द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं पदम् ॥48॥
देशाद्देशं गते चित्ते मध्ये यच्चेतसो वपुः।
अजाड्यसंविन्मननं तन्मयो भव सर्वदा ॥49॥

उसका सम्यक् (सम्पूर्ण) अनुभव होता ही नहीं है। वह चारों ओर पूर्ण शान्त है, वह आत्मा का अनुभवरूप है, वह चारों ओर फैला हुआ है, वह सर्व पदार्थों की सत्तारूप है। और वह श्रेष्ठ ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। द्रष्टा और दृश्य की शक्ति के सम्बन्ध में बीच में जो शक्ति है, वही उसका शरीर है। और वही द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन—तीनों से रहित पद भी है। जब चित्त एक देश से दूसरे देश में गया हुआ होता है, तब बीच में चित्त का जो शरीर होता है, वह जडतारहित, ज्ञानमय तथा मननरूप होता है। वैसे ही तुम सर्वदा बने रहो।

अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य यत्ते रूपं सनातनम्।
अचेतनं चाजडं च तन्मयो भव सर्वदा ॥50॥
जडतां वर्जयित्वैकां शिलाया हृदयं हि तत्।
अमनस्कस्वरूपं यत् तन्मयो भव सर्वदा।
चित्तं दूरे परित्यज्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ॥51॥

जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्तिरहित ऐसा तुम्हारा जो सनातन रूप है, वह न तो चेतन है, न जड ही है। तुम सर्वदा ऐसे ही निरपेक्ष बने रहो। जडता को छोड़ दो क्योंकि वह तो पत्थर का हृदय ही है। तुम तो जो अमनस्क स्वरूप (मनोरहित स्वरूप वाला परमपद) है, उसमें परायण (तन्मय होकर) रहो अर्थात् सर्वदा तत्परायण रहो। चित्त को दूर फेंक कर जो तुम हो उसी रूप में स्थिर हो जाओ।

पूर्वं मनः समुदितं परमात्मतत्त्वात्
तेनाततं जगदिदं सविकल्पजालम्।
शून्येन शून्यमपि विप्र यथाऽम्बरेण
नीलत्वमुल्लसति चारुतराभिधानम् ॥52॥
संकल्पसंक्षयवशाद्गलिते तु चित्ते
संसारमोहमिहिका गलिता भवन्ति।

स्वच्छं विभाति शरदीव खमागतायां
चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः ॥53॥

परमात्मरूप तत्त्व में से पहले मन का प्राकट्य हुआ। और उसी ने विकल्पों के जालों के साथ इस पूरे जगत् को फैलाया है। हे ब्राह्मण ! जिस प्रकार आकाश में से नीलस्वरूप सुन्दरतर अभिधान वाला प्रकट हो जाता है, उसी तरह शून्य में से भी शून्यरूप प्रकट हो ही सकता है। संकल्पों के नाश के कारण से चित्त जब निगल जाता है, तब संसाररूप मोह की ओस भी निगल ही जाती है। जैसे शरद् ऋतु के आने पर आकाश स्वच्छ दिखाई देता है, उसी तरह अन्तस् में जन्मरहित एवं अनादि अनन्त एकमात्र चैतन्य ही प्रकाशित होता है।

अकर्तृकमरङ्गं च गगने चित्रमुत्थितम्।
अद्रष्टृकं स्वानुभवमनिद्रस्वप्नदर्शनम् ॥54॥
साक्षिभूते समे स्वच्छे निर्विकल्पे चिदात्मनि।
निरिच्छं प्रतिबिम्बन्ति जगन्ति मुकुरे यथा ॥55॥
एकं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम्।
इति भावय यत्नेन चेतश्चाञ्चल्यशान्तये ॥56॥
रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला।
तथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकमिह दृश्यताम् ॥57॥

जिस तरह आकाश में बिना कर्ता के और बिना रंगों के यों ही चित्र उत्पन्न हो जाता है, ऐसा ही यह जगत् है। मूल तत्त्व तो द्रष्टारहित, निद्रारहित, स्वप्नरहित ऐसा केवल स्वानुभव रूप दर्शन (ज्ञान) ही है। चिदात्मा तो केवल साक्षीरूप, एक समान स्थिति वाला और विकल्परहित ही है। जिस प्रकार दर्पण में किसी की इच्छा न होने पर भी प्रतिबिम्ब पड़ ही जाता है, उसी प्रकार उस चैतन्य में जगत् के प्रतिबिम्ब पड़ जाते हैं। इसलिए चित्त की चंचलता को शान्त करने के लिए तुम यही सोचा करो कि 'चिदाकाशरूप ब्रह्म एक ही वस्तु है, और वही सर्व का आत्मा और अखण्ड स्वरूप है।' जैसे एक मोटी शिला रेखाओं तथा उपरेखाओं से आवेष्टित होती है, वैसे ही एक ब्रह्म ही त्रैलोक्य द्वारा आवृत (आवेष्टित) होकर व्यापक रूप में अवस्थित है, ऐसा तुम सर्वत्र देखते रहो।

द्वितीयकारणाभावादनुत्पन्नमिदं जगत्।
ज्ञातं ज्ञातव्यमधुना दृष्टं द्रष्टव्यमद्भुतम् ॥58॥
विश्रान्तोऽस्मि चिरं श्रान्तश्चिन्मात्रान्नास्ति किञ्चन।
पश्य विश्रान्तसन्देहं विगताशेषकौतुकम् ॥59॥
निरस्तकल्पनाजालमचित्तत्त्वं परं पदम्।
त एव भूमतां प्राप्ताः संशान्ताशेषकिल्बिषाः ॥60॥

ब्रह्म के बिना अन्य कोई कारण है ही नहीं। इससे वास्तव में यह जगत् उत्पन्न हुआ ही नहीं है। इस प्रकार जो जानने लायक बात है, वह तुमने जान ली है और जो कुछ अद्भुत देखने लायक है, वह देख लिया है। 'लम्बे समय से थका हुआ मैं विश्रान्ति को प्राप्त किया हुआ हूँ, क्योंकि मात्र चेतन के बिना तो और कुछ है ही नहीं।' इस प्रकार निःसंदेह रूप से और सब कौतुक दूर करके देखो। जिसमें से कल्पना के सभी जाल हट चुके हैं, ऐसी चित्तरहित स्थिति ही परमपद है। जिनके कल्पनारूपी पाप शान्त हो गए हों, वे ही उस परमपद को प्राप्त कर सकते हैं।

महाधियः शान्तधियो ये याता विमनस्कताम् ।
जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः ॥61॥
मननं त्यजतो नित्यं किञ्चित् परिणतं मनः ।
दृश्यं सन्त्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः ॥62॥
द्रष्टारं पश्यतो नित्यमद्रष्टारमपश्यतः ।
विज्ञातव्ये परे तत्त्वे जागरूकस्य जीवतः ॥63॥
सुप्तस्य घनसम्मोहमये संसारवर्त्मनि ।
अत्यन्तपक्ववैराग्यादरसेषु रसेष्वपि ॥64॥

जो लोग मनरहित स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं, वे बड़े बुद्धिमान् और शान्तचित्त वाले होते हैं। ब्रह्म का ही विचार करने वाले और इससे जिसकी चित्तवृत्तियाँ विलीन हो गई हैं ऐसे तथा ब्रह्म के अलावा अन्य प्रकार का विचार जिसने छोड़ दिया है ऐसे जन्तु का (प्राणी का) मन कुछ हद तक ब्रह्माकार में परिणत हो जाता है। जिसने त्याज्य वस्तु का त्याग कर दिया हो और ग्राह्य वस्तु का ग्रहण कर लिया हो, जो केवल द्रष्टा को ही देखता हो और अद्रष्टा को देखता ही न हो, जो जानने योग्य परम तत्त्व के लिए जाग्रत् होकर जी रहा हो, जो प्रगाढ़ मोहमय संसारमार्ग में सोता-सा ही रहे, जिसके लिए अत्यन्त परिपक्व वैराग्य के कारण सांसारिक रस सब रसहीन हो गये हों, और—

संसारवासनाजाले खगजाल इवाखुना ।
त्रोटिते हृदयग्रन्थौ श्लथे वैराग्यरंहसा ॥65॥
कातकं फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति ।
तथा विज्ञानवशतः स्वभावः सम्प्रसीदति ॥66॥

जिस प्रकार चूहा पक्षी के जाल को काट डालता है, वैसे ही जिनका वासनारूपी जाल टूट गया हो और वैराग्य के योग से जिनकी हृदय की ग्रन्थियाँ ढीली पड़ गई हों, इसलिए जैसे निर्मली नाम की वनस्पति के फल को पाकर गन्दा पानी निर्मल हो जाता है, वैसे ही उस विज्ञान के कारण उन प्राणियों का आत्मा प्रसन्न हो जाता है।

नीरांग निरुपासङ्गं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम् ।
विनिर्याति मनो मोहाद्विहगः पञ्जरादिव ॥67॥
शान्तसन्देहदौरात्म्यं गतकौतुकविभ्रमम् ।
परिपूर्णान्तिरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते ॥68॥
नाहं न चान्यदस्तीह ब्रह्मैवास्मि निरामयम् ।
इत्थं सदसतोर्मध्याद्यः पश्यति स पश्यति ॥69॥

बाद में राग से रहित, निःसंग, द्वन्द्वरहित और आश्रयरहित मन, जिस प्रकार पंछी पिजरे में से निकल जाता है, उसी तरह मोह में से निकल जाता है। इस प्रकार सन्देहात्मक दुष्टता के दूर हो जाने से स्वभाव शान्त हो जाता है, कौतुक की भ्रान्तियाँ टूट जाती हैं। ऐसा होने पर परिपूर्ण (ब्रह्माकार से भरा) चित्त पूर्ण चन्द्र की तरह प्रकाशित हो उठता है। 'इस जगत् में मैं नहीं हूँ और अन्य भी कुछ नहीं है। मैं ही निर्दोष ब्रह्म हूँ'—इस तरह सत् और असत् के बीच में से जो देखता है, वही सही रूप से देखता है (शेष तो सब अन्धे ही हैं)।

अयत्नोपनतेष्वक्षिदृग्द्रव्येषु यथा मनः ।
नीरागमेव पतति तद्वत् कार्येषु धीरधीः ॥70॥
परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ।
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥71॥
अशङ्किताऽपि सम्प्राप्ता ग्रामयात्रा यथाऽध्वगैः ।
प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते ॥72॥
मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः ।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहुमन्यते ॥73॥
बन्धमुक्तो महीपालो ग्रासमात्रेण तुष्यति ।
परैरबद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥74॥

किसी प्रयत्न या अन्य कारण के बिना जिस प्रकार उपस्थित हुए दृश्य, दर्शन और द्रष्टा में मन रागरहित (उपेक्षा भाव वाला) होता है, इसी प्रकार धीर बुद्धिवाला मनुष्य सभी कार्यों में नीराग (रागरहित) हो जाता है। पूर्णतः स्वरूप को जानने के बाद ही भोगा गया भोग सन्तोष प्रदान करता है। जैसे पूरी पहचान के बाद परस्पर व्यवहार में लाया गया चोर मैत्री को ही प्राप्त करवाता है, अपनी चोरता को नहीं प्राप्त करवाता। जिस प्रकार हानि-लाभ की किसी प्रकार की चिन्ता किए बिना यों ही उपस्थित हुई ग्रामयात्रा को पथिक लोग देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी लोग यदृच्छया आयी हुई भोगलक्ष्मी को अशंकित होकर उपेक्षा भाव से ही देखते हैं। वश में लाए गए मन के लिए तो थोड़ा भी भोग यदि लीला मात्र में (यों ही) आ पड़ा हो, तो भी वह मन उस अविस्तृत (छोटे से) भोग को भी क्लेशकारी होने से बहुत-बहुत ही मान लेता है। एक बार बन्दी बनकर छूटा हुआ राजा जो एक छोटे ग्रास (जमीन के टुकड़े से) भी सन्तुष्ट हो जाता है, परन्तु जो शत्रुओं के द्वारा कभी बन्दी बनाया ही न गया हो और दबाया न गया हो, ऐसा राजा तो समग्र देश प्राप्त हो जाए फिर भी उसे बहुत नहीं मानता (संतुष्ट नहीं होता)। (अर्थात् दबाया गया और वश में किया गया मन ही संतुष्ट होकर शान्त बैठ सकता है, स्वतंत्र या स्वेच्छाचारी मन नहीं।)

हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैरिवाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥75॥
मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे ।
महानरकसाम्राज्ये मत्तदुष्कृतवारणाः ।
आशाशरशलाकाढ्या दुर्जया हीन्द्रियारयः ॥76॥
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः ।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥77॥
तावन्निशीव वेताला वसन्ति हृदि वासनाः ।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥78॥

इसलिए हाथ से हाथ मसलकर, दाँत से दाँत पीसकर, अंगों से अंग घिसकर, पहले तो किसी प्रकार से अपने मन को ही जीत लेना चाहिए। मन को जीतने के सिवाय अन्य कोई भी मार्ग इस संसार-सागर में है ही नहीं। संसार तो बड़े नरकों का साम्राज्य है, इसमें पापरूपी बड़े-बड़े हाथी रहते हैं और ये इन्द्रियरूपी शत्रु हाथ में आशारूपी अनेक तीक्ष्ण बाणों से सज्ज होकर दुर्जय बने हुए हैं।

जिस प्रकार हेमन्त ऋतु में कमल के पौधे नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही जिसके चित्त का गर्व नष्ट हो गया हो और जिसके इन्द्रियरूपी शत्रु वश हो गए हों, उन्हीं की भोगवासनाएँ नष्ट होती हैं। जहाँ तक एक परमतत्त्व के अभ्यास के द्वारा मन जीता हुआ नहीं होता, वहाँ तक तो रात्रि में जैसे भूतप्रेत इधर-उधर घूमते रहते हैं, उसी तरह हृदय में वासनाएँ घूमती रहती हैं।

भृत्योऽभिमतकर्तृत्वान्मन्त्री सर्वार्थकारणात्।
सामन्तश्चेन्द्रियाक्रान्तेर्मनो मन्ये विवेकिनः ॥79॥
लालनात् स्निग्धललना पालनात् पालकः पिता।
सुहृदुत्तमविन्यासान्मनो मन्ये मनीषिणः ॥80॥
स्वालोकतः शास्त्रदृशा स्वबुद्ध्या स्वानुभावितः।
प्रयच्छति परां सिद्धिं त्यक्त्वाऽऽत्मानं मनःपिता ॥81॥
सुहृष्टः सुदृढः स्वच्छः सुक्रान्तः सुप्रबोधितः।
स्वगुणेनोर्जितो भाति हृदि हृद्यो मनोमणिः ॥82॥

मैं तो मानता हूँ कि विवेकी मनुष्य का मन तो चाहा हुआ काम करने वाला एक चाकर ही है। और साथ ही सभी विषयों में सही सलाह देने वाला मंत्री भी है। वह इन्द्रियों को दबा देने वाला एक सामन्त भी है। वह प्यार करने वाली प्रेमभरी प्रियतमा भी है। वह पालक पिता भी है, धरोहर (थाती) रखनेवाला उत्तम मित्र भी वह है। मैं तो बुद्धिमान ज्ञानी के मन को ऐसा ही मानता हूँ। मनरूपी पिता अपने प्रकाश से शास्त्ररूप दृष्टि द्वारा अपनी बुद्धि से और अपने प्रभाव से अपना ही त्याग करके परमसिद्धि प्रदान करता है। मन तो हृदय में रहा हुआ सुन्दर मणि है। उसको ठीक तरह से दबाकर (वश में लाकर) यदि अत्यन्त निर्मल और स्वच्छ बनाया जाए तो वह ऊर्जित होकर प्रकाशित होता है। नहीं तो वह अतिहृष्ट और आभास के भ्रम से सुदृढ़ भी हो सकता है। (यह वशीभूत और अवशीभूत मन का भेद है।)

एनं मनोमणिं ब्रह्मन् बहुपङ्कलङ्कितम्।
विवेकवारिणा सिद्ध्यै प्रक्षाल्यालोकवान् भव ॥83॥
विवेकं परमाश्रित्य बुद्ध्या सत्यमवेक्ष्य च।
इन्द्रियारीनलं छित्त्वा तीर्णो भव भवार्णवात् ॥84॥
आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः।
अनास्थामात्रमभितः सुखानामालयं विदुः ॥85॥

हे ब्राह्मण! यह मनरूपी मणि अनेक प्रकार के कीचड़ से मैला हो गया है। इसलिए उसे विवेकरूपी पानी से धोकर सिद्धि प्राप्त करने के लिए तुम प्रकाशित हो जाओ। उत्तम विवेक का अवलम्बन करके तुम अपनी ही बुद्धि से सत्य को देखो (पहचान लो) और बाद में इन्द्रियरूपी शत्रुओं को समूल उखाड़कर फेंककर संसारसागर को पार कर जाओ। ज्ञानी लोग किसी भी वस्तु पर मन की आस्था (अविद्यात्मक विश्वास) को अनन्त दुःखों की खान ही समझते हैं और चारों ओर की अनास्था को (सभी पदार्थों के प्रति अविश्वसनीयता को) ही सुखों का स्थान मानते हैं।

वासनातन्तुबद्धोऽयं लोको विपरिवर्तते।
सा प्रसिद्धाऽतिदुःखाय सुखायोच्छेदमागता ॥86॥

धीरोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि कुलजोऽपि महानपि ।
तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंहः शृङ्खलया यथा ॥87॥
परमं पौरुषं यत्नमास्थायादाय सूद्यमम् ।
यथाशास्त्रमनुद्वेगमाचरन् को न सिद्धिभाक् ॥88॥
अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माऽहमच्युतः ।
नान्यदस्तीति संवित्त्या प्रथमा सा ह्यहंकृतिः ॥89॥

यह लोक वासनारूपी तन्तुओं से बँधकर इधर-उधर घूमता रहता है। यह वासना ही सबकी जानी-मानी हुई अत्यन्त दुःख उत्पन्न करने वाली है। यदि वह नष्ट हो जाए, तो उसका वह नाश बड़े सुख के लिए हो जाता है। मनुष्य कितना भी धैर्यवान हो, कितना भी महाज्ञानी हो, कितना भी कुलवान हो और कितना भी बड़ा क्यों न हो, फिर भी जिस तरह सिंह शृंखला से बँध जाता है, उसी तरह तृष्णा से बँध जाता है। फिर भी परम पुरुषार्थ, सख्त उद्यम और परिश्रम का आश्रय लेकर बिना थके, बिना उद्वेग के, शास्त्रानुसार आचरण करने वाला भला कौन मनुष्य सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता ? 'यह सारा जगत् मैं ही हूँ, मैं अविनाशी आत्मा हूँ, मेरे बिना और कुछ है ही नहीं'—इस प्रकार के ज्ञान से जो अहंकार किया जाता है वह प्रथम उत्तम अहंकार है।

सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं वालाग्रादप्यहं तनुः ।
इति या संविदो ब्रह्मन् द्वितीयाऽहंकृतिः शुभा ॥90॥
मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥91॥
पाणिपादादिमात्रोऽयमहमित्येष निश्चयः ।
अहंकारस्तृतीयोऽसौ लौकिकस्तुच्छ एव सः ॥92॥
जीव एव दुरात्माऽसौ कन्दः संसारदुस्तरोः ।
अनेनाभिहतो जन्तुरधोऽधः परिधावति ॥93॥

हे ब्राह्मण ! और जो 'मैं सबसे अलग हूँ, मैं बाल के अग्रभाग से भी सूक्ष्म हूँ'—इस प्रकार के ज्ञान से जो अहंकार किया जाता है, वह दूसरा शुभ अहंकार है (पहले से कुछ उतरता हुआ यह शुभाहंकार है)। इस प्रकार का अहंकार शुभ इसलिए है क्योंकि यह मोक्षकारक है, बन्धनकारक नहीं है। ऐसा अहंकार जीवन्मुक्त को होता है। परन्तु, 'हाथ-पैर वाला यह देह ही मैं हूँ'—इस प्रकार का जो निश्चयात्मक तीसरा अहंकार है, वह तुच्छ अहंकार है, वह लौकिक अहंकार है। यह जीव ही दुष्टात्मा है और संसाररूपी दुष्ट वृक्षों का यही मूल है। इसी से (जीवत्व से ही) मारा हुआ प्राणी नीचे से भी नीचे दौड़ादौड़ी करता रहता है।

अनया दुरहंकृत्या भावात् सन्त्यक्तया चिरम् ।
शिष्टाहंकारवान् जन्तु शमवान् याति मुक्तताम् ॥94॥
प्रथमौ द्वावहंकारावङ्गीकृत्य त्वलौकिकौ ।
तृतीयाऽहंकृतिस्त्याज्या लौकिकी दुःखदायिनी ॥95॥
अथ ते अपि सन्त्यज्य सर्वाहंकृतिवर्जितः ।
स तिष्ठति तथाऽत्युच्चैः परमेवाधिरोहति ॥96॥

इस प्रकार यह जो तीसरा अहंकार है, वह बहुत ही दुष्ट है। उसे यदि निष्ठापूर्वक छोड़ा जाए, तो प्राणी तुरन्त ही उत्तम अहंकार वाला और शमयुक्त हो जाता है और मुक्त हो जाता है। इसलिए पहले

बताए हुए दो अलौकिक अहंकारों को स्वीकार करके तीसरे अहंकार को छोड़ देना चाहिए। क्योंकि वह लौकिक है और दुःखकर भी है। परन्तु जो मनुष्य पहले के दो अहंकारों को भी छोड़कर सभी प्रकार के अहंकारों से रहित हो जाता है, वह तो अत्यन्त उच्चतम पद पर ही आरूढ़ हो जाता है।

भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते।
मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः।
ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि शृङ्खला ॥97॥
नानन्दं न निरानन्दं न चलं नाचलं स्थिरम्।
न सन्नासन्न चैतेषां मध्यं ज्ञानिमनो विदुः ॥98॥
यथा सौक्ष्म्याच्चिदाभास्य आकाशो नोपलक्ष्यते।
तथा निरंशश्चिद्भावः सर्वगोऽपि न लक्ष्यते ॥99॥
सर्वसंकल्परहिता सर्वसंज्ञाविवर्जिता।
सैषा चिदविनाशात्मा स्वात्मेत्यादिकृताभिधा ॥100॥

भोग भोगने की कोई भी इच्छा बन्धन ही है और उस इच्छा का त्याग कर देना ही मोक्ष है। मन का अभ्युदय ही नाश कहलाता है तथा मन का नाश ही बड़ा उदय होता है। ज्ञानी का मन तो नाश को प्राप्त करता है, पर अज्ञानी का मन शृंखलारूप (बन्धनरूप) ही होता है। ज्ञानी का मन न तो आनंद है, न ही आनन्दरहित ही है। वह चल भी नहीं है और अचल भी नहीं है। वह स्थिर भी नहीं है। वह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, दोनों के बीच की स्थिति का भी वह नहीं है। केवल ज्ञानी लोग ही इस मन को समझ सकते हैं। जैसे चैतन्य द्वारा प्रकाशित आकाश सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ही अंगरहित चैतन्य यद्यपि सर्वव्यापी ही है, फिर भी दिखाई नहीं पड़ता। यह चैतन्य सर्वसंकल्पों से रहित, सर्वसंज्ञाओं से रहित, अविनाश स्वरूप ही है। उसी की संज्ञाएँ 'अपना आत्मा'—इत्यादि कही गई हैं।

आकाशशतभागाच्छा ज्ञेषु निष्कलरूपिणी।
सकलाऽमलसंसारस्वरूपैकात्मदर्शिनी ॥101॥
नास्तमेति न चोदेति नोत्तिष्ठति न तिष्ठति।
न च याति न चायाति न च नेह न चेह चित् ॥102॥
सैषा चिदमलाकारा निर्विकल्पा निरास्पदा ॥103॥

यह चैतन्य आकाश के सैंकड़ों भाग जैसा स्वच्छ है, अवयवरहित इसका स्वरूप है। ज्ञानी लोगों के द्वारा यह चैतन्य सकल-स्वच्छ-संसाररूप और एकात्मता को दिखाने वाला ही अनुभव में आता है। इसका कभी अस्त नहीं होता और कभी उदय भी नहीं होता है। वह खड़ा भी नहीं रहता और बैठता भी नहीं है। वह आता भी नहीं, जाता भी नहीं। वह 'यहाँ है' ऐसा भी नहीं कहा जा सकता और 'नहीं है'—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। ऐसा यह चैतन्य निर्मलाकार, निर्विकल्प और निराश्रय ही है।

आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत्।
पश्चात् सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत् ॥104॥
अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः ॥105॥

प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः ।
नास्त्यविद्यामलमिति प्राज्ञस्तूपदिशेद्गुरुः ॥106॥

पहले तो शमदमादि गुणों से शिष्य को ठीक तरह से शुद्ध करना चाहिए और बाद में, 'यह सब कुछ ब्रह्म है और वह ब्रह्म तू ही है'—इस प्रकार का उसे उपदेश देना चाहिए। परन्तु, जो शिष्य अज्ञानी हो और उसने उपदेश को आधा-जैसा अर्थात् धुँधला ही (आंशिक रूप में ही) समझा हो, उसे गुरु 'तू ब्रह्म है'—यदि ऐसा उपदेश देता है, तो वह गुरु तो उसे नरक के जालों में ही धकेल देता है। इसलिए जिसकी बुद्धि परिपक्व और जाग्रत् हो गई हो और जिसकी भोगों की इच्छा एकदम क्षीण हो चुकी हो और जिसकी सभी आशाएँ नष्ट हो गई हों, उसी को विद्वान् गुरु को 'यह अविद्यारूपी मैल है ही नहीं'—ऐसा उपदेश देना चाहिए।

सति दीप इवालोकः सत्यर्क इव वासरः ।
सति पुष्प इवामोदश्चिति सत्यं जगत्तथा ॥107॥
प्रतिभासत एवेदं न जगत् परमार्थतः ।
ज्ञानदृष्टौ प्रसन्नायां प्रबोधे विततोदये ॥108॥
यथावज्ज्ञास्यसि स्वस्थो मद्वाग्वृष्टिबलाबलम् ।
अविद्ययैवोत्तमया स्वार्थनाशोद्यमार्थया ॥109॥
विद्या सम्प्राप्यते ब्रह्मन् सर्वदोषापहारिणी ।
शाम्यति ह्यस्त्रमस्त्रेण मलेन क्षाल्यते मलम् ॥110॥

जैसे दीपक है तभी प्रकाश है, सूर्य है तभी दिवस है, पुष्प है तभी सुगन्ध है, उसी प्रकार चैतन्य है, तभी तो जगत् सत्य होता है। परन्तु जब निर्मल ज्ञानदृष्टि उत्पन्न हो जाती है और निर्मल ज्ञान का प्रकाश विस्तृत रूप से फैल जाता है, तब यह जगत् वास्तविक रूप में दिखाई ही नहीं देता। तब तुम्हारी बड़ी अविद्या भी स्वार्थ का नाश करने के उद्यम में लग जाएगी। तब तुम स्वस्थ होगे और तब मेरी इस वाणी-वर्षा का बल और अबल ठीक तौर से समझ सकोगे। हे ब्राह्मण ! जिस प्रकार अस्त्र से ही अस्त्र शान्त होता है, मैल से ही मैल का प्रक्षालन होता है, उसी प्रकार उस अविद्या (बड़ी अविद्या) से ही सभी दोषों को दूर करने वाली विद्या प्राप्त की जा सकती है।

शमं विषं विषेणैति रिपुणा हन्यते रिपुः ।
ईदृशी भूतमायेयं या स्वनाशेन हर्षदा ॥111॥
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्या वीक्ष्यमाणैव नश्यति ।
नास्त्येषा परमार्थेनेत्येवं भावनयेद्धया ॥112॥
सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना सा हि मुक्तिदा ।
भेददृष्टिरविद्येयं सर्वथा तां विसर्जयेत् ॥113॥
मुने नासाद्यते तद्धि पदमक्षयमुच्यते ।
कुतो जातेयमिति ते द्विज माऽस्तु विचारणा ॥114॥

और भी जैसे जहर से जहर शान्त होता है और शत्रु के द्वारा ही शत्रु मारा जा सकता है, वैसी ही यह भूतमाया है, जो अपने नाश द्वारा हर्षदायक हो जाती है। इस अविद्या का स्वभाव या स्वरूप तो ज़ाना नहीं जा सकता, क्योंकि, "यह पारमार्थिक नहीं है"—ऐसी प्रदीप्त भावना से देखते-देखते ही उसका नाश हो जाता है। जिसके अन्तर में "यह सब ब्रह्म है"—ऐसी भावना हो जाती है उसे वही

अविद्या मुक्तिदायिनी हो जाती है। भेददृष्टि ही अविद्या है, इसलिए उसका सर्वथा त्याग ही कर देना चाहिए। हे मुनि ! उस पद को 'अक्षय' कहा जाता है। उसे यों ही (सरलता से) प्राप्त नहीं किया जा सकता। हे मुनि ! यह अविद्या कहाँ से उत्पन्न हुई, यह विचार तुम्हें नहीं करना चाहिए।

इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा।
अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि तत् पदम् ॥115॥
यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम्।
तदस्या रोगशालाया यत्नं कुरु चिकित्सने ॥116॥
यथैषा जन्मदुःखेषु न भूयस्त्वां नियोक्ष्यति।
स्वात्मनि स्वपरिस्पन्दैः स्फुरत्यच्छैश्चिदर्णवः ॥117॥
एकात्मकमखण्डं तदित्यन्तर्भाव्यतां दृढम्।
किञ्चित्क्षुभितरूपा सा चिच्छक्तिश्चिन्मयार्णवे ॥118॥

तुम्हें यही विचार आना चाहिए कि 'इस अविद्या का मैं कैसे नाश करूँ ?' यह अविद्या जब क्षीण होकर अस्त हो जाएगी, तभी तुम उस परमपद को प्राप्त करोगे। यह अविद्या जहाँ से जन्मी है, जिस प्रकार के स्वरूपवाली है और जिस प्रकार से इसका नाश होता है—इस बात का तुम सतत विचार किया ही करो और फिर रोगों के घर जैसी उस अविद्या की चिकित्सा के लिए प्रयत्न करो। इससे वह तुम्हें जन्मादि के दुःखों में फिर से नहीं जोड़ेगी। तब चैतन्यरूप समुद्र अपनी स्वच्छ तरंगों के साथ तुम्हारे हृदय में प्रकाशित हो जाएगा। चैतन्यमय समुद्र की वह चैतन्य शक्ति जब कभी क्षुभित हो जाए, तब 'वह चैतन्य एक आत्मरूप ही है'—इस प्रकार हृदय में दृढ भावना करनी चाहिए।

तन्मयैव स्फुरत्यच्छा तत्रैवोर्मिरिवार्णवे।
आत्मन्येवात्मना व्योम्नि यथा सरसि मारुतः ॥119॥
तथैवात्माऽऽत्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम्।
क्षणं स्फुरति सा दैवी सर्वशक्तितया तथा ॥120॥
देशकालक्रियाशक्तिर्न यस्याः सम्प्रकर्षणे।
स्वस्वभावं विदित्वोच्चैरप्यनन्तपदे स्थिता ॥121॥
रूपं परिमितेनासौ भावयत्यविभाविता।
यदैवं भावितं रूपं तया परमकान्तया ॥122॥

जिस प्रकार सागर की स्वच्छ तरंगें सागरमय होते हुए सागर में ही प्रकाशित होती हैं, उसी प्रकार आत्मस्वरूप हृदयाकाश में आत्मरूप में चैतन्यशक्ति प्रकाशित होती है। जिस प्रकार वायु सरोवर में चंचलता को प्राप्त करता है, उसी प्रकार आत्मा अपनी शक्ति से ही अपने में ही क्षणभर के लिए सर्वशक्तिमान होने से चंचलता को प्राप्त करता है। वही उसकी दैवी शक्ति है। उस दैवी शक्ति को देश, काल या क्रिया की कोई शक्ति खींच नहीं सकती। वह तो अपना उच्च स्वभाव जानकर स्वयं अनन्त पद में अवस्थित रही है। वह चित्-शक्ति (दैवी शक्ति) सब के द्वारा अज्ञात रहकर ही परिमित स्वरूप से (परिमित प्रग।ा। में) अपना स्वरूप प्रकट करती है। और इस प्रकार परमप्रिय उस चित्शक्ति ने अपना रूप प्रकट किया होता है।

तदैवैनामनुगता नामसंख्यादिका दृशः।
विकल्पकलिताकारं देशकालक्रियाऽऽस्पदम् ॥123॥

चितो रूपमिदं ब्रह्मन् क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते ।
वासनाः कल्पयन् सोऽपि यात्यहंकारतां पुनः ॥124॥
अहंकारो विनिर्णेता कलङ्की बुद्धिरुच्यते ।
बुद्धिः संकल्पिताकारा प्रयाति मननास्पदम् ॥125॥
मनो घनविकल्पं तु गच्छतीन्द्रियतां शनैः ।
पाणिपादमयं देहमिन्द्रियाणि विदुर्बुधाः ॥126॥

जब यह चित्शक्ति अपना रूप प्रकट करती है, तभी तो नाम-रूप, संख्या आदि अन्य दृष्टियाँ उसका अनुसरण करती हैं। हे ब्राह्मण ! इस चित्शक्ति का जो विकल्पों से आकार धारण करने वाला रूप है और जो देश-काल-क्रिया का स्थान होता है, इसको 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है। वह 'क्षेत्रज्ञ' रूप वासनाओं की कल्पना करता रहता है और अहंकार को प्राप्त होता है। जब वह अहंकार कोई विशेष निर्णय करने वाला होता है, तब उसे बुद्धि कहा जाता है। विशेष निर्णय से कलंकी बुद्धि भी संकल्पों के आकारवाली होकर मनन का स्थान रूप 'मन' बनती है। फिर वह मन बहुत से विकल्पों से युक्त होकर इन्द्रियत्व को प्राप्त करता है। हाथ-पैर आदि अवयवों से युक्त जो शरीर है, उसे ही ज्ञानी लोग इन्द्रियाँ कहते हैं।

एवं जीवो हि संकल्पवासनारज्जुवेष्टितः ।
दुःखजालपरीतात्मा क्रमादायाति नीचताम् ॥127॥
इति शक्तिमयं चेतो घनाहङ्कारतां गतम् ।
कोशकारक्रिमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम् ॥128॥
स्वयं कल्पिततन्मात्राजालाभ्यन्तरवर्ति च ।
परां विवशतामेति शृङ्खलाबद्धसिंहवत् ॥129॥
क्वचिन्मनः क्वचिद्बुद्धिः क्वचिज्ज्ञानं क्वचित् क्रिया ।
क्वचिदेतदहंकारः क्वचिच्चित्तमिति स्मृतम् ॥130॥

इस प्रकार संकल्पों की वासनामय डोरियों से आविष्ट (आवृत) रहकर जीव दुःखों के जालों में घिरा हुआ ही रहता है और धीरे-धीरे निम्नता (निचले स्तर) को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मूलतः तो शक्तिमय चैतन्य ही प्रगाढ़ अहंकार को प्राप्त होता है। और रेशम के कीड़े की तरह अपनी ही इच्छा से बन्धन को प्राप्त करता रहता है। अपने आपके द्वारा ही कल्पित की गई तन्मात्राओं (विषयों) के समूह के बीच रहकर वह चैतन्य श्रृंखलाओं से बँधे हुए सिंह की भाँति अत्यन्त पराधीनता को प्राप्त हो जाता है। यह मन ही किसी काल में ज्ञान, किसी काल में क्रिया, किसी काल में अहंकार और किसी काल में चित्त कहा जाता है।

क्वचित् प्रकृतिरित्युक्तं क्वचिन्मायेति कल्पितम् ।
क्वचिन्मलमिति प्रोक्तं क्वचित् कर्मेति संस्मृतम् ॥131॥
क्वचिद्बन्ध इति ख्यातं क्वचित् पुर्यष्टकं स्मृतम् ।
प्रोक्तं क्वचिदविद्येति क्वचिदिच्छेति सम्मतम् ॥132॥
इमं संसारमखिलमाशापाशविधायकम् ।
दधदन्तःफलैर्हीनं वटधाना वटं यथा ॥133॥

चिन्ताऽनलशिखादग्धं कोपाजगर चर्वितम् ।
कामाब्धिकल्लोलरतं विस्मृतात्मपितामहम् ॥134॥

और भी, कभी वह प्रकृति, कभी माया, कभी मैल और कभी कर्ग के नाम से कहा जाता है। कभी वह बन्धन के रूप में कहा जाता है, तो कभी अष्टपुरी के नाम से जाना जाता है। कभी उसे अविद्या कहा जाता है, तो कभी उसे इच्छा के रूप में भी माना जाता है। आशा के फन्दे खड़े करने वाले इस सारे संसार को वह धारण करता है। जिस प्रकार वटबीज वटवृक्ष को धारण करता है, उसी प्रकार यह सारे संसार को धारण किए हुए तो है, परन्तु यह संसार किसी फल से तो रहित ही है। चिन्तारूपी अग्नि की शिखाओं से यह संसार जला ही करता है। क्रोधरूपी अजगर इसे चबाया ही करता है, कामरूपी सागर की तरंगें इसमें उछलती ही रहती हैं और यह मन (जीव) अपने पितामह रूप आत्मस्वरूप को तो भूल ही गया है।

समुद्धर मनो ब्रह्मन् मातङ्गमिव कर्दमात् ।
एवं जीवाश्रिता भावा भवभावनयाऽऽहिताः ॥135॥
ब्रह्मणा कल्पिताकारा लक्षशोऽप्यथ कोटिशः ।
संख्याऽतीताः पुरा जाता जायन्तेऽद्यापि चाभितः ॥136॥
उत्पत्स्यन्तेऽपि चैवान्ये कणौघा इव निर्झरात् ।
केचित् प्रथमजन्मानः केचिज्जन्मशताधिकाः ॥137॥
केचिच्चासंख्यजन्मानः केचिद् द्वित्रिभवान्तराः ।
केचित् किन्नरगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः ॥138॥

हे ब्राह्मण ! कीचड़ में फँसे हुए हाथी को जैसे बहुत बल से बाहर निकाला जाता है, वैसे ही इस अपने मन को तुम संसार में से बाहर खींच निकालो। क्योंकि कीचड़ की तरह सांसारिक भाव अनेकानेक रूप से जीव को घेरे हुए हैं। ब्रह्म के द्वारा उनके लाखों और करोड़ों की संख्या में आकार कल्पित किए जाते हैं। ऐसे कई आकार पहले भी जन्म ले चुके हैं और आज भी चारों ओर वे जन्म लिया ही करते हैं। जिस प्रकार झरने से जलबिन्दु जन्म लिया करते हैं, वैसे ही भविष्य में और भी उत्पन्न हुआ ही करेंगे। कुछ पहले जन्मे हैं, कुछ सैकड़ों बार जन्मे हैं, कुछ असंख्य रूपों में जन्मे हैं, कुछ दो-तीन जन्मों का अन्तर रखकर जन्मते हैं, इनमें कुछ किन्नर, गंधर्व, विद्याधर, बड़े सर्प हुए हैं।

केचिदर्केन्दुवरुणास्त्र्यक्षाधोक्षजपद्मजाः ।
केचिद्ब्राह्मणभूपालवैश्यशूद्रगणाः स्थिताः ॥139॥
केचित्तृणौषधीवृक्षफलमूलपतङ्गकाः ।
केचित् कदम्बजम्बीरसालतालतमालकाः ॥140॥
केचिन्महेन्द्रमलयसह्यमन्दरमेरवः ।
केचित् क्षारोदधिक्षीरघृतेक्षुजलराशयः ॥141॥
केचिद्विशालाः ककुभः केचिन्नद्यो महारयाः ।
विहायस्युच्चकैः केचिन्निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥142॥

कुछ सूर्य, चन्द्र वरुण, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा हुए हैं। और कुछ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के समुदाय रूप में जन्मे हैं। कुछ तो घास, औषधि, वृक्ष, फल, मूल तथा जुगनुओं के रूप में

जन्मे हैं और कुछ तो कदम्ब, जम्बीर, साल, ताल और तमाल नाम के वृक्षों के रूप में उत्पन्न हुए हैं। तो कुछ महेन्द्र, मलय, सह्याद्रि, मन्दर और मेरु पर्वत हुए हैं। तो कुछ क्षारसमुद्र, क्षीरसमुद्र, घृतसमुद्र, इक्षुसमुद्र आदि हुए हैं। कुछ विशाल दिशाएँ हुए हैं तो कुछ बड़े वेगवाली नदियाँ हुए हैं। कुछ आकाश में उछलते हैं और कुछ गिरते हैं।

कन्दुका इव हस्तेन मृत्युनाऽविरतं हताः।
भुक्त्वा जन्मसहस्राणि भूयः संसारसंकटे ॥143॥
पतन्ति केचिदबुधाः सम्प्राप्यापि विवेकिताम्।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तितः ॥144॥
लीलयैव यदादत्ते दिक्कालकलितं वपुः।
तदेव जीवपर्यायवासनावेशतः परम् ॥145॥

कुछ आकाश में गेंद की तरह उछलते-गिरते और दिन-प्रतिदिन मृत्यु से मारे जाते हैं। कुछ मूर्ख लोग तो विवेक पदार्थ को प्राप्त करके भी हजारों जन्म लेते हैं और फिर से संसारसंकट में गिर पड़ते हैं। आत्मतत्त्व तो दिशा, काल आदि से अव्याप्य (अप्रमेय) है। वह अपनी शक्ति से लीलामात्र में दिशा और काल से परिमित जो रूप धारण करता है, वही वासनाओं के आवेश से जीव का पर्यायरूप बन जाता है।

मनः सम्पद्यते लोलं कलनाकलनोन्मुखम्।
कलयन्ती मनःशक्तिरादौ भावयति क्षणात् ॥146॥
आकाशभावनामच्छां शब्दबीजरसोन्मुखीम्।
ततस्तद्घनतां यातं घनस्पन्दक्रमान्मनः ॥147॥
भावयत्यनिलस्पन्दं स्पर्शबीजरसोन्मुखम्।
ताभ्यामाकाशवाताभ्यां दृढाभ्यासवशात्ततः ॥148॥
शब्दस्पर्शस्वरूपाभ्यां संघर्षाज्जन्यतेऽनलः।
रूपतन्मात्रसहितं त्रिभिस्तैः सह सम्मितम् ॥149॥

यह मन चंचल है और सदैव संकल्प-विकल्पों में तत्पर रहता है। संकल्प-विकल्प करती हुई यह मनःशक्ति पहले क्षण में तो आकाश की निर्मल भावना को धारण करती है। वह भावना शब्दरूप बीज के रस में तत्पर होती है। बाद में वह मन घनस्पन्दनों के क्रम से घनता को प्राप्त करता है। और स्पर्शरूप बीज के स्पर्शयुक्त वायु के स्पन्दन की भावना करता है। इसके बाद दृढ अभ्यास के कारण से उस शब्दरूप आकाश का और स्पर्शरूप वायु का घर्षण होता है। उस परस्पर घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है और इससे रूपतन्मात्रा भी तीनों (आकाश, वायु और अग्नि) के साथ उत्पन्न हो जाती है।

मनस्तादृग्गुणगतं रसतन्मात्रवेदनम्।
क्षणाच्चेतत्यपां शैत्यं जलसंवित्ततो भवेत् ॥150॥
ततस्तादृग्गुणगतं मनो भावयति क्षणात्।
गन्धतन्मात्रमेतस्माद्भूमिसंवित्ततो भवेत् ॥151॥
अथेत्थंभूततन्मात्रवेष्टितं तनुतां जहत्।
वपुर्वह्निकणाकारं स्फुरितं व्योम्नि पश्यति ॥152॥

अहङ्कारकलायुक्तं बुद्धिबीजसमन्वितम् ।
तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदम् ॥153॥

आकाश-वायु-अग्नि के तीनों गुणों को प्राप्त हुआ मन रसतन्मात्रा का अनुभव करता है। इसलिए उसी क्षण में वह जल की शीतलता को जान जाता है। इस कारण से उसे जल का अनुभव (ज्ञान) हो जाता है। फिर उन चारों पूर्वोक्त गुणों को प्राप्त हुआ मन क्षणभर में गन्ध की भावना करता है। अत: इस गन्धतन्मात्रा की भावना से उसे पृथ्वी का अनुभव (ज्ञान) होता है। इस प्रकार पाँचों भूतों की तन्मात्राओं से आवेष्टित होने के बाद मन अपनी सूक्ष्मता को छोड़ देता है। इसलिए वह अग्निकण जैसे आकार वाले शरीर के रूप में अपने आपको आकाश में प्रकाशित होता हुआ देखता है। अहंकार की कला से युक्त, बुद्धिरूप बीज के साथ होकर यही मन 'अष्टपुर' कहा जाता है। सभी प्राणियों के हृदयरूपी कमल में यह मन भ्रमर की तरह है।

तस्मिंस्तु तीव्रसंवेगाद्भावयद्भासुरं वपुः ।
स्थूलतामेति पाकेन मनो बिल्वफलं यथा ॥154॥
मूषास्थद्रुतहेमाभं स्फुरितं विमलाम्बरे ।
संनिवेशमथादत्ते तत्तेजः स्वस्वभावतः ॥155॥
ऊर्ध्वं शिरःपिण्डमयमधः पादमयं तथा ।
पार्श्वयोर्हस्तसंस्थानं मध्ये चोदरधर्मिणम् ॥156॥
कालेन स्फुटतामेत्य भवत्यमलविग्रहम् ।
बुद्धिसत्त्वबलोत्साहविज्ञानैश्वर्यसंस्थितः ॥157॥

वह हृदयस्थ मन उसमें तीव्र वेग से तेजस्वी शरीर की भावना करता है। अत: बिल्वफल की तरह परिपक्व होकर वह स्थूलता को प्राप्त करता है। बाद में दीपपात्र में रखे गए पिघले हुए सोने की तरह प्रकाशित और स्वच्छ आकाश में चमकता हुआ वह तेज अपने सहज स्वभाव से ही आकार धारण करता है। ऊपर के भाग में मस्तक पिण्डरूप तथा नीचे के भाग में पैरों का आकार तथा दो पार्श्वों की ओर दोनों हाथों की आकृति और बीच में पेट का दृश्य उसमें उत्पन्न होता है। फिर कुछ समय के बाद, वह स्पष्ट अभिव्यक्ति को प्राप्त करके निर्मल शरीर के रूप में होता है और उसमें बुद्धि, सत्त्व, बल, उत्साह, विज्ञान तथा ऐश्वर्य स्थान लेते हैं।

स एव भगवान् ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।
अवलोक्य वपुर्ब्रह्मा कान्तमात्मीयमुत्तमम् ॥158॥
चिन्तामभ्येत्य भगवांस्त्रिकालामलदर्शनः ।
एतस्मिन् परमाकाशे चिन्मात्रैकात्मरूपिणि ॥159॥
अदृष्टपारपर्यन्ते प्रथमं किं भवेदिति ।
इति चिन्तितवान् ब्रह्मा सद्योजातामलात्मदृक् ॥160॥
अपश्यत् सर्गवृन्दानि समतीतान्यनेकशः ।
स्मरत्यथो स सकलान् सर्वधर्मगुणक्रमात् ॥161॥

वही सर्व लोकों के पितामह ब्रह्माजी हैं। अपने सुन्दर और उत्तम शरीर को देखकर ब्रह्माजी को विचार आया। यद्यपि उन भगवान् को तीनों काल का निर्मल ज्ञान तो था, फिर भी केवल एक

चिदात्मरूप परमाकाश में उन्हें कोई किनारा या अन्त नहीं दिखाई दिया। इसलिए वे विचार में पड़ गए कि इसमें पहला क्या होना चाहिए ? सोचने पर उन्हें तुरन्त ही निर्मल आत्मदृष्टि प्रकट हुई। भूतकाल की अनेक सृष्टियों के समूह उन्होंने देखे और उन सबके गुणों और धर्मों को सकल क्रम का उन्हें (ब्रह्माजी को) स्मरण हो आया।

लीलया कल्पयामास चित्राः सङ्कल्पतः प्रजाः।
नानाऽऽचारसमारम्भा गन्धर्वनगरं यथा ॥162॥
तासां स्वर्गापवर्गार्थं धर्मकामार्थसिद्धये।
अनन्तानि विचित्राणि शास्त्राणि समकल्पयत् ॥163॥

बाद में उन्होंने केवल संकल्प से ही (केवल लीलामात्र में, देखते ही देखते) गन्धर्वनगर की तरह अनेक प्रकार के आचारों को करने वाली तरह-तरह की प्रजाएँ उत्पन्न कर दीं और उन्हें स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले तथा धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि कराने के लिए अनेक अद्भुत शास्त्र भी रच दिए।

विरञ्चिरूपान्मनसः कल्पितत्वाज्जगत्स्थितेः।
तावत्स्थितिरियं प्रोक्ता तन्नाशे नाशमाप्नुयात् ॥164॥
न जायते न म्रियते क्वचित् किञ्चित् कदाचन।
परमार्थेन विप्रेन्द्र मिथ्या सर्वं तु दृश्यते ॥165॥
कोशमाशाभुजङ्गानां संसाराडम्बरं त्यज।
असदेतदिति ज्ञात्वा मातृभावं निवेशय ॥166॥
गन्धर्वनगरस्यार्थे भूषितेऽभूषिते तथा।
अविद्यांशे सुतादौ वा कः क्रमः सुखदुःखयोः ॥167॥

इस प्रकार इस ब्रह्मारूपी मन से इस जगत् की स्थिति कल्पित की गई है। इसलिए जहाँ तक उसकी स्थिति है, वहीं तक जगत् की भी स्थिति है और उस ब्रह्मरूप मन का नाश होने पर जगत् का भी नाश होता है। हे ब्राह्मण ! वास्तविक (पारमार्थिक) दृष्टि से तो किसी भी देश में और किसी भी काल में कोई मरता भी नहीं है और कोई जन्मता भी नहीं है। क्योंकि सब मिथ्या ही है, ऐसा दिखाई देता है। इस संसार का आडम्बर आशारूपी साँपों का निवासस्थान ही है। इसलिए तुम इसका त्याग ही कर दो। और 'यह असत् ही है'—ऐसा जानकर इसमें मातृभाव (कारणमात्र भाव) ही रखो। पुत्र आदि अविद्या के अंश हैं और गन्धर्वनगर के ही वे पदार्थ हैं। उन्हें शोभित किया जाए या न किया जाए, उनके सम्बन्ध में सुख-दुःख का भला क्या क्रम हो सकता है ? (अर्थात् कोई नहीं)।

धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न तुष्टता।
वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह ॥168॥
यैरेव जायते रागो मूर्खस्याधिकतां गतैः।
तैरेव भोगैः प्राज्ञस्य विराग उपजायते ॥169॥
अतो निदाघ तत्त्वज्ञ व्यवहारेषु संसृतेः।
नष्टं नष्टमुपेक्षस्व प्राप्तं प्राप्तमुपाहर ॥170॥
अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम्।
आगतानां च संभोग इति पण्डितलक्षणम् ॥171॥

धन और स्त्रियों के बढ़ जाने पर तो दु:खी होना चाहिए। प्रसन्न तो होना ही नहीं चाहिए क्योंकि मोह-माया के बढ़ जाने से यहाँ भला किसने शान्ति प्राप्त की है ? भोगों की अधिकता हो जाने से मूर्खों को जहाँ आनन्द होता है, वहीं उसी भोगाधिक्य से ज्ञानी को वैराग्य हो जाता है। इसलिए हे तत्त्वज्ञानी निदाघ ! संसार के व्यवहार में जिन-जिन पदार्थों का नाश हुआ हो उसकी अपेक्षा करो और जो यदृच्छा से मिल या हो उसको स्वीकार कर लो। जो भोग नहीं मिले हैं, उनकी स्वाभाविक चिन्ता नहीं करनी चाहिए और मिले हुए पदार्थों का समुचित उपयोग करना चाहिए। यह पंडित का लक्षण है।

शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्ध्वाऽवलम्ब्य च।
सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मा गृहाण विमुञ्च मा ॥172॥
यस्य चेच्छा तथाऽनिच्छा ज्ञस्य कर्मणि तिष्ठतः।
न तस्य लिप्यते प्रज्ञा पद्मपत्रमिवाम्बुभिः ॥173॥
यदि ते नेन्द्रियार्थश्रीः स्पन्दते हृदि वै द्विज।
तदा विज्ञातविज्ञेयः समुत्तीर्णो भवार्णवात् ॥174॥
उच्चैःपदाय परया प्रज्ञया वासनागणात्।
पुष्पाद्गन्धमपोह्यारं चेतोवृत्तिं पृथक्कुरु ॥175॥

सत् और असत् की माथापच्ची छोड़कर बीच का जो सदसन्निरपेक्ष शुद्ध पद है, इसी को जानकर उसी का अवलम्बन करो और बाद में बाह्य-आभ्यन्तर दृश्यों को स्वीकार भी मत करो और त्याग भी मत करो। ('मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अवलम्बन करके फिर स्वीकार-अस्वीकार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।) कर्म में प्रवृत्त जिस ज्ञानी की ज्ञान सम्बन्धी इच्छा का होना या न होना—कुछ भी नहीं होता। जैसे कमलपत्र जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही ऐसे ज्ञानी पुरुष की बुद्धि कर्म से लिप्त नहीं होती। (फिर तो ज्ञान की इच्छा होने का प्रश्न ही कहाँ है ?) हे ब्राह्मण ! तुम्हारे हृदय में जब इन्द्रियों के विषयों की सुन्दरता का ख्याल ही स्फुरित नहीं होगा, तब तुम जानने योग्य सब कुछ जान जाओगे और इस संसाररूपी सागर में से तुम पार पहुँच जाओगे। जिस प्रकार पुष्प में से गन्ध दूर किया जाए, उसी प्रकार ऊँचे आसन पर आरूढ़ होने के लिए तुम अपनी चितवृत्तियों को वासनाओं के समूह से अलग ही कर डालो।

संसाराम्बुनिधावस्मिन् वासनाऽम्बुपरिप्लुते।
ये प्रज्ञानावमारूढास्ते तीर्णाः पण्डिताः परे ॥176॥
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम्।
सर्वमेवानुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः ॥177॥
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सत्तासामान्यरूपिणः।
चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तत् संकल्पाङ्कुरं विदुः ॥178॥
लेशतः प्राप्तसत्ताकः स एव घनतां शनैः।
याति चित्तत्वमापूर्य दृढं जाड्याय मेघवत् ॥179॥

यह संसाररूपी समुद्र वासनारूपी जल से भरा हुआ है। बहुत से पण्डित प्रज्ञारूपी नौका में बैठकर उसे पार कर गए हैं। पारावार को जानने वाले पण्डित लोग जगत् के व्यवहार को छोड़ नहीं देते और साथ ही साथ चाहते भी तो नहीं हैं। वे तो सबका अनुसरण मात्र करते हैं। आत्मतत्त्व अनन्त है। वह सामान्य सत्तास्वरूप है। ऐसे इस चैतन्य की विषयोन्मुखता जो होती है उसी को ज्ञानी लोग

संसार का अंकुर कहते हैं। इस अंकुर (विषयाभिमुखता) का लेशमात्र भी जिसने प्राप्त किया हो, तो वह लेशमात्र धीरे-धीरे घनता को प्राप्त करता है (अस्तित्व को प्राप्त कर लेता है) और चित्तत्त्व को अपने में भरकर (या अपने से ढँककर) मेघ की तरह व्याप्त कर जड़ता को प्राप्त करा देता है।

भावयन्ति चितिश्चैत्यं व्यतिरिक्तमिवात्मनः।
संकल्पतामिवायाति बीजमङ्कुरतामिव ॥180॥
संकल्पनं हि संकल्पः स्वयमेव प्रजायते।
वर्धते स्वयमेवाशु दुःखाय न सुखाय यत् ॥181॥
मा संकल्पय संकल्पं मा भावं भावय स्थितौ।
संकल्पनाशने यत्तो न भूयोऽननुगच्छति ॥182॥
भावनाऽभावमात्रेण संकल्पः क्षीयते स्वयम्।
संकल्पेनैव संकल्पं मनसैव मनो मुने ॥183॥

जब चैतन्य, विषयों को अपने से अलग होने की भावना करता है, तब जैसे बीज में से अंकुर फूट निकलता है, वैसे ही वह चिति संकल्प का रूप धारण करता है। तो इस प्रकार की भावना (संकल्पन) ही संकल्प है। ये संकल्प आप-ही-आप उत्पन्न होते हैं, एवं आप-ही-आप शीघ्र ही बढ़ते रहते हैं। बाद में वे दुःखदायी ही होते हैं, सुखदायी कभी नहीं होते। इसलिए संकल्प मत करो। और अपनी स्वरूपस्थिति में किसी भी प्रकार की भावना मत करो। क्योंकि संकल्पों का नाश करने में सावधान रहने वाला मनुष्य फिर से उसका अनुसरण नहीं करता। संकल्प की भावना का केवल अभाव होने से ही संकल्प आप ही आप नष्ट हो जाता है। इस प्रकार हे मुनि ! तुम संकल्पों से ही संकल्पों का और मन से ही मन का नाश करो। (अर्थात् मन से ही मन को मारो।)

छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम्।
यथैवेदं नभः शून्यं जगच्छून्यं तथैव हि ॥184॥
तण्डुलस्य यथा चर्म यथा ताम्रस्य कालिमा।
नश्यति क्रियया विप्र पुरुषस्य तथा मलम् ॥185॥
जीवस्य तण्डुलस्येव मलं सहजमप्यलम्।
नश्यत्येव न संदेहस्तस्मादुद्योगवान् भवेत् ॥186॥
इति महोपनिषत्।

इति पञ्चमोऽध्यायः

इस प्रकार मन को काट कर तुम अपने स्वरूप में ही स्थित रहो। इसमें कौन सी कठिन बात है ? (यह तो बहुत ही सरल है।) जिस प्रकार यह आकाश शून्य है, उसी प्रकार यह जगत् भी तो शून्य ही है। हे ब्राह्मण ! जिस तरह तण्डुल का छिलका और ताँबे की कालिमा प्रयत्न करने पर दूर हो जाती है, उसी प्रकार हे ब्राह्मण ! पुरुष की मलिनता भी क्रिया से नष्ट हो जाती है। यह जीव तण्डुल जैसा है। यद्यपि उसका मैल तो स्वाभाविक ही है, तथापि वह नष्ट तो होता ही है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इसलिए उद्योगी होना चाहिए, ऐसा यह उपनिषत् कहती है।

यहाँ पाँचवाँ अध्याय पूरा होता है।

❋

षष्ठोऽध्याय:

अन्तरास्थां परित्यज्य भावश्रीं भावनामयीम् ।
योऽसि सोऽसि जगत्यस्मिन् लीलया विहरानघ ॥1॥
सर्वत्राहमकर्तेति दृढभावनयाऽनया ।
परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥2॥
खेदोल्लासविलासेषु स्वात्मकर्तृतयैकया ।
स्वसङ्कल्पे क्षयं याते समतैवावशिष्यते ॥3॥
समता सर्वभावेषु याऽसौ सत्यपरा स्थितिः ।
तस्यामवस्थितं चित्तं न भूयो जन्मभाग्भवेत् ॥4॥

हे निष्कलंक ! तुम तो जो हो वही हो। इसलिए भावना को और भीतर की भावरूप भरी हुई सुन्दरता का और उस पर की आस्था का त्याग करके आनन्द से इस जगत् में विहार करो। सर्वत्र 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—इस प्रकार की दृढ़ भावना से जो परिणामरूप शेष रहता है, वह 'अमृता' नामधारी समता ही है। अपने आत्मा में 'कर्तापन है'—इस प्रकार की भावना से तो खेद के ही उल्लासविलास होते हैं। इसलिए अपने कर्तृत्वरूप संशय के नाश हो जाने से केवल समता ही शेष रह जाती है। सर्व पदार्थों के ऊपर समता हो जाए यही सत्यपरायण स्थिति है। उसमें स्थिर रहने वाला चित्त कभी पुनर्जन्म नहीं पाता।

अथवा सर्वकर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने ।
सर्वं त्यक्त्वा मनः पीत्वा योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ॥5॥
शेषस्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज ।
चिन्मनःकलनाऽऽकारं प्रकाशतिमिरादिकम् ॥6॥
वासनां वासितारं च प्राणस्पन्दनपूर्वकम् ।
समूलमखिलं त्यक्त्वा व्योमसाम्यः प्रशान्तधीः ॥7॥
हृदयात् सम्परित्यज्य सर्ववासनपङ्क्तयः ।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥8॥

अथवा हे मुनि ! कर्तृत्व या अकर्तृत्व—सब कुछ छोड़कर तुम अपने मन को ही पी जाओ। और फिर बाद में जो बचा रहता है, वही तुम हो, इस प्रकार से स्थिर हो जाओ। इस तरह उस शेष रहे तत्त्व में स्थिर और समाहित हो जाने के बाद, जिसके द्वारा तुमने उस कर्तृत्व-अकर्तृत्व को छोड़ दिया है उसका भी त्याग कर दो। (मन के द्वारा त्याग किया था, तो मन को ही छोड़ दो।) क्योंकि आखिर तो चैतन्य ने ही मन का आकार धारण किया है और वही (चैतन्य ही) प्रकाश और अन्धकार है। इसलिए वासना और वासना करने वाले का—दोनों का प्रयत्नपूर्वक समूल त्याग कर दो। इसके बाद आकाश जैसा होकर अत्यन्त शान्त बुद्धिवाले बन जाओ। वासनाओं की सभी सूचियों को हृदय में से निकालकर व्यग्रतारहित होकर जो रहता है, वही मुक्त और सर्वेश्वर है।

दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं भ्रान्तं भ्रान्त्या दिशो दश ।
युक्त्या वै चरतो ज्ञस्य संसारो गोष्पदाकृतिः ॥9॥

सबाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च।
इत आत्मा ततोऽप्यात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत् ॥10॥
न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न तन्मयम्।
किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं सच्चिन्मयं ततम् ॥11॥
समस्तं खल्विदं ब्रह्म सर्वमात्मेदमाततम्।
अहमन्य इदं चान्यदिति भ्रान्तिं त्यजानघ ॥12॥

देखने योग्य तो सब देख लिया है और दशों दिशाओं में घूमकर सब जगह बहुत ही भ्रमण कर लिया है—ऐसा समझकर विचरण करते हुए ज्ञानी का संसार गाय के पदचिह्न जैसा बहुत ही छोटा हो जाता है। बाहर, भीतर, देह में, ऊपर, नीचे, दिशाओं में, इस ओर और उस ओर—सर्वत्र आत्मा ही है। आत्मा से विहीन जगत् तो है ही नहीं। ऐसा कुछ भी नहीं है कि जहाँ मैं न होऊँ, ऐसा कुछ भी नहीं है कि जो आत्ममय न हो। मैं और क्या चाह सकता हूँ भला ? सब कुछ सत् है, सब कुछ चैतन्य से व्याप्त है। यह सब ब्रह्म ही है। आत्मा ही ब्रह्मरूप में फैला है। इसलिए हे निष्कलंक ! मैं अलग हूँ और यह अलग है, ऐसी भ्रान्ति को छोड़ ही दो।

तते ब्रह्मघने नित्ये सम्भवन्ति न कल्पिताः।
न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न जराऽस्ति न जन्म वा ॥13॥
यदस्तीह तदेवास्ति विज्वरो भव सर्वदा।
यथाप्राप्तानुभवतः सर्वत्रानभिवाञ्छनात् ॥14॥
त्यागादानपरित्यागी विज्वरो भव सर्वदा।
यस्येदं जन्म पाश्चात्यं तमाश्वेव महामते ॥15॥
विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम्।
विरक्तमनसां सम्यक् स्वप्रसङ्गादुदाहृतम् ॥16॥

नित्य ब्रह्म सघन रूप से व्याप्त है। इसलिए कल्पित पदार्थों का तो कोई संभव (सत्ता) ही नहीं है। शोक भी नहीं है, मोह भी नहीं है, वृद्धावस्था भी नहीं है, जन्म भी नहीं हैं, एवं मरण भी नहीं है। जो यहाँ है, वही सर्वत्र है। इसलिए जो कुछ यदृच्छया प्राप्त हो, उसका अनुभव करके सर्वत्र इच्छारहित होकर सर्वकाल में संतापरहित हो जाओ। हे महाबुद्धिमान् ! जिसका यह जन्म अन्तिम ही है, उसमें निर्मल विद्याएँ शीघ्र ही उत्तम बाँस में मोती की तरह प्रविष्ट हो जाती हैं और वे मुक्त होते हैं; यह बात प्रसंगोपात्त अच्छी तरह से कही गई है।

द्रष्टुर्दृश्यसमायोगात् प्रत्ययानन्दनिश्चयः।
यस्तं स्वमात्मतत्त्वोत्थं निष्पन्दं समुपास्महे ॥17॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह।
दर्शनप्रत्ययाभासमात्मानं समुपास्महे ॥18॥
द्वयोर्मध्यगतं नित्यमस्तिनास्तीति पक्षयोः।
प्रकाशनं प्रकाशानामात्मानं समुपास्महे ॥19॥

दृश्य के योग से द्रष्टा को जो अनुभव होता है, जो आनन्द का निश्चय होता है, वह आत्मतत्त्व से ही उत्पन्न होता है इसीलिए उस स्वात्मतत्त्व से उत्पन्न हुए निश्चय की हम अच्छी तरह से उपासना करते हैं। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन का वासनासहित त्याग करके दर्शन तथा अनुभव के आभासरूप आत्मा की हम ठीक प्रकार से उपासना करते हैं। 'है' और 'नहीं है'—इन दोनों पक्षों के बीच में जो नित्यरूप में अवस्थित है, वही प्रकाशों का भी प्रकाशक आत्मा है। हम समुचित रूप से उसकी उपासना करते हैं।

सन्त्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये ।
ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः ॥20॥
उत्थितानुत्थितानेतानिन्द्रियारीन् पुनः पुनः ।
हन्याद्विवेकदण्डेन वज्रेणेव हरिर्गिरीन् ॥21॥

जो मनुष्य अपनी हृदयगुहा में ही अवस्थित ईश्वर को छोड़कर अन्य देवों के पास जाता है, वह अपने हृदय में (हाथ में ही) रहे हुए कौस्तुभमणि का त्याग करके अन्य रत्नों को चाहता हुआ-सा ही है। ये इन्द्रियरूपी शत्रु खड़े हुए हों, या न खड़े हुए हों तो भी विवेकरूपी लाठी से उन्हें बार-बार, जैसे इन्द्र अपने वज्र से पर्वतों को मारा करता है, वैसे ही मारते रहना चाहिए।

संसाररात्रिदुःस्वप्ने शून्ये देहमये भ्रमे ।
सर्वमेवापवित्रं तद्दृष्टं संसृतिविभ्रमम् ॥22॥
अज्ञानोपहतो बाल्ये यौवने वनिताहतः ।
शेषे कलत्र चिन्ताऽऽर्तः किं करोति नराधमः ॥23॥
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि रम्याणां मूर्ध्न्यरम्यता ।
सुखानां मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥24॥
येषां निमेषणोन्मेषौ जगतः प्रलयोदयौ ।
तादृशाः पुरुषा यान्ति मादृशां गणनैव का ॥25॥

यह देह का भ्रम, संसाररूपी रात्रि के एक दुष्ट स्वप्न जैसा ही शून्य रूप है। उसमें सब कुछ अपवित्र ही है और इसी के कारण संसाररूपी यह भ्रान्ति फैली हुई है। अधम पुरुष बचपन में अज्ञान से घिरा हुआ होता है। वह जवानी में स्त्री से घिरा हुआ रहता है। और शेष उम्र में वह स्त्री की चिन्ता से घिरा रहा करता है। वह क्या कर सकता है ? सत् पर असत्ता सवार हो गई है। रम्य पर अरम्यता फैल गई है। सुखों पर दुःख चढ़े हुए हैं, तो मैं क्या करूँ ? तो मैं किस एक ही चीज का आश्रय ले सकता हूँ ? जिनकी आँख की पलकों के केवल मिलन-उन्मीलन से ही जगत् का प्रलय और प्रादुर्भाव हो सकता है, ऐसे पुरुष भी यहाँ से चले ही जाते हैं, तब भला मेरी तो क्या गिनती हो सकती है ?

संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते ।
तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥26॥
प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दुष्टश्चोरोऽयमात्मनः ।
मनो नाम निहन्म्येनं मनसाऽस्मि चिरं हृतः ॥27॥
मा खेदं भज हेयेषु नोपादेयपरो भव ।
हेयादेयदृशौ त्यक्त्वा शेषस्थः सुस्थिरो भव ॥28॥

कहा जाता है कि यह संसार ही दुःखों का सीमान्त (सीमा का अन्त) है और इसी के बीच में यह देह पड़ा हुआ है। अब सुख भला किस तरह प्राप्त हो सकता है ? पर अब मैं समझ चुका हूँ। अब मैं जाग उठा हूँ। आत्मा का दुष्ट चोर यह मन ही है। इसलिए बस, उसी का नाश कर दूँ। क्योंकि वह मुझे लम्बे काल तक चोरता ही आया है। त्याज्य पदार्थों के बारे में खेद न करो और ग्राह्य पदार्थों को ग्रहण करने के लिए भी तुम तत्पर न बनो। त्याज्यता और ग्राह्यता की दोनों दृष्टियों को छोड़कर शेष बीच की स्थिति में रहकर अत्यन्त स्थिर बन जाओ।

निराशता निर्भयता नित्यता समता ज्ञता।
निरीहता निष्क्रियता सौम्यता निर्विकल्पता ॥29॥
धृतिर्मैत्री मनस्तुष्टिर्मृदुता मृदुभाषिता।
हेयोपादेयनिर्मुक्ते ज्ञे तिष्ठन्त्यपवासनम् ॥30॥
गृहीततृष्णाशबरीवासनाजालमाततम्।
संसारवारिप्रसृतं चिन्तातन्तुभिराततम् ॥31॥
अनया तीक्ष्णया तात छिन्धि बुद्धिशलाकया।
वात्ययेवाम्बुदं जालं छित्त्वा तिष्ठ तते पदे ॥32॥

त्याज्य और ग्राह्य दृष्टि से रहित हुए ज्ञानी में निराशा, निर्भयता, नित्यता, समता, ज्ञानित्व, निःस्पृहता, निष्क्रियता, सौम्यता, निर्विकल्पता, धैर्य, मित्रता, मन का परितोष, कोमलता और मृदुभाषिता—ये सभी देशपार हुए होते हैं (अर्थात् होते ही नहीं हैं)। तृष्णारूपी भीलनी ने वासनारूपी विशाल जाल को पकड़ा है और वह संसाररूपी पानी के ऊपर फैली हुई है। वह जाल चिन्तारूपी डोरियों से भरा हुआ (बुना हुआ) है, उसको तुम इस बुद्धिरूपी छुरी से काट डालो। हे तात ! जिस प्रकार वायु बादलों को बिखेर देता है, उसी तरह तुम उस जाल को काटकर आत्मा के बहुत विशाल पद में अपना स्थान ले लो।

मनसैव मनश्छित्त्वा कुठारेणेव पादपम्।
पदं पावनमासाद्य सद्य एव स्थिरो भव ॥33॥
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् जाग्रन्निवसन्नुत्पतन् पतन्।
असदेवेदमित्यन्तं निश्चित्यास्थां परित्यज ॥34॥
दृश्यमाश्रयसीदं चेत् तत् सच्चित्तोऽसि बन्धवान्।
दृश्यं सन्त्यजसीदं चेत् तदाऽचित्तोऽसि मोक्षवान् ॥35॥
नाहं नेदमिति ध्यायंस्तिष्ठ त्वमचलाचलः।
आत्मनो जगतश्चान्तर्द्रष्टृदृश्यदशाऽन्तरे ॥36॥

जिस तरह कुल्हाड़ी से पेड़ को काटा जाता है, उसी तरह मन से ही मन को काटकर पवित्र पद को प्राप्त करके तुम तुरन्त ही स्थिर हो जाओ। खड़े रहते, चलते, सोते, जागते, उठते, जाते समय भी, 'यह सब असत् ही है'—ऐसा निश्चय करके उन सबकी आस्था को छोड़कर ही रहो। यदि तुम इस दृश्य का आश्रय करोगे तो चिन्ताओं से युक्त होकर बन्धन को प्राप्त करोगे। और यदि इस दृश्य का ठीक तरह से त्याग करोगे, तो चिन्तारहित होकर मोक्ष को प्राप्त करोगे। आत्मा और जगत् में क्रमशः द्रष्टा और दृश्य की स्थिति होती है। इन दोनों के बीच में 'मैं नहीं हूँ, और यह नहीं है'—ऐसा ध्यान करते हुए तुम पर्वत की तरह अचल ही रहो।

दर्शनाख्यं स्वमात्मानं सर्वदा भावयन् भव ।
स्वाद्यस्वादकसन्त्यक्तं स्वाद्यस्वादकमध्यगम् ॥37॥
स्वदनं केवलं ध्यायन् परमात्ममयो भव ।
अवलम्ब्य निरालम्बं मध्येमध्ये स्थिरो भव ॥38॥
रज्जुबद्धा विमुच्यन्ते तृष्णाबद्धा न केनचित् ।
तस्मान्निदाघ तृष्णां त्वं त्यज सङ्कल्पवर्जनात् ॥39॥
एतामहंभावमयीमपुण्यां छित्त्वाऽनहंभावशलाकयैव ।
स्वभावजां भव्यभवान्तभूमौ भव प्रशान्ताखिलभूतभीतिः ॥40॥

'दर्शन' नामक अपने आत्मा की तुम सदैव भावना करते रहो। स्वादनीय और स्वादक—दोनों को छोड़कर स्वादनीय (स्वाद लेने योग्य वस्तु) और स्वादक (स्वाद लेने वाले) के बीच में जो 'स्वाद' नामक वस्तु है, केवल उसी स्वाद का ही तुम ध्यान करो और परमात्मामय हो जाओ। निरवलम्ब स्थिति का आश्रय करके बीच-बीच में स्थिर होते रहो। हे निदाघ ! रज्जुओं से बँधे हुए लोग छूट जाते हैं, पर तृष्णा से बँधे हुए लोग नहीं छूट सकते। इसलिए संकल्पों को छोड़कर तृष्णा का त्याग कर दो। यह अपवित्र तृष्णा अहंभावमय है। इसलिए 'अहंभावाभाव' रूप छुरी से उसे काटकर स्वभावजन्य और भव्य भवान्तकारी भूमि पर तुम रहो, क्योंकि वहाँ तुम अखिल प्राणियों की भीति से बचकर रहोगे।

अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम् ।
नाहमेभिर्विना किञ्चिन्न मयैते विना किल ॥41॥
इत्यन्तर्निश्चयं त्यक्त्वा विचार्य मनसा सह ।
नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते ॥42॥
अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वतो लीलया क्रियाम् ।
यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो ब्रह्मन् प्रकीर्तितः ॥43॥
सर्वं समतया बुद्ध्या यः कृत्वा वासनाक्षयम् ।
जहाति निर्ममो देहं नेयोऽसौ वासनाक्षयः ॥44॥
अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥45॥

'इन पदार्थों का मैं हूँ' 'यह मेरा जीवन है', 'इसके सिवा मैं कुछ भी नहीं हूँ' और 'मेरे बिना यह कुछ भी नहीं है'—ऐसे अन्तस् के निश्चय को छोड़कर मन के साथ ऐसा ही विचार (निश्चय) करो कि—'मैं इन पदार्थों का नहीं हूँ और ये पदार्थ भी मेरे नहीं हैं।' ऐसी भी भावना किया करो। भीतर में विलसित प्रत्यग्भावयुक्त बुद्धि से केवल लीलाभाव से ही क्रिया करने वाले का जो वासनात्याग है, वह ध्यानार्ह है, ऐसा कहा गया है। हे ब्राह्मण ! समानतायुक्त बुद्धि से वासनाओं का सम्पूर्ण नाश करके मनुष्य ममतारहित होता है और सदा के लिए देह का त्याग करता है, इसलिए उस वासना का त्याग करना ही सुयोग्य है। जो मनुष्य अहंकारमय वासना का पहले लीलाभाव में ही त्याग करके अन्त में ध्येय वस्तु को भी छोड़कर रहता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

निर्मूलं कलनां त्यक्त्वा वासनां यः शमं गतः ।
ज्ञेयत्यागमिमं विद्धि मुक्तं तं ब्राह्मणोत्तमम् ॥46॥

द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेतौ विगतज्वरौ ।
आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतौ ॥47॥
संन्यासियोगिनौ दान्तौ विद्धि शान्तौ मुनीश्वर ।
ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु ॥48॥
सुषुप्तवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते ।
हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ॥49॥

भावनारूप वासना का मूल से ही त्याग करके जो मनुष्य शम को प्राप्त करता है, वही वास्तव में उसका त्याग है, ऐसा जानना चाहिए और उसी मनुष्य को तुम्हें ब्रह्मनिष्ठों में श्रेष्ठ मानना चाहिए, उसी को उत्तम मुक्त जानना चाहिए। हे मुनीश्वर ! जो संन्यासी और योगी यथासमय आया करते हुए सुखों और दुःखों में आसक्त नहीं होते और संतापरहित ही रहते हैं, वे दोनों (संन्यासी और योगी) ब्रह्म को प्राप्त हो गए हैं। वे ही दमनशील हैं, वे ही शान्त हैं, ऐसा तुम जानो। जिसकी भीतर की (पारमार्थिक) दृष्टि में न कुछ चाहा हुआ होता है और न कुछ अनचाहा-सा ही होता है और जो सदा सुषुप्ति में ही रहता हो, इस तरह वर्तन करता है, इस प्रकार से विचरण करने वाले को जीवन्मुक्त कहा जाता है। (और भी—) वह वासना-तृष्णा से रहित होते हुए हर्ष, ईर्ष्या, भय, क्रोध, कामना तथा कृपणता की दृष्टि से—

न हृष्यति ग्लायति यः परामर्शविवर्जितः ।
बाह्यार्थवासनोद्भूता तृष्णा बद्धेति कथ्यते ॥50॥
सर्वार्थवासनोन्मुक्ता तृष्णा मुक्तेति भण्यते ।
इदमस्तु ममेत्यन्तमिच्छां प्रार्थनयाऽन्विताम् ॥51॥
तां तीक्ष्णशृङ्खलां विद्धि दुःखजन्मभयप्रदाम् ।
तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा ॥52॥

—हर्षित भी नहीं होता और ग्लानि को भी नहीं प्राप्त करता। बाह्य विषयों की तृष्णा से उत्पन्न हुई वासना को 'बद्ध तृष्णा' कहते हैं और सर्व विषयों की तृष्णा से मुक्त वासना को 'मुक्त तृष्णा' कहा जाता है। 'यह वस्तु मेरी हो जाए'—ऐसी माँग के साथ जो अत्यन्त तीव्र इच्छा होती है, उसी को तुम तीक्ष्ण शृंखला समझो। सभी विषयों में वे वास्तव में हों या न हों, पर उन पर की तृष्णा को तुम तीव्र साँकल समझो।

संत्यज्य परमोदारं पदमेति महामनाः ।
बन्धास्थामथ मोक्षास्थां सुखदुःखदशामपि ॥53॥
त्यक्त्वा सदसदास्थां त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् ।
जायते निश्चयः साधो पुरुषस्य चतुर्विधः ॥54॥

ऐसी उस तीव्र शृंखला को छोड़कर महात्मा पुरुष और भी उदार बन जाता है। चाहे वह बन्ध की आस्था हो, चाहे मोक्ष की आस्था हो या चाहे सुख-दुःख की दशा हो। (पर उसे छोड़कर ही उदार हुआ जा सकता है।) सत् या असत् के ऊपर की किसी भी प्रकार की आस्था को छोड़कर तुम अक्षुब्ध सागर की तरह शान्त बने रहो। हे साधु ! पुरुष का निश्चय इन चार प्रकारों का हो सकता है।

आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः ।
इत्येको निश्चयो ब्रह्मन् बन्धायासविलोकनात् ॥55॥
अतीतः सर्वभावेभ्यो वालाग्रादप्यहं तनुः ।
इति द्वितीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम् ॥56॥
जगज्जालपदार्थात्मा सर्व एवाहमक्षयः ।
तृतीयो निश्चयश्चोक्तो मोक्षायैव द्विजोत्तम ॥57॥

'पैर से मस्तक तक मैं मातापिता के द्वारा निर्मित हुआ हूँ'—यह प्रथम निश्चय है। हे ब्राह्मण! इसमें बन्धन तथा आयास देखने में आते हैं। 'मैं सर्व पदार्थों से परे हूँ, और बाल की नोक से भी सूक्ष्म हूँ'—ऐसा दूसरा निश्चय सज्जनों को मोक्ष देने वाला होता है। हे उत्तम ब्राह्मण! 'इस जगत् के जाल और पदार्थों का मैं ही आत्मा हूँ, मैं ही सर्वस्वरूप अविनाशी आत्मा हूँ'—ऐसा तीसरा निश्चय भी मोक्ष देने वाला कहा जाता है।

अहं जगद्वा सकलं शून्यं व्योम समं सदा ।
एवमेष चतुर्थोऽपि निश्चयो मोक्षसिद्धिदः ॥58॥
एतेषां प्रथमः प्रोक्तस्तृष्णाया बन्धयोग्यया ।
शुद्धतृष्णास्त्रयः स्वच्छा जीवन्मुक्ता विलासिनः ॥59॥
सर्वं चाप्यहमेवेति निश्चयो यो महामते ।
तमादाय विषादाय न भूयो जायते मतिः ॥60॥

'मैं अथवा जगत्, यह सब सदैव शून्य आकाश जैसा ही है'—यह चौथा निश्चय भी मोक्ष की सिद्धि कराने वाला है। इन चारों में जो पहला निश्चय है, वह बन्धनयोग्य तृष्णा के कारण से होता है। शेष के तीन निश्चय तृष्णा से रहित होते हैं। उन निश्चयों को करने वाले मनुष्य स्वच्छ, जीवन्मुक्त और आत्मतत्त्व में ही विलास करने वाले होते हैं। हे परमबुद्धिशाली! 'मैं ही सब कुछ हूँ'—ऐसे निश्चय को स्वीकार करके फिर बुद्धि कदापि खिन्न नहीं हो सकती।

शून्यं तत् प्रकृतिर्माया ब्रह्म विज्ञानमित्यपि ।
शिवः पुरुष ईशानो नित्यमात्मेति कथ्यते ॥61॥

उसी परमतत्त्व को लोकायतिक और बौद्ध आदि 'शून्य' कहते हैं और प्राकृत लोग (भौतिकवादी) उसे 'प्रकृति' कहते हैं। उसी को विज्ञानवादी बौद्ध 'विज्ञान' कहते हैं और उसी को शैव-सम्प्रदाय वाले 'शिव' कहकर पुकारते हैं। सांख्य लोग उसे पुरुष कहते हैं, योगी लोग उसे 'ईश्वर' कहते हैं। लेकिन अद्वैती लोग ऐसा कहते हैं कि उन लोगों ने जो ब्रह्म के बारे में कल्पनाएँ की हैं वे सब माया ही है। वास्तव में तो वह अद्वैत ब्रह्म ही एक तत्त्व है।

द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जगन्निर्माणलीलया ।
परमात्ममयी शक्तिरद्वैतैव विजृम्भते ॥62॥
सर्वातीतपदालम्बी परिपूर्णैकचिन्मयः ।
नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नावसीदति ॥63॥

द्वैत और अद्वैत में से उत्पन्न हुए पदार्थों के द्वारा जगत् की रचनारूपी लीला करके वह परमात्ममय अद्वैतशक्ति ही विलास कर रही है। सभी से परे रहे हुए उस परमतत्त्व का आश्रय करने

वाला मनुष्य, स्वयं केवल परिपूर्ण ब्रह्ममय बना हुआ, उद्वेग नहीं करता हुआ और प्रसन्नस्वरूप वह दिखाई नहीं देने वाला ज्ञानी मनुष्य संसार में कभी भी खिन्न नहीं होता।

प्राप्तकर्मकरो नित्यं शत्रुमित्रसमानदृक् ।
ईहितानीहितैर्मुक्तो न शोचति न काङ्क्षति ॥64॥
सर्वस्याभिमतं वक्ता चोदितः पेशलोक्तिमान् ।
आशयज्ञश्च भूतानां संसारे नावसीदति ॥65॥

स्वयं उपस्थित हुए कर्मों को करता रहने वाला, शत्रु और मित्र पर सदैव समान दृष्टि रखने वाला और इच्छा तथा अनिच्छा—दोनों से मुक्त पुरुष शोक नहीं करता और कभी किसी से कुछ आकांक्षा भी नहीं रखता। सभी को प्रिय वचन कहने वाला और किसी से प्रेरित होने पर ही प्रिय वचनों को बोलने वाला एवं प्राणियों के आशयों को जानने वाला इस संसार में कभी दु:खी नहीं होता।

पूर्वां दृष्टिमवष्टभ्य ध्येयत्यागविलासिनीम् ।
जीवन्मुक्ततया स्वस्थो लोके विहर विज्वरः ॥66॥
अन्तःसंत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः ।
बहिःसर्वसमाचारो लोके विहरः विज्वरः ॥67॥
बहिःकृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः ।
कर्ता बहिरकर्ताऽन्तर्लोके विहर शुद्धधीः ॥68॥
त्यक्ताहंकृतिराश्वस्तमतिराकाशशोभनः ।
अगृहीतकलङ्काङ्को लोके विहर शुद्धधीः ॥69॥

यदि तुम जीवन्मुक्ति चाहते हो तो बाह्य दृष्टि को छोड़कर उसके पहले की ब्रह्मदृष्टि का अवलम्बन करो और जीवन्मुक्त दशा में स्वस्थ होकर, तापरहित होकर विहार करते रहो। भीतर की सभी आशाओं को छोड़कर वीतराग और वासनारहित होकर बाहर के सभी आचारों का आचरण करते हुए ही संतापों से रहित होकर लोक में विहार करते रहो। बाहर केवल दिखावे का आवेश करते हुए भी भीतर में तो आवेश से रहित ही होकर रहो। उसी प्रकार बाहर कर्तारूप दिखाई पड़ने पर भी अन्तस् में अकर्ता ही रहकर शुद्ध बुद्धि से इस लोक में विहार करते रहो। अहंकार का त्याग करके शान्त बुद्धिवाला बनकर आकाश जैसा निर्मल बन जाओ और कलंक का एक दाग भी लगने न देकर शुद्ध बुद्धि से लोक में विहार करते रहो।

उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान् ।
अन्तःसङ्गपरित्यागी बहिःसंभारवानिव ॥70॥
अन्तर्वैराग्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः ।
अयं बन्धुरयं नेति कलना लघुचेतसाम् ॥71॥
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।
भावाभावविनिर्मुक्तं जरामरणवर्जितम् ॥72॥
प्रशान्तकलनाऽऽरम्यं नीरागं पदमाश्रय ।
एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया ॥73॥

उदार और सुन्दर आचारवाले होकर तुम बाहर के सभी आचारों का अनुसरण करते रहो। अन्तस् से तो संग के त्यागी ही रहकर बाहर की सामग्रियों का मानो स्वीकार कर लिया हो, ऐसा दिखावा मात्र

ही करो। और अन्तस् में वैराग्य को ही स्वीकार करके बाहर की आशाओं में मानो तत्पर हुए हो, ऐसी चेष्टा वाले हो जाओ। यह स्वजन है और यह पराया है, ऐसी गणना तो निम्न कोटि के मन वालों की होती है, उदार (उदात्त) चित्त वालों के लिए तो यह समग्र वसुधा ही कुटुम्ब के समान होती है। इसलिए भाव-अभाव से रहित और जरा-मरण आदि से रहित, जिसमें वासना प्रशान्त हो चुकी है ऐसे तथा राग (आसक्ति) रहित परम पद का ही आश्रय कर लो। यही ब्राह्मी स्थिति है। वही सभी कामनाओं से रहित और निष्कलंक है।

> आदाय विहरन्नेवं संकटेषु विमुह्यति।
> वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि ॥74॥
> यत्संकल्पहरार्थं तत् स्वयमेवोन्नयेन्मनः।
> वैराग्यात् पूर्णतामेति मनोनाशवशानुगम् ॥75॥
> आशया रिक्ततामेति शरदीव सरोऽमलम्।
> तमेव मुक्तविरसं व्यापारौघं पुनः पुनः ॥76॥
> दिवसे दिवसे कुर्वन् प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते।
> चिच्चैत्यकलितो बन्धस्तन्मुक्तौ मुक्तिरुच्यते ॥77॥

इस प्रकार की ब्राह्मी स्थिति को धारण करके विहार करने वाला मनुष्य संकटों में भी मोह को प्राप्त नहीं होता। जो मन वैराग्य, शास्त्र एवं महत्ता आदि गुणों से संकल्पत्याग रूप विषयवाला बन जाता है, वह आप ही आप उन्नति को प्राप्त कर लेता है और नाश के वश में होता हुआ भी वह वैराग्य के द्वारा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। वह मन अनेक मनोवृत्तिवाला होने पर भी अन्त में 'ब्रह्मातिरिक्त कुछ है ही नहीं'—इस प्रकार की आशा (ज्ञान) के कारण, शरद ऋतु में जिस तरह आकाश स्वच्छ हो जाता है उसी तरह वृत्तिविहीन (स्वच्छ) हो जाता है। ऐसा मनोरहित महात्मा उसी व्यापारसमूह को बार-बार मुक्त किया हुआ और रसहीन ही मानता है और फिर भी दिन-प्रति-दिन उसे करते रहने में भला क्यों लज्जित नहीं होगा ? चित् और चैत्य (जगत्) का संयोग ही बन्धन है और दोनों का अलग होना ही मुक्ति है।

> चिदचैत्याऽखिलात्मेति सर्वसिद्धान्तसंग्रहः।
> एतन्निश्चयमादाय विलोकय च धियेच्छया ॥78॥
> स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानमानन्दं पदमाप्स्यसि।
> चिदहं चिदिमे लोकाश्चिदाशाश्चिदिमाः प्रजाः ॥79॥
> दृश्यदर्शननिर्मुक्तः केवलामलरूपवान्।
> नित्योदितो निराभासो द्रष्टा साक्षी चिदात्मकः ॥80॥
> चैत्यनिर्मुक्तचिद्रूपं पूर्णज्योतिःस्वरूपकम्।
> संशान्तसर्वसंवेद्यं संविन्मात्रमहं महत् ॥81॥
> संशान्तसर्वसंकल्पः प्रशान्तसकलैषणः।
> निर्विकल्पपदं गत्वा स्वस्थो भव मुनीश्वर ॥82॥ इति।

विषयों से (जगत् से) रहित जो आत्मा है, वही चैतन्य है, वही आत्मा है, ऐसा सर्वसिद्धान्तों का सारसंग्रह है। इस निश्चय को स्वीकार करके अपनी तेजस्वी बुद्धि से तुम उसका विचार (अनुसन्धान) किया करो, जिससे तुम स्वयं आप-ही-आप आनन्दरूप आत्मपद को प्राप्त करोगे। 'मैं चैतन्य हूँ', 'ये लोग चैतन्य हैं', 'ये दिशाएँ चैतन्य हैं' और 'ये प्रजाएँ भी चैतन्य हैं'—इस प्रकार से

दृश्य का दर्शन छूट जाएगा और तुम केवल आत्मरूप ही बन जाओगे। क्योंकि चैतन्य ही तो आत्मा है। वह सदोदित है, वह आभासरहित है, वह द्रष्टा है, वह साक्षी है। विषयों से रहित, चैतन्यरूप, पूर्णज्योतिस्वरूप, पूर्णतया शान्त और सभी अनुभवगम्य पदार्थ जिसमें शान्त हो गए हैं, 'ऐसा मैं केवल संविद्रूप (श्रेष्ठ अनुभूतिज्ञानवान्) हूँ'—इस प्रकार हे मुनीश्वर ! सभी संकल्पों को शान्त करके सभी इच्छाओं का शमन करके निर्विकल्प पद को प्राप्त करके तुम स्वस्थ हो जाओ।

य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणो नित्यमधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति। अनुपनीत उपनीतो भवति। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सूर्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वैर्देवैरनुध्यातो भवति। स सर्वक्रतुभिरिष्टवान् भवति। गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। इतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आचक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति। आसप्तमान् पुरुषयुगान् पुनाति। इत्याह भगवान् हिरण्यगर्भः। जाप्येनामृतत्वं च गच्छतीति महोपनिषत् ॥83॥

इति षष्ठोऽध्यायः।

इति महोपनिषत्समाप्ता।

यदि कोई ब्राह्मण इस उपनिषद् का नित्य अध्ययन करता है, वह श्रोत्रिय न हो तो भी श्रोत्रिय बन जाता है। उपनयन संस्कार से रहित हो, तो भी उपनयन संस्कार वाला बन जाता है। वह अग्नि जैसा पवित्र, वायु जैसा पवित्र, सूर्य जैसा पवित्र, चन्द्र जैसा पवित्र, सत्य जैसा पवित्र और सभी तरह से पवित्र हो जाता हैं। वह सभी देवों के द्वारा जाना जाता है। वह सभी तीर्थों में स्नान किया हुआ माना जाता है। सभी देव उसका ध्यान करते हैं। वह सभी यज्ञों का करने वाला माना जाता है। उसे साठ हजार गायत्री मंत्र के जप का पुण्यफल मिलता है। उसे लाखों इतिहासों और पुराणों को पढ़ने का और जपने का पुण्य मिल जाता है। वह दस हजार ओंकार का जप करने वाला माना जाता है। और वह अपनी दृष्टि जहाँ तक दूर जाती हो, वहाँ तक की पूरी पंक्ति को पवित्र कर देने वाला होता है। वह अपने पहले की और अपने बाद की सात-सात पीढ़ियों के अपने वंशजों को पवित्र कर देता है। ऐसा भगवान् ब्रह्मा ने कहा है। इसलिए इस उपनिषद् का जप करने से मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है, ऐसी यह उपनिषद् है। यहाँ उपनिषद् का छठा अध्याय पूरा होता है।

इस प्रकार महोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि.....ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋